प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत २०२६

मूल्य : [illegible]-००

चौक, पो० बा० ६९, वाराणसी-१

फोन : ६३०७६

प्रधान कार्यालय :

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस

गोपाल मन्दिर लेन,

पो० आ० चौखम्बा, पोस्ट बाक्स ८, वाराणसी-१

THE
VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA
67

Hindi Translation of J. Muir's

ORIGINAL SANSKRIT TEXTS

BY

RAMKUMAR RAI

Vol. V

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1970

Post Box No. 69
Chowk, Varanasi-1 (India)
1970
Phone : 63076

First Edition
1970
Price Rs.[redacted]-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers & Oriental Book-Sellers

P O Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)

Phone : 63145

भूमिका

प्रस्तुत भाग में मैंने बाद में एकत्र की गई कुछ नूतन सामग्री तथा उन मूल उद्धरणों के सर्वंघन के साथ, जिन पर यह सामग्री आधारित है, वैदिक कवियो के पुराकथाशास्त्र और धार्मिक विचारो से सम्बद्ध लेखो की एक शृङ्खला को पुनर्मुद्रित किया है। इसमे कुछ अन्य विषयों से सम्बद्ध ऐसी सामग्री भा है जो ग्रेट ब्रिटेन और आयरलेण्ड रायल एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल (१८६४–६६ ई०) में प्रकाशित हुई थी। साथ ही, मैंने वैदिक युग के जीवन तथा गीति-रवाजों से सम्बद्ध एक नवीन खण्ड का भी समावेश किया है।

अपने विचारों की पुष्टि के लिये जिन मूल स्थलों को मैंने उद्धृत किया है उनमें से सभी का अनुवाद करना यहाँ आवश्यक नहीं समझा है। ऐसा करने से इस कृति के आकार में अनावश्यक वृद्धि हो जाती क्योंकि कहीं-कहीं एक मात्र उपाधि तक के लिये ही अनेक श्लोकों को उद्धृत किया गया है। कुछ मूल स्थलों का पूरा-पूरा अनुवाद किया गया है। किन्तु अनेक, सम्भवतः अधिकांश, दशाओं में मैंने समान आशय वाले अनेक स्थलों का केवल सारांश ही दिया है।

इसके अतिरिक्त, जिस प्रकार कि तीसरे और चौथे भागों के तथा प्रथम भाग के दूसरे संस्करण की भूमिकाओं में मैंने विषय-वस्तु का साराश दिया था उसी प्रकार प्रस्तुत भाग में भी देना आवश्यक नहीं समझा है। विषय-सूची में दिया गया सारांश पाठक को ग्रन्थ में किसी विषय का स्थान-निर्देश करने के लिये पर्याप्त है।

मैं यहाँ यह भी कह देना चाहूँगा कि प्रस्तुत भाग में मैंने देवों की सर्वाधिक प्रमुख विशिष्टताओं को—जैसी कि वे प्रत्यक्षतः व्यक्त हुई हैं—प्रस्तुत कर देने मात्र से अधिक और कुछ नहीं किया है। वैदिक पुराकथा-शास्त्र की प्रकृति और उसके तत्त्व में अधिक गहन प्रवेश कर उसे अधिक

दार्शनिक पृष्ठभूमि में प्रस्तुत तथा मूल्यांकन करने का तथा विभिन्न सूक्तों के समय-निर्धारण का कार्य किसी अधिक गम्भीर तथा समालोचनात्मक दृष्टि-वाले विद्वान को अभी और अधिक परिपक्व अनुसन्धान के बाद ही करना होगा। अभी यह भी निर्धारण करना होगा कि सूक्तों में एक अपेक्षतया सरलतर से अधिक जटिलतर पुराकथाशास्त्र के विकास को अथवा एकेश्वरवाद की किसी भी प्रवृत्ति के प्रगट होने के पूर्व ही इनकी प्रकृति अथवा स्वरूप में किसी अन्य परिवर्तन को ढूँढ पाना कहाँ तक सम्भव है।

इस बीच, तथा जब तक कि इस विषय के महत्त्व के अनुसार ही इसका अधिक उपयुक्त विवेचन सामने नहीं आता, मैंने जिन सामग्रियों को एकत्र करके उनका विश्लेषण किया है वे ही पुराकथाशास्त्र के ऐसे विद्यार्थियों के लिये, जो स्वयं मूल स्थलों को देख सकने में असमर्थ हैं, उपलब्ध लिखित ग्रन्थों में प्रस्तुत भारतीय देवों के प्रारम्भिकतम स्वरूप के गुणों और चरित्रों की एक प्रायः पूर्ण, और मुझे विश्वास है कि, एक शुद्ध धारणा के निर्माण में सहायक होंगी।



विषय-सूची

मूल संस्कृत उद्धरण

पञ्चम भाग

प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति के चौथे भाग में मैंने वैदिक सूक्तों से ऐसे स्थलों का संग्रह किया है जो विश्व की उत्पत्ति तथा हिरण्यगर्भ, विश्वकर्मा, विष्णु, रुद्र तथा देवी अम्बिका के चरित्र से सम्बद्ध है। यहीं मैंने इन देवताओं के प्रस्तुतीकरण की इसी विषय से सम्बद्ध उन कल्पनाओं के साथ तुलना की है जो ब्राह्मणों तथा अपेक्षाकृत अधिक आधुनिक काल के पौराणिक काव्यों में मिलती हैं। इन अनुसन्धानों में मैंने प्रसंगतः कहीं कहीं अदिति, इन्द्र, वरुण इत्यादि कुछ अन्य वैदिक देवों का भी विवरण प्रस्तुत किया है।

इस पाँचवें भाग में मैं ऋग्वेद[1] के सूक्तों में व्यक्त धार्मिक विचारों तथा जगत्सृष्टिमीमांसा और पुराकथाशास्त्र का और अधिक विवरण प्रस्तुत करते हुये इन सबकी कहीं-कहीं समानान्तर आरम्भिक यूनानी धारणाओं के साथ तुलना भी करूँगा।

(१) भारतीय और यूनानी पुराकथाशास्त्रों मे साम्य

प्रस्तुत कृति के दूसरे भाग में मैंने इतिहास और तुलनात्मक भाषाविज्ञान से लिये गये ऐसे तर्कों का उल्लेख किया है जो इस निष्कर्ष के आधार हैं कि ब्राह्मण भारतीय उसी जाति से सम्बद्ध थे जिससे यूनानी, लैटिन, ट्यूटनिक तथा योरप के अन्य राष्ट्र। यदि यह निष्कर्ष सुआधारित है तो यह स्पष्ट है कि

---

[1] जजओसो० ४.४१७ और बाद, तथा ६.६७ और बाद, में प्रकाशित "दि लीजेण्ड ऑफ जमशेद", और "दि हायेस्ट गॉड्स ऑफ एरियन रेसेज" नामक शोधप्रबन्धों में प्रो० रॉथ इस विषय का पहले भी विवेचन कर चुके हैं। जअओसो० ३.२९१ और बाद में इसी लेखक तथा प्रो० ह्विट्ने ने; जजओसो० ७.६०७ और बाद में प्रो० रॉथ ने; ऑक्सफोर्ड एसेज १८५६ (चिप्स, भाग २, पृ० १ और बाद में पुनः प्रकाशित) में, और हिस्ट्री ऑफ ऐ० सं० लिट० पृ० ५३१ और बाद में प्रो० मैक्समूलर ने; ऋग्वेद के अपने अनुवाद के तीन भागों की भूमिका मे प्रो० विलसन ने; ऋग्वेद के फ्रेंच अनुवाद की टिप्पणियो में एम० लैङ्गलोई ने; तथा प्रो० वेबर, डा० कुन, और बूहलर इत्यादि ने भी इस विषय का विवेचन किया है। कुछ अगले खण्डो के सारांश को मैं एडिनबर्ग की रॉयल सोसाइटी के समक्ष १८६४ में प्रस्तुत कर चुका हूँ। इस सोसाइटी के ट्राजैक्शन्स, भाग २३, खण्ड ३, पृ० ५४७ और बाद देखिये।

जब महान् भारोपीय परिवार की अनेक शाखायें अपने भावी आवासों की ओर देशान्तरगमन आरम्भ करने की दृष्टि से पृथक् हुईं तब उस समय तक धार्मिक तथा पुराकथाशास्त्रीय धारणाओं का एक वृहद् भाण्डार उनकी सम्मिलित निधि अवश्य रहा होगा। घटनाओं के स्वाभाविक क्रम में और विभिन्न कारणों की प्रक्रिया के कारण यह सम्मिलित पुराकथाशास्त्र उसी प्रकार क्रमिक रूप से परिवर्तित हुआ होगा जिस प्रकार इन सभी जातियों की इनके सम्मिलित निवास के समय की ही भाषा बाद में विभिन्न रूपों में परिवर्तित हो गई। इन दोनों ही दशाओं में इन परिवर्तनों ने विभिन्न जातियों में उन प्रभावों की विविधता के अनुरूप विभिन्न रूप ग्रहण कर लिये जो इन जातियों पर अलग-अलग पड़े। अतः हमें यह देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि भारतीयों की प्राचीनतम वर्तमान पुराकथाओं और यूनानियों की प्राचीनतम ज्ञात पुराकथाओं में उसी प्रकार अत्यधिक अन्तर मिलता है जिस प्रकार अपने प्राचीनतम विद्यमान रूप में संस्कृत भाषा यूनानियों की विद्यमान आरम्भिकतम भाषा से अत्यधिक भिन्न है, क्योंकि संस्कृत काव्य के सर्वाधिक पूर्वग अवशेष, वैदिक सूक्तों, का काल उस समय से आरम्भ होता है जब ये दोनों जातियाँ लगभग एक सहस्र वर्ष से भी अधिक समय से पूर्व पृथक् हो चुकी थीं; और यूनानी साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन अवशेष तो और भी आधुनिक समय के हैं। फिर भी, इस दीर्घकालीन पृथक्त्व के विपरीत भी, हम साधार यह आशा कर सकते हैं कि पूर्वग भारोपीय पुराकथाशास्त्र के कुछ अवशेष इस परिवार की पूर्वी और पश्चिमी शाखाओं में समान रूप से बने रह सके होंगे। साथ ही, हमें निःसन्देह यह भी आशा करनी चाहिये कि सम्मिलित धार्मिक धारणाओं के ऐसे चिह्न अनेक जातियों के अधिक आधुनिक साहित्य की अपेक्षा प्राचीनतर साहित्य में ही अधिक स्पष्टतापूर्वक देखे जा सकते हैं। और वास्तव में स्थिति ऐसी ही मिलती है। वेद का पुराकथाशास्त्र कुछ दृष्टियों से होमर और हेसियड के साथ निश्चित रूप से कुछ साम्य प्रदर्शित करता है। इन प्राचीन कृतियों के धार्मिक विचारों के बीच सम्भवतः परस्पर साम्य बाद के भारतीय और यूनानी देवमण्डल की अपेक्षा कहीं अधिक है। मैं यह कहूँगा कि सम्भवतः प्राचीनतर भारतीय पुराकथाशास्त्र यूनानियों के उससे कहीं अधिक निकट है जितना कि बाद का भारतीय पुराकथाशास्त्र। किन्तु, दूसरी ओर, बाद की भारतीय पद्धति यूनानियों के साथ समानता की कुछ ऐसी बातें प्रदर्शित करती है जो वैदिक पद्धति में नहीं मिलतीं। हमारा इस तथ्य से तात्पर्य है कि हमें भारतीय महाकाव्यों और पुराणों में एक सागर के देवता, एक युद्ध के देवता, तथा एक प्रेम की

देवी, मिलते हैं जो (कम से कम अन्तिम दो) वेदों के प्राचीनतम भागों में अज्ञात हैं, किन्तु फिर भी यूनानियों के पोसीडन, एरेस, और एफ्रोडाइट के अनुरूप हैं। फिर भी, इस प्रकार के मानवत्वारोपण या तो उस आरम्भिक मूल प्रवृत्ति के परिणाम हो सकते हैं जो मनुष्यों को प्रकृति के प्रत्येक विभाग के तथा मानव जीवन और कार्यों के अधीशकों तथा दिव्य प्रस्तुतीकरणों के सृजन की ओर प्रवृत्त करती है; अथवा ये अंशतः कल्पना तथा अनुमान की उस बाद की प्रक्रिया से, जो समान परिणामों की ओर ले जाती है, और व्यवस्थित पूर्णता के उस प्रेम के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुये हो सकते हैं जो मनुष्यों को अपने आरम्भिक पुराकथाशास्त्र की रिक्तताओं की पूर्ति करने तथा उसे सतत सम्बन्धित और परिवर्तित करते रहने के लिये प्रेरित करता है। इस अन्तिम प्रकार की समानतायें, यद्यपि ये किसी भी प्रकार आकस्मिक नहीं हैं, अनिवार्यतः उन समान प्रक्रियाओं के परिणामों से भिन्न कुछ नहीं, जो एक ही सामान्य प्रवृत्ति तथा चारित्रिक विशिष्टता से युक्त राष्ट्रों में चलती रहती हैं। किन्तु यूनानियों और भारतीयों के धार्मिक विचारों के बीच वे प्राचीनतर साम्य, जिनका पहले उल्लेख किया जा चुका है, एक भिन्न प्रकार के और निश्चित रूप से एक ऐसे मौलिक पुराकथाशास्त्र के अवशेष हैं जो दोनों ही जातियों के समान पूर्वजों की सम्मिलित निधि था। यह इस तथ्य द्वारा व्यक्त होता है कि, जिन उदाहरणों का मैंने उल्लेख किया है, उनमें न केवल कार्यों की वरन् दोनों ही साहित्यों में समान देवों के नामों तक की अनुरूपता मिलती है।

(२) वैदिक पुराकथाशास्त्र की प्राचीनता और विशिष्टता

किन्तु सामान्य विद्वान् के लिये वैदिक पुराकथाशास्त्र का महत्व केवल इस परिस्थिति मात्र में निहित नहीं है कि कुछ धार्मिक धारणायें, तथा दो या तीन देवों के नाम ऐसे हैं जिनकी यूनानी के साथ समानता है। इससे अधिक महत्वपूर्ण इस बात पर ध्यान देना है कि भारतीय काव्य के प्राचीनतम अवशेष, जो राष्ट्रीय देवों की स्तुति में रचित सूक्तों में निहित तथा होमर और हेसियड से कहीं अधिक पूर्वकाल की रचनाएँ हैं, धार्मिक विकास के उससे कहीं अधिक प्राचीन काल को व्यक्त करते हैं और अपने निर्माण के प्राचीनतम स्तर पर ऐसी विविध पुराकथाओं का उद्घाटन करते हैं जिन्होंने कुछ शताब्दियों बाद एक निश्चित और मान्य स्वरूप धारण कर लिया।[२]

[२] देखिये प्रो० मेक्समुलर का 'कम्पेरेटिव माइथॉलोजी' नामक लेख (आक्सफोर्ड एसेज, १८५६; और चिप्स में पुनर्मुद्रित)।

यह भी द्रष्टव्य है कि ये जो प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करते हैं उनमें से ऋग्वेद के सूक्त धार्मिक विषयों पर अपने शैशवकालीन मानव बुद्धि की स्वाभाविक क्रियाओं का उससे कहीं अधिक सूक्ष्म उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो हमें किसी भी अन्य साहित्य में मिल सकता है। अपनी अधिक प्राचीनता के कारण ये भारतीय सूक्त यूनानी पद्धति की कुछ ऐसी बातों पर प्रकाश डालने के लिये अधिक उपयुक्त हैं, जो पहले अस्पष्ट थीं। इस प्रकार, हम देखेंगे कि भारतीय द्यौस् (आकाश अथवा दिव्यलोक) यूनानी ज्यूस के मौलिक अर्थ की व्याख्या करता है, और संस्कृत वरुण यूनानी यूरेनोस के उपयुक्त आशय का संकेत करता है।

अतः प्रस्तुत कृति के प्रथम भाग (द्वि० संस्करण, पृ० २–४)[3] में मैंने उन आधारों का उल्लेख किया है जिन पर वैदिक सूक्तों को हमारे ईसवी सन् से लगभग एक सहस्र वर्ष से कहीं अधिक पूर्व रचित माना गया है। अतः अब मैं इनकी प्राचीनता को सिद्ध मानकर इनके जगत्सृष्टिमीमांसा तथा पुराकथाशास्त्र का कुछ विवरण प्रस्तुत करूँगा।

(२) जगत्सृष्टिमीमांसात्मक और पुराकथाशास्त्रीय कल्पनाओं का आरम्भ

संसार के एक आरम्भिक युग में, समस्त वस्तुओं की उत्पत्ति के विषय पर कल्पना करनेवाली एक सरल बुद्धि के लिये इन रहस्यों के विभिन्न समाधान स्वभावतः अपने को प्रस्तुत कर सकते हैं। कभी तो विद्यमान जगत् की उत्पत्ति को भौतिक और कभी आध्यात्मिक शक्तियों का कार्य माना जा सकता है। दूसरी ओर, प्रकृति के सभी विभागों में नित्य दिखाई पड़नेवाली विकास और परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं ने शून्य से अथवा किसी पूर्वस्थित अविकसित तत्त्व से ही जगत् की क्रमिक उत्पत्ति की धारणा को संसूचित किया हो सकता है। एक पूर्वग तत्त्व से अथवा प्रकृति नामक किसी अविशिष्ट पदार्थ से सभी वस्तुओं की स्वतः उत्पत्ति का इस प्रकार का विचार एक बाद के समय में सांख्य दर्शन का आधार बन गया। अथवा, पुनः, प्रकाश और रूप, रंग और सौन्दर्य को प्रतिदिन प्रातःकाल उस अन्धकार से धीरे-धीरे प्रगट होता देखकर जिसमें सभी पदार्थ पहले तिरोहित रहते हैं, आरम्भिक विचारक ने यह कल्पना की हो सकती है कि इसी प्रकार उसके चतुर्दिक संसार की प्रखरता तथा

---

[3] देखिये भाग दो, पृ० २०६ और बाद; और भाग ३; पृ० २१७ और बाद तथा पृ० २२४।

व्यवस्था अनिवार्यतः एक ऐसी प्राचीन रात्रि से उत्पन्न हुये होंगे जिसमें सभी वस्तुओं के तत्व एक साथ ही एक अविभेदनीय अस्तव्यस्तता में स्थित थे। और, वास्तव में, अन्धकार तथा अस्तव्यस्तता से जगत् की सृष्टि का यह विचार ऋग्वेद के एक बाद के सूक्त (१०.१२९) का विषय ही है। अथवा, दूसरी ओर, मानव सृजन और शक्ति के परिणामों पर विचार करते हुए, और लघु से महान का तर्क करते हुये, अथवा, पुनः, अन्य प्राणियों की अपनी इच्छानुसार[४] किन्तु अधिक शक्तिशाली शक्तियों द्वारा रचना मानने की अपरिहार्य प्रवृत्ति ने प्राचीन विचारकों को यह अनुभव करने का अवसर दिया हो सकता है कि प्रकृति का सुव्यवस्थित आकार सम्भवतः किसी अन्ध आवश्यकता से उद्भूत नहीं बल्कि वह किसी चेतन और बुद्धिमान शक्ति का कार्य है। फिर भी, विचार के इस स्तर पर, जब बुद्धि अभी सभी वस्तुओं के एक सर्वशक्तिमान स्रष्टा और नियन्ता की धारणा तक नहीं पहुँच सकी थी, प्रकृति के विभिन्न विभागों की रचना को ऐसे भिन्न-भिन्न देवों के बीच वितरित किया गया है जिनमें से प्रत्येक की एक विशेष क्षेत्र के अध्यक्ष के रूप में कल्पना की गई है। एक दूसरे के साथ मिश्रित कर के अलग-अलग भाग एक से अधिक देवों के शासन के अन्तर्गत रक्खे गये हैं। अथवा सृष्टि के इन अनेक प्रदेशों को इनके विभिन्न सम्बन्धों के अनुसार, देवों की अनेकता अथवा एक ही देवता की विविधरूपता के आधीन किया गया है। इन उक्तियों की वैदिक पुराकथाशास्त्र से गृहीत अनेक उदाहरणों द्वारा व्याख्या की जा सकती है। इसी काल की साहित्यिक रचनाओं पर विचार करते हुये हमें यह भी देखने को मिलता है कि अभी बुद्धि और जड़ पदार्थ के बीच के अन्तर का पर्याप्त अनुभव नहीं किया गया था, तथा यह भी कि यद्यपि कुछ दशाओं में प्रकृति के किसी विशेष क्षेत्र और उसके अधिष्ठाता देवता के बीच स्पष्ट विभेद किया गया है, तथापि कुछ अन्य दशाओं में ये दोनों ही बातें मिश्रित हैं और एक ही दृश्य वस्तु को विभिन्न समयों में या तो जड़ प्रकृति का एक अंग अथवा एक चेतन प्राणी और एक दिव्य शक्ति के रूप में भिन्न माना गया है। इस प्रकार वैदिक सूक्तों में सूर्य, आकाश, और पृथिवी को अलग-अलग कभी देव विशेषों द्वारा शासित प्राकृतिक पदार्थ माना गया है,

[४] एरिस्टॉटिल (पोलि० १,२,७) "और सभी मनुष्य एक शासक द्वारा शासित होने के रूप में देवों को प्रस्तुत करते हैं क्योंकि ये स्वयं भी या तो अभी अथवा पहले, इसी प्रकार शासित थे। और जिस प्रकार मनुष्य देवों के रूपों को अपने समान मानते हैं उसी प्रकार उनके जीवन को भी अपने समान ही मानते हैं।"

और कभी स्वयं ऐसे देवता जो अन्य प्राणियों को उत्पन्न और उनका नियन्त्रण करते हैं।

(४) वैदिक कवियों की धारणाओं की विविधता

सभी प्रकृति-पूजा में इस प्रकार निहित समस्त विविधतायें और त्रुटियाँ, वैदिक पुराकथाशास्त्र की दशा में, उन कवियों की संख्या द्वारा जिन्होंने इसकी रचना की और उस काल की अवधि द्वारा जिसमें इसका निर्माण होता रहा, और भी वृद्धि हो गई है।

ऋग्वेद में एक सहस्र से अधिक सूक्त हैं जिनकी अनेक शताब्दियों की अवधि में कवियों की उत्तरोत्तर पीढ़ियों ने रचना की है। इन गीतों में इनके प्रणेताओं ने न केवल अपने पूर्वजों से प्राप्त अलौकिक संसार की धारणाओं को ही व्यक्त किया है, वरन् स्वयं अपनी नवीन कल्पनाओं को भी सम्मिलित किया है। उस आरम्भिक युग में मनुष्यों की कल्पनायें एक विचित्र रूप से बाह्य प्रभावों के लिये खुली होती थीं। भारत जैसे देश में, जहाँ, प्राकृतिक घटनायें अक्सर अत्यन्त उल्लेखनीय होती हैं, इस प्रकार के दर्शक इन घटनाओं के प्रभाव से वंचित नहीं रह सके होंगे। इस प्रकार कवियों की सर्जनात्मक शक्तियाँ उच्चतम स्तर तक उद्दीप्त हो गई थीं। तारों से भरे आकाश में, उषा में आकाश से ऊपर उठते हुये प्रातःकालीन सूर्य में, वायुमण्डल में तैरते हुये तथा हर प्रकार के भव्य तथा कल्पनातीत आकारों को धारण करते हुये उज्ज्वल मेघों में, जलों में, वर्षा में, झंझावात में, गर्जन और विद्युत में, इन कवियों ने विभिन्न दिव्य और ऐसी शुभ अथवा क्रुद्ध शक्तियों की उपस्थिति को मिश्रित देखा जिनकी प्रकृति उन भौतिक घटनाओं अथवा दृश्यों के अनुरूप थी जिनमें वह प्रगट होती थीं। किसी भी महान घटना के प्रभाव के अन्तर्गत रचित सूक्तों में उनके प्रणेता स्वभावतः उन देवों को एक विशिष्ट अथवा एकान्तिक महत्व प्रदान करेंगे जिनकी क्रिया के फलस्वरूप वे उस घटना को घटित मानते हैं। इस प्रकार इन देवों की महानता की एक सानुपातिक निष्ठा के साथ प्रशस्ति मिलती है। अन्य कवि उसी प्राकृतिक घटना को किसी अन्य देवता को आरोपित करके उसी की महानता की प्रशस्ति कर सकते हैं। इसी प्रकार कुछ अन्य कवि कुछ ऐसे अन्य देवता की स्तुति कर सकते हैं जिन्हें वे सृष्टि के किसी अन्य क्षेत्र का अधिष्ठाता मानते हैं। इस प्रकार, जहाँ एक ही पारम्परिक देवताओं को सभी ने स्वीकार किया है, वहीं प्रत्येक देवता विशेष की शक्ति, मर्यादा और कार्य का विभिन्न कवियों ने, अथवा एक ही कवि ने प्रत्येक अवसर पर बाह्य घटनाओं से भयभीत अथवा प्रेरित होने के अनुसार

भिन्न मूल्यांकन किया है। और ऐसा भी हो सकता है कि कोई देवता, जो पहले अस्पष्ट था, किसी नवीन कवि की प्रतिभा द्वारा अधिक प्रामुख्य प्राप्त कर ले। ऐसी स्थितियों में, किसी एक स्थान पर किसी देवता अथवा शक्ति को उच्च स्तर पर रखने और दूसरे स्थान पर उसे ही किसी अन्य देवता के अधीनस्थ कर देने के तथ्य को देखकर, कभी उसे स्रष्टा और कभी सृजित देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये। द्यौस् और पृथिवी जैसे वैदिक देवों की दशा में, जिनका दूसरे खण्ड में उल्लेख किया जायगा, तथा अन्य उदाहरणों की दशा में जिन्हें अगले पृष्ठों में दिया जायगा, यह बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से लक्षित होती है।



खण्ड १

सामान्य रूप से भारतीय देवता, जैसा कि उन्हें ऋग्वेद में प्रस्तुत किया गया है

ऋग्वेद में प्रख्यात अनेक देवों की शक्तियों, कार्यों, चरित्रों तथा परस्पर सम्बन्धों का कुछ विवरण प्रस्तुत करने के पहले मैं वैदिक कवियों तथा बाद के कुछ भारतीय लेखकों की इन देवों के वर्गों, संख्याओं, उत्पत्ति, और अवधि से सम्बद्ध सामान्य धारणाओं का कुछ विवरण दूँगा।

(१) देवों का यास्क का वर्गीकरण

यास्क[5] ने अपने पूर्वगामियों द्वारा किये गये देवों के वर्गीकरण को अपने निरुक्त (७.५) में इस प्रकार प्रस्तुत किया है : तिस्रः एव देवताः इति नैरुक्ताः अग्निः पृथिवीस्थाने वायुर् वा इन्द्रो वा अन्तरिक्ष-स्थानः सूर्यो द्यु-स्थानः। तासाम् महाभाग्याद् एकैकस्याः अपि बहूनि नाम-धेयानि भवन्ति अपि वा कर्म-पृथक्त्वाद् यथा होता अध्वर्युर् ब्रह्मा उद्गाता इत्य् अप्य् एकस्य सतः। अपि वा पृथग् एव स्युः। पृथग् हि स्तुतयो भवन्ति तथा अभिधानानि। "नैरुक्तों के अनुसार तीन देवता हैं, जैसे, अग्नि जिनका स्थान पृथिवी है; वायु अथवा इन्द्र जिनका स्थान अन्तरिक्ष है; और सूर्य जिनका स्थान द्युलोक है।[6] इनकी बड़ी महिमा के कारण इनमें प्रत्येक के बहुत से नाम हैं। अथवा कर्म अलग-अलग होने के कारण—जैसे एक को ही होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता कहते हैं। अथवा, ये अलग-अलग ही हैं क्योंकि स्तुतियाँ और उनके नाम भी अलग-अलग हैं।"[7] यहाँ उल्लिखित त्रिविध वर्गीकरण का अनुसरण करते हुये, अपनी कृति के बाद के अध्यायों में यास्क विभिन्न देवों को, अथवा अपनी कृति के पूर्ववर्ती

---

[5] यास्क की कृति के कुछ विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का दूसरा भाग तथा जएसो० १८६६, पृ० ३१९ और बाद में मेरा लेख देखिये।

[6] तुकी० ऋग्वेद १० १५८, १ "सूर्यो नो दिवस् पातु वातो अन्त-रिक्षात्। अग्निर् नः पार्थिवेभ्यः।" "सूर्य आकाश से, वायु अन्तरिक्ष से और अग्नि पार्थिवों से हमारी रक्षा करें।"

[7] प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग में इस स्थल को विस्तार से उद्धृत किया गया है।

अर्थात् नैघण्टुक के पाँचवें अध्याय में उल्लिखित एक ही देव के रूपों को, पार्थिव (निरुक्त ७.१४; ९.४३), मध्यवर्ती अथवा आन्तरिक्षीय (१०.१; ११.५०) और दिव्य (१२.१–४६) के त्रिविध अनुक्रम के अन्तर्गत वर्गीकृत करते हैं। मैं इन सूचियों को उद्धृत नहीं करूँगा जिन्हे व्याख्या के बिना कुछ स्थानों पर समझा नहीं जा सकता क्योंकि इनमें अनेक ऐसे देवों को सम्मिलित किया गया है जिनकी ठीक-ठीक प्रकृति अथवा अन्य देवों के साथ समीकरण विवादास्पद है। साथ ही, इनमें अनेक ऐसी वस्तुयें भी सम्मिलित हैं जो देवता हैं ही नहीं किन्तु सूक्तों में सम्बोधित होने के कारण उन्हें ऐसा मान लिया गया है।[८]

---

[८] यास्क निम्नलिखित पद्धति के अनुसार सुक्तो का वर्गीकरण करते हैं। मैं इस वर्गीकरण को इसलिये उद्धृत कर रहा हूं क्योकि यह कौतूहलवर्धक है, अन्यथा मेरे वर्तमान विषय से सम्बद्ध नही है। देवो की स्तुति करनेवाले सुक्तो अथवा सूक्तांशो को यास्क (निरुक्त ७.१) तीन वर्गों के अन्तर्गत रखते हैं, जैसे (१) ऐसे जिनमें देवो को अनुपस्थित होने के रूप मे अन्य पुरुष में सम्बोधित किया गया है, जैसे "इन्द्र स्वर्ग और पृथिवी पर शासन करते हैं" (१०.८९. १०) इत्यादि; (२) ऐसे जो देवो को उपस्थित होने के रूप में द्वितीय पुरुष में सम्बोधित करते हैं, जैसे "हे इन्द्र ! तुम हमारे शत्रुओं का वध करो" (१०.१५२.४) इत्यादि; और (३) ऐसे जिनमें लेखक प्रथम पुरुष मे अपने सम्बन्ध में कुछ कहता है। इनमे से प्रथम दो वर्गों की संख्या अत्यधिक है। पुनः, कुछ सूक्त केवल प्रशंसात्मक मात्र हैं, जैसे "मैं इन्द्र के पराक्रमो को कहता हूं", (ऋग्वेद १.३२,१); कुछ मे स्तुतियाँ हैं प्रशस्तियाँ नही, जैसे "मैं अपने चक्षुओ से स्पष्ट रूप से देखूं, मेरा मुख कान्तिवान दिखाई पड़े, और मैं अपने कानो से स्पष्ट सुनूं।" पुनः, कुछ शाप भी हैं, जैसे "यदि मैं यातुधान हूं तो मेरी आज ही मृत्यु हो जाय" (७.१०४; १५) इत्यादि। पुनः वस्तुओ की स्थिति-विशेष का वर्णन किया गया है, जैसे "तब वहाँ न तो मृत्यु थी न अमरता थी" (१०.१२९, २)। पुन शोक भी प्रगट किया गया है, जैसे "वह उज्ज्वल देवता उड़ कर दूर चला जायगा और कभी नही लौटेगा" (१०.९५, १५)। अथवा स्तुति और आक्षेप व्यक्त हुये हैं, जैसे "जो अकेले भोजन करता है वह अपने पाप मे अकेला होता है" (१० ११७, ६), और "उदार मनुष्य का गृह एक ऐसे सरोवर के समान है जिसमें कमल उगते हैं" (१०.१०७,१०), और इसी प्रकार अक्ष-सूक्त मे द्यूत की भर्त्सना तथा कृषि की प्रशंसा की गई है (१०.३४, १३)। "इस प्रकार

(२) इनकी संख्या

ऋग्वेद के विभिन्न स्थलों पर देवों की संख्या तैंतीस बताई गई है। इस प्रकार ऋग्वेद १.३४,११ में यह कथन है : "नासत्य, अश्विन, एकादश के तिगुने देवों के साथ हमारे मधुपान के लिये इधर आओ।"[९] (आ नासत्या त्रिभिर् एकादशैर् इह देवेभिर् यातम् मधुपेयम् अश्विना)।

पुनः, १.४५,२ में : "हे अग्ने! देवगण मेधावी और हविदाता के सुख की कामना करनेवाले हैं। तुम रोहित अश्ववाले हो। उन तैंतीस देवों को यहाँ लाओ" (श्रुष्टिवानो हि दाशुषे देवाः अग्ने विचेतसः। तान् रोहिदश्व गिर्वणस् त्रयस्त्रिंशतम् आ वह।)

१.१३९,११ (= तै०सं० १.४,१०,१) : "हे देवगण! तुम आकाश में ग्यारह हो, पृथिवी पर भी ग्यारह हो, अपने महत्व[१०] से अन्तरिक्ष में भी ग्यारह हो। इस प्रकार तुम तैंतीस देवता मेरे यज्ञ को स्वीकार करो" (ये देवासो दिवि एकादश स्थ पृथिव्याम् अधि एकादश स्थ। अप्सुक्षितो महिना एकादश स्थ ते देवासो यज्ञम् इमं जुषध्वम्)।

८.६,९ : "हे अग्ने! तैंतीस देवताओं को पत्नियों सहित अन्न के निमित्त यहाँ लाकर सोम द्वारा बलिष्ठ बनाओ" (पत्नीवतस् त्रिंशतं त्रींश् च देवान् अनुष्वधम् आवह मादयस्व)।

वह दृष्टियाँ जिनसे ऋषियों ने सूक्तों को देखा था, अनेकानेक थी।' इनमे से अधिकांश स्थलों के मूल प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग मे उद्धृत हैं।

[९] अर्थात् जैसी कि सायण व्याख्या करते हैं, तीन वर्गों मे, जिनमें से प्रत्येक मे ग्यारह देवता हैं, सम्मिलित देवता जिनका इस मन्त्र (१.१९, ११) में उल्लेख है : "द्युलोक स्थित ग्यारह देव, इत्यादि।"

[१०] इस पर सायण यह टिप्पणी करते हैं : "यद्यपि इस कथन के अनुसार कि 'केवल तीन ही देवता हैं (निरुक्त ७ ५) जो देवता पृथिवी इत्यादि को व्यक्त करते हैं केवल तीन ही हैं, तथापि अपनी महानता के कारण अर्थात् अपनी विभिन्न अभिव्यक्तियों के कारण ये इस कथन के अनुसार कि 'उनके अन्य रूप भिन्न स्थानों मे स्थित हैं', इनकी संख्या तैंतीस है।" तुल० शतब्रा० ११.६, ३, ४ और बाद। अथर्ववेद (१० ९, १२) देवों को द्युलोक, अन्तरिक्ष और भूमि पर रहनेवालों के रूप मे विभक्त करता है (ये देवाः दिविषदो अन्तरिक्षसदश् च ये ये च इमे भूम्याम् अधि)। और यही वेद (१.३०, ३) ऐसे देवों की चर्चा करता है जो द्युलोक में, पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, ओषधियों में, पशुओं में, और जलों में रहते हैं (ये देवा दिवि स्थ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्षे ओषधीषु पशुषु अप्सु अन्तः)।

८.२८,१ : "तीस और तीन देवता, जो हमारी कुशाओं पर विराजमान हैं, हमको जानें और हमें दूना दें।"[11] (ये त्रिंशति त्रयस् परो देवासो बर्हिर् आसदन्। विदन्न अह द्वितासनन्)।

८.३०,२ : "हे देवो, जो मनु द्वारा स्तुत तीस और तीन हो, इस प्रकार स्तुत होने पर हमारे शत्रुओं के विनाशकर्ता होओ" (इति स्तुतासो असथ रिशादसो ये स्थ त्रयश् च त्रिंशच् च। मनोर् देवाः यज्ञियासः)।

८.३५,३ : "हे अश्विनों! तुम तैंतीस देवताओं, जलों, मरुद्गणों, भृगुओं और उषा तथा सूर्य के सहित सोमपान करो" (विश्वैर् देवैस् त्रिभिर् एकादशैर् इह अद्भिर् मरुद्भिर् भृगुभिः सचाभुवा। सजोषसा उषसा सूर्येण च सोमम् पिबत अश्विना)।

९.९२,४ : "हे क्षरणशील सोम! ये सभी देवता, जिनकी संख्या ग्यारह की तीनगुनी है, तुम्हारे स्थान में हैं," इत्यादि[12] (तव ते, सोम पवमान निण्ये विश्वे देवास् त्रय. एकादश)।

---

[11] रॉथ कहते हैं "द्वित का अर्थ 'दूना' नहीं बल्कि 'निश्चित', 'विशेषतः' है।

[12] देवों की इस तैंतीस संख्या का महाभारत (३ १७१) में सूर्य की स्तुति करनेवाले एक सूक्त में उल्लेख है; त्रयस् त्रिंशः च वै देवाः। देखिये ५.१४०१९ और ३.१५४६५; ४.१७६९, और १३-७१०२ भी। रामायण, अरण्यकाण्ड (१४ १४ और बाद, बम्बई स०) के अनुसार अदिति तैंतीस देवों, आदित्यों, वसुओं, रुद्रों और अश्विनों की माता है (अदित्यां जज्ञिरे देवास् त्रयस्त्रिंशद् अरिन्दम। आदित्या वसवे। रुद्राः अश्विनौ च परन्तप)। गोरेसियो स० में यह श्लोक २०.१५ में आता है। देखिये शतब्रा० १२ ८,३,२९ भी। तैत्तिरीय संहिता २.३,५,१ में यह कथन है कि प्रजापति कि तैंतीस पुत्रियाँ थी जिन्हें उन्होंने विवाह में सोम को प्रदान किया। अथर्ववेद ११. ३,५२ कहता है कि प्रजापति ने ओदन से ३३ लोकों का निर्माण किया। देखिये ऋग्वेद ८.३९,९; वालखिल्य ९.२ भी। ऐतरेय ब्राह्मण २.१८ में यह कथन है : "त्रयस्त्रिंशद् वै देवा· सोमपास् त्रयस्त्रिंशद् असोमपाः। अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादश अदित्या· प्रजापतिश् च वषट्कारश् च एते देवाः सोमपा·। एकादश प्रयाजाः एकादश अनुयाजा. एकादश उपयाजाः एते असोमपा· पशु–भाजनाः। सोमेन सोमपान् प्रीणाति पशुना असोमपान्।" "तैंतीस देवता सोमपायी हैं और तैंतीस नहीं। अष्ट वसु, ग्यारह रुद्र, द्वादश आदित्य, प्रजापति और वषट्कार सोमपायी हैं। ग्यारह प्रयाज, ग्यारह अनुयाज और ग्यारह उपयाज

शतपथ ब्राह्मण (४.५,७,२) में देवों की इस तैंतीस संख्या की ८ वसुओं, ११ रुद्रों, और द्यौस् तथा पृथिवी सहित १२ आदित्यों से निर्मित होने के रूप में व्याख्या की गई है, जब कि प्रजापति चौंतीसवें देवता हैं (अष्टौ वसवः एकादश रुद्राः द्वादश आदित्याः इमे एव द्यावा पृथिवी त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः। प्रजापतिश् चतुर्स्त्रिंशः)। अथवा एक अन्य स्थल (११.६, ३,५) के अनुसार इस तैंतीस की गणना इन्द्र और प्रजापति के अपवाद के अतिरिक्त बिल्कुल समान है। इन्द्र और प्रजापति को यहाँ द्यावा और पृथिवी के स्थान पर स्थानान्तरित कर दिया गया है (ते एकत्रिंशद् इन्द्रश् चैव प्रजापतिश् च त्रयस्त्रिंशौ)।[13]

यह गणना कदाचित ही वह हो सकती है जिसकी सूक्तों में कल्पना की गई है, क्योंकि, जैसा कि हम देख चुके हैं, ऊपर उद्धृत मूल स्थलों में से एक (ऋग्वेद १.१३९,११) ग्यारह-ग्यारह देवों को, जो सम्भवतः सभी एक ही वर्ग के रहे होंगे, तीन स्थानों, द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी के साथ सम्बद्ध करता है।[14] यह भी स्पष्ट है कि देवों की तैंतीस की यह संख्या सम्पूर्ण वैदिक देवों को आवृत्त नहीं करती होगी, क्योंकि कुछ उपरोक्त स्थलों पर हम देख चुके हैं कि अग्नि, अश्विनों और मरुतों का इस प्रकार पृथक् रूप से उल्लेख है जैसे ये तैंतीस से अलग हों। साथ ही, कम से कम जैसा कि शतब्रा० ११.६,३,५ में व्यक्त हुआ है, ब्राह्मणकार के मत से इन्द्र बारह आदित्यों में से एक नहीं रहे होंगे (जैसा कि इन्हें बाद में मान लिया गया था), क्योंकि तैंतीस देवों की संख्यापूर्ति के लिये इनका अलग से उल्लेख किया गया है।

ऋग्वेद ३.९,९ (= ऋग्वेद १०.५२,६ और वाजसं० ३३.७) में देवों की संख्या कहीं अधिक बताई गई है : "तीन सौ, तीन सहस्र, तीस और

सोमपायी नही हैं किन्तु पशु-भाजी हैं। याजक सोमपायी को सोम से और असोमपायी को पशु से तृप्त करता है।" प्रयाज, अनुयाज, और उपयाज, आदि शब्दो की व्याख्या के लिये देखिये ऐत० ब्रा० २ ११० का हॉग का अनुवाद।

[13] तुकी० तैत्त० ब्रा० २.७,२,४। उक्त स्थल के बाद (शतब्रा० ११ ६, ३,६) द्यौस, पृथिवी, और आदित्यों को वसुओ के अन्तर्गत सम्मिलित बताया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इन विवरणो में कोई संगति नही है।

[14] तीन क्षेत्रो के रूप में विश्व के इस विभाजन के लिये देखिये जजओसो० १८५२, पृ० ६८, में प्रो० रॉथ की टिप्पणी।

नौ देवों ने अग्नि को पूजा है"[१५] (त्रीणि शता त्री सहस्राणि अग्निं त्रिंशच् च देवाः नव च असपर्यन्)।

एक अन्य स्थल (१.२७,१३) पर देवों को महान और लघु, युवा और वृद्ध के रूप में विभक्त बताया गया है : "बड़े, छोटे, युवक, वृद्ध सभी को हम नमस्कार करें। हम सामर्थ्यवान् हों और देवताओं को पूजनेवाले हों। हे देवगण! मैं महानों की स्तुति की उपेक्षा न करूँ।" (नमो महद्भ्यो नमो अर्भकेभ्यो नमो युवभ्यो नमः आशिनेभ्यः। यजाम देवान् यदि शक्नवाम न ज्यायसः शंसम् आ वृक्षि देवाः)।

फिर भी, मुझे इस बात का ज्ञान नहीं है कि देवों के इस वाद के वर्गीकरण का किसी अन्य सूक्त में उल्लेख है या नहीं। वास्तव में एक अन्य स्थल (८.३०,१) पर देवों के इस प्रकार के विभेद को अस्वीकार किया गया है : न हि वो अस्ति अर्भको देवासो न कुमारकः। विश्वे सतोमहान्तः इत् (हे देवो! तुममें से न तो कोई छोटा है, न युवा है; तुम सभी महान् हो)।

(३) इनकी उत्पत्ति तथा अमरता

ऋग्वेद में देवों को अमर कहा गया है[१६] (जैसे १.२४,१; १.७२,२.१०; १.१८९,२; ३.४,११; ३.२१,१; ४.४२,१; ७.११,१; ७.१७,४; १०.१३,१; १०.६५, १५; १०.६९,९; १०.७२,५), किन्तु इन्हें सामान्य रूप से आदिरहित और स्वसत्तावान नहीं माना गया है।[१७] जैसा कि हम अगले खण्ड में

---

[१५] यहाँ भाष्यकार यह टिप्पणी करता है कि देवो की संख्या का बृहदारण्यक उपनिषद् मे वर्णन है। देखिये बिब० इ० में प्रकाशित इस उपनिषद् का पृ० ६४२ और बाद तथा इसी सिरीज में प्रकाशित इसके अंग्रेजी अनुवाद का पृ० २०५ और बाद। यही स्थल प्राय. समान शब्दो में शतपथ ब्राह्मण ११.६,३,४ और बाद मे भी आता है। देवो की सख्या पर देखिये प्रो० हॉग की एक टिप्पणी उनके ऐत० ब्रा० २.२१२ में और डा० कुन की इस पर टीका उनके रसी० पृ० २२३ मे।

[१६] अथर्ववेद १.३१, १ मे आकाश की चार दिशाओ के पालको के रूप में चार अमरो का उल्लेख है (आशानाम् आशापालेभ्यश् चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः)।

[१७] फिर भी, प्रो० मैक्समूलर ने इसे स्वीकार नही किया है। आप कहते हैं (चिप्स १.३८) कि "जिन स्थलो पर देवो के जन्म का वर्णन है उनका एक भौतिक अर्थ है; ये दिन के जन्म, सूर्य के उदय, वर्ष के आगमन आदि के द्योतक हैं।"

देखेंगे, अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें इन्हें द्यावा-पृथिवी की संतान कहा गया है। १.११३,१९ में उषा को देवों की माता कहा गया है (देवानाम् माता)। २.२६,३ में ब्रह्मणस्पति को इनका पिता (देवानाम् पितरम्) कहा गया है। ९.८७,२ में सोम को देवों का पिता तथा सुदक्ष उत्पन्नकर्ता कहा गया है (पिता देवानां जनिता सुदक्षः)। देखिये ९.४२,४; ९.८६,१०; और ९.१०९,४ भी। ९.९६,५ में इसी देवता को आकाश, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु का जनक कहा गया है (जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिता अग्नेर् सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनिता विष्णोः)। १०.७२,५, में देवों को अदिति के बाद उत्पन्न कहा गया है (तां देवाः अन्व् अजायन्त)। १०.९७,१ में कुछ ओषधियों को देवों से तीन युग पूर्व उत्पन्न बताया गया प्रतीत होता है (याः ओषधीः पूर्वाः जाताः देवेभ्यस् त्रियुगम् पुरा)। जब कि १०.१२९.६ में देवों को विश्वसृष्टि के बाद उत्पन्न बताया गया है, जिसके फलस्वरूप विश्व की उत्पत्ति को कोई नहीं बता सकता (अर्वाग् देवास् तस्य विसर्जनेन अथ को वेद यतः आ बभूव)।[१८] ऋग्वेद २.२७,१ में वरुण, मित्र, अर्यमा, भग, दक्ष और अंश को तथा अन्यत्र इनमें से कुछ को आदित्य अथवा अदिति के पुत्र बताया गया है। अनेक स्थलों पर इन्द्र के जन्म तथा इनके माता-पिता (यद्यपि इनका नाम नहीं दिया गया है) का उल्लेख है[१९] (४.१७,४.१२; ४.१८,५.१२; ८.४५,४; ८.६६,१;

[१८] अथर्ववेद ११.७,२७ मे देवो को उच्छिष्ट से उत्पन्न बताया गया है (उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वे दिवि देवाः दिविश्रिता.); और २७वें मन्त्र में पितरो, मनुष्यो, गन्धर्वों, और अप्सराओ के साथ साथ इसी बात को इनके सम्बन्ध मे पुन. दोहराया गया है (देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्सरसश् च ये। उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वे दिवि देवाः दिविश्रिताः)। तुकी० तैत्त० ब्रा० ३.१२, ३,२.३। शतपथ ब्राह्मण १४,२,२,२, में यह कथन है : "अय वै समुद्रो योऽयम् पवते। एतस्माद् वै समुद्रात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि समुद्द्रवन्ति।" "यह जो पवित्र किया गया है समुद्र है। इस समुद्र से सभी देवता, सभी भूत उत्पन्न होते हैं।" तैत्तिरीय संहिता (६.५,६) के अनुसार, जिसका ऋग्वेद ८.७२,८ पर सायण ने उल्लेख किया है, देवगण युग्मो में उत्पन्न हुये हैं।

[१९] ऋग्वेद १०.१०१,१२ मे 'निष्टिग्री' नामक एक देवी का, प्रत्यक्षतः इन्द्र की माता के रूप में, उल्लेख है : "निष्टिग्रयाः पुत्रम् आ च्यावय ऊतये इन्द्रम्"। "निष्टिग्री के पुत्र, इन्द्र को, हमारी सहायता के लिये इधर भेजो," इत्यादि। इस स्थल पर सायण इस देवी को अदिति के साथ समीकृत करते हैं, जैसे "वह जो अपनी सौत (निष्टि) अर्थात् दिति को निगल लेती है।" वास्तव में

१०.१३४, १ और बाद)। ६.५९,१ में इन्द्र और अग्नि को इन शब्दों में सम्बोधित किया गया है : हतासो वाम् पितरो देवशत्रव: इन्द्राग्नी जीवथ युवाम्। "हे इन्द्राग्ने! तुम्हारे पितर, जिनके देव शत्रु थे, मारे जा चुके हैं, किन्तु तुम अविनाशी हो।" किन्तु अगले मन्त्र में इन दोनों ही देवताओं को यमज तथा एक ही पिता के पुत्र बताया गया है (समानो वा जनिता भ्रातरा युवां यमाव् इहेह मातरा)। अथर्ववेद १.३०,२ कुछ देवों की पितरों और कुछ की पुत्रों के रूप में चर्चा करता है। (ये वो देवा: पितरो ये च पुत्रा: सचेतसो मे शृणुत इदम् उक्तम्)। देखिये ऋग्वेद १०.६३,२ भी जिसे अदिति से सम्बद्ध खण्ड में उद्धृत किया जायगा।

४.५४,२ (=वाजसं० ३३.५४) में यह कहा गया है कि सविता देवों को अमरत्व प्रदान करनेवाले हैं (देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्यो अमृतत्वं सुवसि भागम् उत्तमम्)।[२०] अपनी शक्ति और योग्यता से अग्नि को भी देवों को अमरत्व प्रदान करनेवाला कहा गया है। ये देवगण अग्नि की उस समय पूजा करते हैं जब वे अपने माता-पिता से एक शिशु की भाँति उत्पन्न होकर प्रकाशित होते हैं (त्वां विश्वे अमृत जायमानम् शिशुं न देवा: अभि सं नवन्ते। तव क्रतुभिर् अमृतत्वम् आयन् वैश्वानर यत् पित्रोर् अदीदे:)। ९.१०६,८ मे कहा गया है कि देवगण अमरत्व प्राप्त करने के लिये सोमपान करते हैं (त्वां देवासो अमृताय कम् पपु:)। तुलना कीजिये ९.१०९,२.३)।[२१] १०.५३,१० में कुछ

७.८५,४ मे वरुण के साथ इन्द्र को एक आदित्य के रूप में सम्बोधित किया गया है। फिर भी, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इन्हे शतपथ ब्राह्मण ११.६.३,५ में, ऐसा नही माना गया है, क्योकि यहाँ इन्हे द्वादश आदित्यो से भिन्न बताया गया है।

[२०] सायण इसकी यह कहकर विवेचना करते हैं कि ये देवो को सोम तथा अमरत्व प्राप्त करने के अन्य माध्यम प्रदान करते हैं (अमृतत्वं तत्-साधनम् उत्तमम् उत्कृष्टतमम् भागम् सोमादि-लक्षणम् सुवसि अनुजानासि)। १.११०,३ मे इसी देवता को ऋभुओं को अमरत्व प्रदान करनेवाला कहा गया है (तत् सविता वो अमृतत्वम् आसुवत्)।

[२१] देखिये शतपथ ब्राह्मण ९.५,१,१–८, जहाँ यह कहा गया है कि देवो के पास से अमरत्व चला गया (देवेभ्यो ह वै अमृतत्वम् अपचक्राम), और इन लोगो ने इसे धार्मिक कर्मों द्वारा पुन: प्राप्त करने का प्रयास आरम्भ किया। इन लोगो ने अग्नि में सोम गिराया और अग्नि को अमर बनाया। ऐसा करने मे इन लोगों ने स्वयं भी अमरत्व प्राप्त किया क्योकि अग्नि सभी देवो के आत्मा

ऐसे उपायों का उल्लेख है (यह स्पष्ट नहीं है कि क्या उपाय हैं) जिनसे देवगण अमरत्व प्राप्त करते हैं (येन देवासो अमृतत्वम् आनशुः)। १०.१६७,१ में ऐसा कहा गया है कि इन्द्र ने तप से स्वर्ग को जीत लिया (त्वं तपः परितप्य अजयः स्वः); और १०.१५९,४ में यह कहा गया है ये कुछ हविष्य देकर उत्तम और द्युतिमान हुये (येनेन्द्रो हविषा कृत्वी अभवद् द्युम्नी उत्तमः)।

अथर्ववेद ४.२३,६ में अग्नि को देवों के अमरत्व का प्रदाता कहा गया है (येन देवा. अमृतम् अन्वविन्दन्)। इसी वेद के ११.५,१९ में यह कहा गया है कि देवों ने तप और ब्रह्मचर्य से मृत्यु पर विजय प्राप्त की (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा. मृत्युम् अपाघ्नत)। वही, १३.१,७ में यह कथन है इन लोगों ने रोहित के द्वारा अमरत्व प्राप्त किया (येन देवाः अमृतम् अन्वविन्दन्)। तुलना कीजिये यही वेद ३.२२,३; ४.११,६; ४.१४,१; शतब्रा० १.७,३,१; ऐतब्रा० ६.२०; तैत्ति० सं० १.७,१,३ और ६.५,३,१; तथा महाभारत १३.१४४४ : तथैव तपसा देवाः महामायाः दिवं गताः।

अन्यत्र मैंने शतपथ ब्राह्मण से अनेक ऐसे स्थलों को उद्धृत किया है जिनमें यह बताया गया है कि देवगण कैसे अमर हुये; और यद्यपि एक ही माता-पिता की सन्तान तथा असुरों के समकक्ष होते हुये भी ये किस प्रकार असुरों से श्रेष्ठ हुये।[२२] (देखिये इस ग्रन्थ का चौथा भाग, और जएसो० भाग २०, पृ० ४१–४५)।

हैं। सोम ही अमरत्व प्रदान करता है (अभिपुत्य अग्नाव् अजुहवुः। तद अग्नाव् अमृतम् अदधु.। सर्वेषाम् उ ह एष देवानाम् आत्मा यद् अग्निः। तद् यद् अग्नाव् अमृतम् अदधुस् तद् आत्मन्न् अमृतम्। ततो देवा अमृता अभवन्। तद् यत् तद् अपृत सोम सः)।

[२२] शतपथ ब्राह्मण २.४,२.१ मे यह कहा गया है कि सभी जीव प्रजापति के पास आये और उनसे जीवन माँगा। देवो से प्रजापति ने यह कहा : "यज्ञ तुम्हारा भोजन है, अमरत्व तुम्हारी ऊर्जा है और सूर्य तुम्हारी ज्योति है", इत्यादि ("यज्ञो वोऽन्नम् अमृतत्व व ऊर्ग् वः सूर्यो वो ज्योतिः)। देवो के अमरत्व प्राप्त करने की विधि से सम्बद्ध शतब्रा० के उपरोल्लिखित स्थल के सन्दर्भ में तैत्तिरीय संहिता ७.४,२,१ के एक और स्थल को उद्धृत करूँगा : "यथा वै मनुष्याः एवं देवा अग्रे आसन्। तेऽकामयन्तावर्त्तिम् पाप्मानम् मृत्युम् अपहत्य दैवीं संसदं गच्छेम इति। ते एतं चतुर्विंशतिरात्रम् अपश्यस् तम् आहरंस् तेन अयजन्त ततो वै तेऽवर्त्तिम् पाप्मानम् मृत्युम् अपहत्य दैवीं

तैत्तिरीय ब्राह्मण के अनुसार देवों ने तपस्या द्वारा अपना दिव्य पद प्राप्त किया था (तपसा देवाः देवताम् अग्रे आयन्, ३.१२,३, १)।

अन्य स्थानों में कुछ देवताओं, जैसे इन्द्र (३.४६, १,५.४२,६) को अनश्वर कहा गया है; और ६.२४,७ में इन्हीं देवताओं के लिये यह कहा गया है कि न तो शरद् न मास इनका कोई अपकर्ष करता है और न दिवस ही इनको नष्ट करते हैं। (न यं जरन्ति शरदो न मासाः न द्यावः इन्द्रम् अवकर्शयन्ति)। वैदिक कवियों को देवों के भावी तथा सर्वथा चिरन्तनत्व की कोई धारणा थी या नहीं इसका कोई संकेत नहीं मिलता। किन्तु, जैसा हम देख चुके हैं, ब्राह्मणों के लेखक इन्हें स्वभावतः और अनिवार्यतः अमर नहीं मानते थे, और यह सर्वथा स्पष्ट है कि बाद के समयों में इनका अमरत्व केवल सापेक्ष माना जाता था, क्योंकि पुराणों के अनुसार देवगण जगत् की विद्यमान पद्धति के एक अंश मात्र हैं; अतः जहाँ तक इनके शारीरिक अंश का प्रश्न है, ये भी अन्य प्राणियों की ही भाँति प्रलय के एक ही नियम के आधीन हैं। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पहला भाग, और प्रो० विल्सन की सांख्यकारिका, पृ० १४। इस प्रकार इस कृति के भाष्य में उद्धृत एक श्लोक के अनुसार (संस्कृत के पृ० ३ पर) यह कहा गया है : "युगों के क्रम में अनेक सहस्र इन्द्र और अन्य देवता समाप्त हो चुके हैं क्योंकि काल के प्रवाह को रोकना कठिन है" (बहूनीन्द्र-सहस्राणि देवानां च युगे युगे। कालेन समतीतनि कालो हि दुरतिक्रम.)। और सांख्य सूत्र ३.५३, में यह कहा गया है : जरामर·

संसदम् अगच्छन्।" "पहले देवता भी मनुष्यो के ही समान थे। इन लोगो ने पाप, मृत्यु, और अभाव पर विजय प्राप्त करके देवसंसद मे जाने की इच्छा की। इन्होने चतुर्विंशतिरात्र को देखा और उसे लेकर यज्ञ किया, और इसके फलस्वरूप अभाव, पाप, मृत्यु को पार करके देवसंसद में पहुँच गये।" तैत्त० स० मे यह कहा गया है कि . देवो और असुरो ने प्रतिस्पर्धा की। देवो की संख्या कम थी। तब इन लोगो ने कुछ ईंटो को देख कर उसे लिया तथा उसे इस मन्त्र के साथ कि "तुम बहुत बनानेवाले हो," इन ईंटो को यज्ञादि धारण करने के लिये व्यवस्थित किया, और इस प्रकार ये लोग भी बहुत हो गये (देवासुराः संयत्ता आसन्। कनीयासो देवा आसन् भूयासोऽसुराः। ते देवा एताः इष्टकाः अपश्यन्। ता उपादधन्त "भूयस्कृद् असि" इत्य् एव भूयासोऽभवन्)। महाभारत के शान्तिपर्व, ११८४ मे यह कहा गया है कि "देवासुर संग्राम मे असुर ज्येष्ठ भ्राता थे और देवगण कनिष्ठ भ्राता थे ' (इद तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा। असुरा. भ्रातरो ज्येष्ठाः देवाश् चापि यवीयसः)।

णादि से उत्पन्न दुःख सब को होता है (समान जरा-मरणादि-जं दुःखम्)। भाष्यकार इसकी इस अर्थ में व्याख्या करता है कि इस प्रकार का दुःख सबको समान रूप से होता है—उनको जो ऊर्ध्वगामी होते हैं और उनको भी जो अधोगामी होते हैं; ब्रह्मा से लेकर स्थावरों तक सबको यह दुःख होता है (ऊर्ध्वाधो-गतानाम् ब्रह्मादि-स्थावरान्तानां सर्वेषाम् एव जरा-मरणादि-जं दुःख साधारणम्)।[२३] फिर भी, वह आत्मा जो देवों को और शरीरधारी प्राणियों को जीवन प्रदान करता है, नित्य और अनश्वर होने के कारण ऐसे प्रलयों से बच जाता है और फिर या तो अन्य रूपों में जन्म लेता है अथवा ब्रह्म में विलीन हो जाता है। देखिये विल्सन : विष्णु पुराण पृ० ६३२, नोट ७; और प्रस्तुत ग्रन्थ का तीसरा भाग, जिसमें ब्रह्मसूत्र के आधार पर यह दिखाया गया है कि देवगण भी मुक्ति की इच्छा तथा क्षमता रखते हैं।

(४) देवों की विभिन्न पीढ़ियाँ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध

ऊपर उद्धृत दो स्थलों, ऋग्वेद ६.५९,१ और अ०वे० १.३०,२, से यह अभिप्रेत है कि विद्यमान देवता उन देवों के उत्तराधिकारी हैं जो पहले हो चुके थे। प्रथम मन्त्र की सम्भवतः ऋग्वेद ४.१८,१२ (जैसा कि प्रो० आफ्रेख्त ने मुझे परामर्श दिया है) से व्याख्या होती है : कस् ते मातरं विधवाम् अचक्रत् शयुं कस् त्व अजिघांसत् चरन्तम्। कस् ते देवो अधि मार्डीके आसीद् यत् प्राक्षिणाः पितरम् पादगृह्य। "(हे इन्द्र ?) किसने तुम्हारी माता को विधवा बनाया ? तुम्हें सोते अथवा चलते हुये किसने मारने का प्रयास किया ? जब तुमने अपने पिता के पैरों को पकड़कर उनका वध किया तो तुम्हारी इस क्रीड़ा के समय कौन देवता उपस्थित था ?"[२४] ७.२१,७ में पूर्वकालीन देवों का उल्लेख किया गया

---

[२३] तुकी० रिटर का . हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी, (अंग्रेजी अनुवाद), भाग ३, पृ० ५२८।

[२४] इस कथा की व्याख्या में सायण तैत्तिरीय संहिता ६.१,३,६ का सन्दर्भ देते हैं। तैत्तिरीय संहिता का यह स्थल इस प्रकार है जिसे मैं यह दिखाने के लिये उद्धृत कर रहा हूँ इससे ऋग्वेद के मूल स्थल पर अत्यन्त कम प्रकाश पड़ता है : "यज्ञो दक्षिणाम् अभ्यध्यायत्। ताम् समभवत्। तद् इन्द्रोऽचायत्। सोऽमन्यत 'यो वै इतो जनिष्यते स इदं भविष्यति' इति। ताम् प्राविशत्। तस्या इन्द्र एवाजायत। सोऽमन्यत 'यो वै मद् इतोऽपरो जनिष्यते स इदं भविष्यति' इति। तस्या अनुमृश्य योनिम् आच्छिनत्। सा सूतवशाऽभ-

है : "पूर्वकालीन[२५] देवों ने भी अपनी शक्तियों को तुम्हारे दिव्य पराक्रम से हीन माना था" (देवाश् चित् ते असुर्याय पूर्वे अनु क्षत्राय ममिरे सहांसि)। पूर्वकालीन देवों का यद्यपि सप्तर्षियों के साथ संयुक्त रूपसे (जब तक हम यह न माने कि ये देव सप्तर्षियों के साथ समीकृत हैं) उल्लेख है : "उसके सम्बन्ध में पूर्वकालीन देवों ने कहा, 'सप्तर्षि जो तपस्या के लिये बैठे'", इत्यादि (देवाः एतस्याम् अवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस् तपसे ये निषेदुः)। देवों के पूर्वयुग का ऋग्वेद १०.७२,२ और बाद में भी उल्लेख है : "देवों के पूर्वयुग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। देवों के प्रथम युग में सत् असत् से उत्पन्न हुआ" (देवानाम् पूर्व्ये युगे असतः सद् अजायत। ३. देवानां युगे प्रथमे असतः सद् अजायत)। और ऋग्वेद १.१६४,५० में हमें यह ऋचा मिलती है जिसे १०.९०,१६ (पुरुषसूक्त) में दोहराया गया है : यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवास् तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते ह नाकम् महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः। "यज्ञ से देवों ने यज्ञ का यजन किया : ये आरम्भिकतम धर्म थे। इन महान् शक्तियों ने आकाश की खोज की, पूर्व के साध्य, देव, कहाँ हैं।"[२६]

वत्। तत् सूतवशायै जन्म। तां हस्ते न्यवेष्टयत। ता मृगेषु न्यदधात्। सा कृष्ण विषाणाऽभवत्। 'इन्द्रस्य योनिर् असि मा मा हिंसीर्' इति।" "यज्ञ ने दक्षिणा की इच्छा की। वह उसके साथ समभाव हुआ। इन्द्र को इसकी आशंका थी। उसने विचार किया कि 'जो भी उसकी इच्छा से उत्पन्न होगा वह ऐसा होगा'। उसने उसमें प्रवेश किया। इन्द्र स्वयं उससे उत्पन्न हुआ। उसने विचार किया 'मेरे अतिरिक्त जो भी उससे उत्पन्न होगा 'वह ऐसा होगा।' ऐसा सोचकर उसने उसके गर्भाशय को काट दिया। उसने एक गो उत्पन्न किया", इत्यादि। इनके द्वारा अपने पिता के वध का यहाँ कोई उल्लेख नहीं है।

[२५] सायण कहते हैं इसका अर्थ असुर है।

[२६] मैं यहाँ जएसो० १८६६, पृ० ३९५, में प्रकाशित अपने लेख के कुछ अंशों को उद्धृत करता हूं : "यास्क हमें यह बताते हैं (निरुक्त १२.४१) कि नैरुक्त साध्यों को 'ऐसे देवता मानते थे जो द्युस्थानी थे' (द्युस्थानो देवगणः), जब कि आख्यान के अनुसार यह शब्द एक पूर्वयुग का द्योतक है।" प्रो० विलसन ऋग्वेद १.१६४,५० में 'साध्य' शब्द का 'जिनको प्रसन्न करना है अनुवाद करते हैं। सायण यह आशय न मान कर कहते हैं कि "साधना यज्ञादि-साधन-

ऐसा प्रतीत होता है कि देवों का सदैव एक दूसरे के साथ मैत्री-सम्बन्ध नहीं था। मुझे ऐसा लगता है कि निम्नलिखित दो ऋचाओं, ऋग्वेद ४.३०, ३,५, (यद्यपि सायण का अनुसरण करते हुए प्रो० विलसन द्वारा एक भिन्न रूप से अनूदित) को इन्द्र के देवों के विरुद्ध युद्ध करने के अर्थ में ग्रहण करना चाहिये। देवों को असुरों के विरुद्ध युद्ध करने के अर्थ में नहीं: ३ विश्वे-चन इद् अना त्वा देवासः इन्द्र युयुधुः। यद् अहा नक्तम् आतिरः। ५. यत्र देवान् ऋघायतो विश्वान् अयुध्य एकः इत्। त्वम् इन्द्र वनून् अहन्। ३. "हे इन्द्र! यहाँ तक कि सभी देवों ने उस समय तुमसे युद्ध किया जब तुमने दिन और रात को दीर्घ (?) किया। ५. जब तुमने अकेले ही सभी क्रुद्ध देवों से युद्ध किया, तब तुमने विनाशकों का वध किया।" यह व्याख्या इसी सूक्त की ४,६,८-११ ऋचाओं के आशय द्वारा पुष्ट होती है।[27]

वन्त कर्म देवा।" इन शब्दो की प्रो० विलसन ने १-१६४,५० पर अपनी टिप्पणी मे यह अनुवाद किया है: धार्मिक कृत्यो के अधिष्ठाता या इन्हें सम्पन्न करनेवाले देवता।' फिर भी, यह वास्तविक आशय नही प्रतीत होता, क्योंकि वाज० स० ३१, १७ पर महीधर हमे यह बताते हैं कि "दो प्रकार के देवता हैं", एक 'कर्मदेवा' और दूसरे 'आजानदेवा'। प्रथम वह है जिन्होने अपने कर्मों से देवत्व प्राप्त किया है, और द्वितीय वह है जो सृष्टि के आरम्भ मे उत्पन्न हुये थे। यह द्वितीयवर्ग प्रथम से श्रेष्ठ है, और वृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार इन कर्मदेवताओ के शत आनन्द भी आजानदेवताओ के एक आनन्द के ही बराबर हैं। देखिये इसके तथा और भी बातो के लिये वृहदा-रण्यक उपनिषद् पृ० ८१७ और बाद (पृ० २३० और बाद, अनुवाद का), और शतपथ ब्राह्मण पृ० १०८७। ऋग्वेद १ १६४,५० पर 'साध्य' के लिये सायण द्वारा प्रस्तावित एक दूसरा आशय "छन्दो के अधिष्ठाता देवता" है (छन्दोऽभिमानिन) जो आदित्यगण तथा आङ्गिरस थे, और ब्राह्मण के अनुसार, इन लोगो ने अग्नि की पूजा करके स्वर्ग प्राप्त किया था। प्रो० विलसन यह टिप्पणी करते हैं: "ऐसा प्रतीत होता है कि सायण के समय मे 'साध्य' का आशय अनिश्चित था।" वाज० स० ३१, १६ पर महीधर 'विराड–उपाधि–साधका' शब्द का 'विराज् की स्थिति को उत्पन्न करनेवाले' अनुवाद करते हैं।

[27] मैं यहाँ उल्लेख कर देना चाहता हूँ कि ब्राह्मणग्रन्थ सदैव ही देवो और असुरों दोनों को प्रजापति की सन्तान कहते हैं, जो एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा रखते थे (शतब्रा० ५'१,१,१,६, ६'२,११; ६ ६,३,२)। यहाँ

(५) इनकी शक्तियाँ और इनके अधिकार

देवगण जो कुछ भी चाहें कर सकते हैं। कोई मर्त्य, चाहे वह कितना भी बड़ा विरोधी क्यों न हो देवों की इच्छाओं को अवरुद्ध नहीं कर सकता (ऋग्वेद ८.२८,४ : यथा विशन्ति देवास् तद् इद् असत् तद् एषां नकिर् आ मिनत्। अरावा चन मर्त्यः)। ८.२०,१७ में मरुतों के सम्बन्ध में; ८.५०,४ और ८.५५,४, में इन्द्र के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा गया है। इसी प्रकार ३.५६,१ में यह कहा गया है कि कोई चाहे कितना भी मायावी और बुद्धिमान हो, वह देवों के प्रथम और ध्रुव व्रतों को अवरुद्ध नहीं कर सकता (न ता मिनन्ति मायिनो न धीराः व्रता देवानाम् प्रथमा ध्रुवाणि)। इनका समस्त जीवों पर अधिकार है (१०.६५, १५ः देवान् वसिष्ठो अमृतान् ववन्दे ये विश्वा भुवना अभि प्रतस्थुः)। ८.३०, ३ में इनकी इसलिये स्तुति की गई है कि ये मनुष्यों को उनके पूर्वज, मनु, के पथ से दूर न ले जाँय (मा नः पथः पित्र्याद् मानवाद् अधि दूरं नैष्ट परावतः)। एक स्थल (ऋग्वेद १०.३३, ८ और बाद) पर एक आभारी पुरोहित यह कहता है कि यदि मर्त्यों और अमर्त्यों का स्वामी यहाँ हो तो उसका जीवन दीर्घ हो; किन्तु वह आगे कहता है कि देवताओं की इच्छा के बिना कोई भी जीवित नहीं रह सकता, चाहे वह सौ वर्ष की अवस्था ही क्यों न प्राप्त कर ले; घटनाओं का क्रम ऐसा ही है (८. यद् ईशीय अमृतानाम् उत वा मर्त्यानाम्। जीवेद् इद् मघवा मम। ९. न देवानाम् अति व्रतं शतात्मा चन जीवति। तथा युजा वि वावृते)। एक अन्य स्थान, १०. ११७, १, पर एक उदार दानी इस आश्वासन को दोहराता है कि देवों ने उसे अथवा (अन्य को) भूख से मरने का विधान नहीं किया है, यद्यपि भोजन कर लेने पर भी मृत्यु से छुटकारा नहीं मिलता (न वै उ देवाः क्षुधम् इद् वधं ददुर् उत आशितम् उप गच्छन्ति मृत्यवः)। एक अन्य कवि कहता है कि (१०.६४,२) उन देवों के अतिरिक्त और कोई सहायक नहीं है जिन पर

तक कि ये दोनों ही मूलतः एक समान थे। और यह सिद्ध करने के लिये कि दुष्टात्मायें भी देवता हो सकती हैं, प्रो० रॉथ 'देव' शब्द के अन्तर्गत तैत्तिरीय संहिता ३.५,४,१ से इस आशय का एक स्थल उद्धृत करते हैं : "अग्नि हमारी देवों से, यज्ञों को नष्ट करनेवालो से, यज्ञ भाग को चुरानेवालो से रक्षा करें, जो पृथिवी पर रहते हैं", और अथर्ववेद ३.१५,५ से यह स्थल : "हे अग्नि! हमारे हविष्य से देवो को भगाओ जो सुख का विनाश करनेवाले हैं (? सातघ्नः)।"

ही उसकी समस्त इच्छाओं की पूर्ति निर्भर करती है (न मर्डिता विद्यते अन्यः एभ्यो देवेषु मे अधि कामाः अयंसत)। ये लोग उस क्षेत्र में आनन्द-पूर्वक रहते हैं जिसमें विष्णु ने तीन पाद-प्रक्षेप किये थे (८.२९, ७: त्रीणि एकः उरुगायोऽवि चक्रमे यत्र देवासो मदन्ति। तुकी० १.१५४,४)। ३.५४, ५ में ऋषि पूछता है कि कौन जानता है, कौन बता सकता है कि कौन सा मार्ग देवों तक ले जाता है ?" इनके निम्न आवास तो वास्तव में देखे जा सकते हैं, किन्तु आगे और उच्च तथा गुह्य क्षेत्र भी हैं (को अद्धा वेद कः इह प्र वोचद् देवान् अछ पथ्या का समेति। ददृश्रे एषाम् अवमा सदांसि परेषु या गुह्येषु व्रतेषु)।[२८]

दूसरी ओर, सोमपान करनेवाला अमरत्व का सुख तथा देवों का ज्ञान प्राप्त करता है (८.४८,३: अपाम सोमम् अमृताः अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान्। तुकी० १०.३१,३: नवेदसो अमृतानाम अभूम)।

देवगण अपने पवित्र याजकों को पुरस्कृत करते हैं, और उन्हें दण्डित करते हैं जो उनकी सेवा की उपेक्षा करते हैं: ७.२,१८: इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम् न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। "देवगण ऐसे मनुष्य की इच्छा करते हैं जो हवि डालता है; ये स्वप्न के प्रति स्पृहा नहीं रखते।"

८.३१,१५: मक्षु देववतो रथः शूरो वा पृत्सु कासु चित्। देवानां यः इद् मनो यजमानः इयक्षति अभीद् अयज्वनो भुवत्। १६. न यजमान रिषयसि न सुन्वान न देवयो। "१५. देवोपासक मनुष्य का रथ वेगवान होता है, और ऐसा मनुष्य प्रत्येक युद्ध में शूर होता है। जो याज्ञिक देवताओं के पूजन की कामना करता है वह अयाज्ञिक को पराजित करता है। १६. हे यजमान! तुम नाश को प्राप्त नहीं होते, और न वही जो हवि समर्पित करता है, और न तुम ही, हे देवताओं की पूजा करनेवाले।"

७.३९,२: न देवासः कवत्नवे। "देवगण कृपणों के लिये नहीं हैं।" यथा ४.३३,११ में 'न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः' शब्दों का इसी समान

---

[२८] अन्तिम चार शब्दों की रचना तथा आशय अस्पष्ट है। ये १०.११४,२ में एक भिन्न सन्दर्भ मे पुनः आते हैं, जहां 'याः' स्त्रीलिङ्ग है : "तासाम् नि चिक्युः कवयोनिदानम् परेषु याः गुह्येषु व्रतेषु।" "कविगण उनकी प्रकृति को जानते हैं जो उच्च तथा गुह्य रूप में विद्यमान हैं।" प्रो० मूलर (ऋग्वेद १.२२५) इस अन्तिम पंक्ति का इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "कवियों ने उनकी (निऋतियों की) उत्पत्ति को ढूंढ़ा जो दूरस्थ गुह्य क्षेत्रों में रहते हैं।"

यह अर्थ है कि "देवगण उसके सखा नहीं हैं जो पवित्र कर्मों से श्रान्त हो जाता है" ? जहाँ तक अलग-अलग देवों का सम्बन्ध है, इसी आशय के स्थलों का संग्रह देखिये जए्सो० १८६१, पृ० २८६ और बाद में मेरे लेख में तथा प्रस्तुत ग्रन्थ के पहले भाग में।

शतपथ ब्राह्मण १.१,१,७ के अनुसार "देवगण मनुष्य की इच्छाओं को जानते हैं। वे यह जानते हैं कि मनुष्य इस कर्म को सम्पन्न करने की इच्छा रखता है और प्रातःकाल हवि समर्पित करेगा; फलस्वरूप वे सभी उसके घर आते हैं और वहाँ निवास करते हैं (मनो ह वै देवाः मनुष्यस्य आजानन्ति। ते एनम् एतद् व्रतम् उपयन्तं विदुः प्रातर् नो यक्ष्यते इति। ते अस्य विश्वे देवाः गृहान् आगच्छन्ति ते अस्य गृहेषु उपवसन्ति)।

मैंने यहाँ ऐसी चारित्रिक विशिष्टताओं और ऐसे गुणों के संग्रह का प्रयास किया है जिनसे देवों को सामूहिक रूप से सयुक्त किया गया है। अनेक देवताओं का विवेचन करने वाले खण्डों में प्रत्येक देवता के गुण और कार्य को विस्तार से प्रस्तुत किया जायगा।



खण्ड २

द्यौस्[29] और पृथिवी

मैं द्यौस् और पृथिवी से आरम्भ करता हूँ जो अत्यन्त प्राचीन आर्य देवता प्रतीत होते हैं तथा जिनका ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर अन्य देवताओं के पिता-माता के रूप में वर्णन किया गया है।

ऐसी बहुसंख्यक असम्बद्ध ऋचा में, जिनमें इन देवताओं को पूजा की अन्य वस्तुओं के बीच प्रस्तुत अथवा इन्हें धार्मिक कर्मों में उपस्थित होने के लिये आमन्त्रित अथवा इनसे विभिन्न आशीर्वाद प्रदान करने का निवेदन किया गया है, के अतिरिक्त अनेक ऐसे सूक्त[30] भी हैं (१.१५९; १.१६०; १.१८५; ४.५६, ६.७०; और ७ ५३) जिन्हें विशेष रूप से इनके सम्मान में समर्पित किया गया है। इन्हें जिस रूप में सम्बोधित किया गया है उसके उदाहरण के रूप में मैं प्रथम मण्डल के १५९वें तथा १६० वें सूक्तों के कुछ अंशों का अनुवाद (जो मुझे भय है कि बहुत सन्तोषजनक नहीं है) प्रस्तुत कर रहा हूँ।

१.१५९.१ : प्र द्यावा यज्ञैः पृथिवी ऋतावृधा मही स्तुषे विदथेषु प्रचेतसा। देवेभिर् ये देवपुत्रे सुदंससा इत्था धिया वार्याणि प्रभूषतः। २. उत मन्ये पितुर् अद्रुहो मनो मातुर् महि स्वतवस् तद् हवीमभिः। सुरेतसा पितरा भूम चक्रतुर् उरु प्रजायाः अमृतम् वरीमभिः। "यज्ञों को पुष्ट करनेवाली, ज्ञानवर्द्धिनी आकाश पृथिवी की मैं पूजा करता हूँ। ये महान्, बुद्धिमान, स्फूर्तिमान हैं, देवगण इनकी सन्तान हैं। ये देवगण के साथ वरणीय धनों को देते हैं। मैं अपने स्तवनों से आकाशरूप पिता और पृथिवी-रूप माता के महत्त्व का चिन्तन करता हूँ। इन अत्यन्त पुरुषार्थी पितरों ने जीवों को प्रगट किया और अपनी कृपा से अपनी सन्तान को विस्तृत अमरत्व प्रदान किया है।"

---

[29] इस शब्द का रूप "द्यु" है। मैं प्रथमा रूप 'द्यौस्' का इसके यूनानी 'ज्यूस' के साथ साम्य के कारण व्यवहार कर रहा हूँ। इसका षष्ठी रूप 'दिवस्' है।

[30] देखिये अवे० ४ २६ भी। ऋग्वेद ५.८४,१ में अकेले पृथिवी की प्रशस्ति है। १.१८५ सूक्त का एम० ए० रेग्नियर ने अनुवाद किया है।

१.१६०,२ : उरुव्यचसा महिनी असश्चता पिता माता च भुवनानि रक्षत. ।...४. अयम् देवानाम् अपसाम् अपस्तमो यो जजान रोदसी विश्व-शम्भुवा । वि यो ममे रजसी सुक्रतूयया अजरेभिः स्कम्भनेभिः समानृचे ।। ५. ते नो गृणाने महिनी महि श्रवः क्षत्र द्यावापृथिवी धासथो महत् । येनाभि कृष्टीस् ततनाम विश्वहा पनाय्यम् ओजो अस्मे सम इन्वतम् ।। "२. अत्यन्त विस्तृत, विशाल अविच्छिन्न पिता और माता सब भुवनों की रक्षा करते हैं । "४. वह उन श्रेष्ठ देवताओं में श्रेष्ठ था जिन्होंने इन दोनों लोकों की रचना की जो सब के लिये कल्याणकारी हैं । एक श्रेष्ठ लोक की रचना की इच्छा से उसने इन दोनों लोकों को विस्तृत किया तथा इन्हें जीर्ण न होनेवाले स्तम्भों पर टिका दिया । ५. स्तुति करने पर द्यौस् और पृथिवी हमें महान् ऐश्वर्य और बल प्रदान करें । वे हमें स्तुत्य बल दें जिससे हम सदैव अन्य प्राणियों का नियन्त्रण करें ।"

इन सूक्तों में द्यौस् और पृथिवी को प्रचुर उपाधियों से विभूषित किया गया है जो न केवल ऐसी ही हैं जो इनकी भौतिक विशिष्टताओं, जैसे विशालता, महानता, उर्वरता, अपरिवर्तनशीलता (उरुव्यचसा, महिनी, उर्वी, बहुले, दूरेअन्ते, गभीरे, घृतवती, मधुदुघे, भूरिरेतसा, पयस्वती, अजरे) (१.१६०,२; १.१८५,७; ४.५६,३; ६.७०,१,२) द्वारा संसूचित होती हैं, वरन् ऐसी भी हैं जिनकी प्रकृति नैतिक अथवा आध्यात्मिक है, जैसे ऋता-वृधा, ऋतावरी, प्रचेतसा, अद्रुहा (१.१५९,१ और बाद; १.१६०,१; ४.५६,२; ६.७०,६; १०.३६,२) आदि ।

(१) सार्वभौमिक पितरों के रूप में द्यौस् और पृथिवी का वर्णन

दोनों (द्यौस् और पृथिवी) को एक साथ 'पितरा' (१.१५९,२;३.३, ११;७.५३,२;१०.६५,८ में), अथवा 'मातरा' (१.१५५,३;९,८५,१२;१०.१, ७;१०.३५,३,[३१] १०.६४,१४ में), अथवा 'जनित्री' ('द्यावा-पृथिवी जनित्री', ऋग्वेद १०.११०,९ में) कहा गया है । अन्य स्थलों पर द्यौस् को पृथक रूप से पिता और पृथिवी को माता कहा गया है (ऋग्वेद १.८९,४; १.९०,७; १.१५९,२; १.१६०,२; १.१८५,११; ४.१,१०; ५.४२,१६; ५.४३, २,१५; ६.५१,५;[३२] ६.७०,६; ६ ७२,२; ८.९२,२; १०.५४,३; १० ८८,

[३१] यहाँ इनसे निष्पाप याजकों की रक्षा करने की स्तुति की गई है । ऋग्वेद ६.१७, ७ में इन्हें 'मातरा यह्वी ऋतस्य' कहा गया है ।

[३२] मूल के शब्द यहाँ "द्यौष्पितः पृथिवी मातर् अध्रुग् अग्ने भ्रातर् वसवो मृळता नः" हैं । अवे० ६.४,३ मे 'द्यौष्पितर् यावय दुच्छुना या" है ।

१५ = वासं० १९,४७, में)। देखिये अथर्ववेद २.२८,४; ३.२३,६; ६.४,३; ६.१२०,२; ८.७,२, और १२.१,१०। इसी वेद में १२.१,१२ में कवि यह कहता है : "पृथवी माता है और मैं पृथिवी का पुत्र हूँ; पर्जन्य पिता है; वह हमें पुष्ट करे (माता भूमिः पुत्रो अहम् पृथिव्याः। पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु)। पुनः, इसी सूक्त के ४२वें मन्त्र में कवि यह कहता है : पर्जन्य की पत्नी, पृथिवी की स्तुति करनी चाहिये; उस पृथिवी की स्तुति करनी चाहिये जो वर्षा से अपनी सम्पन्नता प्राप्त करती है (भूम्यै पर्जन्य-पत्न्यै नमोऽस्तु वर्ष-मेदसे)। जैसा कि देखा जा सकता है, यहाँ पृथिवी के पति के रूप में द्यौस् का स्थान पर्जन्य ले लेता है।[33]

ऐतरेय ब्राह्मण ४.२७ में हमें द्यौस् और पृथिवी के विवाह का यह सन्दर्भ मिलता है : इमौ वै लोकौ सह आस्ताम्। तौ व्यैताम्। न अवर्षत् न समतपत। ते पञ्चजनाः न समजानत। तौ देवाः समनयन्। तौ संयन्ताव् एत देव-विवाहं व्यवहेताम् ।...असौ वै लोकः इम लोकम् अभि पर्यावर्त्तत। ततो वै द्यावापृथिवी अभवताम्। न द्यावा अन्तरिक्षाद् न अन्तरिक्षाद् भूमिः। प्रो० हॉग ने इसका इस प्रकार अनुवाद किया है (भाग २.३०८) : "ये दोनों लोक (आकाश और पृथिवी) एक समय एक साथ मिले हुये थे। बाद में ये पृथक् हुये। इनके पृथक् होने के बाद न तो वर्षा हुई, न सूर्य का प्रकाश हुआ। तब पञ्चजन (देवता, मनुष्य, इत्यादि) एक दूसरे के साथ चल नहीं सके : तब देवों ने इन दोनों लोकों में एक सम्बन्ध कराया। दोनों ने देवों द्वारा अनुसरित कर्मों के अनुसार विवाह किया।" शेष अंश का मैं इस प्रकार अनुवाद कर रहा हूँ : "वह लोक इस लोक के पास आया, इससे आकाश और पृथिवी उत्पन्न हुए; न तो आकाश (द्यावा) अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुआ और न तो भूमि (पृथिवी) ही अन्तरिक्ष से उत्पन्न हुई।"

आकाश (द्यौस्) और पृथिवी को न केवल मनुष्यों का ही वरन् देवों का भी पितर माना गया है जो कि अनेक ऐसे स्थलों से स्पष्ट है जहाँ इन्हें "देव-पुत्रे" (देवता जिनके पुत्र हों) कहा गया है (उदाहरण के लिये देखिये १.१०६,३; १ १५९,१; १.१८५,४;[34] ४.५६,२; ६.१७,७; ७.५३,१; १०.

[33] तैत्तिरीय आरण्यक, पृ० ७३, में यह कथन है : "जाया भूमिर् पतिर् व्योम। मिथुन ता इत्यादि।" "भूमि पत्नी है, और व्योम पति है; ये युग्म हैं।" मनु यह कहते हैं (२२२५) : "माता पृथिव्याः मूर्तिः"। "माता पृथिवी की मूर्ति है।"

[34] ६वें मन्त्र में इन्हें 'जनित्री' कहा गया है।

११,९)। इसी प्रकार यह कहा गया है (७.९७,८ में) कि "दिव्य लोकों (अर्थात् द्यौस् और पृथिवी), देवों के पितरों ने अपनी शक्ति से बृहस्पति को पुष्ट किया" (देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पति वावृधतुर् महित्वा)[35]; और १०.२,७ में यह कहा गया है कि त्वष्टा के साथ और जलों के साथ इन लोगों ने अग्नि को उत्पन्न किया (यं त्वा द्यावा-पृथिवी यं त्व् आपस् त्वष्टा यं त्वा सुजनिमा जजान)। और अनेक स्थलों पर इन्हें सभी जीवों का निर्माण करनेवाला (पितरा भूम चक्रतुः) और उन्हें धारण करनेवाला (पिता माता च भुवनानि रक्षतः। विश्वं त्मना बिभृथो यद् ह नाम) कहा गया है (देखिये १.१५९,२; १.१६०,२; १.१८५,१)।[36]

अगले खण्ड में हम देखेंगे कि ऋग्वेद १०.६३,२ के अनुसार देवों की त्रिविध उत्पत्ति बताई गई है—कुछ अदिति से उत्पन्न, अन्य अन्तरिक्षीय जलों से उत्पन्न, तथा कुछ अन्य पृथिवी से उत्पन्न हुये बताये गये हैं।

(२) इसी आशय के अभिजात लेखकों के स्थल

किन्तु केवल प्राचीन भारतीय पुराकथाशास्त्र में ही ऐसा नहीं है कि आकाश तथा पृथिवी को सार्वभौमिक पितर माना गया है। एक हाल के फ्रेञ्च लेखक ने यह देखा है कि "आकाश तथा पृथिवी का विवाह सैकड़ों पुराकथाओं का आधार है।"[37] हेसियड की थियॉग्नी (११६ और बाद) के अनुसार शून्य से जो प्रथम वस्तु प्रगट हुई वह "सभी वस्तुओं की दृढ़ आवास, विस्तृत वक्षस्थल वाली पृथिवी ही थी।" इसने बाद में तारों से युक्त आकाश को उत्पन्न किया जो इसके साथ सह-विस्तृत तथा चारों ओर से इसे आवृत्त करनेवाला था।"[38] इन दो शक्तियों के संयोग से 'ओशनोस', 'क्रोनोस',

---

[35] ३.५३,७ और ४.२,१५ मे अङ्गिरसो को दिवस्पुत्राः' (द्यौस् के पुत्र) कहा गया है। देखिये १०.६२,६ और ३ भी।

[36] एक स्थल (६.५०,७) पर जलो को समस्त चराचर जगत की माता (जनित्री) कहा गया है। तुकी० शतपथ ब्राह्मण का स्थल, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग मे उद्धृत किया गया है; और ऋग्वेद १०.१२१,७; १०.२९,३। अ०वे० ११.५४,१ मे स्वयं जलो को भी 'काल' से उत्पन्न कहा गया है (कालाद् आप· समभवन्)।

[37] एम० ऐलवर्ट रेविले : एसे, पृ० ३८३। देखिये इसकी ही पृष्ठ २९१ और २९८।

[38] मूल मन्त्र को वरुण से सम्बद्ध खण्ड के अन्त मे देखा जा सकता है।

'साइक्लोपीज', 'रिया' इत्यादि उत्पन्न हुये (१३२ और बाद)। पुनः 'क्रोनोस' तथा 'रिया' से ज्यूस, हेरे तथा अन्य देवता उत्पन्न हुये (४५३ और बाद)। अपने 'वर्क्स ऐण्ड डेज़' (५६१) में हेसियड पृथिवी को "समस्त वस्तुओं की माता पृथिवी" कहता है।[३९]

होमरिक सूक्तों में एक १९ पंक्तियों का ऐसा सूक्त है जो "समस्त वस्तुओं की माता" को सम्बोधित है तथा इस प्रकार आरम्भ होता है: "मैं उस पृथिवी का गायन करूँगा जो सार्वभौमिक माता, सुदृढ़ और सर्वाधिक पूज्य है, जो भूमि पर रहनेवाले सभी जीवों का पोषण करती है," इत्यादि। ५-६ में यह कहा गया है कि मर्त्यों को जीवन देना तथा उसे ले लेना पृथिवी पर निर्भर करता है। १६ वें श्लोक में पृथिवी को एक पूज्य देवी के रूप में सम्बोधित किया गया है तथा ५.१७ में "इसे देवों की माता तथा तारों से युक्त यूरेनोस की पत्नी कहा गया है।

अपने प्रोमेथियस विंक्टस, ८८ और बाद में एचिलस प्रोमेथियस से यह कहलाता है: "हे दिव्य आकाश, हे बहु-पंखोंवाले झञ्झावात, हे नदियों के स्रोत, हे सागर की विविध मुस्कान, और हे पृथिवी, सार्वभौमिक माता; और सबको देखनेवाले सूर्य के बिम्ब, मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ।"

थेबीस १६, के विरुद्ध सेवेन्स में एटियोक्लीज "माता पृथिवी, सर्वाधिक प्रिय धाय" की चर्चा करता है। यूमेनाइडीज़ के आरम्भ में यही कवि पृथिवी की प्रथम देवदूती के रूप में पूजा करता है। और एचिनस के ४१ वें फ्रेगमेण्ट्स में एफ्रोडाइट को यह कहते हुए प्रस्तुत किया गया है: "शुद्ध आकाश पृथिवी पर एक कामुक प्रहार करना चाहता है, और वैवाहिक संयोग के लिये पृथिवी को पकड़ना चाहता है। आर्द्र आकाश से गिरनेवाली वर्षा पृथिवी को गर्भित करना चाहती है तथा मर्त्यों के लिये भेड़ों का भोजन तथा डेमेटेर की पुष्टि लाती है। वनों की शाद्वलता भी इस विवाह से उत्पन्न छींटों से पूर्णता प्राप्त करती है। इन सब बातों का मैं (एफ्रोडाइट) अंशतः एक कारण हूँ।"

सोफोक्लीस भी अपने इडियस कोलोनियस, १४८०, में कोरस से "माता पृथिवी' की चर्चा करता है, और इसके ऐन्टीगोन, ३३८, में पृथिवी को "देवों में उच्चतम, अनश्वर और अश्रान्त कहा गया है।" इसके फिलॉक्टेटिस, ३९१, में पृथिवी को "सबको पुष्ट करनेवाली और स्वयं ज्यूस की माता पृथिवी" के रूप में सम्बोधित किया गया है।

---

[३९] जिस पंक्ति में ये शब्द आते हैं उसे प्रक्षिप्त माना गया है।

यूरीपाइडिस भी, अपने हिप्पोलिटस, ६०१, में अपने नायक से "माता पृथिवी" का आवाहन कराता है; और हेलेना ३९ में भी ऐसा ही है। पुनः, इसी नाटक, ११२, में नायिका आकाश को पिता कहती है।

अपने बेकाइ, २७४, में यही कवि टिरेसियस से पृथिवी को देवी डेमेटेर से इस प्रकार समीकृत कराता है : "हे युवा ! मनुष्यों में दो बातें प्रथम हैं—देवी डेमेटर और यही पृथिवी है। इसे इनमें से किसी भी नाम से पुकारा जा सकता है। यह मर्त्यों को शुष्क पोषक तत्त्वों से पुष्ट करती है।"[४०] दूसरा देवता डायोनिसस है जो इन्हें अंगूर का रस देता है।

और इसी नाटककार के क्रिसीप्पस के छठवें फ्रैगमेण्ट में हमें निम्नलिखित स्थल मिलता है :

"शक्तिशाली पृथिवी, और जोव् का ईथर—इनमें से एक मनुष्यों और देवों का जनक है और दूसरा, वर्षा के बिन्दुओं को ग्रहण करके मर्त्यों को, भोजन को, और पशुजातियों को उत्पन्न करता है—अतः इसे सबकी माता कहना अनुचित नहीं है।"[४१]

पिण्डर (नेम० ६.१ और बाद) ने भी पृथिवी को देवों और मनुष्यों को समान रूप से धारण करनेवाली माता माना है : "मनुष्यों की एक जाति है, तथा देवों की भी एक; किन्तु दोनों ही एक माता से अपना जीवन प्राप्त करते हैं।"

---

[४०] मिस्र की जगत्सृष्टिमीमांसा का वर्णन करते हुये डियोडोरस सिक्यूलस, १.१२, भी पृथिवी को डेमेटर के साथ इस प्रकार सम्बद्ध करता है. "और वह यह कहते हैं कि उत्पन्न वस्तुओं के एक प्रकार के आलय के रूप में पृथिवी की कल्पना करके वे इसे माता कहते हैं। और इसी प्रकार यूनानी भी इसे अक्षर के थोडे परिवर्तन के साथ (गेमेटेर के लिये डेमेटेर) डेमेटेर कहते हैं, क्योंकि पूर्वकाल से ही इसे पृथिवी माता (जेन् माटेर) कहते हैं, जैसा कि ऑर्फियस भी उस समय प्रमाणित करते हैं जब वह यह कहते हैं कि "सबकी माता पृथिवी, धन देनेवाली डेमेटेर।"

[४१] देखिये प्लेटो : रिपब्लिक, ३.२० "किन्तु जब उनका पूर्णतया निर्माण हो गया, और उनकी माता, पृथिवी, ने उन्हें भेजा," इत्यादि। देखिये मेनेक्सेनस, खण्ड ७, जिससे मैं निम्न उद्धरण दे रहा हूँ : "जिससे हमारी अपनी भूमि तथा माता (ऐटिका) इस बात का पर्याप्त प्रमाण देती है कि उसने मनुष्यों को उत्पन्न किया है", इत्यादि। और : "क्योंकि गर्भित होने तथा सन्तान उत्पन्न करने मे पृथिवी स्त्री का अनुकरण नहीं करती बल्कि स्त्री पृथिवी का अनुकरण करती है।"

हेलीकार्नेसस के डियोनीसियस, भाग ५, पृ० ३५५ (डियोड० सि० १.७;[42] यूसेब० पी० ई० १.२०)[43] के निम्नलिखित स्थल में तथा यूरीपाइडिस के उस फ्रैगमेण्ट में जो इसमें सुरक्षित है, हम यह देखते हैं कि ऊपर उद्धृत ऐतरेय ब्राह्मण द्वारा प्रतिपादित आकाश तथा पृथिवी सम्बन्धी सिद्धान्त के समान एक सिद्धान्त को यहाँ दार्शनिक एनेक्सागोरस पर आरोपित किया गया है जिसे इसके इस कवि शिष्य ने व्यक्त किया है :

"यूरीपाइडिस एनेक्सागोरस के भाषणों को सुना करता था। उस दार्शनिक का यह सिद्धान्त था कि सभी वस्तुयें मिश्रित थीं (अर्थात् सभी वस्तुयें सभी वस्तुओं में विद्यमान थीं) किन्तु बाद में पृथक् हो गईं। यूरीपाइडिस बाद में सॉक्रेटीज़ से सम्बद्ध हो गया तथा इस सिद्धान्त पर शंका करने लगा। तदनुसार वह प्राचीन सिद्धान्त को मेलानिप्पे के मुख से ग्रहण करता है। 'यह मेरा कथन नहीं है बल्कि मेरी माता से मुझे प्राप्त हुआ है कि पहले आकाश और पृथिवी एक ही द्रव्य थे; किन्तु जब ये एक दूसरे से पृथक् हुये तब इन्होंने सभी वस्तुओं को जन्म दिया तथा वृक्षों, पक्षियों, पशुओं, मत्स्यों, और मर्त्यों की जाति को प्रकाश में ला दिया'।"

समस्त वनस्पतियों के उत्पन्न होने के स्रोत, तथा समस्त प्राणियों के आवास के रूप में 'माता' उपाधि स्वभावतः पृथिवी के लिये व्यवहृत हुई है। लुक्रेटियस ने भी "डे रेरुम नेचुरा', में इसी बात को व्यक्त किया है (७९३ और बाद, तथा ८२१)। पिता के रूप में आकाश की धारणा के लिये देखिये इन्हीं का २.९९१[44], ९९८, और श्लोक ७९९ भी। इन स्थलों की ओर मेरा ध्यान प्रो० सेलर के 'रोमन पोयेट्स ऑफ दि रिपब्लिक', पृ० २३६, २४७,

---

[42] डियोडोरस अपने १७ को आरम्भ करते हुए उसमें यूरीपाइडिस की इन पंक्तियों को उद्धृत करते हैं· वह हमें बताता है कि कुछ चिन्तकों के मत से "आकाश और पृथिवी का वस्तुओं के मौलिक गठन के अनुसार केवल एक ही रूप था जिसमें दोनों के प्राकृतिक गुण मिश्रित थे; किन्तु बाद में जब एक का शरीर दूसरे से पृथक् हो गया तो संसार ने वह नियमित व्यवस्था प्राप्त की जो आज हम देखते हैं" इत्यादि। इस विकास का विवरण देने के बाद यह निष्कर्ष निकाला गया है : "जगत् की प्रकृति के सम्बन्ध में यूरीपाइडिस का, जो भौतिक दार्शनिक एनेक्सागोरस का शिष्य था, मत उससे भिन्न नहीं था जिसका उल्लेख किया गया है।"

[43] देखिये डब्लू० डिण्डॉर्फ का यूरीपाइडिस, भाग २, पृ० ९१५।

[44] तुकी० अ०वे० १२.१, १२,४२, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है

और २७६, में इनके सन्दर्भ के कारण गया है। देखिये लुक्रेटियस १.२५० और ३१८ भी। देखिये श्री मुनरो द्वारा अपने 'नोट्स ऑन लुक्रेटियस' श्लोक ३१८, द्वारा उद्धृत पेकूवियस ८६, तथा लुक्रे० १.२५० पर इनकी टिप्पणी में ही वर्जिल, ज्यार्जिक्स, २.३२५, भी। श्री मुनरो अपने इस ग्रन्थ में यह टिप्पणी करते हैं: "वेदों से लेकर पेर्विगिलियम वेनेरिस तक कवि तथा दार्शनिक आकाश तथा पृथिवी के इस संयोग की, पिता के रूप में आकाश की जो माता पृथिवी की गोद में वर्षा के रूप में गिरता है, प्रशस्ति करना चाहते हैं।" देखिये इसी लेखक की लुक्रे० २.९९१ पर टिप्पणी।[४५] टेसिटस भी हमें अपने जर्मेनिया, ४०, में यह सूचित करते हैं: "कोई भी अन्य ऐसी विशेष बात नहीं है जिसके सम्बन्ध में टिप्पणी की जाय। केवल इतना ही उल्लेखनीय है कि ये सभी 'अर्था', अर्थात् 'माता पृथिवी' की पूजा करते हैं और यह मानते हैं कि पृथिवी मनुष्यों के कार्यों में हस्तक्षेप करती है तथा राष्ट्रों के बीच भ्रमण करती है।"[४६]

(३) अन्यत्र द्यौस् और पृथिवी को सृजित कहा गया है

दूसरी ओर, आकाश (द्यौस्) और पृथिवी को कुछ स्थलों पर स्वयं भी सृजित कहा गया है। इस प्रकार, यह कहा गया है (१.१६४,४; ४.५६,३), कि जिसने आकाश और पृथिवी को उत्पन्न किया वह सभी देवों में सर्वाधिक कुशल शिल्पी रहा होगा[४७] (अयं देवनाम् अपसाम् अपस्तमो

---

[४५] देखिये मैक्समूलर का 'लेक्चर्स ऑन लैंग्वेज', २.४५९, और श्री सी० ब्रूसा का जएसो० १९. ३३० और बाद मे पृथिवी सम्बन्धी वैदिक धारणा-विषयक लेख।

[४६] एफ० रिटर का सस्करण।

[४७] मुख्यतः इन शब्दों से आकाश तथा पृथिवी की स्तुति का आशय रहा होगा, जिनका तात्पर्य यह है कि आकाश तथा पृथिवी जैसे महान् उत्पादन का प्रणेता प्राणियो में सर्वाधिक विशिष्ट रहा होगा (देखिये ऋग्वेद १.१६०,४ पर सायण, जो यह कहते हैं कि "पिछले मन्त्र में आकाश और पृथिवी की इनके पुत्र, सूर्य, की प्रशस्ति द्वारा इनकी महानता के कथन के पश्चात् कवि अब इनके निर्माता की प्रशस्ति द्वारा इनकी महानता को कहता है।")। किन्तु यह इस बात को भी सूचित करता प्रतीत होता है कि लेखक के विचार मे आकाश और पृथिवी किसी और महानतर प्राणी द्वारा उत्पन्न किये गये हैं। ४.१७,४ में इसी प्रकार यह कहा गया है कि "इन्द्र का निर्माता अत्यन्त कुशल कलाकार था।"

यो जजान रोदसी विश्वशम्भुवाः स इत् स्वपा भुवनेषु आसयः इमे द्यावा-पृथिवी जजान)। पुनः, इन्द्र को इनका जनक बताया गया है (जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः) (६.३०,५; ८.३६,४)।[४८] इन्द्र ने अपनी शक्ति तथा कुशलता द्वारा इनका सुन्दरतापूर्वक निर्माण किया (१०.२९,६ः मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर् मज्मना पृथिवी काव्येन)। इन्द्र ने अपने शरीर से पिता और माता (जिनमे स्पष्टतः आकाश और पृथिवी उद्दिष्ट हैं) को उत्पन्न किया (१०.५४,३ : का उ नु ते महिमनः समस्य अस्मत् पूर्वे ऋषयो अन्तम् आपुः। यन् मातरं च पितरं च साकम् अजनयथास् तन्वः स्वायाः)। इन्द्र ने इन्हें अपने उपासक को प्रदान किया (३.३४,८ : ससान यः पृथिवीं द्याम् उतेमाम्); इन्हें धारण किया और पुष्ट किया (दधार यः पृथिवीम् द्याम् उतेमाम्) (३.३२,८; ३.४४,३; ६.१७,७, १०.५५.१);[४९] अपने हाथ में पकड़ रक्खा है (३.३०,५ : इमे चिद् इन्द्र रोदसी अपारे यत् संगृभ्णाः मघवन् काशिर् इत् ते); एक चर्म की भांति फैलाया (८.६,५ : ओजस् तद् अस्य तित्विषे उभे यत् समवर्त्तयत्। इन्द्रश् चर्मेव रोदसी)। अन्यत्र (६.३०,१) इसी देवता को आकाश तथा पृथिवी से बड़ा बताया गया है क्योंकि ये दोनों इस देवता के केवल आधे के ही बराबर हैं[५०] (प्र रिरिचे दिवः इन्द्रः पृथिव्याः अर्द्धम् इद् अस्य प्रति रोदसी उभे)। आगे इन्हें उसी प्रकार इन्द्र का अनुसरण करनेवाला बताया गया है जिस प्रकार रथ का पहिया घोड़ों का अनुसरण करता है (८.६,३८ : अनु त्वा रोदसी उभे चक्रं न वर्ति एतशम्)। इन्हें इन्द्र के सम्मुख नत बताया गया है (१.१३१,१ : इन्द्राय हि द्यौर् असुरो अन-

---

[४८] अथर्ववेद १२.१,१० में यह कथन है : हमारी माता पृथिवी, जिसे शक्ति के देवता इन्द्र ने अपना मित्रवत् बनाया, मुझ अपने पुत्र को दूध दे (इन्द्रो या चक्रे आत्मने अनमित्रां शचीपतिः। सा नो भूमिर् विसृजताम् माता पुत्राय मे पयः)।

[४९] इस ऋचा में उल्लिखित इन्द्र के भ्राता के पुत्र कौन हैं (भ्रातु. पुत्रान्), और भ्राता कौन है ?

[५०] ८.५९,५ में यह कहा गया है "हे इन्द्र ! यदि सौ आकाश और सौ पृथिवी तुम्हारे होते, सहस्र सूर्य भी तुम्हारी, हे वज्रिन, बराबरी नहीं कर सकते थे, और न कोई जात या दोनों लोक ही तुम्हारी बराबरी कर सकते हैं" (यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतम् भूमिर् उत स्युः। न त्वा वज्रिन् सहस्रं सूर्या अनु न जातम् अष्ट रोदसी' ।

-म्नत इन्द्राय मही पृथिवी वरीमभिः)"[51]। ये इन्द्र के भय से काँपते हैं (४.१७,२ : तव त्विषो जनिमन् रेजत द्यौः रेजद् भूमिर् भियसा स्वस्य मन्योः)।[52] देखिये ४.२२,३ और बाद; ६.१७,९, ८,८६,१४। ये इन्द्र की महानता से अस्तव्यस्त हैं (७.२३,३ : वि बाधिष्ट रोदसी महित्वा इन्द्रः); ये इन्द्र के साम्राज्य के आधीन हैं (१०.८९,१० : इन्द्रो दिवः इन्द्रः ईशे पृथिव्याः); ये इन्द्र की शक्ति की स्तुति करते हैं (८.८२,१२ : अध ते अप्रतिष्कुतं देवी शुष्मं सपर्यतः । उभे शुशिप्र रोदसी)। आकाश और पृथिवी की सृष्टि का अन्य देवों को भी श्रेय दिया गया है, जैसे सोम और पूषन् को (२.४०,१ : सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनाना पृथिव्याः); सोम को (९.९८,९ : स वां यज्ञेषु मानवी इन्दुर् जनिष्ट रोदसी। देवो देवी इत्यादि।[53] देखिये ९.९०,१; ९.९६,५ भी); धाता को (१०.१९०,३ : सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम्[54] अकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षम् अथो स्वः); हिरण्यगर्भ को (१०.१२१,९ : मा नो हिंसीज् जनिता यः पृथिव्याः यो वा दिवं सत्यधर्मा जजान; तुल० मन्त्र ५)। यद्यपि ये स्वयं भी पितर हैं, तथापि इन्हें त्वष्टा से अपना रूप और आकार प्राप्त करनेवाला कहा गया है (१०.११०,९ : यः इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैर् अपिंशद् भुवनानि विश्वा)। इनको क्रमशः पुरुष के शीर्ष और पैरों से उत्पत्ति हुई (१०.९०,१४ : नाभ्याः अस्य अन्तरिक्षम् शीर्ष्णो

---

[51] द्यौस् को यहाँ 'असुरः' कहा गया है, जैसा कि ३.५३,७ में भी है।

[52] प्रथम दृष्टि में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि इस सूक्त की चौथी ऋचा के अनुसार द्यौस् इन्द्र का पिता है (देखिये प्रो० विलसन का अनुवाद, भाग ३, पृ० १५१)। किन्तु अर्थ यह प्रतीत होता है : "आकाश ने प्रशंसा की कि तुम्हारा पिता एक वीर योद्धा था। जिसने इन्द्र को बनाया वह सर्वाधिक कुशल कलाकार था। उसने दिव्य वज्रिन् को बनाया जो उसी प्रकार दृढ है जिस प्रकार ससार अपने स्थान पर दृढ है।" इसकी प्रथम ऋचा द्वारा पुष्टि होती है, जो यह कहती है कि आकाश ने इन्द्र की शक्ति को स्वीकार किया; और दूसरी ऋचा भी इसे पुष्ट करती है जो आकाश को इन्द्र के जन्म से कंपित बताती है। देखिये ६.७२,३ भी।

[53] दोनों लोकों, रोदसी, को यहाँ 'देवी' तथा 'मानवी' कहा गया है।

[54] यह उल्लेखनीय है कि यहाँ धाता को सूर्य, चद्रमा, आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग का, पूर्व की ही भाँति, निर्माता कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ भी पौराणिक धारणा की ही भाँति इनका पूर्व समय में अस्तित्व था और प्रलय में नाश हो गया।

द्यो: समवर्त्तत । पद्भ्यां भूमि:) । मित्र इन्हें धारण करते हैं (३.५९,१); सविता इन्हें धारण करते हैं (४.५३,२; १०.१४९,१ : सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णाद् अस्कम्भने सविता द्याम् अदृंहत्); वरुण इन्हें धारण करते हैं (६.७०,१; ७.८६,१; ८.४२,१); इन्द्र और सोम इन्हें धारण करते हैं (६.७२,२), सोम इन्हें धारण करते हैं (९.८७,२), और हिरण्यगर्भ इन्हें धारण करते हैं (१०.१२१,५) ।

(४) इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कल्पनायें

अन्य स्थलों पर हमें इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में कल्पनायें मिलती हैं। १.१८५,१ में अमित कवि पूछता है कि "इन दोनों में से कौन पूर्व[५५] और कौन अपर है ? इनकी उत्पत्ति कैसे हुई ? ऋषिगण, कौन जानता है ?" (कतरा पूर्वा कतरा अपरा अयो: कथा जाते कवयो: को वि वेद) ।[५६] ७.३४,२ में जलों को आकाश और पृथिवी के जन्मस्थान को जाननेवाला कहा गया है (विदुः पृथिव्याः दिवो जनित्र शृण्वन्ति आपो अध क्षरन्तीः) । १०.३१,७ में ऋषि पूछता है : "वह वन कौन था, वह वृक्ष कौन था, जिससे उन लोगों ने उन आकाश तथा पृथिवी का निर्माण किया जो तब भी अनश्वर और सतत् बने रहते हैं जब कि दिवस तथा अनेक उषायें समाप्त हो जाती हैं ?" (किं स्विद् वनं कः उ स वृक्षः आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षु: । सतस्थाने अजरे इतऊती अहानि पूर्वीर् उषसो जरन्त) । इसी प्रश्न को १०.८१,४ में दोहराया गया है;[५७] और इसी सूक्त की दूसरी तथा तीसरी ऋचा में आकाश तथा पृथिवी के निर्माण का श्रेय एकमात्र विश्वकर्मा को दिया गया है :[५८] "२. आश्रय क्या था;

---

[५५] शतपथब्राह्मण १४ १,२,१० "इयम् पृथिवी भूतस्य प्रथमजा ।" "यह पृथिवी भूतों में प्रथमजा है ।"

[५६] तुकी० प्रो० मूलर का 'लेक्चर्स ऑन लैंग्वेज', २.४८८, और निरुक्त ३.२२ ।

[५७] तैत्तिरीय ब्रा० २.८,९,६ भी देखिये जहाँ यह उत्तर दिया गया है : "ब्रह्म वह वन था, ब्रह्म वह वृक्ष था जिससे उन्होंने आकाश और पृथिवी की रचना की" (ब्रह्म वनम् ब्रह्म स वृक्ष आसीद् यतो द्यावा-पृथिवी निष्टतक्षुः) । अथर्वे० १२.१,६० में यह कथन है : "याम् अन्वैच्छद् विश्वकर्मा अन्तर् अर्णवे रजसि प्रविष्टाम् ।" तुकी० ब्राह्मणों और पुराणों के विवरण जिनके अनुसार सृष्टि के समय पृथिवी जलों मे नीचे डूब गई थी, प्रस्तुत ग्रन्थ का भाग १ ।

[५८] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा, भाग, तथा हॉग का ऐतरेयब्राह्मण २.२९९ ।

वह आधार क्या तथा कैसा था जिससे विश्वचक्षु विश्वकर्मा ने अपनी शक्ति से पृथिवी की रचना की तथा आकाश को फैलाया ? ३. एकमात्र देवता, जिनके सब ओर नेत्र, मुख, भुजायें और पैर हैं, आकाश तथा पृथिवी को उत्पन्न करते समय अपनी भुजाओं से और पंखों से धमन करते हैं।" (किं स्विद् आसीद् अधिष्ठानम् आरम्भनं कतमत् स्वित् कथा आसीत्। यतो भूमि जनयन् विश्वकर्मा वि द्याम् और्णोद् महिना विश्वचक्षाः। ३. विश्वतश्चक्षुर उत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुर् उत विश्वतस्पात्। सम् बाहुभ्यां धमति सम् पतत्रैर् द्यावा-भूमी जनयम् देवः एकः)। १०.७२ में, जिसे अगले खण्ड में उद्धृत किया जायगा, आकाश और पृथिवी की उत्पत्ति का एक भिन्न विवरण दिया गया है। ऋग्वेद १०.१२९,१ में यह कहा गया है कि आदि में "न तो सत् था न असत्, न आन्तरिक्ष था और न उसके आगे आकाश"। (न असद् असीद् नो सद् आसीत् तदानीं न आसीद् रजो नो व्योम परो यत्); और तैत्ति० ब्रा० २.२,९,१ और बाद, में यह कहा गया है कि "पहले कुछ नहीं था, न तो आकाश था, न पृथिवी थी, न अन्तरिक्ष था" और इनके निर्माण का इस प्रकार वर्णन किया गया है : "असद् होने के कारण उसने निश्चय किया कि मैं होऊँ" इत्यादि। (इदं वै अग्रे नैव किञ्चन आसीत्। न द्यौर्, आसीत्। न पृथिवी। न अन्तरिक्षम्। तद् असद् एव सन् मनोऽकुरुतः "स्याम्" इति)। प्रस्तुत ग्रन्थ के तृतीय भाग में इस स्थल को विस्तार से उद्धृत किया गया है।

हम देख चुके हैं कि, यूनानी, तथा साथ ही साथ, प्राचीनतम भारतीय पुराकथाशास्त्र की एक धारणा यह है कि देवगण आकाश और पृथिवी से (यूनानी के अनुसार औरेनोस और गेइया से) उत्पन्न हुये। वह भारतीय देवता का जिसे वेद में पृथिवी का पति और देवों का जनक कहा गया है, हम देख चुके हैं कि वही नाम नहीं है जो यूनानियों में इसके समकक्ष देवता का नाम है। भारत में इसे द्यौस् अथवा द्यौष् पितर् कहते हैं। किन्तु यह नाम अपनी उत्पत्ति में उस ज़्यूस, अथवा ज़्यूस् पतेर, और जुपिटर, अथवा डीसपितेर के समान है जिसको यूनानियों और रोमनों का उच्चतम देवता कहा गया है,[59] और जिसे हेसियड औरेनोस का पौत्र बताते हैं। दूसरी ओर,

---

[59] द्यौस और ज्यूस के समीकरण के प्रमाण के लिये देखिये प्रो० मूलर का लेक्चर्स ऑन लैंग्वेज, १.११; २.४२५-४३४; प्रो० एम० ब्रोल : हरक्यूल एट किकस, १०२; हार्टुङ्ग : रिलीजन उण्ट माइथॉलोजी डेर ग्रीकेन, २.५; ३.१; देखिये ६.४५ और बाद तथा ७६ और बाद भी, इस अन्तिम स्थान पर ज्यूस की

औरेनोस का नाम भारतीय देवता वरुण के समान है, जिसे यद्यपि देवों का जनक तो नहीं माना गया है, तथापि जो, जैसा कि हम अधिक पूर्णता के साथ आगे के एक खण्ड में देखेंगे, आकाश को व्यक्त करने में औरेनरेस के समान माना गया है।

दूसरी ओर, पृथिवी शब्द का, जो ऋग्वेद के अधिकांश भागों में भूमि के लिये प्रयुक्त हुआ है, इसी अर्थवाले यूनानी शब्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी, मूलतः यह एक उपाधि रहा प्रतीत होता है जिसका अर्थ 'विस्तृत' था[६०]। बाद में इसने अपेक्षाकृत प्राचीन शब्द 'गो' को स्थानान्तरित कर दिया जो ('ग्मा' और 'ज्मा' के साथ) प्राचीनतम भारतीय कोश, निघण्टु, में बिल्कुल आरम्भ में 'पृथिवी' के पर्याय के रूप में आता है और जिसका यूनानी 'गाइया' अथवा 'गे' से घनिष्ठ साम्य है। इस प्रकार, 'गौर् मातर्' कभी सम्भवतः यूनानियों के 'गे मेटेप' अथवा 'डेमेटप' के समकक्ष रहा होगा।

प्रो० बेनफे (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट, १.४८, नोट २७५) और एम० माइकेल ब्रील (हरक्यूल एट केकस, पृ० १०१) का यह मत है कि प्राचीन भारतीय पुराकथाओं में जो कार्य द्यौस् को आरोपित किये गये हैं वही बाद में इन्द्र पर स्थानान्तरित कर दिये गये। इन्द्र की विशिष्टता का आगे के एक खण्ड में विवेचन किया गया है।



पत्नी, हेरा, को पृथिवी की प्रतिनिधि कहा गया है। यहाँ यूरेनोस् और गाइया, क्रोनोस और रिया, ज्यूस और हेरा को यद्यपि यूनानी पुराकथाशास्त्र में देवों के क्रमिक युग्म कहा गया है, तथापि इन्हें परिवर्तित नामों से व्यक्त एक ही युग्म बताया गया है।

[६०] तुकी० प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम भाग में उद्धृत तैत्तिरीयब्राह्मण और संहिता के दो स्थल जिनमें पृथिवी के निर्माण का वर्णन है और जिनमें 'अप्रथत' से 'पृथिवी' नाम को व्युत्पन्न कहा गया है। देखिये ऋग्वेद २.१५, २ : "स धारयत पृथिवीम्, पप्रथत च", "उसने पृथिवी को धारण किया और उसे फैलाया।"

खण्ड ३

अदिति[61]

अब मैं अदिति पर आता हूँ जो यदि कालक्रम की दृष्टि से न सही तो भी भारतीय देवों में से अपेक्षाकृत प्राचीनतर विचार है। निर्ऋति[62] तथा उषा के अतिरिक्त यही एकमात्र अन्य देवी है जिसका मैंने ऋग्वेद में देवों की माता के रूप में उल्लेख पाया है।

(१) वे उपाधियाँ जिनसे इसे विशेषीकृत किया गया है

यद्यपि अदिति किसी पृथक् सूक्त की विषय नहीं है, तथापि ऋग्वेद में इसकी बहुधा प्रशस्तियाँ मिलती हैं जहाँ इससे पुत्रों और पशुओं को आशीर्वाद देने की (जैसे १.४३,२ : यथा नो अदितिः करत पश्वे नृभ्यो यथा गवे यथा तोकाय रुद्रियम्), और रक्षा और क्षमा प्रदान करने की स्तुतियाँ की गई हैं। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, इसे वरुण तथा कुछ अन्य देवों की माता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। निघण्टु में, जिसे निरुक्त के आरम्भ में दिया गया है, 'अदिति' शब्द को (१) पृथिवी का, (२) वाच् का (३) गो का,[63] और (४) द्विवचन 'द्यावा-पृथिव्यौ' के पर्यायों में दिया गया है (निघण्टु १.१,११; २,११; ३,३०)। निरुक्त (४.२२) में इसकी देवों की महान माता के रूप में परिभाषा की गई है (अदीना देव-माता)।[64] इसी ग्रन्थ के एक

---

[61] प्रस्तुत खण्ड को दोहराना आरम्भ करने के पहले मुझे प्रो० मूलर के ऋग्वेद के अनुवाद का प्रथम भाग प्राप्त हुआ जिसमें (पृ० २३०–२५१) अदिति का एक विद्वत्तापूर्ण विवेचन है। इसी लेखक का लेक्चर्स ऑन लैंग्वेज भी देखिये, २५००।

[62] देखिये ऊपर टिप्पणी १९।

[63] तुकी० ८.९०, १५ · "गाम् अनागाम् अदितिम्"; और वासं० १३. ४३, जहाँ अग्नि से इसे क्षति न पहुँचाने की स्तुति की गई है (गाम् मा हिंसीर् अदितिं विराजम्), और देखिये ४९ भी (घृतं दुहानाम् अदितिं जनाय)।

[64] ऋग्वेद १.११३,१९ मे 'उषा' को देवो की माता तथा अदिति का रूप कहा गया है (माता देवानाम् अदितेर् अनीकम्); अथवा देखिये सायण की व्याख्या। तुकी० १.११५,१। मूलर (ऋग्वेद का अनुवाद, १.२३१) 'अदितेर् अनीकम्' का "अदिति का मुख" अनुवाद करते हैं।

अन्य भाग (११.२२) में (जहाँ विभिन्न देवों को उस क्रम में प्रस्तुत किया गया है जिसमें वे निघण्टु, अ० ५, की सूची में आते हैं) इसे मध्यस्थानीय देवियों के शीर्ष-स्थान पर रखा गया है (अथ अतो मध्य-स्ताना: स्त्रियः। तासाम् अदितिः प्रथमागामिनी भवति)। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर अदिति को 'देवी' (जैसे ४.५५,३,७; ५.५१,११; ६.५०,१; ७.३८,४; ७.४०, २; ८.२५,१०; ८.२७,५; ८.५६,१०), 'देवी अदितिर् अनर्वा (२.४०,६; ७.४०,४; १०.९२,१४), ज्योतिमान[65], प्राणियों को धारण करनेवाली, दिव्य ('ज्योतिष्मतीम् अदितिं धारयत्-क्षितिं[66]स्ववर्वतीम्', १. १३६,३), उरू-व्यचा[67] (५.४६,६), और सर्वजनों की मित्र (७.१०,४) कहा गया है। ५.६९,३ में ऋषि कहता है : "प्रातःकाल, मध्याह्न में तथा सूर्यास्त के समय मैं दिव्य अदिति का नित्य आह्वान करता हू[68] (प्रातर् देवीम् अदितिं जोह-वीमि मध्यन्दिने उदिता सूर्यस्य)। १.१८५,३ में इसके उपहारों—पवित्र, अक्षय, प्रकाशित, अमर, स्तुत्य—की याचना की गई है (अनेहो दात्रम् अदितेर् अनर्वम् हुवे स्ववर्द् अवध नमस्वत्); और एक अन्य स्थान (१.१६६,१२) पर मरुतों की विशाल कृपा की अदिति के लाभकारी कार्यों के साथ तुलना की गई है (दीर्घं वो दात्रम अदितेर् इव व्रतम्)[69]। ४.५५, ३ में इसे 'पस्त्या' कहा गया है जिसमे प्रो० रॉथ एक गृहदेवी का अर्थ ग्रहण करते हैं (तुकी० मूलर, पृ० २४८)। वास० (२१,५ = अवे० ७.६,२) में इसकी इस प्रकार प्रशस्ति है : "आओ, हम भक्तों की महान् माता, धार्मिक कर्मों की अधिष्ठात्री, शक्ति में बलशाली, अविनाशी, सुविस्तृत, रक्षा करनेवाली,

[65] देखिये रॉथ . जजओसो० ६ ६९; और तुकी० ऋग्वेद ७.८२,१० (अवध्र ज्योति.)।

[66] यही 'धारयत्-क्षिति' उपाधि ऋग्वेद १०.१३२,२ में अदिति के पुत्र, मित्र और वरुण के लिये व्यवहृत है।

[67] तुकी० तैत्ति० ब्रा० २.४,२,७ : "सेना ह नाम पृथिवी धनञ्जया विश्व-व्यचा. अदितिः सुर्यत्वक्।"

[68] रॉथ (कोश वस्या०) और कुन (प्रस्तुत लेख की आलोचना मे), और मूलर (ऋग्वेद १.२३१,२३२ का अनुवाद) यहाँ 'अदिति' शब्द को सूर्यास्त का द्योतक मानते हैं।

[69] मूलर (पृ० १९९) इसका यह अनुवाद करते हैं : "तुम्हारा औदार्य वहाँ तक फैला है जहाँ तक अदिति का साम्राज्य है।" 'व्रत' के विभिन्न आशयो के सम्बन्ध से इनकी टिप्पणी, देखिये, पृ० २२५ और बाद।

और कुशल पथप्रदर्शक अदिति का आवाहन करें" (महीम् ऊ षु मातरं सुव्रतानाम् ऋतस्य पत्नीम् अवसे हुवेम । तुविक्षत्राम् अजरन्तीम् उरूचि सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम्) ।

(२) प्रोफेसर रॉथ और मूलर के अनुसार अदिति की धारणा की उत्पत्ति

बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में 'अदिति' को (अन्य आशयों के अतिरिक्त) "अनन्तता, विशेषतः पृथिवी और उसकी सीमितता के विरुद्ध आकाश की असीमता" का द्योतक माना गया है । इसी आशय को देवी अदिति में मूर्तीकृत किया गया है । निरुक्त की अपनी व्याख्या में प्रोफेसर रॉथ (पृ० १५० और बाद) ने इस शब्द को 'अनुल्लङ्घनता', 'अनश्वरता' के अर्थ में, तथा देवी के रूप में मूर्तीकृत होने पर 'नित्यता' के अर्थ में ग्रहण किया है । इसके पुत्र, आदित्यगण, नित्यता के पुत्र हैं, और सौर तथा प्रकाशमान देवता वरुण, मित्र, अर्यमा, भग इत्यादि, प्रमुखतः नित्य देवता हैं क्योंकि प्रकाश को अमूर्त तथा नित्य वस्तु माना जाता था । आर्य राष्ट्रों के उच्चतम देवताओं से सम्बद्ध अपने निबन्ध में (जजओसो० ६.६८ और बाद) यही लेखक यह कहता है : "अदिति, नित्यत्व, अथवा नित्य के रूप में वह तत्व है जो आदित्य को धारण करती है और जिसे आदित्य धारण करते हैं। अपनी प्रकृति के कारण इस धारणा को वेदों में निश्चित मूर्तीकरण तक नहीं ले जाया गया है; यद्यपि इस दिशा में प्रयासों का अभाव नही है । ...... यह नित्य और अनुल्लङ्घनीय तत्व, जिसमें आदित्यगण निवास करते हैं, जो इन देवों का सार है, वास्तव में दिव्य प्रकाश है ।"

ऋग्वेद १.१६६,१२ की एक टिप्पणी (ऋग्वेद का अनुवाद, १.२३०) में प्रो० मूलर यह कहते हैं कि "एक प्राचीन देवी अथवा देवता के रूप में 'अदिति' असीम को व्यक्त करने के लिये आविष्कृत आरम्भिकतम नाम है । यह अमूर्त विवेचना की एक दीर्घ प्रक्रियास्वरूप असीम नहीं है बल्कि दृश्य असीम, नग्न आँखों को दृश्य, पृथिवी के बाहर, मेघों से ऊपर, आकाश के पार दृश्य अनन्त विस्तार के अर्थ में असीम है ।" और दूसरे ही पृष्ठ पर आप यह कहते हैं कि "यदि हम अदिति की इस मौलिक धारणा (वह धारणा जिसकी आपने अपने इन पृष्ठों में व्याख्या की है) को सम्मुख रक्खें, तो अदिति यहाँ तक कि ऋग्वेद के सूक्तों में जो रूप ग्रहण करती है वे असंगत नहीं प्रतीत होंगे ।"

(३) आदित्यों की माता के रूप में अदिति

मैं अब कुछ अन्य ऐसे मूल स्थल प्रस्तुत करूँगा जिनमें अदिति का वर्णन तथा चित्रण है। मैं ऐसे स्थलों से आरम्भ करूँगा जिनमें इसे वरुण तथा अन्य समान देवों की माता के रूप में प्रस्तुत किया गया है :

८.२५,३ : ता माता विश्ववेदसा असुर्याय प्रमहसा। मही जजान अदितिर् ऋतावरी। "माता, महान, पवित्र अदिति इन दो युग्मों (मित्र और वरुण) को, जो समस्त धनों के शक्तिशाली अधिपति हैं, इसलिये लाई कि ये दिव्य शक्ति का उपयोग कर सकें।"

८.४७,९ : अदितिर् नः उरुष्यतु अदितिर् शर्म यच्छतु। माता मित्रस्य रेवतो अर्यम्णो वरुणस्य च अनेहसा। "अदिति हमारा मंगल करें, अदिति हमारी रक्षा करें, वह (अदिति) जो सम्पन्न मित्र, अर्यमा तथा निष्पाप वरुण की माता हैं।" देखिये १०.३६,३ और १०.१३२,६; और अवे० ५.१,९ भी।

ऋग्वेद २.२७,७ में इसे 'राज-पुत्रा'[७०] (राजाओं की माता) कहा गया है। ३.४,११ में यह 'सु-पुत्रा' (श्रेष्ठ पुत्रों की माता); ८.५६,११ में 'उग्र-पुत्रा' (शक्तिशाली पुत्रों की माता); और अथर्ववेद ३.८,२, ११.१,११ में 'शूर-पुत्रा' (शूरों की माता) है। इन सभी उपाधियों का प्रत्यक्षतः वरुण तथा इसके पुत्र, अन्य आदित्यों, का तात्पर्य है। अथर्ववेद ८.९,२१ में इसे वह अदिति कहा गया है जो अष्टयोनि और अष्टपुत्रा है (अष्ट-योनिर् अदितिर् अष्टपुत्रा)। ८.९०,१५ में (जिसका प्रो० मूलर ने अपने लेक्चर्स, २.५०१, में और ऋग्वेद के अनुवाद १. पृ० २३७ में सन्दर्भ दिया है) ऐसा वर्णन प्रतीत होता है कि अदिति वसुओं की पुत्री; आदित्यों की बहन और रुद्रों की माता है (माता रुद्राणां दुहिता वसूनां स्वसाऽऽदित्यानाम् अमृतस्य नाभिः। प्र नु वोच चिकितुषे जनाय मा गाम् अनागाम् अदितिं वधिष्ट)।

सामवेद (= अवे० ६.४,१) में अदिति के भ्राताओं और पुत्रों का उल्लेख प्रतीत होता है, १.२९९ : "त्वष्टा, पर्जन्य, ब्रह्मणस्पति हमारी दिव्य-स्तुतियों की रक्षा करें। अपने पुत्रों और भ्राताओं के साथ अदिति हमारे दुस्तर और रक्षणशील उच्चारणों की रक्षा करे"[७१] (त्वष्टा नो दैव्यं वचः पर्जन्यो

---

[७०] २.२७,१ में 'राजभ्य.' उपाधि उन सभी छ. आदित्यों के लिये व्यवहृत है जिनका इसमें उल्लेख है।

[७१] फिर भी बेनफे यहाँ स्तोता के भ्राताओं और बहनों का आशय मानते हैं। 'त्रामण वचः' के स्थान पर अवे० में 'त्रायमाणं सह.' पाठ है।

ब्रह्मणस्पतिः। पुत्रैर् भ्रातृभिर् अदितिर् नु पातु नो दुष्टरं त्रामणं वचः)। इसके भ्राता कौन हैं इसका उल्लेख नहीं है।

(४) क्या अदिति कभी आकाश के साथ समीकृत है ?

ऋग्वेद के एक अन्य स्थल, १०.६३,२, पर जलों और पृथिवी के साथ उन स्रोतों में से एक के रूप में अदिति का उल्लेख है जिनसे देवगण उत्पन्न हुये हैं : "हे देवगण ! तुम्हारे सभी नाम नमनयोग्य, स्तुत्य और यज्ञ के योग्य हैं। तुम जो अदिति से[७२], जलों से, पृथिवी से उत्पन्न हुये हो, मेरी स्तुतियों को सुनो।" (विश्वा हि वो नमस्यानि वन्द्या नामानि देवाः उत यज्ञियानि वः। ये स्थ जाताः अदितेर् अद्भ्यस् परि ये पृथिव्यास् ते मे इह श्रुत हवम्)। इस स्थल पर हमें देवों का दिव्य, अन्तरिक्षीय और पार्थिवों के रूप में यहां त्रिविध वर्गीकरण मिलता प्रतीत होता है (तुलना अवे० १०.९, १२) जो हमें ऋग्वेद १.१३९,११,[७३] में तथा निरुक्त में पहले ही मिल चुका

[७२] अपने कोश में रॉथ इस स्थल पर अदिति को 'अनन्तता' के अर्थ में, पृथिवी की सीमितता के विरुद्ध आकाश की अनन्तता के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

[७३] मध्यवर्ती क्षेत्र को व्यक्त करने के लिये 'जलों' शब्द के प्रयोग के साथ देवों की यही त्रिविध उत्पत्ति ऋग्वेद १०.४९,२ में भी मिलती है जहां यह कथन है : "मा धुर् इन्द्र नाम देवताः दिवश् च ग्मश् च अपां च जन्तवः।" "उन दोनों ही देवों ने जो आकाश और पृथिवी के, तथा जलों के पुत्र हैं, हमें इन्द्र का नाम बताया है।" १०.६५,९ में कवि यह कहता है : "पर्जन्य-वाता वृषभा पुरीषिणा इन्द्र वायू वरुणो मित्रो अर्यमा। देवान् आदित्यान् अदिति हवामहे ये पार्थिवासो दिव्यासो अप्सु ये।" "पर्जन्य, वात, शक्तिशाली और आर्द्रता प्रदान करनेवाले, इन्द्र, वायु, वरुण, मित्र, अर्यमा : हम इन दिव्य आदित्यों, अदिति को आहूत करते हैं, जो (देवता) पार्थिव, दिव्य और (अन्तरिक्ष) जलीय हैं।" 'जल' शब्द अन्तरिक्ष के आशय में प्रयुक्त प्रतीत होता है, देखिये २.३८,११ और १०.४५,१। तुकी० ७.३५,११ भी जहां देवों को दिव्य, पार्थिव और अप्य ('अप्सु अन्तरिक्षे भवाः', सायण) कहा गया है; इसी सूक्त की १४ वीं ऋचा जहां ये दिव्य, पार्थिव और गोजात के रूप में विभाजित हैं; और ६.५०,११, जहां इनका दिव्य, पार्थिव, गोजात और अप्य के रूप में विभेद है। सायण, ऋग्वेद ७.३५,१४ पर 'गोजात' की 'पृश्नेर जाताः' व्याख्या करते हैं। ६.५०,११ पर सायण 'पृश्नि' को 'माध्यमिका वाक्' कहते हैं। इन दोनों में से प्रथम स्थल पर यदि देवों के त्रिविध वर्गीकरण को

है। प्रस्तुत मन्त्र में उल्लिखित अदिति से उत्पन्न देवता, इस प्रकार दिव्य देवताओं के अनुरूप हैं जिनके अन्तर्गत यास्क ने आदित्यों को, अथवा मात्र आदित्यों को प्रथम वर्ग के अन्तर्गत रक्खा है।[७४]

१०.६३,३ में यह कथन है : "पृथिवी मधु की रचयित्री और मधुर रस प्रवाहित करनेवाली है। मेघयुक्त आकाश[७५] जिनके लिये अमृत रूप जलों को धारण करनेवाला है, उन सब आदित्यों की स्तुति करके कल्याण को प्राप्त होओ। इन आदित्यों का बल स्तुत्य है। इनका कर्म अत्यन्त श्रेष्ठ है। ये जल-वृष्टि को लानेवाले हैं।" (येभ्यो माता मधुमत् पिन्वते पयः पीयूषं द्यौर् अदितिर् अद्रि बर्हाः। उक्थ-शुष्मान् वृषभरान् स्वप्नसस् तान आदित्यान् अनु मद स्वस्तये)। यह ऋचा, जिसमें अदिति या तो आकाश के साथ समीकृत अथवा उसकी उपाधि प्रतीत होती है, मेरे उस दृष्टिकोण की पुष्टि करती है जिसे मैंने इसके पहलेवाली ऋचा के सम्बन्ध में व्यक्त किया है। ऋग्वेद १०.६५,९ (जिसे ऊपर नोट ७३ में उद्धृत किया गया है) का भाव, फिर भी, अदिति के आकाश के साथ इस समीकरण का विरोधी प्रतीत होता है क्योंकि इसे तथा इसके पुत्र आदित्यों का इस ऋचा में उन देवों से पृथक् उल्लेख है जो तीन भिन्न क्षेत्रों में निवास करते हैं। यद्यपि उपरोक्त अन्तिम वर्गीकरण का उद्देश्य सभी देवों को सम्मिलित और इस प्रकार आदित्यों का भी समावेश कर लेना प्रतीत होता है।

ही माना जाय तो 'गोजात' को अप्य होना चाहिये; किन्तु बाद वाले स्थल पर हमें चतुर्विध विभाजन मिलता है, और यत. अप्य देव चार वर्गों मे से एक हैं, अतः 'गोजात' को एक भिन्न वर्ग का द्योतक होना चाहिये। रॉथ अन्तिम शब्द की तारों से युक्त आकाश के देवताओं के अर्थ में व्याख्या करते हैं।

[७४] निरुक्त १२ ३५ "अथातो द्युस्थाना देवगणा। तेषाम् आदित्याः प्रथमागामिनो भवन्ति।"

[७५] यहाँ आकाश के लिये प्रयुक्त शब्द 'द्यौस्' है जिसे मेरे अनुसार स्त्रीलिङ्ग मानना चाहिये, यद्यपि, जैसा हम देख चुके हैं, यह सामान्यतया पुल्लिङ्ग तथा पिता का द्योतक है। ५ ५९,८ में 'द्यौस्' और 'अदिति' शब्दो को इसी प्रकार समस्त किया गया है - "मिमातु द्यौर् अदितिः" इत्यादि। १०.६३,३ तथा ५.५९,८ मे भी प्रो० मूलर 'अदिति' को विशेषण मानकर अनुवाद करते हैं (पृ० २४३ और २४९)। किन्तु इस स्थिति में इन्हें दो साथ साथ ऋचाओं में दो भिन्न भिन्न आशय मानना होगा। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में प्रो० मूलर अदिति को देवी मानते हैं। (पृ० २४०)। 'अद्रि-बर्हस' के लिये देखिये रॉथ, वस्था० 'बर्हस्'।

(५) अदिति का पृथ्वी से विभेद किया गया प्रतीत होता है

किन्तु यदि हम यह मान भी लें कि उपरोद्धृत स्थलों का उद्देश्य अदिति को आकाश के साथ समीकृत करना है, तो भी इस समीकरण की सूक्तों में संगत रूप से सर्वत्र रक्षा नहीं की गई है। साथ ही इस शब्द को नित्य ही पृथिवी के एक पर्याय के रूप में ग्रहण करना इसी प्रकार कठिन है। क्योंकि यद्यपि, जैसा हम देख चुके हैं, निघण्टु में अदिति को पृथिवी के एक नाम के रूप में दिया गया है और द्विवचन में यह आकाश और पृथिवी के समान है, और यद्यपि ऋग्वेद की अस्पष्ट ऋचा १.७२,९ में तथा अथर्ववेद १३.१,३८ में ऐसा प्रतीत हो सकता है कि यह पृथिवी के साथ समीकृत है,[७६] तथापि ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर हमें इसका पृथक् और इस रूप में उल्लेख मिलता है जैसे यह और पृथिवी एक दूसरे से भिन्न हैं। इस प्रकार ३.५४,१९,२० में यह कहा गया है : शृणोतु न. पृथिवी द्यौर् उताप: सूर्यो नक्षत्रैर् उरु अन्तरिक्षम्। २०...अदित्यैर् नो अदितिः शृणोतु। "पृथिवी, आकाश हमें सुनें; जल, नक्षत्रों सहित सूर्य और विस्तृत अन्तरिक्ष हमें सुनें। ...२०. अदिति और आदित्यगण हमें सुनें।" ५.४६,३ : इन्द्राग्नी मित्रावरुण अदिति स्व. पृथिवीम् द्याम् मरुतः पर्वतान् अपः। हुवे। "मैं इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण, अदिति, आकाश, पृथिवी, को आहूत करता हूँ।" ६.५१,५ : द्यौष् पितः पृथिवी मातर् अध्रुग् अग्ने भ्रातर् वसवो मृलत नः। विश्वे अदित्याः अदिते सजोषा अस्मभ्यं शर्म बहुलं वियन्त। "पिता द्यौस्, उदार माता पृथिवी, भ्राता अग्नि, वसुगण, हम पर कृपा करें। हे तुम सब आदित्यगण, अदिति, एक साथ मिलकर हमें शक्तिशाली रक्षा प्रदान करो।" ९.९७,५८ : तन् नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः। "मित्र, वरुण, अदिति, सिन्धु, पृथिवी और द्यौस् हमें हर्षित करें।" १०.३६,२ : द्यौश् च नः पृथिवी च प्रचेतसा ऋतावरी रक्षताम् अंहसो रिषः। ...३. विश्वस्मान् नो अदितिः पातु अंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः। "२. आकाश और पृथिवी, बुद्धिमान और पूज्य, हमारी रक्षा करें", इत्यादि ००००३ : "मित्र और समृद्ध वरुण की माता, अदिति, हमारी प्रत्येक विपत्ति से रक्षा करें।" देखिये १०.९२,११ भी।

---

[७६] ऋग्वेद १ ७२,९ : मह्ना महद्भिः पृथिवी वि तस्थे माता पुत्रैर् अदितिर् धायसे वेः।" "पृथिवी, माता, अदिति पक्षी को धारण करने के लिये अपने शक्तिशाली पुत्रों के साथ खड़ी हुईं।" फिर भी, जैसा, प्रो० मूलर मानते हैं (पृ० २४३) पृथिवी शब्द यहाँ एक उपाधिमात्र हो सकता है। अवे० १३.१,३८ : "यशा. पृथिव्या अदित्या उपस्थे"।

फिर भी, सबसे उल्लेखनीय मूल स्थल है १०.६३,१० : सुत्रामाणम् पृथिवीं द्याम् अनेहसं सुशर्माणम् अदितिं सुप्रणीतिम्। दैवीं नावां स्वरित्राम् अनागसम् अस्रवन्तीम् आ रुहेम स्वस्तये। "हम श्रेष्ठ रक्षक पृथिवी, पाप-रहित द्यौस्, शरण देनेवाली और मार्ग दिखानेवाली अदिति का आवाहन करते हैं : हम अपनी सुरक्षा के लिये दिव्य नौका पर चढ़ें जो भली प्रकार खेयी जानेवाली है, अपूर्णताओं से मुक्त है और जिसमें कभी छिद्र नहीं होता।"[७७] वाज० स० १८.२२ : "पृथिवी, और अदिति, और दिति, और आकाश, इत्यादि, मेरे यज्ञ के द्वारा मुझे सन्तुष्ट करें" पृथिवी च मे अदितिश् च मे दितिश् च मे द्यौश् च मे ⋯ यज्ञेन कल्पन्ताम्।

अथर्ववेद ६.१२०,२, में पृथिवी का अदिति से विभेद किया गया प्रतीत होता है : भूमिर् माता अदितिर् नो जनित्रम् भ्राताऽन्तरिक्षम् इत्यादि। "हमारी माता भूमि, हमारी उत्पत्ति का स्थान अदिति, हमारे भ्राता अन्तरिक्ष, इत्यादि।"

शतपथब्राह्मण (२.२,१,१९) में वास्तव में यह कहा गया है : "यह पृथिवी ही अदिति है, वही यह प्रतिष्ठा है", (इय वै पृथिवी अदितिः सा इयम् प्रतिष्ठा)। और एक अन्य स्थल (५.३,१,४) पर यह कथन है : "अदिति ही यह पृथिवी है; यह देवों की पत्नी है", (इयं वै पृथिवी अदितिः सा इयं देवानाम् पत्नी)। देखिये ८.२,१,१०, ११.१,३,३, भी। किन्तु ब्राह्मणों के ये समीकरण अत्यन्त काल्पनिक और अक्सर सर्वथा निराधार हैं।

मैं इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ कि अदिति को यास्क ने मध्यस्थानीय देवियों की सूची में शीर्षस्थान पर रक्खा है। फिर भी, यदि इसी प्राचीन लेखक ने आदित्यों को द्युस्थानीय देवों के अन्तर्गत रखकर उचित ही किया है (निरुक्त १२.३५), तो इनकी माता अदिति को भी इसी वर्ग में स्थान पाना चाहिये था, क्योंकि सूक्तों के रचयिताओं ने माता को अपनी सन्तान से पृथक् रखने की कदाचित ही कल्पना की होगी। किन्तु यास्क यहाँ शब्दों की सूची के उस क्रम का ही अनुसरण कर रहे हैं (क्योंकि इसे वर्गीकरण कदाचित् ही कहा जा सकता है) जो इन्हें निघण्टु के पाँचवें अध्याय में मिला था। इस सूची का (जिसे इन्होंने निःसन्देह प्रामाणिक ही माना है) अनुसरण करने में इन्हें वरुण का भी उल्लेख करना पड़ा होगा जिनका दो बार, न केवल द्युस्थानीय देवों में ही जिनमें एक आदित्य के

[७७] यह ऋचा वाज० २१.६ में, और अथर्ववेद ७.६३ में भी आती है। देखिये मूइर, पृ० २१८।

रूप में इनका एक उपयुक्त क्रम है, वरन् मध्यवर्ती देवों में भी उल्लेख है (१०.३)।[७८]

(६) अदिति और दिति

निम्नलिखित मन्त्र में अदिति का एक अन्य देवी अथवा मूर्तीकरण द्वारा, दिति, के साथ उल्लेख है जो अपने नाम के शब्दविन्यास के द्वारा अदिति की विरोधी अथवा अदिति की पूरक प्रतीत होती है (५.६२,८ : हिरण्यरूपम् उषसो व्युष्टाव् अय'-स्थूणम् उदिता सूर्यस्य। आरोहथो वरुण मित्र गर्त्तम् अतश् चक्षाथे अदितिं दितिं च। "हे मित्र और वरुण! तुम उषाकाल में सूर्योदय होने पर यज्ञ में आते समय सुवर्णमय रथपर चढ़ो, तुम्हारा रथ सूर्यास्त के समय लोहे के स्थूणों से युक्त होता है;[७९] अपने इस रथ से तुम अदिति को देखो।"[८०] सायण यहाँ पृथिवी की अदिति को एक अदृश्य अखण्डता तथा दिति को पृथिवी की खण्डित प्रजा आदि का द्योतक मानते हैं (अदितिम् अखण्डनीयाम् भूमिम् दितिं खण्डिताम् प्रजादिकाम्)। आर्य जातियों के उच्चतम देवताओं पर जजओसो० ६.७१, में प्रकाशित अपने एक लेख में प्रो० रॉथ इन दो शब्दों का 'नित्य' और 'नश्वर' अनुवाद करते हैं। फिर भी, अपने कोश में यही लेखक (वस्था०) दिति को "अदिति से सम्बद्ध एक ऐसी देवी मानते हैं जिसकी कोई निश्चित धारणा नहीं है और

---

[७८] निरुक्त १०.४, पर अपनी टिप्पणी में इस परिस्थिति की यह व्याख्या करते हैं : "सभी देवताओं मे से वरुण को उच्चतम क्षेत्र में रखा जाना चाहिये था, किन्तु इसे यहाँ—मध्य मे रक्खा गया है क्योंकि इसके सृजनात्मक तथा नियामक कार्यों मे से द्युलोक के जलों का निर्देशन भी एक कार्य है।"

[७९] मैं यहाँ रॉथ का अनुसरण कर रहा हूँ, जो जजओसो० ६.७१ मे तथा अपने कोश मे 'उदिता सूर्यस्य' का "सूर्यास्त" अनुवाद करते हैं। ५ ७६,३ पर अपनी टीका मे सायण इसकी 'अपराह्ण' के रूप मे व्याख्या करते हैं किन्तु प्रस्तुत स्थल पर नहीं।

[८०] अदिति और दिति शब्द वाजसनेयि स० (१० १६) के भी एक स्थल पर आते हैं जो अंशतः प्रस्तुत स्थल के ही समान है। वहाँ टीकाकार ने अन्तिम पाद (ततश्चक्षाताम् अदितिम् दितिं च) की 'अधिदैव' के आशय मे इस प्रकार व्याख्या की है : "हे मित्र और वरुण! वहाँ से उस मनुष्य को देखो जो अदीन नहीं है (अदिति = अदीन्), अर्थात् उसे देखो जो विहित अनुष्ठानों का पालन करता है (विहितानुष्ठातारम्), और उसको जो दीन (दिति = दीन) है, जो नास्तिक-वृत्तिवाला है।"

केवल अदिति से इसका एक विभेद मात्र है"। फिर भी, अदिति यहाँ आकाश को तथा दिति पृथिवी को व्यक्त कर सकती है; अथवा यदि हम प्रस्तुत ऋचा को ठीक से समझ सके हैं तो, इसमें मित्र और वरुण के दो स्पष्ट वर्णन हैं— एक सूर्योदय के समय का और दूसरा सूर्यास्त का। अदिति सम्भवतः उस सम्पूर्ण प्रकृति की द्योतक हो सकती है जो दिन के समय दिखाई पड़ती है और दिति उस सृष्टि की जो रात के समय दिखाई देती है। जो कुछ भी हो, ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने दोनों को एक साथ दृश्य प्रकृति की सम्पूर्ण समग्रता के लिये ही प्रस्तुत किया है।[८१] एक अन्य स्थान पर पुनः दिति एक देवी के रूप में आती है किन्तु अदिति के बिना ही : (७.१५,१२) : त्वम् अग्ने वीरवद् यशो देवश् च सविता भगः। दितिश् च दाति कार्यम्। "तुम, हे अग्नि! और दिव्य सविता तथा भग हमें वंशजों सहित यश प्रदान करो; और दिति हमारी इच्छायें पूर्ण करती है।" यहाँ सायण दिति की एक विशेष देवी के रूप में व्याख्या करते हैं (दितिर् अपि देवी)। रॉथ (वस्था०) इसे उदारता अथवा समृद्धि का मूर्तीकरण मानते हैं। प्रो० मूलर (अनुवाद, १.२४४) यह मानते हैं कि इस स्थल का मूल पाठ अदिति था, और 'दिति' को बाद के उच्चारकों ने सम्मिलित कर दिया। दिति का अदिति के साथ एक देवी के रूप में अवे० १५.६,७ और १५.१८,४; वासं० १८.२२ में भी उल्लेख है, तथा अवे० ७.७, १ में इसके पुत्रों का भी उल्लेख है। ये पुत्र, दैत्यगण, जैसा कि सुज्ञात है, बाद के भारतीय पुराकथाशास्त्र में देवों के शत्रु माने गये हैं।

(७) अदिति सार्वभौमिक प्रकृति की मूर्तिकरण हो सकती है

सम्भवतः अदिति को ऐसी सार्वभौमिक, सर्वावृत्त प्रकृति और सत्ता का मूर्तिकरण मानना सर्वोत्कृष्ट है जिसके साथ ही यह निम्नलिखित उल्लेखनीय मन्त्र में समीकृत है। यह सभी द्युस्थानीय और मध्यवर्ती, दिव्य और मानवीय, वर्तमान और भविष्य की स्रोत और इन सब का तत्त्व है (१.८९,१०) : "अदिति आकाश है; अदिति अन्तरिक्ष है; अदिति माता, पिता और पुत्र है;

[८१] अदिति और दिति शब्द एक अन्य स्थल पर भी साथ साथ आते हैं : (४२,११) · "दितिं च शम्व अदितिम् उरुष्य।" यहाँ सायण 'दिति' से 'उदार मनुष्य' और अदिति से 'अनुदार मनुष्य' अर्थ ग्रहण करते हैं, जब कि रॉथ इनका क्रमशः 'सम्पत्ति' और 'विपन्नता' अनुवाद करते हैं।

अदिति विश्वेदेव और पञ्चजन है;[८२] अदिति वह सब कुछ है जिसने जन्म लिया है और अदिति वह सब कुछ है जो जन्म लेगा।"[८३] (अदितिर् द्यौर् अदितिर् अन्तरिक्षम् अदितिर् माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवाः अदितिः पञ्चजनाः अदितिर् जातम् अदितिर् जनित्वम्।

यहाँ सायण कहते हैं कि अदिति या तो पृथिवी है अथवा देवों की माता है, और यह कि इसकी सकल जगत् की आत्मा के रूप में स्तुति की गई है (अदितिर् अदीना अखण्डनीया वा पृथिवी देवमाता वा। ......एवं सकल-जगद्-आत्मना अदितिः स्तूयते)।[८४] यास्क कहते हैं (निरुक्त४.२२ और बाद) कि अदिति का "देवों की माता, अदीना" अर्थ है (अदितिर् अदीना देवमाता) और यह कि इसके प्राकट्य के प्रकारों को ही इस मन्त्र में दर्शाया गया है, अथवा जिन वस्तुओं को यहाँ अदिति कहा गया है वे ही 'अदीन' (दीन के विपरीत) हैं (इत्य अदितेर् विभूतिम् आचष्टे। एनान्य् अदीनानि वा)। यह मन्त्र एक ऐसे सूक्त के अन्त में आता है जो विश्वे देवों को सम्बोधित है, और इसका इसके पूर्ववर्ती मन्त्र से न तो कोई सम्बन्ध है और न उससे यह कोई व्याख्या ही प्राप्त करता है।[८५]

---

[८२] एक अन्य स्थान (६ ५१,११) में अदिति का इन्द्र, पृथिवी, क्षाम, पूषा, भग और पञ्चजनों के साथ सम्पत्ति प्रदान करने के लिये आवाहन किया गया है। क्या यहाँ 'पञ्चजनाः' को प्राचीन टीकाकारों (देखिये निरुक्त ३.८) के अनुसार गन्धर्व, पितर, देव, असुर, और राक्षस; अथवा सायण द्वारा १.८९,१ पर उद्धृत ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार देवता, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, नाग और पितर (गन्धर्वों और अप्सराओं का एक ही वर्ग माना गया है) माना जाय ? सम्भवतः हमें इस शब्द को १०.५३,४,५ (पञ्चजना. मम होत्रं जुषध्वम्) के अनुसार सम्पूर्ण देवसभा अथवा उसके एक अंश-विशेष का द्योतक मानना चाहिये। ऋग्वेद १०.५५,३ में पञ्चदेवाः का उल्लेख है और १०.६४,४ में 'दिवीव पञ्च कृष्टयः' का। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी।

[८३] इस मन्त्र पर एक टिप्पणी में प्रो० बेनफे (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट, २. पृ० २५३) मत व्यक्त करते हुये कहते हैं कि "इस देवी की धारणा अब भी अन्धकाराच्छन्न है।"

[८४] एम० रेग्नियर (इण्डियम डेस वेद, पृ० २८) यह कहते हैं कि "अदिति एक देवी का नाम है जो 'सर्व' की मूर्तीकरण, देवों की माता है।"

[८५] विभिन्न देवों को सम्बोधित एक सूक्त (१०.१००) है जिसमे देवों की एक क्रम से स्तुति है। इसमें आनेवाले "आ सर्वतातिम् अदितिं वृणीमहे"

इसके साथ तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२,३,१ की तुलना कीजिए, जहाँ इसी समान यह कहा गया है : "स्वयम्भू ब्रह्मा, जो परम तप हैं, पुत्र, पिता, और माता हैं" (स्वयम्भू ब्रह्मा परमं तपो यत् । स एव पुत्रः स पिता स माता)।

इसके साथ एक्विलस (फ्रेग्मेण्ट्स ४४३) के इस स्थल की तुलना की जा सकती है : "ज्यूस इथर हैं, ज्यूस पृथिवी हैं, ज्यूस आकाश हैं। ज्यूस वह सब कुछ हैं और वह जो इनके ऊपर है।" देखिये मूलर का लेक्चर्स ऑन लैंग्वेज, २·४४१।

'पृथिवी' अथवा 'प्रकृति' का आशय वह हो सकता है जिसमें 'अदिति' शब्द का ऋग्वेद १.२४,१ में व्यवहार हुआ है : कस्य नून कतमस्य अमृतानाम् मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर् दात् पितरं च दृशेयम् मातरं च। २. अग्नेर वयम प्रथमस्य अमृतानाम् मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर् दात् पितरं च दृशेयम् मातरं च। "मैं किस देवता के, अमरों में से किसके सुन्दर नाम का उच्चारण करूँ? कौन मुझे महती अदिति को देगा, जिससे मैं पिता और माता को देख सकूँ? २. अमरत्व प्राप्त देवताओं में सर्वप्रथम इस अग्नि के सुन्दर नामों का उच्चारण करें, वह मुझे महती अदिति को देवें जिससे मैं पिता और माता को

शब्द अन्तिम मन्त्र को छोडकर अन्य मत्र के निष्कर्ष हैं। इन शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ मुझे बहुत स्पष्ट नही था, विशेषत इसलिये कि इनका उन सभी पूर्ववर्ती मन्त्रो के साथ, जिनके अन्त मे ये आते हैं, कोई अनिवार्य सम्बन्ध नही है। किन्तु प्रो० आफरेख्त यह कहते है कि 'वृणीमहे' क्रिया द्विविध कर्मपद को विनियित करती है, और इन शब्दो का अर्थ यह है कि "हम अदिति से 'सर्वतात' माँगते है।" ऋग्वेद १.९४,१५, पर एक मौलिक विवेचन मे प्रो० बेनफे (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट, २ ५१९ और बाद) इस शब्द को उसी धातु से व्युत्पन्न मानते हैं जिससे लैटिन 'साल्ूट' व्युत्पन्न है। आप इसका पूर्वग रूप 'सर्वतात' मानते हैं जिसका आशय यही है। यह आशय निश्चित रूप से उन चार स्थलो के अनुकूल है जिनपर आप प्रमुखत. इसे आधारित करते हैं, यथा, १ १०६,२, ३ ५४,११; ९ ९६,४, १० ३६,१४। आप इन शब्दो के अर्थ की इस रूप मे व्याख्या करते हैं. "हम अदिति से अपनी सुख-समृद्धि की याचना करते हैं।" अपने अनुवाद (१.२४७) मे मूलर भी इसका इसी आशय में अनुवाद करते हैं. "हम अदिति की स्वास्थ्य और सम्पत्ति के लिये स्तुति करते हैं।"

देख सकूँ ।" ऐतरेय ब्राह्मण में इन शब्दों को उस समय शुनःशेप द्वारा उच्चारित कहा गया है जब उसकी बलि दी जानेवाली थी (देखिये प्रो० विलसन का एसे : जएसो०, १३.१००; प्रो० रॉथ का प्रबन्ध, वेबर के इण्डिशे स्टूडियन १.४६; मूलर : ऐंसलि० पृ० ४०८ और बाद, हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण २.४६० और बाद; तथा प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग । प्रस्तुत मन्त्र के सम्बन्ध में देखिये मूलर का लेलै० २.५०० और उनका ऋग्वेद का अनुवाद १.२४३) । चाहे यह विवरण ठीक हो या नहीं, इन शब्दों को किसी ऐसे ही व्यक्ति द्वारा उच्चारित मानना चाहिये जिस पर मृत्यु अथवा व्याधि आदि का संकट है और जो यह चाहता है कि इन संकटों से मुक्त होकर वह पुनः प्रकृति को देखे । इस व्याख्या की अदिति के लिये व्यवहृत 'मही' उपाधि द्वारा पुष्टि होती है जो उस समय उपयुक्त नहीं होगी जब हम रॉथ (वस्था०) के साथ इस शब्द को 'स्वतन्त्रता' या 'सुरक्षा' के अर्थ में ग्रहण करें । यदि हम उस पिता तथा माता से, जिसे स्तुतिकर्ता देखना चाहता है, आकाश और पृथिवी का अर्थ ग्रहण करें तो यह और भी सम्भव हो जायगा कि अदिति को 'सकल प्रकृति' के अर्थ में ही ग्रहण किया जाय । सायण इससे पृथिवी का आशय मानते हैं ।

(८) पापों को क्षमा करनेवाली के रूप में अदिति

अभी उल्लिखित सूक्त (१ २४) के अपने अनुवाद में बेनफे (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सिडेण्ट, १.३३) अदिति को व्यक्तिवाचक नाम मानते हुए इसकी 'निष्पापत्व' के द्योतक के रूप में व्याख्या करते हैं । इस व्याख्या के सम्बन्ध में चाहे जो कुछ भी विचार हो, देवी अदिति निश्चित रूप से अनेक स्थलों पर पाप से मुक्ति दिलाने के विचार से सम्बद्ध है । इस प्रकार, इसी सूक्त के अन्त में यह कहा गया है : १.२४,१५। उदु उत्तमं वरुण पाशम् अस्मद् अव अधमं वि मध्यमं श्रथय । अथ वयम् आदित्य व्रते[८६] तव अनागसः अदितये स्याम् । "हे वरुण ! हमारे ऊपर के पाश को, ऊपर और नीचे के पाश को खींच कर, बीच के पाश को काट डालो । हम तुम्हारे नियम में चलते हुये अदिति के प्रति निरपराध रहें ।"[८७]

---

[८६] 'व्रत के भिन्न आशयों के लिये देखिये मूलर : ऋग्वेद का अनुवाद १.२२५ और बाद ।

[८७] भाववाचक संज्ञा 'अदितित्व' निम्नलिखित पंक्ति में 'अनागास्त्व' के साथ आती है : (७.५१,१) : अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमम् यज्ञम् दधतु श्रोषमाणाः ।" यद्यपि 'अदितित्व' को 'अनागास्त्व के साथ संयुक्त किया गया है, तथापि यह अनुसरित नहीं होता कि इसका एक ही आशय है । शतपथ

निम्नलिखित स्थलों पर भी यही सन्दर्भ मिलता है:—

१.१६२,२२: "अदिति हमें निष्पाप करें" (अनागस्त्वं नो अदितिः कृणोतु)।

२.२७,१४: "अदिति, मित्र, और वरुण! हम यदि तुम्हारे प्रति कोई अपराध करें तो भी उसे क्षमा करो।" (अदिते मित्र वरुण उत मृळ यद् वो वय चक्रिमा कच् चिद् आगः)।

४.१२,४: "अपनी त्रुटियों से जो भी मानवोचित अपराध हमने तुम्हारे विरुद्ध किये हों, हे युवादेव, हमें अदिति के विरुद्ध पाप से बचाओ; हे अग्नि हमारे पापों को सर्वथा शिथिल करो।" (यच् चिद् हिते पुरुषत्र यविष्ठ अचित्तिभिः चक्रिम कच् चिद् आगः। कृधि सु अस्मान् अदितेर अनागान् वि एनांसि शिश्रथो विष्वग् अग्ने)।

५.८२,६: "हम सविता देव की प्रेरणा से देवी अदिति का कोई अपराध न करें (अनागसः अदितये देवस्य सवितुः सवे)।

७.८७,७: "हम अदिति के विधानो को पूर्ण करें। उन वरुण के प्रति अपराधों से विमुख हों जो अपराधी पर भी दया करनेवाले हैं।" (यो मृळयाति चक्रुषे चिद् आगो वय स्याम वरुणे अनागाः। अनु व्रतानि अदितेर् ऋधन्तः)।

७.९३,७: "हे अग्नि! हमने जो भी अपराध किये हों, हम पर कृपा करो; अर्यमा और अदिति भी हमें दोषमुक्त करें" (यत् सीम् आगश् चक्रिम तत् सु मृळ तद् अर्यमा अदिति शिश्रथन्तु)।

१०.१२,८: "यहाँ मित्र, अदिति, दिव्य सविता हमें वरुण के पास निष्पाप

ब्राह्मण १०.६ ५,५ (= बृहदारण्यकोपनिषद् पृ० ५३ और बाद) में अदिति को 'अद्' धातु से व्युत्पन्न बताया गया है: "यद् यद् एव असृजत तद् अत्तुम् अध्रियत। सर्वं वै अत्ति इति तद् अदितेर् अदितित्वम्।" "उसने जिस-जिसका सृजन किया उस-उसको वह खाने लगी: क्योंकि अदिति ने अपना नाम इससे प्राप्त किया है कि 'वह सबको खाती है'।" ऋग्वेद ४ १,२०; ७ ९,३ में अदिति अग्नि की ओर ९ ८१,५ में अर्यमा की उपाधि है। यास्क हमे बताते हैं कि अग्नि को अदिति भी कहते हैं ('अग्निर् अप्य् अदितिर् उच्यते', निरुक्त ११.२३), और इसके प्रमाण मे आप ऋग्वेद के १.९४ वें सूक्त की अग्नि को सम्बोधित १५ वीं ऋचा को उद्धृत करते हैं। ७ ५२,१ मे स्तोता यह पूछते हैं कि वे 'अदितयः' हो सकते हैं। इसकी सायण 'अखण्डनीयाः' के रूप मे व्याख्या करते हैं।

बतावें" (मित्रो नो अत्र अदितिर् अनागान् सविता देवो वरुणाय वोचत्)।

ये स्थल, जिनमें अदिति से पापों को क्षमा करने की याचना की गई है, हमें यह मानने की ओर अग्रसर कर सकते हैं कि इसे ऐसी महान शक्ति माना जाता था जो जगत की शक्तियों को धारण करती थी और नैतिक नियमों द्वारा मनुष्यों के भाग्य को नियन्त्रित करती थी। वरुण के साथ इसके सम्बन्ध द्वारा भी इस विचार की कुछ पुष्टि होती है, क्योंकि पापियों को बाँधने के लिये वरुण के पाशों का प्रायः बहुधा ही उल्लेख है।[88] किन्तु यह मान्यता इस तथ्य द्वारा क्षीण हो जाती है कि अनेक अन्य देवों, जसे सविता (४.५४,३), सूर्य, उषा, आकाश और पृथिवी (१०.३५,२,३), और अग्नि (३.५४,१९) से भी इसी प्रकार क्षमा करने के लिये याचना की गई है।

(९) अदिति की स्थिति कभी-कभी गौण है

यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, अदिति को कुछ प्रमुख वैदिक देवों की माता माना गया है, तथापि अन्य स्थलों पर इसको एक गौण स्थान ही प्रदान किया गया है।

इस प्रकार, ७.३८,४ में इसे अपने पुत्रों, वरुण, मित्र और अर्यमा के साथ सविता की स्तुति, तथा उनकी सहायता का स्वागत करते हुए प्रस्तुत किया गया है (अभि यं देवी अदितिर् गृणाति सवं देवस्य सवितुर् जुषाणा। अभि संराजो वरुणो गृणन्ति अभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः)। और ८.१२.१४ में यह कहा गया है कि इसने इन्द्र के लिये एक स्तोम की रचना की : उत स्वराजे अदितिः स्तोमम् इन्द्राय जीजनत। पुरुप्रसस्तम् ऊतये ऋतस्य यत्।

(१०) ऋग्वेद १०. ७२ में वर्णित सृष्टि; अदिति, दक्ष, देवों और आदित्यों का जन्म

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के एक सूक्त (७२वें) में, जिसे विषय-वस्तु के आधार पर अपेक्षाकृत एक बाद के समय की रचना माना गया है, किसी भी अन्य पहले के स्थल की अपेक्षा सृष्टि के क्रम का अधिक विस्तार से वर्णन है, किन्तु सृष्टि के इस कार्य में अदिति का जो भाग रहा है उसे बहुत बुद्धिग्राह्य रूप से प्रस्तुत नहीं किया जा सका है :[89]

---

[88] देखिये इस विषय पर मूलर का ऋग्वेद का अनुवाद १.२४४ और बाद।

[89] मैं इसका अनुवाद प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग में दे चुका हूँ किन्तु इसे

१०.७२,१ : देवानां न वयं जाना प्र वोचाम विपन्यया। उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्याद् उत्तरे युगे। २ ब्रह्मणस्पतिर् एता सं कर्मार इवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगे असतः सद् अजायत। ३. देवानाम् युगे प्रथमे असतः सद् अजायत। तद् आशाः अन्व् अजायन्त तद् उत्तान-पदस् परि। ४. भूर् जज्ञे उत्तानपदो भुवः आशाः अजायन्ते। अदितेर् दक्षो अजायत दक्षाद् उ अदितिः परि। ५. अदितिर् हि अजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव। तां देवाः अन्व् अजायन्त भद्राः अमृतबन्धवः। ६ यद् देवाः अदः सलिले सुसंरब्धाः अतिष्ठत। अत्र वो नृत्यताम् इव तीव्रो रेणुर् अपायत। ७. यद् देवा. यतयो यथा भुवनानि अपिन्वत अत्र समुद्रे आ गूळहम् आ सूर्यम् अजभर्त्तन। ८. अष्टौ पुत्रासो अदितेर् ये जातास् तन्वस् परि। देवान् उप प्र ऐत् सप्तभिः परा मार्त्तण्डम आस्यत्। ९. सप्तभि' पुत्रैर् अदिति' उप प्रैत पूर्व्यं युगम्। प्रजायै मृत्यवे त्वत पुनर् मार्त्तण्डम् आभरत्।

"१. हम देवों के जन्म को स्पष्ट रूप से कहते हैं। अगले युग में देवसव यज्ञानुष्ठान होने पर स्तोता को देखेगा। २. कर्मकार के समान ब्रह्मणस्पति ने सृष्टि के आदि में देवताओं को जन्म दिया।[१०] असत् से सत् उत्पन्न हुआ। ३. देवोत्पत्ति के पूर्व-समय में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। इसके अनन्तर दिशायें उत्पन्न हुईं और दिशाओं के अनन्तर उत्तानपद उत्पन्न हुआ। ४. उत्ता-नपद से पृथिवी उत्पन्न हुई; पृथिवी से दिशायें उत्पन्न हुईं, दक्ष अदिति से उत्पन्न हुये और दक्ष से अदिति उत्पन्न हुई। ५. हे दक्ष! तुम्हारी पुत्री, अदिति, ने देवों को जन्म दिया। देवता स्तुत्य और अमर हैं। ६. देवगण इस सलिल में रहकर महोत्साह प्रकट करने लगे। वे मानो नृत्य करने लगे।

यहाँ पूर्णता की दृष्टि से पुनः दोहरा रहा हूँ। प्रो० मूलर ने ऋग्वेद के अपने अनुवाद (पृ० २३४) में प्रथम चार मन्त्रों का अपना पाठ दिया है। आप पहले मन्त्र की दूसरी पंक्ति में 'य.' के स्थान पर 'यत्' पाठ मानते हुये यह अनुवाद करते हैं "कि कोई मनुष्य उन्हें देख सके"। तीसरे मन्त्र मे आप 'उत्तानपद को, जहाँ यह पहले आता है, प्रथमा तथा चौथे मन्त्र में षष्ठी मानते हैं' हम जो भी मानें, दिशाओं की द्विविध उत्पत्ति हुई है। प्रथम या तो (क) उत्तानपद से, अथवा (ख) असत् से किन्तु उत्तानपद के पहले जिसे इन्होंने जन्म दिया, और दूसरा पृथिवी से जो स्वयं उत्तानपद से उत्पन्न हुई।

[१०] तुर्का० ऋग्वेद ४ २,१७; और १०.८१,३।

इससे दुःसह धूलि उठी।[91] ७. शक्तिशाली मनुष्यों[92] की भांति देवों ने सारे संसार को आच्छादित कर लिया। आकाश में सूर्य निगूढ़ थे। देवों ने उन्हें प्रकाशित किया। ८. अदिति के आठ पुत्र[93] हुये जिनमें से सात को लेकर वह देवलोक में गई और आठवें, मार्त्तण्ड, को आकाश में छोड़ दिया। ९. उत्तम युग में सात पुत्रों को लेकर अदिति देवों के पास गई तथा जन्म और मृत्यु के लिये मार्त्तण्ड को आकाश में छोड़ दिया।[94]

---

[91] तुकी० ऋग्वेद ४ ४२,५ : 'इन्द्रः इयर्मि रेणुम् अभिभूत्योजा.।"

[92] 'यतयः।' इस शब्द को बॉटलिङ्क और रॉथ ने अपने कोश में (वस्था०) उन भृगुओं से सम्बद्ध एक प्राचीन वंश के रूप मे ग्रहण किया है (ऋग्वेद ८.३,९; ८.६,१८) जिनके साथ प्रस्तुत मन्त्र मे कुछ सम्बन्ध उद्दिष्ट है। यह शब्द ऋग्वेद ७.१३,१ मे भी आता है जहाँ यह अग्नि के लिये व्यवहृत है (वैश्वानराय यतये मतीनाम्)। बॉटलिङ्क और रॉथ द्वारा उद्धृत दूसरा मन्त्र (८ ६,१८) इस प्रकार है : "ये इन्द्र यतयस् त्वा भृगवो ये चतुष्टुवु.। मम इद् उग्र श्रुधि हवम्।" यहाँ मनुष्यो के एक वंश का तात्पर्य हो सकता है, जैसा कि ८ ३,९ (येन यतिभ्यो भृगवे धने हिते) मे भी है। ऋग्वेद मे न मिलनेवाले कुछ मन्त्रो मे से एक, जैसे २.३०४ (जिसे रॉथ बॉटलिङ्क ने अपने कोश मे उद्धृत नही किया है, यद्यपि कुछ भिन्न पाठवाले इसके समानान्तर अथर्ववेद २.५,३, को उद्धृत किया गया है) में 'यति' और 'भृगु' दोनो शब्द आते हैं "इन्द्रश् तुरापाण मित्रो न जघान वृत्र यतिर् न। विभेद वलम् भृगुर् न ससाहे शत्रून् मदे सोमस्य।" अथर्ववेद के समानान्तर स्थल पर 'यतिर्न' के स्थान पर 'यतीर् न' पाठ है। इन लोगो का कोश ऐतब्रा० ७.२८ का भी सन्दर्भ देता है जहाँ यह उल्लेख है कि इन्द्र ने यतियो को भेड़ियो के लिये त्याग दिया, तथा कुछ अन्य स्थलो का भी जहाँ यही आख्यान आता है।

[93] तुकी अवे० ८.९,२१ · अष्ट–योनिर् अदितिर् अष्ट–पुत्रा। तैत्तिरीय आरण्यक १ १३,१ मे यह कहा गया है कि पृथिवी के आठ जन्म, आठ पुत्र और आठ पति हुये (अष्टयोनीम् अष्टपुत्राम् अष्टपत्नीम् इमाम् महीम्)।

[94] आठवाँ और नवाँ मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक १ १३,२,३ मे भी उद्धृत है जहाँ नवें मन्त्र की अन्तिम पंक्ति का पाठ इस प्रकार है : "प्रजायै मृत्यवे तत् परा मार्त्ताण्डम् आभरत्।" भाष्यकार अन्तिम मन्त्र की इस प्रकार व्याख्या करता है · "पुत्रोत्पत्ति के लिये अदिति अपने पति के पास आई, और उन्होने मार्त्ताण्ड को मरने के लिये छोड दिया।" (तद्उत्पादनार्थम् 'पूर्व्यं युगम्' तद् उत्पत्ति-पूर्व-कालीनम् पति-संयोगम् 'प्रजायै' प्रजोत्पत्त्य्–अर्थम् 'उपप्रैत्' प्रीतिपूर्वकम् प्राप्तवती।" मात्त। [illegible]ण्डमम् पुत्रम् 'पराभरत्' परित्यक्तवती इति

निरुक्त (११.२३) में इस सूक्त के चौथे मन्त्र पर यह टिप्पणी करते हैं :

आदित्यो दक्षः इत्य् आहुर् आदित्य-मध्ये च स्तुतः। अदितिर् दाक्षायणी "अदितेर् दक्षो अजायत दक्षाद् उ अदितिः परि" इति च। तत् कथम् उपपद्येत्। समान-जन्मानौ स्याताम् इति। अपि वा देव-धर्मेण इतरेतर-जन्मानौ स्याताम् इतरेतर-प्रकृती।

"वे कहते हैं कि दक्ष एक आदित्य (अदिति के पुत्र) हैं और इनकी आदित्य के मध्य स्तुति होती है। दूसरी ओर, अदिति दक्ष की पुत्री है (सूक्त के अनुसार) अदिति से दक्ष उत्पन्न हुये और दक्ष से अदिति'। यह कैसे

यत् तत् 'मृत्यवे' मृत्यु—निमित्तम्। मार्त्तण्डोहि मृत्योर् एव हेतुर् न प्रजाभि-वृद्धेः।) भाष्यकार यह भी कहता है कि "मार्त्तण्ड का अर्थ वह है जिसके जन्म से अण्ड मृत हो गया है।" (मृतम् अण्डं यदीय—जन्मना स मार्त्तण्ड)। स्मृति के अनुसार : "मृतेऽण्डे जायते यस्माद् मार्त्तण्ड. स उदाहृत" "उसे मार्त्तण्ड कहते हैं क्योंकि उसका जन्म तब हुआ जब अण्ड मर चुका था।" देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग मे उद्धृत हरिवंश की ५४९ वी पंक्ति। शतपथ ब्राह्मण ३.१,३,३, आठवें मन्त्र की यह व्याख्या देता है : "अष्टौ ह वै पुत्रा अदितेः। यास त्व् एतद् 'देवा आदित्या' इत्य् आचक्षते सप्त ह एव ते : अविकृत ह अष्टमं जनयाञ्चकार मार्त्तण्डम्। सन्देघो ह स्वास यावान् एव ऊर्ध्वस् तावांस् तिर्यङ् पुरुषसम्मितः इत्य् उ ह एके आहुः। ४. ते उ ह एते ऊचुर् देवा. आदित्याः 'यद् अस्मान् अनु अजनिमा तद् अमुया इव भूद् हन्त इमं विकरवाम' इति त विचक्रुर् यथा अयम् पुरुषो विकृत.। तस्य यानि मांसानि सकृत्य सन्न्यासुस् ततो हस्ती समभवत्।...यम् उ ह तद् विचक्रुस् स विवस्वान् आदित्यस् तस्य इमा. प्रजा.।" "अदिति के आठ पुत्र हुये। परन्तु इनमें से मनुष्य केवल सात देवो को ही आदित्य देवता कहते हैं, क्योंकि उसने आठवें को विकृत (हाथ-पाँव आदि के बिना) रूपमे उत्पन्न किया था। उसके सम्पूर्ण शरीर पर दाग थे। उसका आकार मनुष्य के बराबर लम्बा और उतना ही चौडा था। आदित्य देवताओं ने कहा . 'यदि इसकी प्रकृति हम लोगों के लिये सुखकर न होगी तो यह अत्यन्त दुर्भाग्य की बात होगी, आओ हम इसके आकार को बदल दें।' इस प्रकार कहकर उन लोगो ने उसके आकार को बदल दिया। इस प्रकार यह पुरुष परिवर्तित हुआ। उन लोगो ने उसके मास के जिस भाग को काटकर फेंक दिया उससे एक हाथी उत्पन्न हुआ। ...जिसको उन लोगो ने इस प्रकार परिवर्तित किया वह अदिति का पुत्र विव-स्वान् हुआ। उसी से सम्पूर्ण प्रजा की उत्पत्ति हुई।"

सम्भव हो सकता है ? ये समान जन्मा हो सकते हैं; अथवा देवों की प्रकृति के अनुसार दोनों ही एक-दूसरे से उत्पन्न हुये हो सकते हैं और दोनों ने अपनी-अपनी प्रकृतियों को एक दूसरे से प्राप्त किया हो सकता है।"[95]

इस परस्पर जन्म का एक अन्य उदाहरण ऋग्वेद १०.९०,५ में मिलता है : तस्माद् विराड् अजायत विराजो अधि पूरुषः। "उससे (पुरुष से) विराज् उत्पन्न हुआ; और विराज से पुरुष उत्पन्न हुआ।"

दो अन्य स्थलों पर भी दक्ष और अदिति सम्बद्ध हैं :

१०.५,७ : असच् च सच् च परमे व्योमन् दक्षस्य जन्मन्न् अदितेर् उपस्थे। अग्निर् नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्वे आयुनि वृषभश् धेनुः। "(एक वस्तु) जिसका (वास्तव में) कोई अस्तित्व नहीं है, किन्तु जो परम व्योम में, दक्ष की सृजनात्मक क्षमता में और अदिति के गर्भ में एक पूर्वयुग में हमारे धार्मिक कृत्यों से प्रथम उत्पन्न हुये, और यह एक शक्तिशाली वृषभ और एक धेनु दोनों हैं।"[96]

१०.६४,५ : दक्षस्य वा अदिते जन्मनि व्रते राजाना मित्रा-वरुणा आ विवाससि। "तुम, हे अदिति, दो राजाओं, मित्र और वरुण की उनकी उत्पत्ति के समय में और दक्ष की इच्छा से परिचर्या करती हो।"[97]

यद्यपि उपरोद्धृत स्थल, १०.७२,४.५ दक्ष को एक साथ ही अदिति के

---

[95] अपनी निरुक्त की व्याख्या में प्रो० रॉथ इस सूक्त के चौथे और पाँचवें मन्त्रों का इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "भू उत्पन्न हुआ, और उसके खुले गर्भाशय से दिशायें उत्पन्न हुईं। अदिति (नित्यत्व) से दक्ष उत्पन्न हुये और दक्ष से पुन. अदिति। ५, हाँ, अदिति का जन्म हुआ; हे दक्ष, जो तुम्हारी पुत्री है; और उसके बाद देवगण उत्पन्न हुये जो अमर थे।" इसके बाद आप आगे इस प्रकार कहते हैं :—"आध्यात्मिकशक्ति, दक्ष, पुरुषशक्ति है जो नित्यत्व से देवों को उत्पन्न करती है। यतः भूः अथवा सत्ता और आकाश सीमितता कि सिद्धान्त हैं। अत. ये दोनों दिव्य जीवन के उत्पत्तिकर्ता हैं।"

[96] देखिये लैङ्ग्लोइ का संस्करण : मूलर (ऋग्वेद का अनुवाद १.२३४), केवल प्रथम पाद का ही अनुवाद करते हैं, और दूसरे पर नहीं आते।

[97] देखिये ऋग्वेद का मूलर का अनुवाद (१, पृ० २३४)। निरुक्त की अपनी व्याख्या (पृ० १५१) में रॉथ इस पंक्ति का इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "और तुम, हे अदिति ! जो दक्ष द्वारा उनके उत्पन्न होने के बाद और दक्ष के आदेश से, दोनों राजाओं, मित्र और वरुण की सेवा करती हो।" इत्यादि।

पिता और पुत्र के रूप में प्रस्तुत करता है, तथापि, प्राचीनतर वैदिक पुराकथाशास्त्र, जैसा कि हम अगले खण्ड में ऋग्वेद २.२७,१ के आधार पर देखेंगे, इनका आदित्यों में से एक और फलस्वरूप अदिति के पुत्र के रूप में वर्णन करता है। फिर भी, दो अन्य स्थल ६.५०,२, और ७.६६,२, ऐसे हैं जिनमें 'दक्ष-पितृ' उपाधि देवों के लिये व्यवहृत है, और एक तीसरा स्थल ८.२५,५ ऐसा है जिसमें आदित्यों में से दो को 'सूनू दक्षस्य सुक्रतू' कहा गया है। इन उपाधियों का क्या आशय है ? इनमें से प्रथम स्थल (६.५०,२) इस प्रकार है :

सुज्योतिषः सूर्य दक्ष-पितॄन् अनागास्त्वे सुमहो वीहि देवान्। द्विजन्मानो ये ऋतसापः सत्याः स्वर्वन्तो यजता अग्नि-जिह्वाः। "हे सूर्य ! तेजस्वी देवताओं, दक्ष के पुत्रों (अथवा पराक्रम से युक्तों) को, जो द्विजन्मा, पवित्र, सत्य, दिव्य, स्तुत्य और अग्नि-जिह्व हैं, हमारे अनुकूल बनाओ।"

७.६६,२ : या धारयन्त देवाः सुदक्षा दक्ष-पितरा। असुर्याय प्रमहसा। "जिन दो सुदक्ष देवताओं (अर्थात् मित्र और वरुण) को जो दक्ष के शक्तिशाली पुत्र (अथवा शक्ति से युक्त) हैं, देवताओं ने दिव्य नियमों का प्रयोग करने के लिये स्थापित किया।"

तैत्तिरीय संहिता १.२,३,१ (पृ० ३०१, जिल्द ८०) में देवों के लिये यही उपाधि व्यवहृत हुई है : ये देवाः मनोजाताः मनोयुजः सुदक्षाः दक्षपितरस् ते नः पान्तु। "वे देवता जो मनोजात हैं, जो मनोयुजी हैं, जो सुदक्ष हैं, जिनके पिता दक्ष हैं,[१८] हमारी रक्षा करें और हमें सुरक्षित करें", इत्यादि।

गत स्थलों पर 'दक्ष' को एक व्यक्ति मानने के विषय पर इस तथ्य के आधार पर आपत्ति की जा सकती है कि ऋग्वेद ८.२५,५ में मित्र और वरुण को न केवल "दक्ष के शक्तिशाली पुत्र" (सूनु दक्षस्य सुक्रतू) ही कहा गया है, वरन् "महान शक्ति के पौत्र" (नपाता शवसो महः) भी कहा गया है। ६.५०,२ की अपनी व्याख्या में सायण "दक्ष–पितॄन्" की "दक्षः पितामहो येषां ते" के रूप में व्याख्या करते हैं। दूसरे स्थल, ७.६६,२ में, फिर भी, वे इस युग्म को "पालकों अथवा शक्ति के अधिपतियों" (बलस्य पालकौ स्वामिनौ वा) के अर्थ में ग्रहण करते हैं। "बल का पुत्र" (सहसस्पुत्र, सहस सूनु) उपाधि अग्नि के लिये (८.४१,२; ८.६०,११; ८.६४,३); और "शक्ति का पुत्र" (शवसः पुत्र) उपाधि इन्द्र के लिये (८.७९,४;

[१८] भाष्यकार 'दक्ष-पितर' की "दक्ष प्रजापतिर् उत्पादको येषाम् ते" (जिनके उत्पादक प्रजापति दक्ष हैं) के रूप में व्याख्या करता है।

८,८१,१) व्यवहृत हुई है। ८.५८,४ में इन्द्र इन्द्र को "सत्य का पुत्र" (सूनुं सत्यस्य); और देवों को ६.५२,९ तथा १०.१३,१ में क्रमशः सूनवः अमृतस्य तथा अमृतस्य पुत्राः कहा गया है। अपने कोश में प्रोफेसर रॉथ "दक्षपितरः" को "रक्षा करनेवाला, धारण करनेवाला, शक्ति प्रदान करनेवाला" अर्थ प्रदान करते हैं और अपने मत की ऋग्वेद के अन्य विभिन्न स्थलों को उद्धृत करके पुष्टि करते हैं। प्रस्तुत लेख की अपनी समालोचना में डा० कुन ने इसी आशय को मान्यता दी है। प्रोफेसर मूलर इस शब्द की "बल के पिता" अनुवाद करते हैं (ऋग्वेद का अनुवाद १.२३५ और बाद)।

शतपथ ब्राह्मण २.४,४,२ में दक्ष को प्रजापति अथवा स्रष्टा के साथ समीकृत किया गया है।[९९]

बाद के पुराकथाशास्त्र में इनकी जो भूमिका है वह निःसन्देह उन वैदिक स्रोतों पर आधारित है जिनको मैंने उद्धृत किया है और इसे प्रो० विलसन के विष्णु पुराण (डा० हॉल का संस्करण, भाग १, पृ० १००, १०८ और बाद; भाग २, पृ० ९-२६; और भाग ३, पृ० २३०) के अवलोकन द्वारा भी देखा जा सकता है। प्रथम विवरण के अनुसार ये ब्रह्मा के मानस पुत्रों में से एक हैं (पृ० १००), और उस प्रसूति के साथ विवाह करते हैं (पृ० १०८) जो इनके द्वारा चौबीस पुत्रियाँ उत्पन्न करती है। इन पुत्रियों में अदिति का उल्लेख नहीं है। फिर भी, दूसरे विवरण में (भाग २, पृ० २६) अदिति का इनकी साठ पुत्रियों में से एक के रूप में उल्लेख है, जिसके, दिति, दनु, तथा दस अन्य के साथ उन कश्यप को विवाह में समर्पित कर दिये जाने का उल्लेख है जिनके द्वारा अदिति ने दस आदित्यों को जन्म दिया (पृ० २७३; देखिये महाभारत, आदिपर्व ३१३५ भी)। तीसरे विवरण (भाग ३, पृ० २३०) के अनुसार अदिति को दक्ष की पुत्री तथा विवस्वत् की माता कहा गया है। रामायण की एक शाखा के एक स्थल (श्लेगेल, १.३१, कल० संस्करण १.२९) पर, महाभारत में, और भागवत पुराण ८.१६,१ और बाद में अदिति को कश्यप की पत्नी तथा वामनावतार विष्णु की माता कहा गया है (देखिये प्रस्तुत कृति का चौथा भाग)।

फिर भी, एक प्राचीनतर स्रोत, वाज० संहिता, विष्णु के साथ अदिति के सम्बन्ध का एक सर्वथा भिन्न विवरण, प्रस्तुत करता है, क्योंकि यहाँ (२९.६० = तैत्ति० सं० ७.५,१४,१) इसे विष्णु की पत्नी कहा गया है

[९९] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा भाग। शतब्रा० २.४,४,६ के अगले स्थल पर पर्वत के पुत्र, दक्ष नामक एक व्यक्ति का उल्लेख है।

(अदित्यै विष्णु-पत्न्यै चरु.) ।[१००] तैत्तिरीय संहिता के निम्नलिखित स्थल (इण्डिया ऑफिस पाण्डुलिपि, पृ० ३४ क) पर भी इसका इसी समान वर्णन है : विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्या अस्येशाना जगतो विष्णु-पत्नी । विश्व-व्यचाः इषयन्ती सुभूतिः शिवा नो अस्तु अदितिर् उपस्थे "आकाश को उपस्तम्भित करनेवाली, पृथिवी को धारण करनेवाली, इस जगत की अधिष्ठात्री, विष्णु-पत्नी, सबको आवृत्त करनेवाली शक्तिशाली अदिति हमें शक्ति से पूर्ण करती हुई हम लोगों के लिये कल्याणकारी हो जो उसकी गोद में पड़े हैं ।"



---

[१००] ऋवे० ७ ४६,३ में सिनीवाली को विष्णु की पत्नी (विष्णोः पत्नी) कहा गया प्रतीत होता है । तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१,२,६ में एक अन्य देवी को इसी देवता की पत्नी बताया गया है (महीम् देवीम् विष्णुपत्नीम्) ।

खण्ड ४

आदित्यगण

ऋग्वेद २.२७,१ में उल्लिखित अदिति के ये छह पुत्र हैं : मित्र, अर्यमा, भग, वरुण, दक्ष, और अंश (इमाः गिरः आदित्येभ्यो घृतस्नूः सनाद् राजभ्यो जुह्वा जुहोमि । शृणोतु मित्रो अर्यमा भगो नस् तु विजातो वरुणो दक्षो अंशः) । ९.११४, ३ में आदित्यों की संख्या सात बताई गई है, किन्तु इनके नामों का उल्लेख नहीं है (देवाः आदित्याः ये सप्त तेभिः सोमाभिरक्ष नः) ।[101] १०.७२, ८-९ में, जैसा हम पहले ही देख चुके हैं, यह कहा गया है कि अदिति के आठ पुत्र थे, जिनमें से उसने केवल सात को ही देवों को समर्पित किया तथा आठवें मार्त्ताण्ड को फेंक दिया यद्यपि ऐसा कहा गया है कि उसने बाद में इस आठवें का भी पालन किया। यहाँ भी पुनः, नामों का उल्लेख छोड़ दिया गया है । अवे० ८.९, २१ में, जैसा कि इसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, अदिति के आठ पुत्रों की चर्चा की गई है । कुछ स्थानों पर सूर्य को एक आदित्य कहा गया है, जैसे ऋग्वेद १.५०,१२ (उद् अगाद् अयम् आदित्यः), १.१९१,९ (उद् अपप्तद् असौ सूर्यः…आदित्यः); ८.९०, ११;[102] और एक आदितेय (इस शब्द का समान रूप से 'अदिति का पुत्र' अर्थ है) के रूप में इन्हें अग्नि के साथ समीकृत किया गया है । इन्हें (१०.८८,११),[103] देवों द्वारा आकाश में स्थापित कहा गया है । ८.१८,३ में चार आदित्यों, भग, वरुण, मित्र और अर्यमा, के साथ

---

[101] प्रस्तुत कृति का चौथा भाग देखिये, जहाँ इस तथा आदित्यों से सम्बद्ध अनेक अन्य स्थलों को उद्धृत किया गया है ।

[102] यह अन्तिम उल्लिखित स्थल इस प्रकार है : बण् महान् असि सूर्य बल आदित्य महान् असि ।…बट् सूर्य श्रवसो महान् असि । "हे सूर्य तुम महान् हो ! हे अदिति के पुत्र तुम महान् हो !…हे सूर्य ! यश मे तुम महान् हो ।" इत्यादि ।

[103] "यदेद एनम् अदधुर् यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यम्, आदितेयम् ।" देखिये निरुक्त २.१३; ७.२९ । १०.३७, १ में, फिर भी, सूर्य को 'दिवस् पुत्राय' कहा गया है (दिवस् पुत्राय सूर्याय); और यहाँ तथा साथ ही साथ अन्यत्र भी इसे मित्र तथा वरुण का नेत्र कहा गया है ।

सविता का उल्लेख है, और इसके पहलेवाले मन्त्र में सामान्य रूप से आदित्य देवताओं की प्रशस्ति की गई है। इस प्रकार, सूर्य अथवा सविता, सातवाँ आदित्य कहा जाने का अधिकारी है (तुलना कीजिये अथर्ववेद १३.२,९ और ३७, जहाँ सूर्य को अदिति का पुत्र कहा गया है : अदितेः पुत्रः और अदित्याः पुत्रम्)। ऊपर हम देख चुके हैं कि एक स्थल पर (ऋग्वेद ७.८५,४) इन्द्र को भी वरुण के साथ एक आदित्य के रूप में सम्बोधित किया गया है।[108] अवे० ८.२,१५ में सूर्य और चन्द्रमा को आदित्य कहा गया है (तत्र त्वाऽऽदित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसाव् उभौ) अवे० ९.१,४ में सुवर्ण वर्ण मधुकशा को आदित्यों की माता और वसुओं की पुत्री कहा गया है (माताऽऽदित्यानां दुहिता वसूनाम् हिरण्य-वर्णा मधुकशा)।

तैत्तिरीय वेद (ऋग्वेद २.२७,१ पर सायण द्वारा उद्धृत) में आदित्यों की संख्या आठ बताई गई है : मित्र, वरुण, धाता, अर्यमा, अंशु, भग, इन्द्र और विवस्वत्। यहाँ पाँच नाम ऋग्वेद २,२७,१ में दिये गये नामों के अनुरूप हैं, जबकि दक्ष को छोड़ दिया गया है तथा धाता, विवस्वत् (जिसे सूर्य के साथ समीकृत किया जा सकता है) और इन्द्र के नामों को जोड़ दिया गया है।

तैत्तिरीय ब्राह्मण १.१,९,१ में भी यही नाम दिये गये हैं। यह स्थल इस प्रकार है :

अदिति पुत्रकामा साध्येभ्यो देवेभ्यो ब्रह्मौदनम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददुः। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै धाता च अर्यमा च अजायताम्। सा द्वितीयम् अपचत्॥ २०. तस्यै उच्छेषणम् अददुः। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त तस्यै मित्रश् च वरुणश् च अजायेताम्। सा तृतीयम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददुः। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै अंशश् च भगश् च अजायेताम्। सा चतुर्थम् अपचत्। तस्यै उच्छेषणम् अददुः। तत् प्राश्नात्। सा रेतोऽधत्त। तस्यै इन्द्रश् च विवस्वांश् च अजायेताम्।

"पुत्र की इच्छा से अदिति ने साध्य देवताओं के लिये ब्रह्मौदन पकाया। इन देवताओं ने उसे इसका उच्छिष्ट दिया जिसे उसने भक्षण किया। उसने गर्भ धारण किया और उससे धाता तथा अर्यमा उत्पन्न हुये।" दूसरी बार भी यह कृत्य करने पर उसने मित्र और वरुण को, तीसरी बार करने पर अंश और भग को तथा चौथी बार करने पर इन्द्र और विवस्वत् को जन्म दिया।

---

[108] यद्यपि अपनी संहिता पाठ में मूलर तथा ऑफरेख्त दोनों, 'आदित्य' पाठ देते हैं, तथापि पदपाठ में द्विवचन "आदित्या" देते हैं।

(तुलना कीजिये प्रस्तुत कृति के पहले भाग में उद्धृत तैत्ति० संहिता ६.५,६,१)। एक स्थान (३.१,३,३) पर शतपथ ब्राह्मण यह कहता है कि मार्त्तण्ड को मिला देने से आदित्यों की संख्या आठ हो गई; किन्तु दो अन्य स्थलों (६.१,२,८; ११.६,३,८) पर इनकी संख्या बारह बताई गई है। इन दो बाद वाले स्थलों में से प्रथम में प्रजापति द्वारा उत्पन्न बारह बिन्दुओं से आदित्यों को उत्पन्न बताया गया है (इस दशा में ये अदिति के पुत्र नहीं हो सकते), तथा द्वितीय में आदित्यों को बारह मासों के साथ समीकृत किया गया है।[१०५] बाद के भारतीय साहित्य में इन्हें सदैव ही बारह कहा गया है।

प्रोफेसर रॉथ (जर्नल ओसो० ६.६८ और बाद) आदित्यों के सम्बन्ध में ये विचार व्यक्त करते हैं: "वहाँ (उच्चतम द्युलोक में) वे देवता रहते और शासन करते हैं जिन सबको आदित्य नाम से सम्बोधित किया जाता है। फिर भी, यदि हम इनके आरम्भिकतम चरित्र को जान लें तो हम उन धारणाओं का परित्याग कर देंगे जो एक बाद के युग में और यहाँ तक कि वीरगाथा काव्यों तक में इस वर्ग के देवताओं के सम्बन्ध में प्रचलित थीं। इस धारणा के अनुसार ये बारह सूर्य देवता थे जिनसे प्रत्यक्षतः बारह मासों का तात्पर्य था। किन्तु सर्वाधिक प्राचीन काल के लिये हमें इनके नाम के प्राथमिक आशय को ही ग्रहण करना होगा। ये अनुल्लंघनीय, अनश्वर, और नित्य हैं। अदिति, नित्यत्व, अथवा नित्य, ही वह तत्व है जो इन्हें धारण करती है और जिसे ये धारण करते हैं।" देखिये ऊपर। आगे आप यह कहते हैं: "वह नित्य तथा अनुल्लंघनीय तत्व जिसमें आदित्यगण निवास करते हैं, और जो इनका सारतत्व है, दिव्य प्रकाश है। अतः आदित्यगण, जो इस प्रकाश के देवता हैं, किसी भी प्रकार उन रूपों के अनुरूप नहीं हैं जिनमें जगत में प्रकाश प्रगट होता है। ये न तो सूर्य हैं, न चन्द्रमा हैं, न नक्षत्र हैं, न उषा हैं, बल्कि ये इस द्युतिमान जीवन को धारण करनेवाले हैं, जो इन सब घटनाओं के पीछे विद्यमान रहता है।

कुछ सूक्तों में, जिनमें आदित्यों (जिस नाम से वरुण, मित्र, और अर्यमा

---

[१०५] शत ब्रा० ३.५,१,१३ में यज्ञ के सम्बन्ध में आदित्यों और अङ्गिरसों बीच एक विवाद का उल्लेख है। (तुकी० तैत्ति० ब्रा० ३.९,२१;१)। शतब्रा० १२.२,२,९ में ही यह भी कहा गया है कि देवों के ये दोनों वर्ग (आदित्यगण और अङ्गिरसगण) प्रजापति के वंशज थे और स्वर्ग में आरूढ होने के लिये दोनों ने एक साथ ही प्रयास किया। अवे० १२.३,४३ और बाद, तथा १९.३९,५, में भी इन्हें एक दूसरे के साथ सम्बद्ध किया गया है।

का यदि एकमात्र नहीं तो कम से कम प्रमुख रूप से तात्पर्य है) की प्रशस्ति की गई है (देखिये मुख्यतः २.२७), इन्हें इन उपाधियों से युक्त किया गया है : शुचयः, हिरण्ययाः, धारपूताः, अवृजिनाः, अनवद्याः, ऋतावानः, क्षत्रियाः (८.५६,१), अरिष्टाः, उरवः, गभीराः, अस्वप्नजः, अनिमिषाः,[१०६] भूर्यक्षाः (२.२७,३), दीर्घधियः, धृतव्रताः। दूरस्थ वस्तुयें इनके लिये निकट हैं (३.२७,३ : सर्वं राजभ्यः परमा चिद् अन्ति); ये स्थावर और जङ्गम वस्तुओं की रक्षा करते हैं और उनको वास देते हैं (धारन्तयः आदित्यासो जगत् स्थाः देवाः विश्वस्य भुवनस्य गोपाः, वही); ये मनुष्यों के हृदयों के पाप-पुण्य को देखते हैं और कपटी से सत्यवादी मनुष्य का विभेद करते हैं (२.२७,३ : अन्तः पश्यन्ति वृजना उत साधु। ८.१८,१५ : पाकत्रा स्थन देवाः हृत्सु जानीथ मर्त्यम्। उप द्वयुं च अद्वयुं च); ये पवित्र और भयङ्कर हैं, ये मिथ्यात्व को घृणा करते हैं और पाप को दण्डित करते हैं (२.२७,४ : ऋतावानश् चयमानाः ऋणानि। ७.६०,५१ : इमे चेतारो अनृतस्य भूरेः। ७.५२,२; ७.६६,१३ भी देखिये जिसमें क्षमा करने के लिये इनकी स्तुति की गई है; २.२७,१४; २.२९,५) स्तोता इनकी स्तुति करता है जिससे उसे अन्य-कृत कर्म का फल न मिले और वह इनको नष्ट करनेवाला कर्म भी न करे, (७.५२,२; ८.४७,८)। स्तोता प्रगट और अप्रगट पापों को अपने से दूर रखने तथा उन्हें आप्त्य पर स्थानान्तरित कर देने के लिये इनकी स्तुति करता है (८.४७,१३ : यद् आविर् यद् अपीच्य देवासो अस्ति दुष्कृतम्। त्रिते तद् विश्वम् आप्त्ये आरे अस्मद् दधातन)।[१०७] ये स्तोताओं के लिये पाश फैलाते हैं (२.२७,१७ : याः वो मायाः अभिद्रुहे यजत्राः पाशाः रिपवे विचृत्ताः)। विभिन्न वरदानों, रक्षा, सन्तान, निर्देशन, प्रकाश, और दीर्घजीवन आदि के लिये इनकी स्तुति की गई है (देखिये ऋग्वेद २.२७,५-७, १०,११,१४; ८.१८,२२)। ८.४७,२ में यह कहा गया है कि ये दुःख दूर करना जानते हैं, और इनसे स्तोताओं की उसी प्रकार रक्षा करने की स्तुति की गई है जिस प्रकार चिड़ियाँ पंख फैला कर अपने बच्चों की रक्षा करती हैं : विद देवाः अघानाम् आदित्यासो अपाकृतिम्। पक्षा वयो यथा उपरि वि अस्मे शर्म यच्छत। ३. वि अस्मे अधि शर्म तत् पक्षा वयो

[१०६] यह सामान्य रूप से देवों की विशिष्टता है।

[१०७] रॉथ, वस्पा० "त्रित आप्त्य"। आप कहते हैं कि इस देवता की एक दूरस्थ स्थान पर, दृष्टि से दूर रहनेवाले के रूप मे कल्पना की गई है, और इसी कारण पापों को इस पर स्थानान्तरित कर देने की स्तुति की गई है।

न यन्तन ।[१०८] इनके दास उसी प्रकार इनसे रक्षित रहते हैं जैसे कोई योद्धा अपने कवच से (७.४७,८ : युष्मे देवाः अपि स्मसि युध्यन्तः इव वर्मसु), और तब कोई भी अस्त्र, वह चाहे कितना भी तीक्ष्ण या भारी क्यों न हो, उन पर प्रहार नहीं कर सकता (वही ७ : न तां तिग्मं चन त्यजो न द्रासद् अभि तं गुरु । यस्मै उ शर्म अराध्वम् , देखिये मूलर का अनुवाद, पृ० २५५)।

फिर भी, देवताओं के एक वर्ग के रूप में आदित्यों का सूक्तों में इतना विशेष रूप से चित्रण नहीं मिलता जितना कि इसी सामान्य नाम को धारण करने वाले दो वैयक्तिक देवताओं, अर्थात् वरुण और मित्र का। अतः मैं अब इन दोनों का (जिनके साथ कभी-कभी अर्यमा को भी सम्बद्ध किया गया है) और पूर्णतर विवरण प्रस्तुत करूँगा। मैं भग तथा अंश का और अधिक सन्दर्भ नहीं दूँगा क्योंकि इनका कभी-कभी ही उल्लेख है। दक्ष को भी अब छोड़ दूँगा जिनके सम्बन्ध में कुछ न कुछ पहले कहा ही जा चुका है। सूर्य और सविता का पृथक् रूप से विवेचन किया जायगा।



[१०८] तुकी० साम्स, १७.८; ३६.७; ६१.४; ६३.७; ९१.४।

खण्ड ५

मित्र और वरुण

(१) इन दो देवताओं के सम्बन्ध में सामान्य विचार

ये दो देवता युगल रूप से बहुधा मिलते हैं। वरुण की कभी-कभी पृथक् रूप से भी प्रशस्ति है, किन्तु मित्र की कदाचित ही। इनके अक्सर सम्बद्ध होने की तब सरलता से व्याख्या हो सकती है, जब भाष्यकार मित्र को दिन का तथा वरुण को रात्रि का प्रतिनिधित्व करनेवाला मानने में ठीक हों। इस प्रकार, ऋग्वेद १.८९,३ पर सायण का यह कथन है: "मित्र दिन का अभिमानी देवता है; ऐसी श्रुति है कि "मित्र ही दिन है" (अहर् अभिमानिनं देवम्। "मित्र वै अहर्" इति श्रुतेः); और पुनः "वरुण 'वृ' धातु से व्युत्पन्न है; ये अपने पाशों से पापियों को आवृत्त करते हैं; 'वरुण रात्रि हैं' इस श्रुति के अनुसार ये रात्रि के अभिमानी देवता हैं"[१०९] (वृणोति। पाप-कृतः स्वकीयैः पाशैर् आवृणोति इति राज्य्-अभिमानि-देवो वरुणः। श्रूयते च "वारुणी रात्रिर्" [तैत्त० ब्रा० १.७,१०,१] इति)। इसी

---

[१०९] १.१४१,९ पर भी इनकी टिप्पणी देखिये जहाँ ये मित्र और वरुण की यही व्याख्या देते हुए इतना और कहते हैं कि अर्यमा वह देवता हैं जो दोनो के मध्यवर्ती हैं (अर्यमा उभयोर् मध्यवर्त्ती देव)। १.९०,१ पर इनकी टीका के अनुसार अर्यमा वह सूर्य हैं जो दिन और रात्रि का विभाजन करते हैं (अर्यमा अहो-रात्र-विभागस्य कर्त्ता सूर्यः)। तुकी० २,३८,८ पर इनकी टीका जहाँ ये कहते हैं कि वरुण को सूर्यास्त के पश्चात् प्राणियो को आश्रय देनेवाला कहा गया है क्योंकि ये रात्रि के कार्यों का सचालन करते हैं (योनिं स्थान निमिषि निमेषे सवितुर् अस्त-समये सति विश्रमार्थम् प्राणिभ्यः प्रयच्छति। वरुणस्य रात्रेर् निर्वाहाकत्वात्)। १.३५,१ में मित्र और वरुण का अग्नि, रात्रि और सविता के साथ आवाहन किया गया है: "अपने कल्याण के लिये मैं पहले अग्नि का आवाहन करता हूं; मैं अपनी सहायता के लिये मित्र और वरुण को यहाँ आहूत करता हूँ, मैं रात्रि का आवाहन करता हूँ जो संसार को विश्राम देती है; मै अपनी सहायता के लिये दिव्य सविता का आवाहन करता हूँ" (ह्वयामि अग्निम् प्रथमं स्वस्तये ह्वयामि मित्रावरुणाव् इहावसे। ह्वयामि रात्रीं जगतो निवेशनीम् ह्वयामि देवं सवितारम् ऊतये)।

प्रकार तैत्तिरीत संहिता १.८,१६,१ (बिब० इ० भाग २, पृ० १६४) पर भाष्यकार यह स्थापना करता है कि "मित्र शब्द सूर्य का द्योतक है (मित्र-शब्दस्य सूर्य-वाचित्वात्), और यह है कि "वरुण शब्द उसका द्योतक है जो अन्धकार की भांति आवृत्त करता है" (वरुण शब्दस्य अन्धकार-वद् आवरक-वाचित्वात्), और श्रुति (जिसे ऊपर तैत्तिरीय ब्राह्मण १.७,१०,१ में भी दिया गया है) के अनुसार "दिन मित्र है और रात्रि वरुण है"। तैत्तिरीय संहिता के एक अन्य भाग (६.४,८) में हमें यह पाठ मिलता है : न वै इदं दिवा न नक्तम् आसीद् अव्याकृतम् । ते देवाः मित्रा-वरुणान् अब्रुवन् "इदं नो विवासयतम्" इति । ...मित्रोऽहर् अजनयद् वरुणो रात्रिम् । "इस जगत में न दिन था न रात्रि, बल्कि (इस दृष्टि से यह) अविभक्त था । देवों ने मित्र और वरुण से कहा : 'इनको पृथक् करो' ...मित्र ने दिन उत्पन्न किया और वरुण ने रात्रि" (देखिये यही संहिता २.१,७,४)। ऋग्वेद ८.४१,३ में वरुण के लिए यह कहा गया है : "इस प्रखर देवता ने रात्रियों को आवृत्त किया; अपनी माया से इन्होंने दिनों की तथा सब कुछ की पूर्णता के साथ स्थापना की है" (स क्षपः परिषस्वजे नि उस्रो मायया दधे स विश्वम् परि दर्शतः)। एक अन्य स्थल (ऋग्वेद ७.८७,१) पर अपनी टीका में सायण कहते हैं कि अस्त होनेवाला सूर्य ही वरुण है, जो अपने प्रस्थान से रात्रियों का सृजन करता है (अस्तं गच्छन् सूर्यः एव वरुणः इत्य् उच्यते । स हि स्व-गमनेन रात्रीर् जनयति)। शतपथ ब्राह्मण १२.९,२,१२ यह कहता है : "यह (पार्थिव) लोक मित्र है; अन्य (दिव्य) लोक वरुण है (अयं वै लोको मित्रः । असौ वरुणः)।

(२) इनकी प्रमुख विशिष्टतायें

ऋग्वेद के अनुसार इन देवताओं की प्रमुख विशिष्टतायें निम्नलिखित हैं। वरुण, कम से कम कभी-कभी, स्तोता के मानसिक चक्षुओं को दृष्ट होता है। इस प्रकार, १.२५,१८ में ऋषि कहता है : दर्शं नु विश्व-दर्शतं दर्शं रथम् अधि क्षमि । "मैंने उसका दर्शन किया जो सबके लिये दृष्ट है; मैं भूमि पर उसके रथ को देखता हूँ।" ७.८८,२ में भी कवि कहता है : अध नु अस्य संदृशं जगन्वान् अग्नेर् अनीकं वरुणस्य मंसि । "जब मैंने वरुण का दर्शन किया तब मैंने उनकी प्रभा को अग्नि के सदृश पाया।"[१०] छत्रपती और शक्तिशाली, ये सम्राट के अधिकारों सहित अपने निवास में बैठते हैं

[१०] देखिये जजओसो० ६.७१ में रॉथ का लेख "दि हाएस्ट गॉड्स आफ दि एरियन रेसेज्"।

(१.२५,१० : नि षसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यासु आ। साम्राज्याय सुक्रतुः)। ये सुवर्ण कवच धारण करते हैं[111] और अपने दूतों से घिरे हैं (१.२५,१३ : बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्। परि स्पशो नि षेदिरे)। इनका गृह, जहाँ स्तोताओं को पहुँच गया बताया गया है, सहस्र द्वारों से युक्त है (७.८८,५ : बृहन्तम मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगम गृहं ते)। पुनः, इन्हें मित्र के साथ-साथ, सहस्र-स्तम्भों पर आश्रित दृढ़ सदन में स्थित कहा गया है[112] (२.४१,५ : राजाना अनभिद्रुहा ध्रुवे सदसि उत्तमे। सहस्रस्थूणे आसते। ५.६२,६ : राजाना क्षत्त्रम् अहृणीयमाना सहस्रस्थूणम् बिभृथः सह द्वौ)। दोनों देवता अपने उस रथ पर आरूढ़ होते हैं जो अश्वों द्वारा खींचा जाता है, जो दिवसारम्भ के समय हिरण्यवर्ण है, और सूर्यास्त के समय लोहे के वर्ण का हो जाता है (५.६२,८, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)।[113] अपने रथ पर आरूढ़ होकर और परम व्योम में उठ कर ये द्युलोक तथा पृथिवी की सभी वस्तुओं को देखते हैं (५.६२,४,८; ५.६३,१ : ऋतस्य गोपाव् अधितिष्ठतो रथम् सत्यधर्माणा परमे व्योमनि)। वरुण को दूर-द्रष्टा (१.२५,५,१६; उरुचक्षस्; ८.९०,२), और सहस्रनेत्र (७.३४,१० : सहस्रचक्षस्) कहा गया है। एक स्थान पर इनके सुवर्ण-पंखों वाले दूत का उल्लेख है (१०.१२३,६ : हिरण्य-पक्षम् वरुणस्य दूतम्)। अन्यत्र सूर्य को मित्र और वरुण का नेत्र कहा गया है (७.६१,१ : चक्षुर् मित्रस्य वरुणस्य; ७.६३,१,१०.३७,१)। एक अन्य आदित्य, अर्यमा, के साथ इन दोनों देवों को सूर्य-चक्षु कहा गया है (७.६६,१० : सूरचक्षसः)। इन्हें 'सुपाणि' भी कहा गया है। वरुण को अक्सर ही एक राजा कहा गया है (१.२४,७,८ : राजा वरुणः; ४.१,२; ५.४०,७; ७.६४,१; १०.१०३,९; १०.१७३,५)। इन्हें सब का राजा (१०.१३२,४), देवों और मनुष्यों दोनों

[111] सविता को भी सुवर्ण-कवचधारी कहा गया है (४५३,२)।

[112] तुकी० ओल्डि० मेट० २.१ और बाद। अवे० ७.८३,१ के अनुसार इनका सुवर्ण सदन जलों मे निर्मित है। (अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मितः)।

[113] "उदिता सूर्यस्य" वाक्यांश को उदित होनेवाले सूर्य के अर्थ मे नही (जो इसका अर्थ है) बल्कि 'अस्त होने वाले सूर्य' के अर्थ ग्रहण करने में रॉथ का अनुसरण कर रहा हूं। केवल इसी प्रकार रथ का लोह-वर्ण बोधगम्य होता है।

का राजा (२.२७,१० : त्वं विश्वेषां वरुण असि राज ये च देवा: असुरये च मर्त्ता:), विश्व का राजा (५.८५,३ : विश्वस्य भुवनस्य) उस सब का राजा जिसका अस्तित्व है (७.८७,६ : सतो अस्य), सम्राट् (१.२५,१०; २.२८,६; ५.८५;१; ६.६८,९; ८.४२,१), और एक आत्मनिर्भर सम्राट (२.२८,१ : स्वराट्) कहा गया है। राजा तथा सम्राट की यही उपाधियाँ अन्यत्र एक साथ मित्र और वरुण के लिये व्यहृत हैं (जैसे १.७१,९; १.१३६,१,४; १.१३७,१; ५,६२,६; ५.६३,२,३,५; ५.६५,२; ५.६८,२; ७.६४,२; ८.२३,३०; ८.२५,४,७,८; ८.९०,२; १०.६५,५)।[114]

शक्ति, बल, सार्वभौमिक अधिकार, क्षत्र, भी प्रायः नित्य ही इन दोनों अथवा दोनों में से एक के लिये प्रयुक्त मिलते हैं। इन्हें, तथा साथ ही साथ, सामान्य रूप से आदित्यों को बलवान, देवता तथा क्षत्रियाः कहा गया है। (जैसे १.२५,६; १.२५,५; १.१३६,१; ५.६६,२; ५.६७,१; ५.६८,१,३; ६.४९,१; ६.५१,१०;[115] ६.६७,५,६; ७.३४,११; ७.६४,२; ८.२५,८; ८.५६,१; ८.९०,२, में)। इन्हें 'रुद्रा' (५.७०,२,३); 'असुरा' (७.३६,२;८.२५,४; ८.२७,२०), तथा देवों में दिव्य तथा महान् कहा गया है (असुरा ताव् अर्या, ७.६५,२)। 'असुर' उपाधि विशेष रूप से वरुण के लिये अक्सर व्यवहृत हुई है (जैसे १.२४,१४; २.२५,१०; ५.८५,५,६; ८.४२,१ में), यद्यपि इसका वैदिक देवसभा के अन्य देवों के लिये भी प्रयोग हुआ है।

इनकी दिव्य शक्ति अथवा ज्ञान को व्यक्त करने के लिये प्रयुक्त एक अन्य शब्द 'माया'[116] है। वरुण को कभी-कभी 'मायिन्' कहा गया है (६.४८,१४; ७.२८,४; १०.९९,१०; १०.१४७,५)। जब कि कुछ स्थानों (३.६१,७,५.६३,४) पर 'माया' स्वयं इन दो देवों के लिये व्यवहृत हुआ है, वहीं ५.६३,३,७ में यह कहा गया है ये आकाश से वर्षा कराते हैं और

[114] अर्यमा सहित इन्ही देवो को १.४१,३ मे राजा और मनुष्यो का राजा (१०.२६,६ : राजानश् चर्षणीनाम्) कहा गया है। ७.६६,११ में यह कहा गया है : मित्र, वरुण और अर्यमा राजा, जिन्होने वर्ष, मास तथा दिनों, इत्यादि की स्थापना की थी, निर्विरोध साम्राज्य का उपभोग करते हैं (ये वि दधुः शरदम् मासम् आद् अहर् यज्ञम् अक्तुम् च आद् ऋचम्। अनाप्यं वरुण मित्रो अर्यमा क्षत्रं राजान: आशत)।

[115] इन दो अन्तिम स्थलो पर 'सुक्षत्र' उपाधि का मित्र तथा वरुण के साथ अग्नि के लिये भी प्रयोग किया गया है।

[116] अन्य देवो के लिये भी प्रयुक्त। देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश, वस्था०।

दिव्यों (असुरस्य) की मायाशक्ति से देवों के विधान का पालन कराते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ 'असुर' शब्द किसी ऐसे महान देवता का द्योतक है जो मित्र और वरुण से श्रेष्ठ और पृथक् था और जिसकी शक्ति के द्वारा ही ये कार्य करते थे। किन्तु अन्य स्थानों पर, जैसा कि हम देख चुके हैं, 'असुर' शब्द स्पष्ट रूप से वरुण तथा अन्य आदित्यों की उपाधि है।

(३) वरुण के कार्य और गुण

वरुण पर महानतम जगद्व्यापक कार्यों को आरोपित किया गया है। असीम माया से युक्त यह देवता आकाश और पृथिवी का निर्माण करते तथा उन्हें धारण करते हैं। ये सम्पूर्ण लोकों में सम्राट के रूप में निवास करते हैं (८.४२,१ : अस्तभ्नाद् द्याम् असुरो विश्ववेदा: अमिमीत वरिमाणम् पृथिव्या: । आसीदद् विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वा इत् तानि वरुणस्य व्रतानि)। वास्तव में तीनों लोक इन्हीं में निहित हैं (७.८७,५ : तिस्रो द्यावो निहिता: अन्तर् अस्मिन् तिस्रो भूमी:)। इन्होंने हिरण्यमय तथा चक्कर करनेवाले सूर्य को आकाश में प्रकाशित कराया (वही : गृत्सो राजा वरुणश् चक्रे एतं दिवि प्रेंखं हिरण्ययं शुभे कम् ; तुकी० ५.८५,२)। देखिये ६.७०,१; ७.८६,१; ७.८७,६; ८.४१,४,५,१० भी। अन्तरिक्ष में प्रतिध्वनित होनेवाला वायु इन्हीं का श्वास है (७.८७,२ : आत्मा ते वातो रज: आ नवीनोत्)। इन्होंने सूर्य के लिये असीम पथों को खोला,[११७] और उन नदियों का मार्ग खोदा जो इन्हीं के आदेश से प्रवाहित होती हैं (१.२४,८ : उरुं हि राजा वरुणश् चकार सूर्याय पन्थाम् अनु एतवे उ। २.२८,४ : प्र सीम् आदित्यो असृजद् विधर्ता ऋतं सिन्धवे वरुणस्य यन्ति। ७.८७.१ : रदत् पथो वरुण: सूर्याय प्रऽर्णांसि समुद्रिया नदीनाम्)। इनकी अद्भुत माया से नदियाँ एकमात्र समुद्र में अपना जल गिराती हैं किन्तु उसे कभी भी भर नहीं पातीं[११८] (५.८५,६ : इमां उ नु कवितमस्य मायाम् महीं देवस्य नकिर् आदधार्ष। एकं यद् उद्ना न प्रिणन्ति एनीर् आसिञ्चन्तीर् अवनय: समुद्रम्)। इनके विधान निश्चित और अनुल्लङ्घनीय

---

[११७] ७.६०,४ में यह कहा गया है कि मित्र, वरुण तथा अर्यमा सूर्य के लिये पथों को खोलते हैं (यस्मै आदित्या अध्वनो रदन्ति इत्यादि)।

[११८] देखिये रॉथ का लेख दि हाएस्ट गॉड्स ऑफ एरियन रेसेज पृ० ७१। तुकी० एक्लेज़ियास्टीज १७; "सभी नदियाँ समुद्र में गिरती हैं; फिर भी समुद्र भरता नहीं, जिस स्थान से नदियाँ आती हैं वहीं फिर लौट जाती हैं।"

हैं[११९] (३,५४,१८ : अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि)। ये इन पर उसी प्रकार आधारित हैं मानों किसी पर्वत पर सुदृढ़ रूप से स्थित हों (२.२८,८ : त्वे हि कम् पर्वते न श्रितानि अप्रच्युतानि दूळभ व्रतानि। देखिये १.२५,१,१०; १.४४,१४; १.१४१,९; २.१,४; ८.२५,२ जहाँ 'धृत-व्रत' शब्द मिलता है)। इनके संचालन से ही चन्द्रमा प्रकाशित होता हुआ चलता है, और रात्रिकालीन आकाश में प्रगट होने वाले नक्षत्र दिन के प्रकाश के समय रहस्यमय ढंग से अदृश्य हो जाते हैं (१.२४, १० : अमी ये ऋक्षाः निहितासः उच्चा नक्तं ददृश्रे कुह चिद् दिवा ईयुः। अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच् चन्द्रमा नक्तम् एति)। न तो आकाश में उड़नेवाले पक्षी और न अपने निर्निमेष प्रवाह में नदियाँ ही इनकी महान शक्ति अथवा इनके क्रोध को जान सकती हैं (१.२४, ६ : न हि ते क्षत्र न सहो न मन्युं वयश् चन अमी पतयन्तः आपुः। न इमाः आपो अनिमिषं चरन्तीः)। इनके दूत दोनों लोकों को देखते हैं (७ ८७,३ : परि-स्पशो वरुणस्य स्मदिष्टाः उभे पश्यन्ति रोदसी सुमेके। देखिये १.२४, १३; ६.६७,५ भी)। ये आकाश में पक्षियों के उड़ने को, समुद्र में जलयानों के पथ को और दूरगामी वायु की दिशाओं को जानते, और भूत तथा भविष्य की समस्त गुप्त वस्तुओं को देखते हैं (१.२५,७ : वेद यो वीनाम् पदम् अन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। ९. वेद वातस्य वर्त्तनिम् उरोर् ऋष्वस्य बृहतः। ११. यो विश्वानि अद्भुता चिकित्वान् अभि पश्यति। कृतानि या च कर्त्वा)। कोई भी प्राणी इनके बिना पलक भी नहीं झपका सकता (२.२८,६ : न हि त्वद् आरे निमिषश् चन ईशे)। ये मनुष्यों के सच और झूठ को जानते हैं (७.४९,३ : यासां राजा वरुणो यति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्)। ये ऋषि वसिष्ठ को रहस्यों का उपदेश देते हैं (७.८७,४ : उवाच मे वरुणो मेधिराय त्रिः सप्त नामा अघ्न्या बिभर्त्ति)। किन्तु इनके और मित्र के रहस्य मूर्खों पर प्रगट नहीं होते (न वां निण्यानि अचिते अभूवन्)।

अथर्ववेद के चौथे काण्ड के सोलहवें सूक्त में इनकी शक्ति और सर्वज्ञता की इस प्रकार प्रशस्ति है :

बृहन्न् एषाम् अधिष्ठाता अन्तिकाद् इव पश्यति। यः स्तायन् मन्यते चरन् सर्वं देवाः इदं विदुः। २. यस् तिष्ठति चरति यश् च वञ्चति यो

[११९] देखिये जअओसो० ३.३४१ मे रॉथ; और मूलर : ऐसंलि० पृ० ५३४, नोट २।

निलायं चरति यः प्रतंकम्। द्वौ सन्निषद्य यद् मन्त्रयेते राजा तद् वेद वरुणस् तृतीयः। ३. उतेयम् भूमिर् वरुणस्य राज्ञः उतासौ द्यौर् बृहती दूरे-अन्ता। उतो समुद्रौ वरुणस्य कुक्षी उतास्मिन्न् अल्पे उदके निलीनः। ४. उत यो द्याम् अतिसर्पात परस्ताद् न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। दिवः स्पशः प्रचरन्तीदम् अस्य सहस्राक्षाः अति पश्यन्ति भूमिम्। ५. सर्वं तद् राजा वरुणो विचष्टे यद् अन्तरा रोदसी यत् परस्तात्। सख्याताः अस्य निमिषो जनानाम् अक्षान् इव श्वघ्नी नि मिनोति तानि। ६. ये ते पाशाः वरुण सप्त सप्तत्रेधा तिष्ठन्ति विषिताः रुषन्तः। सिनन्तु सर्वे अनृत वदन्तं यः सत्यवादी अति तं सृजन्तु।

१. वह महान राजा (वरुण) जो इन लोकों पर शासन करते हैं, ऐसे देखते हैं जैसे अत्यन्त समीप हों। जब कोई मनुष्य सोचता है कि वह छिपा कर कुछ कर रहा है, तब भी देवता उस सब को जानता है। २. ये उस सब को देखते हैं जो खड़ा होता है, चलता है अथवा छल से कार्य करता है अथवा अपने घर में या अन्य किसी छिपने के स्थान में छिपता है।[120] एक साथ बैठ कर दो व्यक्ति जो कुछ भी करते हैं उसे राजा वरुण जानते हैं क्योंकि वे तीसरे के समान वहाँ उपस्थित होते हैं।[121] ३. यह पृथिवी राजा वरुण के वश में है, और वह विस्तृत आकाश भी जिसकी सीमायें इतनी दूर हैं। दोनों समुद्र (अन्तरिक्षीय और पार्थिव)[122] वरुण के उदर हैं; वह सरोवर के अल्प जल में भी वर्तमान हैं। ४. वह जो आकाश के उस पार भी भाग जाता है वहाँ राजा वरुण से बच नहीं सकता।[123] द्युलोक से उतर कर इनके दूत पृथिवी पर विचरण करते हैं, सहस्राक्ष, ये सम्पूर्ण पृथिवी के आर-पार देखते हैं। ५. राजा वरुण उस सब को जानते हैं जिसकी आकाश और पृथिवी के मध्य सत्ता है तथा जो इसके बाहर है। मनुष्यों के पलकों के झपकने की संख्या

---

[120] सामान्य आशय स्पष्ट है, किन्तु कुछ शब्दों का अर्थ अनिश्चित है।

[121] ऋग्वेद १० ११,१ में सर्वज्ञता में अग्नि की वरुण से तुलना की गई है, जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह एक ऐसा गुण है जिसमें वरुण सर्वश्रेष्ठ थे। १ और २ मन्त्रों के साथ साम्स १३९.१-४ तथा सेण्ट मैथ्यू १८.२० की तुलना कीजिये।

[122] तुलना कीजिये जिनेसिस १.७, और साम १४८.४।

[123] इस मन्त्र के साथ साम १३९ के ७-१० की तुलना कीजिये।

इनके द्वारा निर्धारित है।[124] ये उसी प्रकार सब वस्तुओं को सञ्चालित[125] करते हैं जैसे एक जुआरी अपने पासों को फेंकता है। ६. हे वरुण! तुम्हारा सप्तविध और त्रिविध पाश उस मनुष्य को सन्ताप दे जो झूठ बोलता है और उसको छोड़ दे तो सत्यभाषी है।"[126]

वरुण को मानव जाति के भाग्यों पर असीमित नियन्त्रण रखनेवाला कहा गया है। इनके पास सौ, सहस्र उपचार हैं; और विस्तृत तथा गहन उदारता दिखाने और पाप तथा बुराइयों को दूर भगाने के लिये इनकी स्तुति की गई है (१.२४,९ : शतं ते राजन् भिषजः सहस्रम् उर्वी गभीरा सुमतिस् ते अस्तु ' बाधस्व दूरे निर्ऋतिम् पराचैः कृतं चिद् एनः प्र मुमुग्धि अस्मत्)। ये एक रस्सी की भाँति एकबद्ध करते हैं और पापों को दूर करते हैं (२.२८, ५ · वि मच् श्रथय रशनाम् इव आगः; ५.८५,७.८ : यत् सीम् आगश् चकृम शिश्रथस् तत्)। जीवन का हरण करने नहीं बल्कि दीर्घजीवन प्रदान करने के लिये इनकी स्तुति की गई है (१.२४,११ : मा नः आयुः प्र मोषी। १.२५,१२ : प्र नः आयूंषि तारिषत्)। प्रतिदिन इनके नियमादि का उल्लंघन कर बैठनेवाला स्तोता इनसे क्षमा चाहता है (१.२५,१ : यच् चिद् हि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् मिनीमसि द्यवि द्यवि। मा नो बधाय हत्नवे जिहीलानस्य रीरधः)। अनेक स्थलों पर पाशों का

---

[124] तुकी० सेण्ट मैथ्यू १०.३०।

[125] रॉथ (वस्या०) का विचार है कि 'नि मिनोति' का यहां 'देखता है' अर्थ है। जजओसो० ७.६०७ मे भी इनकी टिप्पणी देखिये।

[126] इस सूक्त के अन्त में दो ऐसे मन्त्र हैं जिनमे शाप निहित है। इस सम्पूर्ण का जर्मन अनुवाद देने के बाद अथर्ववेद पर अपने शोध प्रबन्ध (पृ० १९ और बाद, टुबिञ्जेन, १८५६) मे प्रो० रॉथ इस प्रकार टिप्पणी करते हैं : "सम्पूर्ण वैदिक साहित्य मे ऐसा कोई अन्य सूक्त नही है जिसमे दिव्य सर्वज्ञता को इतने जोरदार शब्दो मे व्यक्त किया गया हो; फिर भी इस सुन्दर वर्णन को शाप की प्रस्तावना मे पतित कर दिया गया है। किन्तु इसमे, और जैसा कि इस वेद के अनेक अन्य स्थानो पर भी है, यह अनुमान करना स्वाभाविक है कि अपेक्षाकृत प्राचीनतर सूक्तो के विद्यमान अंशो का अभिचारीय मन्त्रो के निर्माण के लिये प्रयोग किया जाता था। इस सूक्त के प्रथम पाँच या छह मन्त्रो को इसी प्रकार का अवशिष्ट अंश माना जा सकता है।" इस सूक्त का प्रो० मूलर ने भी अपने चिप्स १.४१ और बाद मे अनुवाद किया है।

उल्लेख है जिनसे ये नियमोल्लंघन करनेवालों को बाँध कर दण्ड देते हैं (१.२४,१५; १.२५,२१; ६.७४,४; १०.८५,२४, और अवे० ४.१६,६)[१२७]। मित्र और वरुण का एक ही स्थान पर साथ-साथ (७.६५,३) झूठ के विरुद्ध सेतु, तथा अनेक ऐसे पाशों से युक्त होने के रूप में उल्लेख है जिनका मर्त्य शत्रु उल्लंघन नहीं कर सकते (भूरिपाशा अनृतस्य सेतू दुरत्येतू रिपवे मर्त्याय)। अन्यत्र (७.८४,२) इन्द्र और वरुण का ऐसे पाशों से बाँधनेवालों के रूप में उल्लेख है जो रस्सियों से नहीं बना है (सेतृभिर् अरज्जुभिः सिनीथः)। दूसरी ओर, वरुण को उसके प्रति कृपा करनेवाला बताया गया है जिसने पाप किया है (७.८७,७ : यो मृळयाति चक्रुषे चिद् आगः)। यह अमरत्व के बुद्धिमान रक्षक हैं (८.४२,२ : धीरम् अमृतस्य गोपाम्), और यह आशा की गई है कि पुण्यात्मा दूसरे लोक में इनका और यम का दर्शन करेंगे (१०.१४,७ :[१२८] उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमम् पश्यासि वरुणम् च देवम्)।

---

[१२७] फिर भी, अपने स्तोताओं के पाशों को ढीला करने के लिये अग्नि की स्तुति की गई है (ऋग्वेद ५.२,७ . एवास्मद् अग्ने नि मुमुग्धि पाशान्)। ७.१०४,१३ मे इन्द्र के पाशो (इन्द्रस्य प्रसिति) का उल्लेख है। अवे० १९.६६,१ में अभिचार कला में प्रवीण उन असुरो का उल्लेख है जो लोह जालो, लोह पाशो, और अकुशों सहित विचरण करते हैं (अयो-जालाः असुराः मायिनो अयस्मयैः पाशैर् अङ्किनो ये चरन्ति)।

[१२८] जजओसो० १८८५, पृ० २३७ और बाद, में प्रो० वेबर शतपथ ब्राह्मण (११.३,१,१ और बाद) से वरुण तथा इनके पुत्र भृगु के सम्बन्ध मे एक कथा उद्धृत करते हैं। भृगु ने ज्ञान मे अपने पिता से भी अधिक ख्याति प्राप्त कर ली अत. वरुण ने इन्हे चारो दिशाओ मे जाने के लिये कहा जहाँ इन्होने अन्य लोक मे प्रतिफलन के कुछ दृश्य देखे। प्रो० वेबर इस आख्यान पर कुछ अत्यन्त मनोरञ्जक टिप्पणी करते हैं। अन्य वस्तुओं के अतिरिक्त आप कहते हैं कि यह आख्यान वरुण को प्रदत्त उच्च स्थान की दृष्टि से प्राचीन प्रतीत होता है। इसमें वरुण को विश्व का अधिपति कहा गया है जो द्युलोक के मध्य मे बैठकर अपने चतुर्दिक स्थित दण्डनीय स्थानों को देखते हैं। आप कहते हैं कि वरुण को शतपथ ब्राह्मण १३.३,६,५ मे गौरवर्ण, गञ्जा दन्तविहीन (निकले हुये दाँतो वाला ?) और पीतचक्षु वृद्ध मनुष्य कहा गया है।

वरुण को जिन गुणों और कार्यों से युक्त किया गया है वे इनके चरित्र को एक ऐसा नैतिक धरातल तथा पवित्रता प्रदान करते हैं जो अन्य किसी भी वैदिक देवता के गुणों मे कहीं अधिक आगे है। ऐसा न केवल उन्हीं स्थलों से प्रतीत होता जिन्हें मैंने ऊपर उद्धृत किया है वरन् मैक्समूलर द्वारा अपने ऐसंलि० पृ० ५४० और बाद, तथा चिप्स १.३९ और बाद, में अनूदित दो सूक्तों (७.८६, और ७.८९) से भी प्रगट होता है जिनमें ऋषि, जिसे वसिष्ठ कहा गया है, अपने पापों का उल्लेख करके इस देवता से क्षमा की प्रार्थना करता है और कहता है कि ऋषि के जीवन को क्षमा किया जाय।[129] मैं प्रथम सूक्त के एक अंश को तथा दूसरे को पूर्णतया उद्धृत कर रहा हूँ :

ऋग्वेद ७.८६,३ : पृच्छे तद् एनो वरुण दिदृक्षु उपो एमि चिकितुषो विपृच्छम् । समानम् इत् मे कवयश् चिद् आहुर् अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते । ४. किम् आगः आस् वरुण ज्येष्ठं यत् स्तोतारं जिघांससि सखायम् । प्र तद् मे वोचो दूळभ स्वधावो अव त्वा अनेनाः नमसा तुरः इयाम् । ५. अव द्रुग्धानि पित्र्या सृज नो अव या वय चकृमा तनूभिः । अव राजन् पशुतृपं न तायुं सृज वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम् । ६. न स स्वो दक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर् विभीदको अचित्तिः । अस्ति ज्यायान् कनीयसः उपारे स्वप्नश् चन इद् अनृतस्य प्रयोता ।

"हे वरुण ! मैं तुमसे उस पाप-निवारण की बात पूछूंगा। मैंने विद्वानों से प्रश्न किये हैं। सभी कहते हैं कि 'तुमसे वरुण रुष्ट हुये हैं'॥ ४. हे वरुण ! वह कौन सा महान अपराध हुआ है जिसके कारण तुम अपने स्तोता और मित्र का वध करना चाहते हो ? हे दुर्जेय और आत्मनिर्भर देव ! मुझे बताओ, जिससे मैं शुभकर्मवाला होकर नमस्कार करता हुआ तुम्हारे समक्ष पहुँचूँ ॥ ५. हे वरुण ! हमारे पैतृक द्रोह को दूर करो।[130] हमने अपने शरीर से जो अपराध

---

[129] एक नैतिक नियन्ता के रूप मे वरुण के चरित्र के विषय पर देखिये रॉथ · जजओसो० ६.७१ और बाद। जजओसो० ३.३४० और बाद मे भी इसी लेखक का इस विषय पर एक लेख है। इसका उत्तर जजओसो० ७ ६०७, में वेवर ने दिया है।

[130] तुकी० अवे० ५.३०,४, और तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७,१२,३,४ : यद् मयि माता गर्भे सति एनश् चकार यत् पिता। अग्निर् मा तस्माद् एनसः। यदा पिपेष मातारम् पितरम् पुत्रः प्रमुदितो धयन्। अहिंसितौ पितरौ मया तत्। "हे अग्नि। जब हम गर्भ मे थे तब हमारे माता तथा पिता ने जो पाप किये थे उनसे मुझे मुक्त करो। स्तनपान करते समय यदि मैंने अपने माता या

किया है उससे भी मुक्त करो। हे राजा! जैसे पशु-चोर पशु को तृणादि से तृप्त करता है उसी प्रकार वसिष्ठ को मुक्त करो। जैसे बछड़ा रस्सी से खुल कर मुक्त होता है वैसे मुझे करो॥ ६. हे वरुण! हम अपनी इच्छा से नहीं बल्कि बहकावे में आकर भटक गये—मदिरा[१३१], क्रोध, जुआ, अथवा अज्ञान से भटक गये। कभी-कभी शक्तिशाली भी कमजोरों को कुमार्ग पर ले जाते हैं। स्वप्न में भी कभी-कभी पाप की उत्पत्ति हो जाती है।"

७.८९,१ : मो षु वरुण मृण्मयं गृहं राजन्न् अहं गमम्। मृळ सुक्षत्र मृळय। २. यद् एमि प्रस्फुरन्न् इव दृतिर् न ध्मातो अद्रिवः। मृळ इत्यादि। ३. क्रत्वः समह दीनता प्रतीपं जगम शुचे। ४. अपाम् मध्ये तस्थिवांसम् तृष्णाऽविदज् जरितारम्। ५. यत् किञ्च इदं वरुण दैव्ये जने अभिद्रोहम् मनुष्याश् चरामसि। अचित्ती तत् तव धर्मा युयोपिम मा नस् तस्माद् एनसो देव रीरिषः।

"हे वरुण! मैं मिट्टी का घर प्राप्त न करूँ।[१३२] हे शक्तिशाली देवता! मुझ पर दया करो। २. हे गर्जन करनेवाले! मैं वायु से फुलाये हुए चर्म की भाँति कम्पित होता हुआ जाता हूँ; मुझ पर दया करो, इत्यादि। ३. हे शुचि और महान देवता! दरिद्रता और असमर्थता के कारण अनुष्ठान को मैं नहीं कर सका; मुझ पर दया करो, इत्यादि। ४. जलों में रहकर भी मुझे प्यास लगी है; मुझ पर दया करो, इत्यादि। ५. हे वरुण! हम मनुष्यों से देवताओं का जो अपराध हुआ है, हमारे अज्ञानवश तुम्हारे कार्य में जो भी त्रुटि रह गई है, उनके विपरीत भी हम पर दया करो, हे महान देवता, दया करो।"

एक अन्य स्थान (७.८८,४ और बाद) पर यही ऋषि वरुण के साथ अपनी पूर्वमैत्री की, तथा इस देवता की पूर्वकृपाओं की चर्चा करता हुआ पूछता है कि अब ये समाप्त क्यों हो गईं :

४. वसिष्ठं ह वरुणो नावि आधात् ऋषिम् चकार स्वपाः महोभिः। स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नाम् याद् नु द्यावस् ततनन् याद् उषसः। ५. क्व त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यद् अवृकम् पुरा चित्।

पिता को चोट पहुँचाई हो तो मेरे एक शिशु होने के कारण हर्षित मेरे माता-पिता को उससे क्षति न पहुँची हो।"

[१३१] इससे हम देखते हैं कि वैदिक ऋषि मदिरा का सेवन करते थे। तुकी० ८.२,१२, और १० १०७ ९ जहाँ यह कहा गया है कि उदार व्यक्ति अन्य इच्छित वस्तुओं सहित सुरा भी पाता है (अन्तःपेयम् सुरायाः)।

[१३२] तुकी० अवे० ५ ३०,१४ . मा नु भूमि-गृहो भुवत्।

बृहन्तम् मानं वरुण स्वधावुः सहस्रद्वारं जगम गृहं ते । ६. यः आपिर् नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वाम् अगांसि कृणवत् सखा ते । मा ते एनस्वन्तो यक्षिन् भुजेम यन्धि स्म विप्रः स्तुवते वरूथम् ।

"वरुण ने वसिष्ठ को अपनी नौका पर चढ़ा लिया। विद्वान और शक्तिशाली देवता ने अपनी शक्ति से उन्हें एक ऋषि बनाया और उन्हें (वसिष्ठ को) श्रेष्ठ कर्मों वाला किया जिससे उनके दिन और उषायें दीर्घ हों । ५. हम दोनों[133] की वे मैत्रियाँ कहाँ हैं ? हम उस सुख को प्राप्त करें जो हमें पहले प्राप्त था । हे स्वयं को धारण करने वाले वरुण ! मैं सहस्र द्वारों से युक्त तुम्हारे विशाल स्थानों वाले सदन में गया हूँ । ६. हे वरुण ! जिन नित्य बन्धुओं ने प्राचीन समय में तुम्हारा अपराध किया था वह तुम्हारे मित्र बनें । हम जो अपराधी हैं, अपने पापों का फल न भोगें । हे विद्वान देवता ! अपने स्तोता को गृह दो ।

(४) मित्र और वरुण के सम्मिलित कार्य और गुण

एक ही अथवा प्रायः वही गुण तथा कार्य जो वरुण पर आरोपित हैं, इन पर और मित्र पर सम्मिलित रूप से भी आरोपित हैं। ये पृथिवी और आकाश पर, प्रकाशमान और पार्थिव क्षेत्रों पर शासन करते हैं तथा सूर्य को आकाश में स्थित करते हैं (५.६२,३; ५.६९,१,४ : त्री रोचना वरुण त्रीन् उत द्यून् त्रीणि धारयथो रजांसि । ५.६३,७ : ६.६७,५; ७.६१,४; १०.१२७,२) । ये लोग लोक के रक्षक हैं (विश्वस्य भुवनस्य गोपा । विश्वस्य गोपा । यूयं विश्वम् परि पाथ । २.२७,४, ५.६२,९; ८.५१,२; ८.२५,१; १०.१२६,४) इनके विधान से ही महान आकाश चमकता है (ययोर् धाम धर्मणा रोचते बृहत् । १०.६५,५) । ये वर्षा करते हैं (५.६२,३ : अव वृष्टिं सृजतं जीरदानू । ५.६३,१-३ : द्यां वर्षयथो असुरस्य मायया) । इनका देवत्व आकाशों की अथवा नदियों के सीमा के बाहर है (१.१५१,९ : न वां द्यावो अहभिर् नोत सिन्धवो न दोषत्वम् पणयो नानशुर् मघम्) । (अर्यमा के साथ) ये भयकर देवता हैं जो झूठ से घृणा करते हैं (१ १५२,१; ७.६६,१३ : ऋतवानः ऋतजाताः ऋतावृधो घोरासो अनृत-द्विष.) । ये अपने उन दृढ़ व्रतों को पूर्ण करते है जिनको अमर देवगण भी अवरुद्ध नहीं कर सकते (५,६३,७; ५.६९.४ : न वां देवाः अमृताः आ मिनन्ति व्रतानि मित्रा-वरुणा ध्रुवाणि) । ये मूर्खों को विद्वान बनाते हैं (७.६०,६,७ : अचेतसं चिच् चितयन्ति दक्षैः) ।

---

133. तुकी० सोम्स, ८९.४९ और २५.६।

ये पृथिवी और आकाश को जानते हैं (७.६०,७: इमे दिवो अनिमिषा पृथिव्याश् चिकित्वांस')। ये द्युलोक से उसी प्रकार नीचे मनुष्यों को देखते हैं जैसे मनुष्य पशुओं के झुण्ड हों (अधि या बृहतो दिवः अभि यूथेव पश्यतः। देखिये ९ और १६ मन्त्र तथा ऋग्वेद ७.६१,३ भी)। इन्हें पुण्यात्मा तथा धार्मिक कृत्यों का प्रोत्साहक कहा गया है: ऋतावृधा, ऋतावान, ऋतजाता, ऋतस्पृशा, ऋतस्य गोपौ (१.२,८; १,२३,५; १.१३६,४; २ २७,४; ५.६३,१; ५ ६५,२; ५.६७,४, ७.६४,२; ७.६६,१३; ८.२३,३०; ८.२५,८)। ये सत्य के तथा प्रकाश के अधिपति हैं (१.२३,५: ऋतस्य ज्योतिषस् पती)। अन्य आदित्यों के साथ ये पाप और झूठ का प्रतिशोध लेते हैं (चयमानाः ऋणानि। चेतारो अनृतस्य भूरेः। २.२७,४; ७.६०,५)। जो व्यक्ति इनकी पूजा की उपेक्षा करता है उसे यक्ष्मा हो जाता है (१.१२२,९: जनो यो मित्रा वरुणाव् अभिध्रुग् अपो न वा सुनोति अक्ष्णयाध्रुक्। स्वयं स यक्ष्मं हृदये नि धत्त)। स्तोताओं की त्रुटियों को दूर करने के लिये अदिति के साथ-साथ इन लोगों की भी स्तुति की जाती है (२.२७,१४: अदिते मित्र वरुणोत मृळ यद् वो वयं चकृम कच् चिद् आगः)। अर्यमा के साथ-साथ इन लोगों की भी बुराइयों से मुक्ति दिलाने के लिये स्तुति की गई है (१.१२६, सर्वत्र)।[१२८]

(५) केवल मित्र को ही सम्बोधित सूक्त

अकेले मित्र की ३.५९ में प्रशस्ति है। इसके कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं: १. मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो मित्रो दधार पृथिवीम् उत द्याम्। मित्रः कृष्टीर् अनिमिषाऽभि चष्टे मित्राय हव्यं घृतवज् जुहोत। २. प्र स मित्र मर्तो अस्तु प्रयस्वान् यस् ते आदित्य शिक्षति व्रतेन। न हन्यते न जीयते त्वा-ऊतो नैनम् अंहो अश्नोत्य् अन्तितो न दूरात्। ४. अयम् मित्रो नमस्य: सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः। तस्य वय मित्रस्य सुमतौ स्याम। ५. महान् आदित्यो नमसा उपसद्यो यातयज्जनो गृणते सुशेवः। ७. अभि यो महिना दिवम् मित्रो बभूव सप्रथाः। अभि श्रवोभिः पृथिवीम्। ८. मित्रस्य पञ्च येमिरे जनाः अभिष्टि-शवसे स देवान् विश्वान् बिभर्त्ति।

---

[१२८] अन्य देवों की भांति, तथा विशेष रूप से इन्द्र की भांति, इन्हें भी सोमरस का पान करनेवाला बताया गया है: १.१३६,४; १.१३७,१ और बाद; ४.४१,३; ४.४२,६; ५.६४,७; ५,७१,३; ५.७२,१-३; ६.६८,१०।

"१. अपनी वाणी से मित्र मनुष्यों को कर्मों में प्रेरित करते हैं।[१३५] मित्र आकाश और पृथिवी को धारण करते हैं। मित्र सभी प्राणियों को निर्निमेष देखते हैं। मित्र के लिये घृतयुक्त हवियाँ दो। २. हे अदिति के पुत्र, मित्र! तुम्हें जो मनुष्य हवियाँ देता है वह अन्न प्राप्त करे। जो तुमसे रक्षित है वह दूसरे किसी से भी हिंसित या विजित नहीं हो सकता, दूर या निकट से उस तक विपत्ति कभी नहीं आ सकती। ४. यह मित्र सुन्दर प्रकाशवाले, बल में बढ़े हुए, सबको उत्पन्न करनेवाले, राजा, और विद्वान् हैं। हम इनकी कृपा को प्राप्त करें। ५. यह महान आदित्य, जो मनुष्यों को श्रम करने के लिये उठाते हैं, जो स्तोता पर अनुकूलता रखते हैं, इनकी स्तुति की जानी चाहिये। ७. मित्र देवता ने अपनी महत्ता से आकाश को वशीभूत किया है, उन्होंने अपने वैभव द्वारा पृथिवी को वशीभूत किया है। ८. पञ्चजनों ने शक्तिशाली सहायक उन मित्र देवता के प्रति सम्मान प्रगट किया है जो सभी देवताओं को धारण करते हैं।"

(६) मित्र और वरुण के सम्बन्ध में प्रोफेसर रॉथ के विचार

'हाएस्ट गाड्स ऑफ दि एरियन रेसेज़' (ज०ओ०सो० ६, पृ० ७० और बाद) नामक अपने लेख में प्रोफेसर रॉथ मित्र और वरुण पर निम्नलिखित मौलिक और मनोरंजक विचार प्रगट करते हैं: "आदित्य-वर्ग के अन्तर्गत मित्र और वरुण के बीच घनिष्ठतम सम्बन्ध है। जितना वरुण का अकेले आवाहन किया गया है उससे कहीं अधिक बार दोनों का साथ-साथ आवाहन मिलता है। हमें केवल एक ही सूक्त (३.५९) मिलता है जिसमें मित्र का अकेले आवाहन किया गया है। यह तथ्य कि अहुर और मिथ्र के रूप में यह द्विविध आवाहन जेन्द अवेस्ता में भी सुरक्षित है, तथापि दोनों की स्थितियाँ सर्वथा परिवर्तित हो गई हैं और मिथ्र की अंह-स्पन्दों के अन्तर्गत गणना तक नहीं की गई है—यह तथ्य इस बात को सिद्ध करता है कि इनका सम्बन्ध कितना अधिक प्राचीन तथा उस समय भी बना रहा जब दोनों के सम्बन्ध के कारण समाप्त हो चुके थे। ......इन दोनों देवताओं की एक दूसरे से विभेदित अनिवार्य प्रकृति सूक्तों में कहीं भी स्पष्ट

---

[१३५] इस मन्त्र के साथ रॉथ (निरुक्त १०.२२ पृ० १४०) ऋग्वेद ५.८२,९ की तुलना करते हैं जहाँ यह कहा गया है कि: "सविता सभी प्राणियों को अपनी ध्वनि सुनाते तथा प्रेरित करते हैं" तुकी० प्रस्तुत सूक्त का ५ वाँ मन्त्र और ७.३६,२, जिसका रॉथ ने सन्दर्भ दिया है।

रूप से व्यक्त नहीं हुई है, और जो वास्तव में मूलतः इस प्रकार एक ही थी कि उसकी बौद्धिक शुद्धता के साथ परिभाषा दी ही नहीं जा सकती थी। किन्तु धार्मिक संस्कृति का वह स्तर जो हमें ऋग्वेद में मिलता है, हमें इस अन्तर का इस प्रकार विभेद करने का आधार प्रदान करता है जो पहले से ही विद्यमान है, अर्थात् यह कि मित्र वह दिव्य ज्योति या प्रकाश है जो दिन में प्रगट होता है, जब कि वरुण ज्योति और सभी समयों के अधिपति होते हुये भी विशेषतः रात्रिकालीन आच्छादन पर शासन करते हैं। वसिष्ठ का एक सूक्त (७.३६,२) यह कहता है: "तुममें से एक (वरुण) अधिपति तथा अनुल्लंघनीय मार्गदर्शक है, और वह जिसे मित्र (अर्थात् सखा) कहते हैं मनुष्यों को कार्य में लगाता है" (इनो वाम् अन्यः पदवीर् अदब्धो जनं च मित्रो यतति ब्रुवाणः)। यहाँ कम से कम इतना तो कहा ही गया है (और यही बात अन्य स्थानों पर भी प्रायः इन्हीं शब्दों में कही गई है) कि दिन का प्रकाश, जो जीवन को जागृत करता है तथा संसार में प्रसन्नता तथा क्रियाओं को आरम्भ करता है, मित्र की शक्ति का एक अपेक्षाकृत संकीर्णतर क्षेत्र है। फिर भी यहाँ वरुण को मात्र रात्रि से ही सम्बद्ध नहीं किया गया है क्योंकि यह देवता अधिपति तथा प्रथम तो बना ही रहता है।

"अतः, यद्यपि इस प्रकार के चित्रण जैसे कि ये भारतीय विवरणों में मिलते हैं (जैसे उदाहरण के लिये जब ऋग्वेद ७.८७,१ पर सायण यह कहते हैं कि वरुण अस्त होते हुये सूर्य हैं) कहीं अधिक संकीर्ण और एकांगी है, तथापि इनमें सत्य निहित है और हम यह अनुमान कर सकते हैं कि इन्हें किस प्रक्रिया के अनुसार विकसित करना चाहिये। यदि वरुण, जैसा कि इनका नाम सूचित करता है, उन उज्ज्वल आदित्यों में से एक हैं जिनका स्थान तथा अधिकार-क्षेत्र देदीप्यमान द्युलोक है, जो समस्त जीवों को आवृत्त करते हैं, तब ये (वरुण) भी नेत्रों या कल्पना से कदाचित ही अधिगत हो सकते हैं। दिन के समय दृष्टिशक्ति इनकी सुदूर सीमाओं का पता नहीं लगा सकती क्योंकि उज्ज्वल आकाश कोई आश्रय स्थान प्रस्तुत नहीं करता। किन्तु रात्रि के समय यह आवरण जिसमें वरुण आरूढ़ हैं, निकट आता प्रतीत होता है और दृश्य हो जाता है क्योंकि नेत्रों को एक सीमा मिल जाती है। वरुण मनुष्यों के निकटतर हैं। इसके अतिरिक्त, अन्य दिव्य रूप जो मेघों में, अन्तरिक्ष में, प्रकाशकिरणों में पृथिवी तथा सुदूर असीम बाह्य वृत्त के बीच के स्थान को परिपूर्ण करते हैं अदृश्य होते हैं। इस रात्रि के समय वरुण तथा मनुष्यों के बीच अन्य कोई देवता खड़ा नहीं रह जाता, और इस प्रकार मनुष्य वरुण को देखता है।

(७) भारतीय 'मित्र' और ज़ोरोआस्ट्रियन 'मिथ्र'

किसी भी अन्य भारतीय तथा ईरानियन देवताओं के बीच तादात्म्य स्थापित करने के प्रयासों को जो भी सफलता मिली हो, किन्तु इन दोनों नामों, वैदिक मित्र और जेण्ड आवेस्ता के मिथ्र, के बीच सारूप्य के आधार पर इस बात में लेश मात्र भी सन्देह नहीं है कि मूलतः दोनों एक ही देवता थे। तदनुसार, पर्शियन मिथ्र[136] विषयक अपने शोध निबन्ध में स्वर्गीय डा० एफ० विण्डिशमैन इस बात को सिद्ध मानते हैं कि इरानियन और भारतीय शाखाओं में विभक्त होने के पूर्व भी यह देवता आर्य जाति को ज्ञात था यद्यपि इसकी प्रकृति सम्बन्धी धारणा बाद में जोरोआस्ट्रियन विचारों द्वारा परिवर्तित हो गई। यह बात कि मिथ्र पर्शिया में और हेरोडोटस के युग से भी पूर्व पूजित होता था, मित्रदतस और मित्रोबतस जैसे नामों के समान प्रयोग द्वारा सिद्ध है। स्वयं हेरोडोटस (१.१३१) का भी ऐसा ही विचार है। देखिये हेरोडोटस के अनुवाद में रौलिनसन की टिप्पणी। किन्तु जोनोफोन (साइरोप० ८.५,५३; ४–२४) और प्लूटार्क (आर्टेक्स ४, और एले० ३०) यह वर्णन करते हैं कि पर्शियन मित्र देवता की शपथ लेते थे। और ईसिस तथा ओसीरिस (अध्याय ४६) विषयक अपने शोधप्रबन्ध में आप यह बताते हैं कि जोरोआस्टर मिथ्र की अरोमेजीस (प्रकाश का प्रतिनिधि) और एरिमेनियस (अन्धकार तथा अज्ञान का प्रतिनिधि) के बीच स्थित होने के रूप में कल्पना करते थे।[137] पर्शियन मिथ्र के विषय में, जिसकी पूजा का पश्चिम में प्रवेश इतिहास का विषय है, यहाँ और कुछ कहना अनावश्यक है।

(८) क्या वरुण और अहुर मज्द मे कोई ऐतिहासिक सम्बन्ध है ?

कुछ लेखकों की दृष्टि मे वरुण भी, कम से कम परोक्षरूप से ही, प्राचीन पर्शियन पुराकथाशास्त्र के अहुर मज़्द से सम्बद्ध हैं। इस बात की पुष्टि में इन बातों को प्रस्तुत किया जा सकता है i (१) 'असुर' (दिव्य व्यक्ति) शब्द एक उपाधि के रूप में वरुण के लिये बहुधा प्रयुक्त हुआ है; (२) भारतीय देवताओं का आदित्य-वर्ग, जिसके वरुण सर्वाधिक प्रतिष्ठित सदस्य हैं, निश्चित रूप से ज़ेण्ड पुराकथाशास्त्र के उन अंहश्पन्दों के साथ समानता प्रगट करता

---

[136] मिथ्र : Beitrag zur Mythengeschichte des Orients, in the Abhandlungen fur die kunde des Morgenlandes, लीपजिग, १८५७, पृ० ५४ और बाद।

[137] वही, पृ० ५६।

है जिनमें अहुर मज्द उच्चतम हैं; और (२) वरुण तथा मित्र के बीच उसी प्रकार घनिष्ठ सम्बन्ध है जिस प्रकार, प्रोफेसर रॉथ के अनुसार, अहुर तथा मिथ्र को जेन्दावेस्ता में अक्सर सम्बद्ध किया गया है, यद्यपि अन्यथा दोनों की स्थितियाँ परिवर्तित हो गई हैं और मिथ्र की अंहपस्पन्दों के अन्तर्गत गणना तक नहीं की गई है। फिर भी, अन्य विद्वानों का विचार है कि वरुण और अहुर मज्द के एक दूसरे के साथ सम्बद्ध होने के पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं।

मैं वरुण और अहुर मज्द के सम्बन्ध के विषय पर प्रो० रॉथ के विचारों को अगले खण्ड में अधिक पूर्णता के साथ उद्धृत करूँगा जहाँ इसी लेखक के इन्द्र के वरुण के साथ सम्बद्ध करने के विचारों का भी सन्दर्भ दिया जायगा।

(९) ऋग्वेद तक में वरुण जल-तत्त्व के साथ सम्बद्ध हैं।

यद्यपि ऋग्वेद में वरुण को सामान्य रूप से समुद्र का देवता नहीं माना गया है, तथापि निम्नलिखित स्थलों पर ये अन्तरिक्ष तथा पृथिवी दोनों ही में जलतत्त्व से इस प्रकार सम्बद्ध हैं कि इसने बाद के पुराकथाशास्त्र में उपलब्ध इनकी प्रकृति और कार्यों की धारणा को उत्पन्न किया हो सकता है।

१.१६१,१४ : दिवा यान्ति मरुतो भूम्या अग्निर् अय वातो अन्तरिक्षेण याति। अद्भिर् याति वरुणः समुद्रैर् युष्मान् इच्छन्तः शवसः नपातः। "हे बल के पुत्रो! तुम्हारी इच्छा करते हुये मरुद्गण आकाश में, अग्नि भूमि में, यह वात अन्तरिक्ष में, और वरुण जलों तथा समुद्र में चलते हैं" (अद्भिः समुद्रैः)।[138]

७.४९, २ : या आपो दिव्याः उत वा श्रवन्ति खनित्रिमाः उत वा याः स्वयंजाः। समुद्रार्थाः यः शुचयः पावकास् ताः आपो देवीर् इह माम् अवन्तु। ३. यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यन् जनानाम्। मधुश्चुतः शुचयः। ४. यासु राजा वरुणो यासु सोमो विश्वे देवाः यासु ऊर्जम् मदन्ति। वैश्वानरो यासु अग्निः प्रविष्टस् ताः आपः।[139] "वह जल जो दिव्य है और वह जो नदी में प्रवाहित या कूप रूप में खोदकर निकाले गये हैं, जो स्वयं उत्पन्न हैं, जो समुद्र की ओर जाते हैं, और जो उज्ज्वल तथा पवित्र करनेवाले हैं वे सब हमारी रक्षा करें! ३. जिन जलों के बीच वरुण देवता मनुष्यों के सच और झूठ को देखते हुये जाते हैं, जो मधुरता की वर्षा करते हैं, जो उज्ज्वल और पवित्र करनेवाले हैं वे हमारी रक्षा करें।

---

[138] देखिये ओरियण्ट उण्ट ऑक्सिडेण्ट में बालेनसेन, २.४६७।

[139] देखिये 'समुद्र' शब्द पर प्रोफेसर मैक्समूलर की टिप्पणी, (ऋग्वेद का अनुवाद १.४४ और बाद)। यहाँ आपने इस मन्त्र को उद्धृत करके इसका अनुवाद किया है।

४. वे जल जिनमें वरुण, सोम तथा विश्वेदेवता अन्न से आह्लादित होते हैं, जिनमें अग्नि वैश्वानर ने प्रवेश किया है, हमारी रक्षा करें", इत्यादि।

७.६४,२ : आ राजाना महः गोपा सिन्धुपती क्षत्रिया यातम् अर्वाक्। इळां नो मित्रावरुणा उत वृष्टिम् अव दिवः इन्वतं जीरदानू।[140] "हे मित्र और वरुण! तुम दोनों राजा, जो महान कृत्यों के रक्षक हो, जो समुद्र (अथवा नदियों) के शक्तिशाली अधिपति हो, इधर आओ; हमें आकाश से अन्न और वर्षा भेजो", इत्यादि।

इनमें से दूसरे स्थल (७.४९,३) पर वर्णित जल, जिसके बीच "मनुष्यों के सच और झूठ को देखते हुये" वरुण चलते हैं, समुद्रीय की अपेक्षा अन्तरिक्षीय प्रतीत होता है, क्योंकि इस प्रकार का जल पृथिवी से ऊपर अपनी स्थिति के कारण, इस देवता को (मानवत्वारोपित मानने पर) अवलोकन के लिये अधिक सुविधाजनक होगा। और ७.६४,२, में 'सिन्धुपती' (अथवा 'नद्याः पालयितारौ', सायण) उपाधि न केवल वरुण के लिये ही वरन् उस मित्र के लिये भी व्यवहृत है जो, जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, बाद के पुराकथाशास्त्र तक में कभी भी समुद्र के साथ सम्बद्ध नहीं हैं। यदि इसमें हम इतना और जोड़ दें कि यहाँ इन देवताओं से आकाश से अन्न और वर्षा भेजने का निवेदन किया गया है तो इसका परिणाम यह होगा कि इन्हें इसलिये 'सिन्धुपती' कहा गया हो सकता है कि ये वह अन्तरिक्षीय जल प्रदान करते हैं जिससे पार्थिव नदियाँ आदि परिपूर्ण होती हैं। दूसरी ओर, ७.४९२, (जिसे ऊपर उद्धृत किया गया है) को, जिससे यद्यपि वरुण साक्षात् सम्बद्ध नहीं हैं, पार्थिव जलों का (जैसा कि ऋग्वेद का अनुवाद १, पृ० ४६ में प्रो० मूलर टिप्पणी करते हैं) द्योतक माना जा सकता है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, यद्यपि सायण वरुण को सामान्यतया समुद्र का देवता नहीं वरिक प्राचीनतर धारणा के अनुरूप ही रात्रि का अभिमानी देवता मानते हैं, तथापि ऋग्वेद १.१६१,१ और ८.५८,१२ की अपनी व्याख्या में ये इस देवता को "जलाभिमानी देवः" कहते हैं।

८.४१,८ में वरुण को एक गुप्त समुद्र कहा गया प्रतीत होता है (समुद्रो अपीच्यः)।

८.५८,१२ : सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव। "वरुण! तुम एक सुदेव हो जिसके मुख में

---

[140] तैत्तिरीय संहिता ६.४,३,३ में यह कथन है : मित्रावरुणौ वै अपाम् नेतारौ।"

उसी प्रकार सप्त नदियाँ गिरती हैं जैसे किसी क्षुब्ध गह्वर में गिरती हों।"[१४१]

वरुण समुद्र अथवा नदियों से भी सम्बद्ध हैं जिनमें इन्हें उसी प्रकार निवास करनेवाला बताया गया है जैसे वनों में सोम (का पौधा): ९.९०.२६ : वना वसानो वरुणो न सिन्धून्)। वाज० स० १०.७ में यह कहा गया है कि जलों के शिशु वरुण ने अत्यन्त मातृवत् जलों में अपना घर बनाया है (पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थम् अपा शिशुर् मातृतमासु अन्तः)। अथर्ववेद के सोलहवें सूक्त का तीसरा मन्त्र भी देखिये जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

अथर्ववेद के निम्नलिखित स्थल पर वरुण जलों से सम्बद्ध हैं :

अवे० ३.३,३ : अद्भ्यस् त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस् त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः। "राजा वरुण तुम्हें जलों से और सोम को पर्वतों से आहूत करें।"

४.१५,१२ : अपो निषिञ्चन्न् असुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गराः अपां वरुण। "हे वरुण! हमारे दिव्य पिता जल गिरायें—जलों की धारायें श्वास लें।"

५.२४,४ : वरुणोऽपाम् अधिपतिः। ५. मित्रा वरुणौ वृष्ट्याः अधिपती। "वरुण, जलों के अधिपति। ५. वृष्टि के अधिपति मित्र और वरुण।"

७ ८३,१ : अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मितः। "हे वरुण! तुम्हारा सुवर्ण गृह जलों में स्थित है।"[१४२]

---

[१४१] देखिये रॉथ का इलस्ट्रेशन्स ऑफ निरुक्त, पृ० ७० और बाद।

[१४२] तैत्तिरीय सहिता ५.५,४,१ यह कहती है : "आपो वरुणस्य पत्न्यः असन्। ता अग्निर् अभ्यध्यायत्। ताः समभवत्। तस्य रेतः परापतत्। तद् इयम् अभवत्। यद् द्वितीयम् परापतत् तद् असाव् अभवत्। इय वै विराड् असौ स्वराट्।" "जल वरुण की पत्नियाँ हैं। अग्नि ने इनकी इच्छा की। उसने इनके साथ सहवास किया। उसका वीर्यपात हुआ। वही यह (पृथिवी) है। जो दूसरी बार गिरा वह (आकाश) हुआ। यह (पृथिवी) ही 'विराज्' है, वह (आकाश) ही 'स्वराज्' है।" वराहपुराण, खण्ड १२१ (आफरेख्त का कैटलॉग, पृ० ५९ ख) वरुण को समुद्र का सार्वभौमिक रूप से ज्ञात अधिपति कहता है (सर्वे लोका हि जानन्ति वरुणः पाति सागरम्)। स्कन्दपुराण (ऑफरेख्त का कैटलॉग, पृ० ६९ क) यह कहता है कि वरुण पहले कर्दम के पुत्र शुचिस्मत् नाम से ज्ञात थे; और इन्होंने शिव की उपासना के द्वारा समुद्र पर आधिपत्य प्राप्त किया।

(१०) वरुण जिस प्रक्रिया के अनुसार समुद्र के अधिपति बन गये उसकी प्रोफेसर रॉथ और वेस्टरगार्ड की व्याख्यायें

प्रोफेसर रॉथ (१८५१ के अक्टूबर में पठित एक शोध-निबन्ध में, जो जजओसो० ६.७३ में प्रकाशित हुआ है) उस प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह वक्तव्य देते हैं जिसके अनुसार बाद के समयों में वरुण को समुद्र का देवता माना जाने लगा।

"वेद के सूक्त इस विकास का पहले ही संकेत देते हैं, क्योंकि एक स्थान पर वरुण को उसी प्रकार समुद्र की लहरों से सम्बद्ध किया गया है जिस प्रकार झंझावात और वायु को अन्तरिक्ष तथा आकाश के साथ, और अग्नि को पृथिवी के साथ (१.१६१,१४ में, जिसका ऊपर अनुवाद किया जा चुका है), तथा अन्यत्र इनके सम्बन्ध में यह कहा गया है कि ये समुद्र में डूब जाते हैं (७.८७,६), जब कि एक स्थल पर नदियों को इनमें प्रवाहित होती हुई कहा गया है (८.५८,१२)। एक ओर, जब सबको आवृत्त करनेवाले द्युलोक के रूप में वरुण की धारणा की स्थापना हो गई, और दूसरी ओर, जब इस अनुभव ने कि नदियाँ पृथिवी की सीमाओं की ओर और समुद्र में प्रवाहित होती हैं, इस अनुमान को उत्पन्न कर दिया कि एक ऐसा महासागर भी है जो पृथिवी को अपनी गोद में धारण करता है : तब सागर के साथ वरुण को सम्बद्ध करने का मार्ग पूर्णतया प्रशस्त हो गया। दिव्य और सागरीय वरुण के बीच सम्बन्ध के दूसरे पक्ष को एलेक्जेण्डर फॉन हम्बोल्ट के इन शब्दों में व्यक्त किया जा सकता है जो प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण के सर्वथा अनुकूल है : "हमारे ग्रह की ठोस सतह के दो आच्छादन, अर्थात् जलीय तथा अन्तरिक्षीय, एक दूसरे के साथ अनेक समानतायें व्यक्त करते हैं जैसे उदाहरण के लिये, इनका चलत्व, तापमान की इनकी घटना, और यह तथ्य कि इनके अंशों को स्थानान्तरित किया जा सकता है, आदि। इसी प्रकार सागर और अन्तरिक्ष दोनों की गहराइयाँ भी हम लोगों के लिये अज्ञात हैं'।"

इसी विषय पर प्रोफेसर वेस्टरगार्ड (मूलतः १८५२ में प्रकाशित एक निबन्ध में, जिसका डेनिश से प्रोफेसर स्पीगल ने अनुवाद किया और जो वेबर के इण्डिशे स्टूडियन, भाग ३ में प्रकाशित हुआ) यह टिप्पणी करते हैं : "जेन्द शब्द 'वरेन' व्युत्पत्तिशास्त्रीय दृष्टि से भी, एक ओर यूनानी 'यूरेनोस' के समान है और दूसरी ओर उस भारतीय वरुण के जो वेदों में उस देवता का नाम है जो द्युलोक के उन दूरतम क्षेत्रों में शासन करता है जहाँ वायु और सागर मानो मिश्रित हैं। इसी कारण बाद के भारतीय पुराकथाशास्त्र में यह समुद्र का देवता बन गया, जब कि वेदों में पहले यह

सन्ध्या और रात्रि के एक रहस्यात्मक अधिपति के रूप में आता है।" आगे आप यह कहते हैं : "पूर्व के सुदूरतम पर्वतों पर स्थित यिम के गृह के विरुद्ध, सम्भवतः, ईरानियन 'वरेन' मूलतः द्युलोक और वायु के उस दूरस्थ पश्चिमी क्षेत्रों का द्योतक है जहाँ प्रति सन्ध्या को सूर्य तथा प्रकाश अपने को छिपाते हैं। सम्भवतः इसीलिये 'वरेन' से व्युत्पन्न 'वरेन्य' उपाधि जेन्दावेस्ता में केवल अन्धकार की दुष्टात्माओं के लिये ही व्यवहृत है" (पृ० ४१५ और बाद)।

(११) यूनानी 'यूरेनोस' के साथ वरुण का आनुरूप्य

हम पहले ही देख चुके हैं कि नाम की दृष्टि से वरुण की यूनानी 'यूरेनोस' के साथ अनुरूपता है। जैसा कि प्रोफेसर मूलर[१८३] कहते हैं "हेसियड की भाषा में यूरेनोस का आकाश के एक नाम के रूप में प्रयोग किया गया है। इनका इस प्रकार जन्म या निर्माण हुआ है मानों यह 'देवों के लिये एक सुदृढ़ स्थान हो'।[१८४] दो बार यह कहा गया है कि यूरेनोस सब को आच्छादित करता है (५.१२७) और यह कि जब यह रात्रि लाता है तो यह पृथिवी को आवृत्त करता हुआ सर्वत्र फैल जाता है।[१८५] इसमें ऐसा ध्वनित होता है कि जैसे यूनानी पुराकथा में अब भी यूरेनोस की व्युत्पत्ति-शास्त्रीय शक्ति सुरक्षित है। क्योंकि यूरेनोस संस्कृत में वरुण है और उस 'वर्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ आच्छादित करना है। वरुण वेद में अन्तरिक्ष का भी नाम है किन्तु विशेषरूप से रात्रि के साथ सम्बद्ध, तथा दिन के साथ सम्बद्ध मित्र से भिन्न है।"

यूनानी यूरेनोस और भारतीय वरुण की समानान्तरता, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सभी दृष्टियों से पूर्ण नहीं है। वैदिक पुराकथाशास्त्र में वरुण और पृथिवी के बीच पति-पत्नी जैसा कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है, जैसा कि हेसियड की थियॉग्नी में यूरेनोस और 'गइया' के बीच मिलता है। वेद में वरुण को उस आशय में भी प्रस्तुत नहीं किया गया है, जिसमें यूनानी कवि यूरेनोस को 'द्यौस' (ज़्यूस) का उत्पन्नकर्ता कहता है। अपवाद केवल इतना है कि वरुण को एक सामान्य रूप से आकाश और पृथिवी का निर्माता तथा रक्षक कहा गया है।



---

[१८३] ऑक्सफोर्ट एसेज १८५६, पृ० ४१; चिप्स २.६५।

[१८४] हेसियड : थियोग० १२६। तुकी० ऐतरेय ब्राह्मण ४ २७।

[१८५] वही, ५१७६।

खण्ड ६

इन्द्र[१४६]

यूनानी भूगोलविद् स्ट्राबो के अनुसार, भारतीय, जैसे कि उसे अन्य लेखकों की सूचनाओं के आधार पर ज्ञात थे, "जुपिटर प्लुवियस की, गङ्गा नदी की, तथा देश के अन्य देवताओं की पूजा करते थे।"[१४७] इसमें सन्देह नहीं कि यह जुपिटर प्लुवियस इन्द्र ही था। यद्यपि उस युग में जो स्ट्राबो की सूचनाओं से उद्दिष्ट है, बहुत सम्भवतः इस देवता को वह प्रमुखता प्राप्त नहीं थी जैसी प्राचीन काल में थी। जैसा कि प्रोफेसर रॉथ कहते हैं[१४८], यह वैदिक युग में आर्यों का लोकप्रिय राष्ट्रीय देवता था। इसकी स्तुति में अन्य किसी भी देवता की अपेक्षा कहीं अधिक सूक्त समर्पित हैं।

(१) इनकी उत्पत्ति और माता-पिता; इनकी पत्नी

फिर भी, यद्यपि इनकी महानता की अत्यधिक भव्य भाषा में प्रशस्ति की गई है, तथापि इन्हें एक असृजित व्यक्ति नहीं माना गया है। जैसा कि मैं पहले ही उल्लेख कर चुका हूँ, विभिन्न स्थलों पर इन्हें स्पष्ट रूप से जन्म लेकर उत्पन्न बताया गया है और इनके एक पिता तथा माता भी हैं।

इस प्रकार इनके लिये यह उल्लेख मिलता है :

३.४८,२ : यज् जायथास् तद् अहर् अस्य कामे अंशोः पीयूषम् अपिबो गिरिष्ठाम्। त ते माता परि योषा जनित्री महः पितुर् दमे आसिञ्चद् अग्रे। ३. उपस्थाय मातरम् अन्नम् ऐट्ट तिग्मम् अपश्यद् अभि सोमम् ऊधः।

"जिस दिन तुमने जन्म लिया उसी दिन उसके प्रति प्रेम के कारण तुमने सोम-पौधे के पर्वतोत्पन्न रस का पान किया। प्राचीन काल में जिस युवा माता ने तुम्हारा प्रजनन किया उसी ने तुम्हारे शक्तिशाली पिता के घर में ही तुम्हें

---

[१४६] स्ट्राबो, १५.१,६९, पृ० ७१८, लासन द्वारा इआ० २.६९८ में उद्धृत।

[१४७] वरुण के मेरे विवरण में ऐसा कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसे प्रोफेसर रॉथ ने पहले ही न कह दिया हो; किन्तु इन्द्र के इस वर्णन में विवरण का उससे कहीं अधिक विशद है जितना मुझे कहीं अन्यत्र देखने को मिला है।

[१४८] अपने कोश में 'इन्द्र' के अन्तर्गत।

(सोम से) तृप्त किया। ३. अपनी माता के पास जाकर उसने अन्न चाहा; उसने उसके स्तन में तीक्ष्ण गन्धवाले सोम को देखा।"

पुनः ४.१७,४ : सुवीरस् ते जनिता मन्यत द्यौर् इन्द्रस्य कर्त्ता स्वपस्तमोऽभूत्। यः ईं जजान सुवज्रम् अनपच्युतं सदसो न भूम।... १७. कियत् स्विद् इन्द्रो अधि एति मातुः कियत् पितुर् जनितुर् यो जजान। "जैसा कि द्यौस् ने माना, तुम्हारा पिता एक अत्यन्त सुवीर था; इन्द्र का जनक, वह जिसने पृथिवी की भाँति अटल दिव्य वज्रिन को उत्पन्न किया,—वह अत्यन्त कुशल कलाकार था। १७. इन्द्र अपनी माता का कितना ध्यान रखते हैं, कितना अपने पिता का जिन्होंने इन्हें उत्पन्न किया ?"[१४९]

४.१८,१ : अयं पन्थाः अनुवित्तः पुराणो यतो देवाः उदजायन्त विश्वे। आतश् चिद् आ जनिषीष्ट प्रवृद्धो मा मातरम् अमुया पत्तवे कः। ५. अवद्यम् इव मन्यमाना गुहाऽकर् इन्द्रम् माता वीर्येण न्यृष्टम। अथ उद् अस्थात् स्वयम् अत्कं वसान. आ रोदसी अपृणज् जायमानः। १०. गृष्टिः ससूव स्थविरं तवागाम् अनाधृष्य वृषभं तुम्रम् इन्द्रम्। अरीळ्ं वत्सं चरथाय माता स्वयं गातु तन्वे इच्छमानम्। ११. उत माता महिषम् अन्ववेनद् अमी त्वा जहति पुत्र देवाः। अथाब्रवीद् वृत्रम् इन्द्रो हनिष्यन् सखे विष्णो वितरां वि क्रमस्व। १२. कस् ते मातरम् विधवाम् अचक्रत् शयुं कश् त्वाम् अजिघांसत् चरन्तम्। कस् ते देवो अधि मार्डीके आसीद् यत् पितरम् प्राक्षिणाः पादगृह्य।

"यह मार्ग प्राचीन काल से चला आ रहा है जिसके द्वारा सभी देवगण उत्पन्न हुये; इसके द्वारा (भ्रूण) उत्पन्न हो वह अपनी माता को व्यर्थ अपमानित न करे।[१५०] ५. उसके (जन्म) को एक त्रुटि मानते हुये माता ने उस इन्द्र को छिपा लिया जो तेज से पूर्ण था। तब वह स्वयं उठा; एक वसन पहन कर उसने जन्म लेते ही दोनों लोकों को परिपूर्ण किया। १०. उसकी माता ने एक गाय की भाँति ऐसे इन्द्र को जन्म दिया जो एक बिना चाटे हुये बछड़े

[१४९] प्रो० मूलर (लेक्चर्स, २.४३०) प्रथम मन्त्र का एक भिन्न अनुवाद करते हैं। मरुतों के सम्बन्ध में भी यह कहा है (५.६०,५) कि इनका पिता रुद्र युवा और श्रेष्ठ शिल्पी था (युवा पिता स्वपा. रुद्र एषाम्)। इसी मण्डल का अगला सूक्त (४.१८) इन्द्र के जन्म तथा इनके माता-पिता का बार-बार उल्लेख करता है।

[१५०] इस अस्पष्ट सूक्त की भाष्यकार की व्याख्या के लिये देखिये प्रो० विलसन का अनुवाद, नोट १।

के समान था; जो शक्तिशाली, हृष्टपुष्ट, अविनाशी, सर्वशक्तिसम्पन्न और सर्वोत्कृष्ट था, जिससे वह सर्वव्यापक हो और अपने लिये पूर्ण अवसर की इच्छा कर सके। ११. और उसकी माता महान् ऐश्वर्यवाले पुत्र की कामना करती हुई कहती है : 'मेरे पुत्र ! यह सब देवगण तुम्हें प्राप्त होते हैं।' तब वृत्र का हनन करने के लिए उद्यत होते हुये इन्द्र ने कहा : 'हे विष्णु ! तुम साहसपूर्वक अग्रसर हो।' १२. तुम्हारी माता को किसने विधवा बनाया ? तुमको सोते या चलते हुये किसने मारने का प्रयास किया ? जब तुमने अपने पिता का पैर पकड़ कर अपने पिता को पराभूत किया तो कौन से देवता तुम्हारे साथ थे ?"

७.२०,५ : वृषा जजान वृषणम् रणाय तम उ चिन् नारी नर्यं ससूव। "एक शक्तिशाली (देवता) ने उसे जन्म दिया; युद्ध के लिये शक्तिशाली (पुत्र) है : एक वीर नारी ने उसे, एक वीर्य पुत्र को उत्पन्न किया," इत्यादि। पुनः ७.९८,३ : जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानम् उवाच। "जन्म लेने पर तुमने बल के लिये सोमपान किया : तुम्हारी माता ने तुम्हारी महिमा को कहा।" १०.७३,१ : जनिष्ठाः उग्रः सहसे तुराय मन्द्रः ओजिष्ठो बहुलाभिमानः। अवर्धन्न् इन्द्रम् मरुतश् चिद् अत्र माता यद् वीरं दधनद् धनिष्ठा। "तुमने वेगवान शक्ति का प्रयोग करने के लिये उग्ररूप में जन्म लिया है। तुम ओजस्वी, वीर, और अभिमानी हो। जब इन्द्र की माता ने इन्द्र को उत्पन्न किया तब मरुतों ने उनका वर्धन किया।" १०.१२०,१ : तद् इद् आस भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञे उग्रस् त्वेषनृम्णः। "वह भुवन में उच्चतम (प्राणी) था जिससे इस उग्र और पराक्रम (देवता) ने जन्म लिया", इत्यादि। १०.१३४,१ : उभे यद् इन्द्र रोदसी आपप्राथ उषा इव। महान्तं त्व महीनां सम्राजं चर्षणीनां देवी जनित्री अजीजनद् भद्रा जनित्री अजीजनत्। "हे इन्द्र ! तुमने भी उषा के समान दोनों लोकों को अपने तेज से भर दिया, तब एक दिव्य माता ने तुम्हें कोख से उत्पन्न किया, एक कल्याणमयी माता ने तुम्हें, महान् लोगों (दस्युओं ?) के भी महान् सम्राट्, को जन्म दिया।" १०.१०१,१२ जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इन्हें "निष्ट्यिग्री" कहा गया है। जैसा कि मैंने उल्लेख किया है, इस शब्द को भाष्यकार ने अदिति का एक पर्यायवाची माना है। किन्तु यद्यपि इन्द्र को बाद के पुराकथाशास्त्र में सदैव एक आदित्य माना गया है और इन्हें इसी रूप में वरुण के साथ ७.८५,४ (यः आदित्या शवसा वां नमस्वान्) में सम्बोधित भी किया गया है, तथापि ऋग्वेद

के अन्य भागों में इनका साधारणतया इस रूप में वर्णन नहीं है।[१५१]

अथर्ववेद ३.१०,१२ में हमें यह पाठ मिलता है: एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भम् महिमानम् इन्द्रम्। तेन देवाः अषहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनाम् अभवत् शचिपतिः। "तपस्या करते हुये एकाष्टका ने महिमामय इन्द्र को एक बालक के रूप में जन्म दिया। इनके द्वारा देवों ने शत्रुओं को पराजित किया। शचिपति दस्युओं का हनन करनेवाला हुआ।"

अगले मन्त्र में एकाष्टका को सोम तथा साथ ही साथ इन्द्र की भी माता और प्रजापति की पुत्री कहा गया है। अवे० ६.३८, में इन्द्र की माता का आवाहन किया गया है किन्तु यहाँ उसका नाम नहीं दिया गया है। महाभारत, आदिपर्व, २१२६ के अनुसार इन्द्र भी कश्यप तथा दाक्षायणी अर्थात् दक्ष की पुत्री अथवा अदिति के पुत्रों में से एक हैं। ८.४५,४.५; ८.६६,१,२ भी देखिये जिन्हें आगे उद्धृत किया जायगा। ८.५८,४ में इन्द्र को सत्य का पुत्र (सूनुं सत्यस्य) कहा गया है।

एक अन्य स्थान (३.४९,१) पर इन्हें शत्रुओं का नाश करनेवाले के रूप में देवों द्वारा उत्पन्न कहा गया है (घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः। देखिये २.१३,५ और ३.५१,८ भी)।

पुरुषसूक्त (ऋग्वेद १०९०;१३) में इन्द्र को अग्नि के साथ पुरुष के मुख से उत्पन्न कहा गया है (मुखाद् इन्द्रश् च अग्निश् च); और ९.९६,५ में ये उन अनेक देवों में से एक हैं जिन्हें सोम ने उत्पन्न किया (सोमः जनिता इन्द्रस्य)। एक बाद के सूक्त (१०.१६७,१) में इन्हें तप द्वारा स्वर्ग को विजित करनेवाला कहा गया है (त्व तपः परितप्य अजयः स्वः)।[१५२]

---

[१५१] ४ २६,१ में इन्हें मनु और सूर्य के साथ, तथा ८.८२,१,४ और १०.८९,२ में सूर्य के साथ समीकृत किया गया प्रतीत होता है। २ ३०,१ मे इनके लिये 'सवितृ' उपाधि का प्रयोग किया गया है।

[१५२] देवो से सम्बद्ध लघुकथाओ, जिनसे यह तथा एक अन्य ब्राह्मण पूर्ण हैं, मे मे एक में इन्द्र के सम्बन्ध मे शतपथ ब्राह्मण (११.१,६,१४) मे यह कथन है: ता. वै एता· प्रजापतेर अधिदेवताः असृज्यन्त अग्निर् इन्द्र· सोमः परमेष्ठी प्राजापत्यः। १५. ताः सहस्रायुषो जज्ञिरे। ताः यथा नद्यैपारम् परापश्येद् एव स्वस्य आयुष, पारम् पराचख्युः॥ "ये देवगण प्रजापति द्वारा सृजित हैं, अर्थात् अग्नि, इन्द्र, सोम, और परमेष्ठी प्राजापत्य। १५. यह एक सहस्र वर्ष की आयु लेकर उत्पन्न हुये थे। जिस प्रकार एक मनुष्य नदी के दूसरे तट को देख सकता है

६.५९,२, में इन्द्र और अग्नि को यमज भ्राता कहा गया है जिनके पिता एक ही हैं, और जिनकी मातायें एक यहाँ और एक वहाँ है (इसका आशय बहुत स्पष्ट नहीं है, जब तक यही अर्थ न हो कि मातायें भिन्न हैं)। १०.५५,१ में इनके भ्राताओं और सन्तानों का वर्णन है (उद् अस्तभ्ना: पृथिवीम् द्याम् अभीके भ्रातु: पुत्रान् मघवन् तित्विषाण:)। इससे

उसी प्रकार इन लोगो ने अपनी आयु का अन्त देखा।" पुन: तैत्त० ब्रा० २.२, ३,३ इन्द्र के सम्बन्ध में यह कहता है : प्रजापत्यैर् देवासुरान् असृजत। स इन्द्रम् अपि न असृजत। तं देवा: अब्रुवन् "इन्द्र नो जनय" इति। सोऽब्रवीद् "यथाऽहं युष्मांस् तपसाऽसृक्षि एवम् इन्द्रं जनयध्वम्" इति। ते तपोऽतप्यन्त। ते आत्मन्न् इन्द्रम् अपश्यन्। तम् अब्रुवन् "जायस्व" इति। सोऽब्रवीत् "किम् भागधेयम् अभि जनिष्ये" इति। "ऋतून संवत्सरान् प्रजा: पशून् इमान् लोकान्" इत्य अब्रुवन्। इत्यादि "प्रजापति ने देवो और असुरो की सृष्टि की किन्तु उन्होने इन्द्र की सृष्टि नही की। देवों ने उनसे कहा : 'हमारे लिये इन्द्र का सृजन करो'। उसने कहा : 'जिस प्रकार मैंने तप से तुम्हारी सृष्टि की है उसी प्रकार तुम लोग इन्द्र को उत्पन्न करो'। उन लोगो ने तपस्या की। उन लोगो ने इन्द्र को अपने भीतर देखा। उन लोगों ने इन्द्र से कहा : 'ऋतुओ को वर्षों, पशुओ, प्रजाओ, इन लोको को', इत्यादि।" यही ब्राह्मण (२.२, १०,१) हमे बताता है कि प्रजापति ने इन्द्र की देवो मे से अन्तिम के रूप में रचना की और उसे अन्य देवताओ का अधिपति बना कर भेजा। देवो ने उससे पूछा : 'तुम कौन हो ?' 'हम लोग तुमसे श्रेष्ठ है।' उसने देवो के उत्तर को प्रजापति से कहा और प्रजापति मे स्थित श्रेय को माँगा जिससे वह देवो का अधिपति बन सके। इत्यादि।" (प्रजापति इन्द्रम् असृजत: अनुजावरं देवानाम्। तम् प्राहिणोत् "परेहि। एतेषा देवानाम् अधिपतिर् एधि" इति। तं देवा अब्रुवन् "कस् त्वम् असि वय वै त्वत् श्रेयास. स्म" इति। सोऽब्रवीत् "कसत्वम् असि वयं वै त्वत् त्वत् श्रेयास: स्म." इति मा देवा. अब्रुवन्न" इति। अथ वै इदं तर्हि प्रजापतौ हर: आसीद् (२) यद् अस्मिन् आदित्ये। तद् एनम् अब्रवीद् "एतद्मे प्रयच्छ अथ अहम् एतेषा देवाना अधिपतिर् भविष्यामि" इति) तुलना कीजिये तैत्तिरीय संहिता ६.६,११,२, जहाँ यह कहा गया है कि प्रजापति द्वारा बताये कृत्य को सम्पन्न करके इन्द्र देवो के अधिपति बने। देखिये यही ग्रन्थ ७.२,१०,२। एक अन्य स्थान, ७.३,६,६. यह कहा गया है कि इन्द्र ने प्रजापति से पञ्चदशरात्र वज्र प्राप्त किया जिससे वह उन असुरो को भी पराजित करने मे सफल हो सका जिससे वह पहले भयभीत रहता था, और इस प्रकार उसने समृद्धि प्राप्त की।

आकाश और पृथिवी को उद्दिष्ट कहा गया है। यदि ऐसा है तो इसका पिता कौन है ? ६.५५,५ में पूषा को इन्द्र का भ्राता कहा गया है (भ्राता इन्द्रस्य)।

ऐसा कहा गया है कि एक शिशु के रूप में ही इन्द्र ने अपनी युद्धोपम प्रवृत्तियों को प्रगट किया था। "ज्यों ही इनका जन्म हुआ इन वृत्र को मारने वाले (इन्द्र) ने बाण को पकड़ कर माता से पूछा : 'वह कौन हैं जिनकी उग्र योद्धाओं के रूप में प्रख्याति है" (८.४५,४ : आ बुन्दं वृत्तहा ददे जातः पृच्छद् वि मातरम्। के उग्राः के ह शृण्विरे। ८. ६६,१ : जज्ञानो हि शतक्रतुर् वि पृच्छद् इति मातरम्। के उग्राः के ह शृण्विरे)। इनके स्तोता इनके सम्बन्ध में यह कहते हैं : १.१०२,८ : अशत्रुर् इन्द्र जनुषा सनाद् असि। "हे इन्द्र! तुम पुरातन काल से प्रकृति से ही शत्रुरहित हो।" तुलना कीजिये १.१७६,१ : शत्रुम् अन्ति न विन्दसि १०.१३३,२ : अशत्रुर् इन्द्र जज्ञिषे।

१.८२,५ ६ में इन्द्र की पत्नी का उल्लेख है. ५. तेन जायाम् उप प्रियाम् मन्दानो याहि। ६. सम् उ पत्न्या अमदः। "तुम प्रसन्न होकर अपनी पत्नी के पास जाओ।" "अपनी पत्नी के साथ मदमत्त हो।"

एक अन्य स्थान (३.५३, ४ और बाद) पर कवि उस उलझन का वर्णन करता है जो अपने घर के आकर्षण तथा स्तोताओं द्वारा प्रदत्त सोम-हवि में से किसी एक का वरण करते समय इन्द्र अनुभव करते हैं : ४. जाया इद् अस्तम् मघवन् सा इद् उ योनिस् तद् इत त्वा युक्ताः हरयो वहन्तु। यदा कदा च सुनवाम सोमम् अग्निस् त्वा दूतो धन्वाति अच्छ। ५. परा याहि मघवन्न् आ च याहि इन्द्र भ्रातर् उभयत्र ते अर्थम्। यत्र रथस्य बृहतो निधानं विमोचनम् वाजिनो रासभस्य। ६. अपाः सोमम् अस्तम् इन्द्र प्र याहि कल्याणीर् जाया सुरण गृहे ते। यत्र रथस्य बृहन्तो निधानं विमोचनं वाजिनो दक्षिणावत्।

"४. हे इन्द्र! स्त्री ही पुरुषों का वासस्थान है; वही मनुष्य का गृह है; अतः रथयुक्त अश्व तुम को उस गृह में पहुँचावें। किन्तु हम जब कभी तुम्हारे निमित्त सोम की हवि प्रदान करें तब अग्नि तुम्हें बुलाने में शीघ्रता करें। ५ हे इन्द्र! तुम दूर देश में गमन करते हुये हमारे यहाँ पधारो। तुम्हारा दोनों स्थानों पर प्रयोजन है। जब तुम्हारा महान रथ रुकता है तब तुम्हारे अश्व खुल जाते हैं। तुम्हारे एक सुन्दर स्त्री है और तुम्हारे गृह में आनन्द है। जहाँ जहाँ भी तुम्हारा महान रथ रुकता है वहाँ यह उचित ही है कि तुम्हारे घोड़े खोल दिये जायँ।"

कुछ स्थलों (१.२२,१२; २.३२,८; ५.४६,८; १०.८६,११–१२) पर एक इन्द्राणी नामक देवी का उल्लेख है जिसे अपने नाम के आधार पर इन्द्र की भार्या ही होना चाहिये। प्रथम तीन स्थलों पर इसका उन अन्य देवियों के साथ आवाहन है जिनके अन्तर्गत हमें अग्नि तथा वरुण की पत्नियों, अग्नायी और वरुणानी का नाम मिलता है। १०.८६,११–१२ पर इन्द्राणी के सम्बन्ध में कुछ अधिक बताया गया है। इस प्रकार ११ वें मन्त्र में वक्ता कहता है : इन्द्राणीम् आसु नारिषु सुभगाम् अहम् अश्रवम्। नहि अस्याः अपरं चन जरसा मरते पतिः। "हमने सुना है कि इन सभी स्त्रियों में इन्द्राणी सर्वाधिक भाग्यशाली है क्योंकि इसका पति भविष्य में कभी भी जरावस्था के कारण मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा।"[153] ऐतरेय ब्राह्मण ३.२२ इन्द्र की प्रासहा नामक एक पत्नी का उल्लेख करता है (ते देवाः अब्रुवन्न् इयं वै इन्द्रस्य प्रिया जाया वावाता प्रासहा नाम)। देखिये प्रो० हॉग का अनुवाद, पृ० १९४।

शतपथ ब्राह्मण १४.२, १,८ यह कहता है : "इन्द्राणी इन्द्र की प्रिय पत्नी हैं और इनका उष्णीष सर्वरूप है" (इन्द्राणी ह वै इन्द्रस्य प्रिया पत्नी। तस्याः उष्णीषो विश्वरूपात्मः)।

(२) इनके दैहिक और मानसिक गुण

इन्द्र को अनेक अस्पष्ट तथा सामान्य उपाधियों से विभूषित किया गया

---

[153] मैं नहीं कह सकता कि इस सूक्त के अश्लील मन्त्रों (६ और ७) से कौन उद्दिष्ट है। तैत्त० ब्रा० २.४,२,७ में इसका इस प्रकार वर्णन है : इन्द्राणी देवी सुभगा सुपत्नी उद् अंशेन पति-विद्ये जिगाय। त्रिंशद् अस्याः जघनं योजनानि। उपस्थे इन्द्र स्थविरम् बिभर्त्ति।" प्रो० वेबर (इण्ड० स्टू० ३.४७९) काण्ड १३,५ से एक लघु स्थल उद्धृत करते हैं जिसमें यह कहा गया है कि एक विलिस्तेनगा नामक दानवी पर आसक्त होकर इन्द्र असुरों के बीच रहे थे। पुरुषों के बीच वह पुरुष रूप में और स्त्रियों के बीच स्त्री रूप में रहते थे। और जब उन्होंने अपने को निर्ऋति द्वारा ग्रसित पाया तब उसके उपशमन के लिये उन्होंने एक हवि का आश्रय लिया", इत्यादि (इन्द्रो वै विलिस्तेनगा दानवीम् अकामयत्। सोऽसुरेष्व अचरत् स्त्री एव स्त्रीषु भवन् पुमान् पुंसु। स निर्ऋति-गृहीतः इव अमन्यत। स एतम् ऐन्द्रा-नैर्ऋतम् अपश्यत्)। अथर्ववेद ७.३८,२ में एक स्त्री एक पुरुष से कहती है कि वह उससे प्रेम करना चाहती है : येन आ निचक्रे आसुरी इन्द्र देवेभ्यस् परि ॥तेन आ नि कुर्वे त्वाम् अहं यथा तेऽसानि सुप्रिया। "तुम्हारे द्वारा प्रेम किये जाने के लिये मैं इस पौधे द्वारा तुम्हें वशीभूत करती हूं, जिससे एक आसुरी ने देवों के बीच से इन्द्र को वशीभूत कर लिया था।"

है। इनको युवा, प्राचीन, शक्तिशाली, 'नृतु' (१.१३०, ७; २.२२,४; ६.२९, ३; ८.२४, ९,१२; ८.५७,७; ८.८१,३), सेनापति, वीर, उज्ज्वल, अनश्वर, मन्न को जीतनेवाला, असीम बुद्धि का अधिपति, दुर्जेय शक्ति और पराक्रम का अधिपति, वज्रधारी, इत्यादि कहा गया है (१.४,८; १.१६,९; १.३०,६, १५; १.६१,१; १.८१,२,७; १.८४,२; १.१००,१२, १.१०२,६; १.१६५,६; २.२१,१–३; ३.३०,३; ३.३२,७, ३.४५,२; ३.४६,१; ६ १८,४; ७.२०,४; ७.२२,५; ८.८१,८; ८.८४,७ और बाद; १०.१०३,१ और बाद)। "इनके शरीर में शक्ति है, भुजाओं में बल है, हाथों में वज्र है और मस्तिष्क में बुद्धि है" (२.१६,२ : जठरे सोमं तन्वि सहो हस्ते वज्रम् भरति शीर्षणि क्रतुम्। ८.८५,३ : इन्द्रस्य वज्रः आयसो निमिश्लः इन्द्रस्यो बाह्वार् भूयिष्ठम् ओजः। इन्द्रस्य शीर्षन् क्रतवो निरेके)। ये सर्वाधिक सुन्दर रूप धारण करते हैं और सूर्य की अरुणिम भव्यता से युक्त हैं (१०.११२,३ : हरित्वता वर्चसा सूर्यस्य श्रेष्ठैः रूपैस् तन्व स्पर्शयस्व)। वैदिक कवियों ने हमारे लिये अपनी कल्पना के अनुसार इनके वैयक्तिक स्वरूप की कुछ विशिष्टताओं का भी वर्णन किया है। इनके लिये बहुप्रयुक्त उपाधियों में से एक 'सुशिप्र' अथवा 'शिप्रिन्' है जिसकी सायण ने "सुन्दर गालों अथवा नासिका-वाले देवता" के द्विविध अर्थों में व्याख्या की है (हे सुशिप्र शोभन-नासिक वा)। (१.९,३; १.२९,२; १.८१,४; १.१०१,१०;[१५४] ३.३२,३; ३.३६,१०; ८.३२,४,२४; ८.३३,७; ८.५५,४, १०.१०५,५)[१५५], और "शोभन शिरस्त्राण वाला देवता" (शोभन-शिरस्त्राणोपेतो यद्वा शोभन-हनुमान्। ३.३०,३; ८.१७,४; ८.८१,४; ८,८२,१२)।[१५६]

८.६५,१० में यह कहा गया है कि चमस से गिराये गये सोम का पान करके ओजपूर्वक उठने पर इन्होंने अपने जबड़ों को क्रोध से पीसा (उत्तिष्ठन्न् ओजसा सह पित्वी शिप्रे अवेपयः। सोमम् इन्द्र चमू सुतम्)। इन्हें 'हरि शिप्र' (१०.९६,४.९.१२); 'हरि केश' (१०.९६,५.८,) 'हरिश्मशारु'

---

[१५४] तुलना कीजिये १ ३०,११।

[१५५] इस शब्द पर आगे मरुद्गणों के प्रसङ्ग मे टिप्पणी की जायगी।

[१५६] ऋग्वेद ६ ४६,३ में इन्द्र को 'सहस्र–मुष्क' कहा गया है जिसकी व्याख्या करते हुये सायण कौषीतकि ब्राह्मण से यह उद्धरण प्रस्तुत करते हैं : "याम् का च स्त्रिय सम्भजन्न् इन्द्रो–भोग–लोलुपतया स्वशरीरे पर्वणि पर्वणि शेफान् ससर्ज इति कौषीतकिभिर्"। ८ १९,३२, पर जहाँ यही उपाधि आती है, सायण इसे अग्नि के लिये प्रयुक्त मानते हुए यह कहते हैं : मुष्णन्ति तमांस्य आहरन्ति इति मुष्कानि तेजांसि। सहस्रेजस्–

(१०.९६,८; १०.२३,४), भी कहा गया है।[१५७] जब ये सोमपान कर आह्लादित होते हैं अथवा गतिशील होते हैं तो इनकी दाढ़ी तीव्रगति से हिलती है (२.११,१७ : प्रदोधुवत् श्मश्रुषु प्रीणाणः; १०.२३,१ : प्र श्मश्रु दोधुवत्)।[१५८] इनका सम्पूर्ण स्वरूप ही अरुणिम या स्वर्णिम है ('हरि-वर्पस्; १०.९६,१ और बाद)। कभी-कभी इनका 'हिरण्य' के रूप में भी वर्णन किया गया है (१.७,२; ८.५५,३)। इन्हें 'हिरण्य-बाहु' (७.३४, ४) और कभी-कभी 'आयस' (१.५६, ३; १०.९३,४.८) भी कहा गया है। इनके बाहु लम्बे तथा दूर तक फैलनेवाले हैं (६.१९,३ : पृथू करस्ना बहुला गभस्ती; ८.३२,१० : सुप्र-करस्न; ८.७०,१, महाहस्तिन)[१५९] किन्तु इनके रूप अनन्त हैं। ये कोई भी रूप धारण कर सकते हैं (३.३८,४ : विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ; ३.४८,४ : यथावशं तन्वं चक्रे एष; ३.५३,८; रूप रूपं मघवा बोभवीति मायाः कृण्वानस् तन्वम् परि-स्वाम् ; ६.४७,१८ : रूप प्रतिरूपो बभूव तद् अस्य रूपम् प्रतिचक्षणाय इन्द्रो मायाभिः पुरुरूपः ईयते)।

(३) इनके रथ और घोड़े

अपने हाथों में एक हिरण्य चाबुक (८.३३,११ : कशा हिरण्ययी) लेकर ये सहस्र स्तम्भोंवाले एक प्रदीप्त सुवर्ण रथ पर चलते हैं (६,२९,२ : आ रथे हिरण्यये रथेस्थाः, ८.१,२४ और बाद : रथे हिरण्यये; ८.५८,१६ : आ रथं तिष्ठ हिरण्ययं सहस्रपादम्)। इनका रथ कल्पना से भी तीव्र

---

[१५७] मैं समझता हूँ कि यह 'हरि-श्मश्रु' वही है जो ऋग्वेद १०.४६,५ मे अग्नि के लिये प्रयुक्त 'हिरि-श्मश्रु' है (सामवेद के इसके समानान्तर स्थल पर 'हरिश्मश्रु' है। ऋग्वेद २.२,५ मे अग्नि को 'हरिशिप्र' कहा गया है जिसकी सायण 'हरणशील-हनु' अथवा 'दीप्तोष्णीष' के रूप मे व्याख्या करते हैं।

[१५८] पूषा को भी दाढ़ी से युक्त कहा गया है जो इसी प्रकार हिलाते हैं (ऋग्वेद १०.२६,७)।

[१५९] एक ऐसे मन्त्र मे, जो ऋग्वेद में नही आता। सामवेद (२.१२१९) इन्द्र की भुजाओ का इस प्रकार वर्णन करता है : 'इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ युवानाव् अनाधृष्यौ सुप्रतीकाव् असह्यौ। तौ युञ्जीत प्रथमौ योगे आ गते याभ्या जितम् असुराणा सहो महत्।" "अवसर आने पर इन्द्र अपने शक्तिशाली, युवा, दुर्जेय, सुगठित, अविजेय बाहुओ का व्यावहार करते हैं जिसकी महान शक्ति ने असुरो को जीता था।"

गति से चलता है (१०,११२,२ : यस् ते रथो मनसो जवीयान् आ इन्द्र तेन सोमपेयाय याहि)। इनके रथ को दो[१६०] सुवर्ण-वर्ण (हरी) घोड़े खींचते हैं जो दुर्जेय हैं और हिनहिनाते और उच्छ्वास लेते हुये चलते हैं (१.३०,१६ : शश्वद् इन्द्रः पोप्रुथद्भिर् जिगाय नानदद्भिः शाश्वसद्भिर् धनानि; १८१,३ : मदच्युता हरी)।[१६१] इनके घोड़े 'केशिना' (१.१०,३; १.८२,६; ८.१७,२; हिरण्य-केश्या', ८.३२,२९; ८.८२,२४), मोर के पखों के समान केशोंवाले' (३.४५;१ = अवे० ७.११७, १) : आ हरिभिर् याहि मयूररोमभिः; और 'मयूरशेप्या' (८.१,२५) हैं जो योजनों की दूरी तीव्रता से पार करते हैं (२.१६,३ : यद् आशुभिः पतसि योजना पुरु) और इन्द्रा का उसी प्रकार वहन करते हैं जैसे श्येन का उसके पख (८.३४,९ : आ त्वा मदच्युता हरी श्येनम् पक्षेव वक्षतः)। ऐसा प्रतीत होता है कि इनके रथ और घोड़ों को ऋभुओं ने बनाया था (१.११,१ : तक्षन् रथं सुवृत्तं विद्मनाऽपसस् तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू। तक्षन् पितृभ्याम् ऋभवो युवद् वयः; ५.३१,४। अनवस् ते रथम् अश्वाय तक्षन्)। इन्द्र के रथ तथा घोड़ों का उल्लेख करनेवाले कुछ और स्थल ये हैं : १.६,२; १.१६,१,२ (जहाँ घोड़ों को 'सूरचक्षसः' कहा गया है); १.५५,७; १.८४,६; १.१०१,१०; २.११,६; ८.१३,११.२७, १०.४४, २। यह भी कहा गया है कि सूर्य के घोड़े (१०.४९,७ : अह सूर्यस्य परि यामि आशुभिः प्र एतशेभिर् वहमानः ओजसा) अथवा वात के घोड़े (१०.२२,४–६; युजानो अश्वा वातस्य धुनी देवो देवस्य वज्रिवः)[१६२]

---

[१६०] २.१८,४–७ में इन्द्र को दो चार, छ, आठ, दस, बीस, तीस, चालीस, पचास, साठ, सत्तर, अस्सी, नब्बे, अथवा सौ घोड़ो सहित आकर सोमपान के लिये आमन्त्रित किया गया (तुकी० ८.१,९)। ४,४६,३ में कहा गया है कि इन्द्र और वायु को एक हजार घोड़े ले जाते हैं (तु० ६.४७,१८)। ८.१,२४ में इन्द्र के घोड़े को एक सहस्र और एक सौ कहा गया है। ३.३५,७ जैसे स्थल पर इन्द्र को सूचित किया गया है कि उनके घोडो के लिये भोजन तथा स्वय उनको पेट भरने के लिये सोमरस, प्रदान किया गया है—ऐसे स्थलों से प्रतीत होता है कि स्तोता इन्द्र की उपस्थिति के प्रति पूर्ण आश्वस्त था। फिर भी एक अन्य स्थल (१०.११४,९) पर यह पूछा गया है : किसने इन्द्र के दो घोडो को देखा है ?,' (हरी इन्द्रस्य वि चिकाय कः स्वित्)।

[१६१] 'मदच्युत' के आशय के लिये देखिये ऋग्वेद का मूलर का अनुवाद, १.९१८ और बाद।

[१६२] तुकी० साम्स १८,१०; १०४,३।

इनका वहन करते हैं। इसी वायु देवता को 'इन्द्र-सारथि' अथवा 'स-रथी' भी कहा गया है (४.४६,२; ४.४८,२ : इन्द्र-सारथि; ७.९१,६ : इन्द्र-वायू सरथं यातम् अर्वाक्)। इन्द्र के घोड़ों को स्तुतियों की शक्ति से योजित होनेवाले कहा गया है (१.८२,६ : युनज्मि ते ब्रह्मणा केशिना हरी; २.१८,३ : हरी नु कम् रथे इन्द्रस्य योजम् आयै सूक्तेन वचसा नवेन; ३.३५,४ : ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमादा आशू; ८.१,२४ : ब्रह्मयुजो हरयः; ८.१७,२ : ब्रह्मयुजा हरी; ८.२,२७; ८.४५,३९ : आ ते एता वचोयुजा हरी गृभ्णे; ८.८७,९ : युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथया उरौ रथे उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा)। इसमें सन्देह नहीं कि यह इसी बात को कहने का एक दूसरा तरीका है कि यह अपने स्तोताओं की स्तुतियों को सुनकर ही उनकी हवियों को ग्रहण करने तथा उनकी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिये अपना रथ तैयार करता है।

(४) इनके वज्र, अन्य आयुध और उपकरण

इन्द्र के वज्र को सामान्यतया इनके लिये देवशिल्पी त्वष्टा द्वारा निर्मित बताया गया है (१.३२,२ : त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष; १.६१,६ : अस्मै इदु उ त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय; १.८५,९ : त्वष्टा यद् वज्रं सुकृतं हिरण्ययं सहस्रभृष्टिं स्वपा अवर्त्तयत्। ५.३१,४ : त्वष्टा वज्रं द्युमन्तम् तक्षत्; ६.१७,१० : अध त्वष्टा ते महे उग्र वज्रं सहस्रभृष्टिं ववृतत शताश्रिम्। १०.४८,३ : मह्यं त्वष्टा वज्रम् अतक्षद् आयसम्)। किन्तु अन्य स्थलों से ऐसा प्रतीत होता है कि काव्य उशना ने इसे बनाकर इन्द्र को दिया था (१.१२१,१२ : यं ते काव्यः उशना मन्दिनं दाद् वृत्राहणम् पार्यं ततक्ष वज्रम्; ५.३४,२ : सहस्रभृष्टिम् उशना वधं यमत्)।[183] ८.८९,९ में इसकी उत्पत्ति की प्राकृतिक विधि का उल्लेख है जहाँ यह कथन है : "वज्र अन्तरिक्ष समुद्र में जल से आवृत्त होकर पड़ा रहता है" (समुद्रे अन्तः शयते उद्ना वज्रो अभीवृतः)। इस वज्र को कभी-कभी हिरण्यमय (१.५७,२; १.८५,९; ८.५७,३; १०.२३,३) और कभी हरित

---

[183] ऐत ब्रा० ४.१ यह कहता है : "देवाः वै प्रथमेन अह्ना इन्द्राय वज्रं समभरन्। तं द्वितीयेन अह्ना असिञ्चन्। तृतीयेन अह्ना प्रायच्छन्। तं चतुर्थे अहन् प्राहरत्।" "प्रथम दिन के कृत्य द्वारा देवों ने इन्द्र के लिये वज्र का संभरण किया। दूसरे दिन उन लोगों ने उसका सिंचन किया। तीसरे दिन उन लोगों ने उसे इन्द्र को दिया : चौथे दिन इन्द्र ने इससे प्रहार किया।" देखिये प्रो० हॉग का अनुवाद, पृ० २५५।

(१०.९६,३) कहा गया है; किन्तु इसे आयस भी कहा गया है (१.५२,८; १.८०,१२; १.८१,४; १.१२१,९; ८.८५,२; १०.४८,३; १०.९६,३; १०.११३ ५) । कभी-कभी इसे चतुष्कोणीय ('चतुरश्रि', ४.२२,२); कभी शत जोड़ोंवाला ('शतपर्वन्', १.८०,६; ८.६,६; ८.६५,२; ८.७८,३),[१६४] और कभी 'सहस्र-भृष्टि' (१.८०,१२; १.८५,९; ५.३४,२; ६.१७,१०) कहा गया है । एक स्थान (१.५५,१) पर यह कहा गया है कि इन्द्र उसी प्रकार अपने वज्र को तीक्ष्ण करते हैं जैसे बैल अपने सींगों को (शिशीते वज्रं तेजसे न वंसगः)। ८.५९,२ में इन्द्र के हाथ में रक्खे वज्र की आकाश में रक्खे सूर्य के साथ तुलना की गई है (दिवे न सूर्यः) । अन्य स्थल पर इस देवता को धनुष और बाण धारण करनेवाला कहा गया है (८.४५,४; ८.६६,६१; १०.१०३,२,३)। इसके बाणों को सुवर्णमय (८.६६,११), सौ नोकोंवाला और सहस्र पंखोंवाला (८.६६,७) कहा गया है । इन्द्र को एक 'अंकुश' धारण करनेवाला भी कहा गया है । इस प्रकार, ८.१७,१० में यह कहा गया है : दीर्घस् ते अस्तु अंकुशो येन वसु प्रयच्छसि । यजमानाय सुन्वते । "तुम्हारा वह अंकुश लम्बा हो जिससे तुम हविदाता को धन पहुँचाते हो ।" और इसी समान अथर्ववेद ६.८२,३ में यह कथन है : यस् ते अंकुशो वसुदानो बृहन्न् इन्द्र हिरण्ययः । तेना जनीयते जायाम् मह्यं धेहि शचीपते । "हे शचीपते (इन्द्र) ! तुम अपने धन देनेवाले महान हिरण्यमय अंकुश से मुझ पत्नी की कामना करने वाले को एक पत्नी पहुँचाओ ।"[१६५] एक अन्य स्थल, जहाँ यह शब्द आता है ऋग्वेद १.१३४,६ (=सामवेद २.४४१) है : दीर्घम् हि अंकुशं यथा शक्तिम् बिभर्षि मन्तुमः । पूर्वेण मघवन् पदा अजो वयां यथा । "हे मघवन (इन्द्र) ! तुम भाले की भाँति एक दीर्घ अंकुश लेकर चलते हो और उसे इस प्रकार पकड़ रखते हैं जैसे बकरा अपने अपने अगले पैरों से शाखा को ।" १०.४४,९ में भी यह शब्द मिलता है : "हे महान देवता ! हम तुम्हारे पास

---

[१६४] तुकी० अवे० ४.३७,८ : "भीमाः इन्द्रस्य हेतयः शतभृष्टीर् अयस्मयी"; और अगला मन्त्र भी जो 'अयस्मयीः' के स्थान पर 'हिरण्ययीः' के स्थानान्तरण के अतिरिक्त बिल्कुल समान है । देखिये अवे० ८.५,१५ भी ।

[१६५] इन स्थलों पर मैंने 'अंकुश' के लिये रॉथ द्वारा अपने कोश में दी गई व्याख्या का अनुसरण किया है । इण्डिशे स्टूडियन ५.२४१, में अथर्ववेद के एक स्थल के अपने अनुवाद मे प्रो० वेबर ने अंकुश को एक ऐसे उपकरण के रूप में ग्रहण किया है जिससे पशु हाँके जाते हैं । अथर्ववेद ७.११५,१ में पापी लक्ष्मी को लोहे के अंकुश से भगाया या पास बुलाया गया है ।

यह सुनिर्मित अंकुश लाते हैं जिससे तुम शफारुज् दानवों का वध करो"[१६६] (इमम् बिभर्मि सुकृतं ते अंकुशं येन आरुजासि मघवन् शफारुजः)।

युद्ध के लिये प्रयुक्त एक अन्य उपकरण, एक जाल, से भी इन्द्र को अवे० ८.८,५ और बाद में युक्त कहा गया है : अन्तरिक्षं जालम् आसीज् जालदण्डा दिशो महीः । तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनाम् अपातयत् । ६. बृहद् हि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः । तेन शत्रून् अभि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्याटै कतमश्चन एषाम् । ७. बृहत् ते जालम् बृहतः इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य । तेन सहस्रम् अयुतम् नि अर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनाम् अभिधाय सेनया । ८. अयं लोको जालम् आसीत् शक्रस्य महतो महान् । तेनाहम् इन्द्रजालेन अमूंस् तमसाऽभि दधामि सर्वान् ।

"अन्तरिक्ष को जाल और दिशाओं को जाल का दण्ड रूप बना कर उसे इन्द्र ने धारण किया और उसी से दैत्य-सेनाओं को उसने नष्ट कर डाला। ६. महान शक्र का जाल अत्यन्त विशाल है। हे इन्द्र ! उस जाल के द्वारा इन शत्रुओं को पराङ्मुख करो । इनमें से कोई शेष न बचे। ७. हे वीर इन्द्र ! तुम्हारा जाल विशाल है। तुम महान हो और एक सहस्र शत्रुओं का सामना करने की क्षमतावाले और बल में सौ शत्रुओं के बराबर हो। अपनी सेना सहित शक्र ने अपने जाल में पकड़ कर एक हजार, दस हजार, एक लाख दस्युओं का वध कर डाला। ८. यह महान लोक ही महान् शक्र का जाल था । इन्द्र के इसी जाल के द्वारा मैं सब शत्रुओं को अन्धकार से ढँकता हूँ।"[१६७]

(५) इनकी सोमरस के प्रति आसक्ति

अपने मर्त्य स्तोताओं द्वारा आहूत होने पर इन्द्र आमन्त्रण को स्वीकार करके उनकी हवियों को ग्रहण करने के लिये शीघ्र रथ पर बैठ कर शीघ्रता से

[१६६] इस तथा इसके पहले के मन्त्र के आशय के लिये मैं प्रो० ऑफ़ेख्त का आभारी हूं। 'शफारुज्' से दानव का अथवा ऐसे पशु का अर्थ प्रतीत होता है जो अपने खुरों से विनाश करता है। १०.८७,१२ में भी यह शब्द आता है जहाँ यह यातुधान दानव की उपाधि है और इससे एक ऐसा राक्षस उद्दिष्ट है जिसे अपने खुरों से लोगों को नष्ट करनेवाला माना जाता था।

[१६७] तुकी० अथर्ववेद १९.६६,१ : "अयोजालाः असुराः मायिनोऽयस्मयैः पाशैर् अंकिनो ये चरन्ति । तास् ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रभृष्टिः सपत्नान् प्रमिणन् याहि वज्रः ।"

आते हैं। वह अपने अश्वों के लिये भी भोजन प्राप्त करते हैं (३.३५,७ : स्तीर्णं ते बर्हिः सुतः इन्द्र सोमः कृता धाना अत्तवे ते हरिभ्यं) और इनकी तृप्ति के लिये प्रचुर मात्रा में सोमरस भी मिलता है। इन हवियों से ये आह्लादित होते हैं। अक्सर इन हवियों को इनकी वीरोचित प्रकृति और शक्तियों को उद्दीप्त करनेवाला तथा इन्हें इनके अन्य कार्यों, यहाँ तक कि पृथिवी और पृथिवी को धारण करने तक के योग्य बनाती हैं (२.१५,२ : अवंशे द्याम् अस्तभायद् बृहन्तम्'''स धारयत् पृथिवीम् च सोस्मय ता मदे इन्द्रश् चकार)। इन्द्र की इस प्रकार की उपासना करनेवाले अनेक स्थलों में से कुछ ये हैं : १.४,८; १.३२,३; १.८०,१ और बाद; १.८४,१ (जहाँ कवि यह आशा करता है कि सोम उसी प्रकार इन्हे बल से परिपूर्ण करेगा जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों से वायुमण्डल को पूर्ण करता है : आ त्वा पृणक्तु इन्द्रियम् रजः सूर्यो न रश्मिभिः), ४ (जहाँ इसे अमर मद कहा गया है : अमर्त्यम् मदम्); २.१५,१ २; २.१९,१ और बाद; २.२१,१; ३.२६,३; ३,४०,१ और बाद; ३.४२,१ और बाद; ६ २३,१.५.६, ६.२७,१ और बाद; ६.२९,४; ७.२२,१ और बाद; ७.२९,१ और बाद; ६.३,१; ८,८१,५.६; १०.१०४, १ और बाद; इत्यादि। सभी देवों को इस हवि को ग्रहण करने के लिये शीघ्रतापूर्वक आनेवाला कहा गया है : ८.२,१८ (यन्ति प्रमादम् अतन्द्राः); ८.५८,१ : अपाद् इन्द्रो अपाद् अग्निर् विश्वे देवाः अमत्सत। "इन्द्र ने पान किया है; अग्नि ने पान किया है; सभी देवता मदमत्त हुये हैं।"[१८८] किन्तु इन्द्र इस प्रकार के पेय में विशेष अनुरक्ति रखते हैं, १.१०४,९ : सोमकाम त्वा आहु; १.१७५,५ : शुष्मिन्तमो हि ते मदः; २.१४,१ : कामी हि वीरः सदम् अस्य पीति जुहोत वृष्णे तद् हि एष वष्टि, ७.३३,२ : दूराद् इन्द्रम् अनयन्न् आ सुतेन; ८.२,४ : इन्द्रः इत सोमपाः एकः इन्द्रः सुतपा विश्वायुः। अन्तर् देवान् मर्त्यांश् च। "मनुष्यों और देवताओं में अकेले इन्द्र हो सोमपायी, हविपायी, शक्ति से पूर्ण हैं"; ८.४,१२ : इदं ते अन्नं युज्य समुक्षितं तस्य इहि प्रद्रव पिब। "इस तुम्हारे प्रिय अन्न को गिराया गया है, दौड़ो और इसका पान करो;" ८.६,४० : वृत्रहा सोमपातम; ८.५०,२ : सोमकामं हि ते मनः। ऐसा प्रतीत होता है कि यह

---

[१८८] ऐत ब्रा० ६.११ : "मादयन्ति इव वै मध्यन्दिने देवताः सम् एव तृतीय-सवने मादयन्ते"। इसका प्रो० हॉग इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "देवगण माध्यन्दिन हवि द्वारा ही मदमत्त हो जाते हैं अतः तीसरे सवन के समय ये सर्वथा मदमत्त अवस्था में होते हैं।"

इनके जीवन के लिये सर्वथा आवश्यक है क्योंकि स्वयं इनकी माता ने जन्म लेने के दिन ही इन्हें सोम दिया था (३.३२,९ : सद्यो यद् जातो अपिबो ह सोमम् । १० त्वं सद्यो अपिबो जातः इन्द्र मदाय सोमम् परमे व्योमन्; ३.४८,२.३; ६.४०,२ : अस्य पिब यस्य जज्ञानः इन्द्रो मदाय क्रत्वे अपिबः; ७.९८,३ : जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्रते माता महिमानम् उवाच)। एक पानसत्र में इन्होंने तीस पात्रों का सोम पान कर लिया था (८.६,४ : एकया प्रतिधाऽपिबत् साकं सरांसि त्रिंशतम् । इंद्रः सोमस्य काणुका। देखिये निरुक्त ५.११; तुलना कीजिये ऋग्वेद ६.१७,११; और ८.७,१०)। इनके स्तोता इन्हें निर्भीकतापूर्वक आकर सोमपान करने के लिये आमन्त्रित करते हैं (६.४७,७ धृषन् पिब कलशे सोमम् इन्द्र)। इन्हें एक प्यासे मृग की भांति पान करने के लिये (८.४,१०; ऋष्यो न तृष्यन्न् अवपानम् आगहि पिब सोमान् वशान् अनु), अथवा मरुभूमि में विचरण कर रहे बैल की भांति पान करने के लिये (५.३६,२ : धन्वचरो न वंसगस् तृषाणस् चकमानः पिबतु दुग्धम् अंशुम् । तुकी० ८.३३,२ कदा सुत तृषाणः ओकः । आगमः इन्द्र स्वब्दीव वंसगः) और अपना पेट भरने, अथवा दो पेट भरने के लिये आमन्त्रित किया गया है । इनके उदर की दो ह्रदों के साथ तुलना की गई है । ये आमन्त्रण की स्वीकृति को इसी प्रकार की भाषा में व्यक्त करते हैं[१६९] १.८,७, १.१०४,९; २.११,११ : सुतासः पृणन्तस् ते कुक्षी वर्धयन्तु; २.१४,१०; २.१६,२; ३.३५,६ : दधिष्व इमं जठरे इन्दुम् इन्द्र; ३.३६,७.८ : ह्रदाः इव कुक्षयः सोमधानाः; ३.४०,५; ३.४७,१ : आ सिञ्चस्व जठरे मध्वः ऊर्मिम् ; ३.५१,१२ : प्र ते अश्नोतु कुक्ष्योः; ८.१२,२३ : सरो न प्रासि उदरम् ; ८.२,१ : सुपूर्णम् उदरम् ; ८.१७,५ ८ : आते सिञ्चामि कुक्ष्योः; ८.६७,७; ८.८१,२२-२४; १०.२८,२; १०.४३,७; १०.१०४,२; अवे०

---

[१६९] स्वयं स्तोता भी सोमरस का पान करते थे और कुछ स्तोताओं पर इसके प्रभाव का भी अक्सर वर्णन किया गया है । इस प्रकार ६.४७,३ मे यह कथन है : "पान करने पर यह सोम हमारी वाणी को प्रेरित करता है; हमारे उत्कट विचारो को जागृत करता है" : "अयम् मे पीतः उदियर्त्ति वाचम् अयम् मनीषाम् उशतीम् अजीगः ।" ८.४८,३ मे इसके आह्लादकारी प्रभावो का इन शब्दो में और अधिक स्पष्ट वर्णन है : अपाम सोमम् अमृताः अभूम अगन्म ज्योतिर् अविदाम देवान् । किं नूनम् अस्मान् कृणवद् अरातिः किम् उ धूर्तिर् अमृत मर्त्तस्य ।" इसके साथ तुकी० यूरीपाइडिस का व्यंग नाटक साइक्लॉप्स, पृ० ५७८ और बाद, जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के तीसरे भाग मे उद्धृत किया जा चुका है ।

२.५,१ और बाद; ६.२,१ और बाद। यह कहा गया है कि सोम उसी प्रकार इनके पास जाता है जैसे पक्षी किसी सघन वृक्ष पर। सोम इनकी ओर उसी प्रकार बहता है जैसे जल सागर की ओर अथवा छोटी जलधारायें झील की ओर। इनके स्तोता इनकी उसी प्रकार वृद्धि करते हैं जैसे वर्षा अन्न की, १०,४३,४ : वयो न वृक्षं सुपलाशम् आसदन् सोमासः इन्द्रम् मन्दिनश् चमूषदः। ७. आपो न सिन्धुम् अभि यत् समक्षरन् सोमासः इन्द्रम् कुल्याः इव ह्रदम्। वर्धन्ति विप्राः महो अस्य सदने यवं वृष्टिर् दिव्येन दानुना। यह भी कहा गया है कि सोमपान करते समय ये बैलों अथवा भैंसों का मांस भी खाते हैं (१०.२८,३ : अद्रिणा ते मन्दिनः इन्द्र तूयान् सुन्वन्ति सोमान् पिबसि त्वम् एषाम्। पचन्ति ते वृषभान् (अत्सि तेषाम्)। ऋग्वेद ५.२९,७ और बाद में तीन सौ, तथा ८.६६,१० और १०.२७,२ में एक सौ का उल्लेख है। प्रस्तुत हवि का स्वाद लेने तथा सम्बोधित स्तुतियों से उसी प्रकार आनन्दित होने के लिये इन्द्र की स्तुति की गई है जिस प्रकार एक प्रेमी अपनी प्रेमिका की कामना करता है (३,५२,२=४.३२;१६ : पुरोडाशं च नो घसो जोषयासे गिरश् च। वधूयुर् इव योषणाम्)।

सोमपान के पश्चात देवों की संवेदनाओं का ऋग्वेद १०.११९,१ में इस प्रकार वर्णन है : इति वै इति मे मनोगाम् अश्वं सनुयाम् इति। कुवित् सोमस्य अपाम् इति। २. प्र वाताः इव दोधतः उन् मा पीताः अयंसत। कुविद् इत्य् आदि। ३. उन् मा पीताः अयंसत रथम् अश्वाः इवाशवः। कुवित्··· । ४. उप मा मतिर् अस्थित वाश्रा पुत्रम् इव प्रियम्। कुवित्...। ५. अहं तष्टेव बन्धुरम् पर्य् अचामि हृदा मतिम्। कुवित्···। ६. न हि मे अक्षिपच् चन अच्छान्त्सुः पञ्च कृष्टयः। कुवित्···। ७. न हि मे रोदसी उभे अन्यम् पक्षं चन प्रति। कुवित्···। ८. अभि द्याम महिनाऽभवम् अभीमाम् पृथिवीम् महीम्। कुवित्···। ९. हन्ताहम् पृथिवीम् इमां नि दधानीह वेह वा। कुवित्···। १०. ओषम् इत पृथिवीम् अहं जंघनानीह वेह वा। कुवित्···। ११ दिवि मे अन्यः पक्षो अधो अन्यम् अचीकृषम्। कुवित्···। १२. अहम् अस्मि महामहो अभिनभ्यम् उदीषितः। कुवित्···। १३. गृहो यामि अरङ्कृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः। कुवित् सोमस्य अपाम् इति।[१७०]

[१७०] रॉथ के निरुक्त, पृ० १०१ की एक टिप्पणी से मुझे यह पता लगा है कि, सायण के अनुसार, एक ऐसा आख्यान था कि एक पक्षी का रूप धारण कर

"मैं गौ और अश्वादि धनों को देने की इच्छा कर रहा हूँ क्योंकि मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। २. वायु जैसे वृक्षों को कम्पित करके ऊपर को उठाता है वैसे ही पान किये जाने पर सोमरस मुझे उन्नत करता है। मैंने अनेक बार सोमपान किया है। ३. जैसे द्रुतगामी अश्व रथ को ऊपर रखता है वैसे ही पान किये जाने पर सोम ने भी मुझे उन्नत किया है। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। ४. जैसे हुंकार करती हुई गौ अपने बछड़े की ओर जाती है वैसे ही स्तुतियाँ मेरी ओर गमन करती हैं। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। ५. त्वष्टा जैसे रथ के ऊपर के स्थान का निर्माण करते हैं वैसे ही मैं स्तुति करने वाले मन में स्तोत्र का निर्माण करता हूँ। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। ६. पञ्चजन मुझे एक परमाणु के समान भी प्रतीत नहीं होते। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। ७. दोनों लोक मेरे एक पार्श्व की भी समता नहीं कर सकते। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। ८. स्वर्ग और विस्तीर्ण पृथिवी को मेरी महिमा ही व्याप्त करती है। मैंने अनेक बार सोमपान किया है। ९. यदि मैं चाहूँ तो इस पृथिवी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर रख दूँ, मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। १०. यदि मैं चाहूँ तो इस विस्तीर्ण पृथिवी को भी भस्म कर सकता हूँ। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। ११. मेरा एक पार्श्व स्वर्ग में और एक पृथिवी पर है। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। १२. मैं आकाश के समान उन्नत तथा महान् से भी महान् हूँ। मैंने अनेक बार सोमरस का पान किया है। १३. जब मेरी स्तुति होती है तब मैं देवगण के लिये हव्य वहन करता हूँ और अपना भाग पाकर चला जाता हूँ। मैंने अनेक बार सोमरस का पान किया है।"

यह कहा गया है कि इन्द्र को सम्बोधित सूक्त और स्तुतियाँ उनकी शक्ति में वृद्धि तथा उनकी ओजस्विता को उद्दीप्त करती हैं: १.५२,७ (ब्रह्माणि इन्द्र तव यानि वर्धना); १.५४,८; १.८०,१; २.११,२ (उक्थैर् वबृधानः); २.१२,१४ (यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमः); ३.३२,१२ (यज्ञो हि ते इन्द्र वर्धनो भूत्; यः स्तोमेभिर् वबृधे पूर्व्येभिर् यो मध्येभिर् उत नूतनेभिः); ३.३४,१ (ब्रह्मजूतस् तन्वा वबृधानः); ५.३१,१० (इन्द्र ब्रह्माणि तविषीम् अवर्धन्); ६.२१,२; ६.४४,१३; ८.६,१.२१,३१.३५; ८.१३,१६ (इन्द्रं वर्धन्तु नो गिरः इन्द्रं सुतासः इन्दवः); ८.१२,५.११ (यज्ञः इन्द्रं अवर्धयत्); ८.८७,८ (वार् न त्वा यव्याभिर् वर्धन्ति शूर

इन्द्र ने जब सोमपान किया तब ऋषि ने उन्हें देख लिया और उसने इस सूक्त में अपनी स्तुतियों का गायन किया।

ब्रह्माणि); १०.५०,४ (भुवस् त्वम् इन्द्र ब्रह्मणा महान्); १०.१२०,५ (चोदयामि ते आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि)। यह भी वर्णन है कि स्तोता (तथा साथ ही साथ देवगण भी) इन्द्र के हाथ में वज्र रखकर उसकी प्रभावकता में सहायता करते हैं : १.६३,२ (आ ते वज्रं जरिता बाह्वोर् धात्), २.२०,८ (तस्मै तवस्यम् अनु दायि सत्रा इन्द्राय देवेभिर् अर्णसातौ। प्रति यद् अस्य वज्रम् बाह्वोर् धुर् हत्वी दस्यून् पुरः आयसीर् नि तारीत्); ३.३२,१२ (यज्ञस् ते वज्रम् अहिहत्ये आवत्)। अन्य देवों को भी इन्द्र को दिव्य शक्ति से युक्त करनेवाला कहा गया है[171] : १.८०,१५ (तस्मिन् नृम्णम् उत क्रतुं देवाः अजांसि सम् दधुः); ६.२०,२ (दिवो न तुभ्यम् अनु इन्द्र सत्रा असुर्यं देवेभिर् धायि विश्वम्);[172] १०.४८,३ (मयि देवासो अवृजन्न् अपि क्रतुम्); १०.११३,८; १०.१२०,३, तुकी० १०.५४,४; ८.१५,८ (तव द्यौर् इन्द्र पौंस्यम् पृथिवी वर्धति श्रवः)। ये लोग इन्द्र को उनके रथ में भी बैठाते हैं : १.५५,३ (विश्वस्मै उग्रः कर्मणे पुरोहितः); १.१३१,१ (इन्द्रं विश्वे सजोषसो देवासो दधिरे पुरः); ६.१७,८ (अध त्वा विश्वे पुरः इन्द्र देवाः एक तवसं दधिरे भराय); ८.१२,२२ (इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुर, देखिये २५वां मंत्र भी)। तुलना कीजिये तैत्ति० ब्रा० २.८,३,८; तैत्ति० सं० २.२,११,६, और अवे० ७.८४,२ (अपानुदो जनम् अमित्रायन्तम् उरुं देवेभ्यो अकृणोर् उ लोकम्)। मरुद्गण इन्हें प्रेरित और वर्द्धित करते हैं : ३.३२,४ (येभिर् वृत्रस्य इषितो विवेद अमर्मणो मन्यमानस्य मर्म); ३.३५,९ (यान् आभजो मरुतः इन्द्र सोमे ये त्वाम् अवर्धन्न् अभवन् गणस् ते); ३.४७,३ (यान् आभजो मरुतो ये त्वाऽन्व् अहन् वृत्रम् अदधुस् तुभ्यम् ओजः। देखिये मंत्र ४ भी); ५.१७,११; ८.७,२४; १०.७३,१.२; १०.११३,३ (विश्वे ते अत्र मरुतः सह त्मना अवर्धन्न् उग्र महिमानम् इन्द्रियम्)।[173] बृहस्पति को साथ लेकर इन्द्र ने देवों के सभी शत्रुओं को परा-

---

[171] इन्द्र को भी अन्य देवो को दिव्य शक्ति प्रदान करनेवाला कहा गया है (६-३६,१ : यद् देवेषु धारयथा. असुर्यम्)।

[172] सायण 'देवेभि' से स्तोता का अर्थ ग्रहण करते हैं : "स्तोत्रैः स्तूयमाना देवता बलवती भवति"।

[173] फिर भी, मरुतो के साथ एक विवाद (इस विषय पर मैं आगे मरुतो के विवेचन के समय पुन लौटूंगा) में इन्द्र यह कहते हैं कि उन्होंने अपने ही पराक्रम से वृत्र का वध किया है : १.१६५,८; वधीम् वृत्रम् मरुतः इन्द्रियेन

जित कर दिया (८.८५,१५ : विशो अदेवीर् अभि आचरन्तीर् बृहस्पतिना युजा इन्द्रः ससाहे)।

स्वेन भामेन तविषो बभूवान्। तुकी० ७.२१,६, जहाँ स्तोता ने भी इन्द्र के सम्बन्ध में यही बात कही है : स्वेन हि वृत्रं शवसा जघन्थ न शत्रुर् अन्तम् विविदद् युधाते; और १०.१३८,६ : एता त्याते श्रुत्यानि केवला यद एक: एकम् अकृणोर् अयज्ञम्। तुलना कीजिये ८.७९.५; ८.८६,९; ८.८७,३। ५.३०,५ में कहा गया है कि सभी देवता इन्द्र से भयभीत रहते हैं (अतस् चिद् इन्द्राद् अभयन्त देवा.)। एक अन्य स्थान (८.७,३१) पर भी मरुतो से यह पूछा गया है : "इन्द्र को छोड़ने पर तुमने क्या पाया; तुम्हारी मित्रता में कौन विश्राम करेगा" (कद् ह नूनम् कधप्रियो यद् इन्द्रम् अजहातन। को वः सखित्वे ओहते)। प्रो० मूलर (ऋग्वेद १, पृ० ६८) "कधप्रियः" को दो शब्द मानते हुये इस मन्त्र का यह अनुवाद करते हैं : "तब अब क्या ? अब जब तुमने इन्द्र को छोड दिया है तब कोई मित्र कहाँ रह गया ? तुम्हारी मित्रता की कौन परवाह करता है ?" तुलना कीजिये ४.१८,११ (जिसे ऊपर उद्घृत किया जा चुका है) जहाँ इन्द्र की माता यह शिकायत करती है कि देवगण उसके पुत्र को छोड रहे हैं और विष्णु से पराक्रम दिखाने का आग्रह करती है। किन्तु, दूसरी ओर, एक अन्य स्थान (८.८५,७) पर यह कहा गया है कि इन्द्र के साथ के सभी देवता वृत्र के श्वास के वेग को सुनकर इन्द्र का साथ छोडकर भाग भये किन्तु मरुद्गण दृढ़तापूर्वक डटे रहे क्योंकि इन्द्र से कहा गया है कि वह मरुतो को मित्र बनाकर समस्त शत्रुसेना को पराजित करे (वृत्रस्य त्वा श्वसथाद् ईषमाणाः विश्वे देवाः अजहुर् ये सखायः। मरुद्भिर् इन्द्र सख्यं ते अस्तु अथ इमाः विश्वाः पृतनाः जयासि)। फिर भी, भाष्यकार ८.७,३१ की एक भिन्न व्याख्या करता हुआ यह अर्थ करता है : "तुमने कब इन्द्र का साथ छोडा ? अर्थात् कभी नही", और ऐतरेय ब्राह्मण ३.२० को उद्घृत करता है जो यह कहता है कि मरुतो ने इन्द्र का साथ नही छोडा। मैं इस स्थल को सायण की अपेक्षा और अधिक विस्तार से उद्धृत करूंगा क्योंकि यह अभी ऊपर उद्धृत स्थल पर एक टीका प्रतीत होता है : ८.८५,७ : "इन्द्रो वै वृत्र हनिष्यन् सर्वा. देवताः अब्रवीद् अनु मा उपतिष्ठध्वम् उप मा आह्वयध्वम्" इति। "तथा" इति। त हनिष्यन्तः आद्रवन्। सोऽवेद "मा वै हनिष्यन्तः आद्रवन्ति। हन्त इमान् भीषयै" इति। तान् अभि प्राश्वसीत्। तस्य श्वसथाद् ईषमाणाः विश्वे देवाः अद्रवत्। मरुतो ह एन न अजहुः "प्रहर भगवो जहि वीरयस्व" इत्येव एनम् एता वाच वदन्तः उपातिष्ठन्त। तद् एतद् ऋषिः पश्यन्न् अभ्यनूवाच।...इति। सोऽवेद् "इमे वै किल मे सचिवाः।

इस प्रकार आह्लादित और प्रोत्साहित (२.१५,१ : त्रिकद्रुकेषु अपिबत् सुतस्य अस्यमदे अहिम् इन्द्रो जघान् ; २.१९,२ : अस्य मन्दानो मध्वो

इमे मा कामयन्त । हन्त इमान् असिमन्न् उक्थे आभजे" इति ।" ऋग्वेद १.३२,१४, में यह कहा गया है कि अहि का वध करने के बाद इन्द्र स्वयं भी भयभीत होकर निन्यानवे नदियो तथा अन्तरिक्षस्थानो को एक भयाक्रान्त श्येन की भाँति उड़ते हुये लाँघ गये थे (अहेर् यातारं कम् अपश्यः इन्द्र हृदि यत् ते जघ्नुषो भीर् अगच्छत् । नव च यद् नवतिं च स्रवन्तीः श्येनो न भीतो अतरो रजांसि) । तुलना कीजिये मुलर: ऐंसलि०, पृ० ५४७ । अश्विनो तथा सरस्वती को भी इन्द्र की सहायता करनेवाला कहा गया है (ऋग्वेद १० १३१,४.५ = वाज० स० १०.३३,३४) : "४. युवं सुरामम् अश्विना नमुचाव् आसुरे सचा । विपिपाना शुभस्पती इन्द्र कर्मसु आवतम् । ५. पुत्रम् इव पितरा अश्विना उभा इन्द्र आवथु. काव्यैर् दसनाभिः । यत् सुरामं वि अपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्न् अभिष्णक् ।" वाज० स० १०.३३ पर भाष्य करते हुये भाष्यकार ने इन पंक्तियो की व्याख्या के लिये एक कथा का उल्लेख किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि नमुचि इन्द्र का एक मित्र था, और अपने मित्र के विश्वास का लाभ लेकर उसने मदिरा तथा सोमपान के साथ इन्द्र की शक्ति का भी पान कर लिया । तब इन्द्र ने अश्विनो तथा सरस्वती को बताया कि नमुचि ने उनकी शक्ति का भी पान कर लिया है । फलस्वरूप अश्विनों तथा सरस्वती ने फेन के रूप में इन्द्र को एक वज्र दिया जिससे इन्द्र ने नमुचि का सर काट दिया । तब अश्विनो ने रक्त और मदिरा से मिश्रित सोम का नमुचि के उदर से पान किया तथा उसे पवित्र कर इन्द्र को दे दिया । इस प्रकार उन्होंने इन्द्र को मुक्ति दिलाई । यह कथा शतपथ ब्राह्मण (१२.७, ३.१ और बाद) से ली गई है । इस ब्राह्मण में यह इस प्रकार है : "इन्द्रस्य इन्द्रियम् अन्नस्य रस सोमस्य भक्ष सुरया आसुरो नमुचिर् अहरत् , सोऽश्विनो च सरस्वतीं च उपाधावत् "शेपानो स्मि नमुचये न त्वा दिवा न नक्त यहाति न दण्डेन न धन्वना न पृथेन न मुष्टिना न शुष्केण न आर्द्रेण अथ मे इदम् अहार्षीत् : इदम् मे आजिहीर्षथ" इति । तेऽब्रुवन्न् "अस्तु नोऽत्राप्य् अथ आहराम" इति । "सह न एतद् अथ आहरत" इत्य् अब्रवीद् इति । ताव् अश्विनो च सरस्वती च अपाम् फेन वज्रम् असिञ्चन् "न शुष्को न आर्द्रं." इति । तेन इन्द्रो नमुचेर् आसुरस्य व्युष्टायां रात्रौ अनुदिते आदित्ये "न दिवा न नक्तम्" इति शिरः उदवासयत् ।" तस्य शीर्षण् छिन्ने लोहित-मिश्रः सोमोऽतिष्ठत् । अबीभत्सन्त । एतद् अन्धसोर् विपानम् अपश्यन् "सोमो राजाऽमृतं सुतः" इति तेन एनम्

वज्रहस्तः अहिम् इन्द्रो अर्णोवृतं वि वृश्चत्; ६.४७,१-२; १०.११२,१ : इन्द्रो पिब प्रतिकामं सुतस्य··· । हर्षस्व हन्तवे शूर शत्रून्) । इन्द्र, मरुद्गणों के साथ, तथा कभी-कभी अपने विश्वासपात्र सखा विष्णु (१.२२,१९ : इन्द्रस्य युज्यो सखा; १.८५,७[१७४] : विष्णुर् यद् ह आवद् वृषणम् मदच्युतम्; ४.१८,११; ६.२०,२ : अहि यद् वृत्रम् अपो वव्रिवांसं हन्न् ऋजीषिन् विष्णुना सचानः; ८,८९,१२ : सखे विष्णो वितरां विक्रमस्व द्यौर् देहि लोकं वज्राय विष्कभे । हनाव वृत्रम् इत्यादि[१७५] ७.९९,४,५ :

स्वदयित्वा आत्मन् अदधत।" देखिये शतपथ ब्राह्मण १२.७,१,१०, और १२.८,३,१, जिसे वाज० सं० १९,१२ पर भाष्य करते हुये भाष्यकार ने उद्धृत किया है और जहाँ यह कहा गया है कि "देवो ने एक प्रतिकारात्मक यज्ञ किया; अश्विनगण देवभिषज् थे और उसी प्रकार सरस्वती भी वाणी से भिषज् थी : इन लोगो ने इन्द्र को बल प्रदान किया" : देवाः यज्ञम् अतन्वत भेषजम भिषजाऽश्विना । वाचा सरस्वती भिषग् इन्द्राय इन्द्रियाणि दधतः" देखिये १५.१८, ३४,८०–८३, ८८–९०, ९३, और ९५ श्लोक भी देखिये, देखिये खण्ड २०,५६–६९, ७३–७६,९० भी ।

[१७४] फिर भी वेनफे इस (१.८५,७) स्थल से इन्द्र नही सोम का सन्दर्भ मानते हैं ।

[१७५] तुलना कीजिये १.१५६,५; ६.१७,११; ८.१२,२७; ८.६६,१०; १०.११३,२ । इन स्थलो तथा कुछ पृथक् सूक्तों, जैसे १.१५५; ६.६९) पर इन्द्र और विष्णु सम्बद्ध हैं । इन्द्र और विष्णु के सम्बन्ध मे शतपथ ब्राह्मण (५.५,५,१ और बाद) में यह कथा मिलती है : "वृत्रे ह वै इदम् अग्रे सर्वम् आस यद् ऋचो यद् यजूंषि यत् सामानि । तस्मै इन्द्रो वज्रम् प्राजिहीर्षत् । २. स ह विष्णुम् उवाच "वृत्रस्य वै वज्रम् प्रहरिष्यामि । अनु मा तिष्ठस्व" इति । "तथा" इति ह विष्णुर् उवाच "अनु त्व स्थास्य प्रहर"; इति । तस्मै इन्द्रो वज्रम् उद्ययाम । स उद्यताद वज्राद् वृत्रो बिभयाञ्चकार । ३ स ह उवाच "अस्ति वै इदम् वीर्यम् । तद् नु ते प्रयच्छानि । मा तु मे प्रहार्षीर्" इति । तस्मै यजूंषि प्रायच्छत् । तस्मै द्वितीयम् उद्ययाम । ४. स ह उवाच "अस्ति वै इदं वीर्यं तद् नु ते प्रयच्छामि । मा तु मे प्रहार्षीर्" इति तस्मै ऋचः प्रायच्छत् । तस्मै तृतीयम् उद्ययाम । ५. [स ह उवाच] "अस्ति वै इदं वीर्यम् । तद् नु ते प्रयच्छानि । मा तु मे प्रहार्षीर्" इति । तस्मै सामानि प्रायच्छत् । ६···इन्द्रो हि वज्रम् उदयच्छद् विष्णुर् अन्यतिष्ठत ।" तैत्ति० सं० ६.५,१,१ में भी एक इसी समान कथा मिलती है । अनेक स्थलों (१.१०८,५,७.८; ३.१२,४,६; १०.६५,२) अग्नि को गर्जन

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्) अन्तरिक्ष की उन आक्रामक शक्तियों का सामना करने के लिये शीघ्रतापूर्वक जाते हैं जिन्होंने जलों को मेघों में छिपाकर रख दिया है। जल के इन दानवों का वृत्र[१७६], अहि, शुष्ण, नमुचि, पिप्रु, शम्बर, उरण इत्यादि विभिन्न नामों से उल्लेख किया गया है : १.१२१,९-१०; २ १४,४ और बाद; ८.३२,२-३। ये दानव भी अनेक प्रकार के दिव्य आयुधों से सज्जित हैं : १.३२,१३ (न अस्मै विद्युद् न तन्यतुः सिषेध न याम् मिहम् अकिरद् ह्रादुनी च)।[१७७] फिर भी ये देवों के उत्थान के प्रति विद्रोह में सफल नहीं हो पाते।[१७८] इन्द्र के वज्र के गिरने से आकाश और पृथिवी भय से कम्पित हो उठते हैं : १.८०,११ (इमे चित् तव मन्यवे वेपेते भियसा मही। यद् इन्द्र व[ज्रि]न्न ओजसा

करनेवाले, वृत्रहन्ता और पुरों को ध्वस्त करनेवाले इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है। एक स्थान (४ ४१,४) पर वरुण भी गर्जन करनेवाले इन्द्र के साथ सम्बद्ध हैं।

[१७६] इन्द्र ने वृत्र के साथ-साथ उसकी माता दनु का वध किया था। वध कर दिये जाने पर दनु उसी प्रकार वृत्र के ऊपर पड़ी थी जैसे एक गाय अपने बछडे पर (१ ३२,९ : नीचावया अभवद् वृत्रपुत्रा इन्द्रो अस्याः अव वधर् जभार। उत्तरा सूर् अधरः पुत्र आसीद् दानुः शये सहवत्सा न धेनु)। ऋग्वेद १० १२०,६ (= निरुक्त ११ २१) में सात दानुओं का उल्लेख है : "आदर्दते शवसा सप्त दानून्।" रॉथ अपने निरुक्त (पृ० १५०) मे इस स्थल पर यह टिप्पणी करते हैं : "सात एक अनिश्चित सख्या है जो अन्तरिक्ष और मेघमण्डल के दानवो के लिये व्यवहृत हुई है। ये दानव नमुचि, कुयव, शुष्ण, शम्बर, वर्चिन्, आदि नामो से वर्णित हैं। १,३२,९ मे इनकी एक 'दानु' नामक माता का उल्लेख है।" शतपथ ब्राह्मण १ ६.४,१८ कहता है कि इन्द्र सूर्य हैं और वृत्र चन्द्रमा (तद् वै एष एव इन्द्रो यः एष तपति। अथ एष एव वृत्रो यत् चन्द्रमा')।

[१७७] सायण इस पंक्ति से उन विद्युत आदि का अर्थ ग्रहण करते हैं जिसका वृत्र ने अपनी माया से इन्द्र को नष्ट करने के लिये निर्माण किया था (इन्द्रं निषेद्धुं वृत्रो यान् विद्युन् आदीन् मायया निर्मितवान् ते सर्वेऽप्य् एनम् निषेद्धुम् अशक्ता)।

[१७८] २ ३०,३ मे कहा गया है (सायण की व्याख्या के अनुसार) कि मेघ का परिधान धारण करके वृत्र इन्द्र पर झपटा किन्तु पराजित हो गया (मिहं वसान. उप हि ईम् अदुद्रोत्)।

वृत्रम् मरुत्वान् अवधीः । १४. अभिष्टने ते अद्रिवो यत् स्थाः जगात् च रेजते); २.११,९ (अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात् । १०. अरोरवीद् वृष्णो अस्य वज्रः); ६.१७,९ (अध द्यौश् चित् ते अप सा नु वज्राद् द्विताऽनमद् भियसा स्वस्य मन्योः)। यहाँ तक कि वज्रों के शिल्पी, त्वष्टा, भी इन्द्र के क्रोध से कम्पित हो उठते हैं : १.८०,१४ (त्वष्टा चित् तव मन्यवे इन्द्र वेविज्यते भिया)। इन्द्र अपने महान वज्र द्वारा शत्रुओं को शीघ्रता से बींध देते हैं : १.३२,५ (अहम् वृत्रं वृत्रतर व्यंशम् इन्द्रो वज्रेण महता वधेन । स्कन्धांसीव कुलिशेना विवृक्णा अहिः शयते उपपृक् पृथिव्याः); १.५६,६; १.६१,१०; २.१९,३; १०,८९,७ (जघान वृत्रं स्वधितिर् वनेव) । वज्र की ध्वनि मात्र से शत्रु हत हो जाते हैं : ६.२७,४ (एतत् त्यत् ते इन्द्रियम् अचेति येनावधीर् वरशिखस्य शेषः । वज्रस्य यत् ते निहतस्य शुष्मात् स्वनात् चिद् इन्द्र परमो ददार); ८.६,१३ (यद् अस्य मन्युर् अध्वनीद् वि वृत्रम् पर्वशो रुजन् । अपः समुद्रम् ऐरयत्)। दानवों के बन्दीगृहों से मुक्त जल वर्षा के रूप में पृथिवी पर आते हैं और नदियों को जल से पूर्ण करते हुए समुद्र में मिल जाते हैं : १.३२,२ (वाश्रा: इव धेनवः स्यन्दमानाः अञ्जः समुद्रम् अव जग्मुर् आपः । १२. अवासृजः सर्त्तवे सप्तसिन्धून्); १.५७,६; १.६१,१०; १.१०३,२ (वज्रेण हत्वा निर् अपः ससर्ज); २.११,२; २.१२,१२; २.१४,२; २.१५,३ (वज्रेण खानि अतृणनद्ऽनदीनाम्); २.१९,३ (इन्द्रो अर्णो अपाम् प्रैरयद् अहिहाऽच्छ समुद्रम्); ३.२२,६; ४.१६,१; ५.३२,१ (अदर्दर् उत्सम् असृजो वि खानित्वम् अर्णवान् बद्बधानान् अरम्णाः । महान्तम् इन्द्र पर्वतं वि यद् वः सृजो वि धाराः अव दानवं हन्); ६.३०,४; ८.६५,३; १०.१३३,२ । आकाश को आच्छन्न करनेवाला अन्धकार विसर्जित हो गया और आकाश में सूर्य को पुनः अपना स्थान प्राप्त हो गया। १.३२,४; १.५१,४ (वृत्रं यद् इन्द्र शवसा अवधीर् अहिम् आद् इत् सूर्यं दिवि आरोहयो दृशे)[१७१]

[१७१] अन्तिम शब्द से सायण यह अर्थ निकालते हैं कि इन्द्र ने वृत्र द्वारा छिपा दिये गये सूर्य को मुक्त किया (वृत्रेण आवृतं सूर्यं तस्माद् वृत्राद् अमूमुचः)। १.३२४ और २.१९,३ यह कहा गया है कि इन्द्र ने सूर्य को उत्पन्न किया, जिसका केवल दृष्टिगोचर करना नही बल्कि एक वास्तविक सृजन अर्थ हो सकता है । १०.८९,२ मे इन्द्र को सूर्य के साथ समीकृत किया गया, प्रतीत होता है (स सूर्यः) जिन्होंने अपने प्रकाश से काले अन्धकर को नष्ट किया (कृष्णा तमा सि त्विष्या जघान)।

१.५२,८; (आपछथाः बाह्वोर् वज्रम् आयसम् अधारयो दिवि आ सूर्यं दृशे),[१७९] २.१९,३। इन भौतिक संघर्षों के ऋग्वेद में प्रायः नित्य ही सन्दर्भ मिलते हैं। (१.४,८; १.३२,१ और बाद; १.५२,२ और बाद; १.५४,४ और बाद; १.८०, १ और बाद; १.१०३,२ और बाद; २.११,५ और बाद; ५.३२, १ और बाद; १०.८९,७; १०.११३; ६), और ये वर्णन अक्सर एक कल्पनात्मक अलंकरण से युक्त हैं। मेघों को पर्वत, अथवा नगर अथवा असुरों का पुर कहा गया है : २ १४,६ (यः शतं शम्बरस्य पुरो विभेद अश्मना इव पूर्वीः); ८.१७,१४ (भेत्ता पुरां शश्वतीनाम्); ८ ८७,६ (त्व हि शश्वतीनाम् इन्द्र दर्त्ता पुराम् असि)। इन पुरों को विविध प्रकार से कभी शारदीः (१.१३१,४; ६.२०,१०), संचरण करनेवाला (पुरं चरिष्णवम् , ८.१,२८), आयसी : (२ २०,८) अथवा 'अश्ममय; (शतम् अश्मन्मयीनाम् पुराम् इन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे, ४.३०,२०)।[१८०] असुरों के इन नगरों को इन्द्र नष्ट करते हैं (१ ५१,५; १.६३,७; १ १०३,३; १ १३०,७; १ १७४,८; २.१९,६; २.२०,७; ३ १२,६; ४ २६,३; ४.३०,१३; ८.८२,२; १०.८९,७)। अन्तरिक्ष पर्वतों पर अपने शत्रुओं को देखकर इन्द्र उन्हें नीचे फेंक देते हैं : १.३२,२ (अहन्न् अहिम् पर्वते शिश्रियाणम्); १.१३०,७ (अतिथिग्वाय शम्बरं गिरेर् उग्रो अवाभरत्); २ १२,११ (यः शम्बरम् पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरदि अन्वविन्दत्); ४.३०,१४ (उत दासम् कौलितरम् बृहतः पर्वताद् अधि। अवाहन्न् इन्द्रः शम्बरम्) ६.२६,५; अथवा जब ये आकाश में चढ़ना चाहते हैं तब इन्हें पुनः पीछे फेंक देते हैं : २.१२,१२ (यो रौहिणम् अस्फुरद् वज्र-बाहुर् द्याम् आरोहन्तम्); ८ १४,१४ (मायाभिर् उत्सिसृप्सतः इन्द्रो द्याम् आरुरुक्षतः। अव दस्यूंर् अधूनुथाः)। इनमें से एक को ये अपने पैरों से कुचलते हैं (१.५१,१ : अर्बुदं नि क्रमीः पदा) तथा हिम से भेदन करते हैं (८.३२,२६ : हिमेन अविध्यद् अर्बुदम्)। ये नमुचि के सर को जलों के फेन से काट डालते हैं[१८१] (८ १४,१३ : अपाम् फेनेन नमुचेः शिरः इन्द्र उदवर्तय.)। इनके एक विरोधी, उरण, को निन्यानवे भुजाओंवाला दैत्य कहा गया है (२.१४,४ : यः उरणं जघान नव चख्वांसं नवतिं च बाहून्); और एक अन्य शत्रु तीन सर तथा छः नेत्रोंवाला है (१०.९९,६ : स इद् दासम् तुविरवम् पतिर् दन् षळक्ष त्रिशीर्षाणम् दमन्यत्)।

---

[१८०] ये सम्भवत. पार्थिव नगर हो सकते हैं। आगे उद्धृत कुछ अन्य स्थलो पर उल्लिखित नगरों की दशा मे भी यही स्थिति हो सकती है।

[१८१] देखिये ऊपर एक टिप्पणी भी।

इस प्रकार वर्णित अधिकांश कल्पनाओं का विकास सर्वथा स्वाभाविक और सरलतापूर्वक बोधगम्य है, विशेषतः उन लोगों के लिये जो भारत में रह चुके हैं और जिन्होंने इस देश में ऋतुओं के घटनाचक्रों को देखा है। लम्बी ग्रीष्म ऋतु के अन्त में, जब सभी को पृथिवी को सिंचित और वायुमण्डल को ठण्डा करनेवाले वर्षा की प्रतीक्षा होती है, तब अक्सर आकाश में प्रतिदिन मेघों को बिना वर्षा किये ही आकाश में इधर से उधर जाते हुये देखकर अत्यन्त निराशा होती है।[१८२] उन आरम्भिक युगों में, जब वैदिक सूक्तों की रचना हुई थी, यह कल्पना कि सूखे और तृषित खेतों पर वर्षा न होने के पीछे कोई न कोई दुष्ट शक्ति कार्य कर रही है, वैदिक कवियों की सामान्य धारणाओं के सर्वथा अनुकूल ही रही होगी। इस दुष्ट शक्ति तथा बाद में इसे पराभूत करनेवाली उपकारक शक्ति का मूर्तीकरण, तब, एक स्वाभाविक अगला कदम ही था। इस प्रकार, इन्द्र एक साथ ही एक भयंकर योद्धा और एक दयालु मित्र, एक ऐसे देवता हैं जिनके कुलिश एक ओर तो अपने शत्रुओं को नष्ट करते हैं और अपने स्तोताओं को समृद्धि तथा मुक्ति दिलाते हैं। गर्जन और विद्युत की घटनायें प्रायः अनिवार्य रूप से दो विरोधी शक्तियों के बीच संघर्ष के विचार का संकेत करती हैं। यहाँ तक कि हम लोग, अपने अपेक्षाकृत शुष्क युग में भूतों के बीच युद्ध या संघर्ष की चर्चा करते हैं: आकाश के अन्य दृश्य भी, कल्पनात्मक चित्रण के लिये पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। स्तोता किसी समय मेघों के विचित्र आकारों को अपने देवों के रथों[१८३] और अश्वों के रूप में ग्रहण कर सकता है और कभी इनके एक साथ घनीभूत और पंक्तिबद्ध आकारों में उन नगरों और पुरों का दर्शन कर सकता है जिन्हें इन्द्र नष्ट करने के लिये आगे बढ़ते हैं।

(५) इन्द्र की महानता

ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर इन्द्र के उच्चतम दिव्य गुणों और कार्यों का उल्लेख मिलता है। ऐसे स्थलों का एक उल्लेखनीय संग्रह प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग में देखा जा सकता है। यहाँ मैं कुछ और स्थलों को उद्धृत कर रहा हूँ :

---

[१८२] ८. ६, १ में इन्द्र की पर्जन्य से तुलना, और इसीलिये विभेद भी किया गया है : महान् इन्द्रो यः ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमान् इव स्तोमैर् वत्सस्य वावृधे। ८.८२,१४ में इन्हे सूर्य के साथ समीकृत किया गया है।

[१८३] तुकी० साम १०४,३; इसिया: १९,१; डेनियल ७,१३; मैथ्यू० २४,३०;२६,६४; हवक्कुक ३,८; ग्रील : हरक्यूल/एट केकस, १७१ और बाद।

१.६१,१४ : अस्य इदु उ भिया गिरयश् च दृळ्हाः द्यावा च भूमा जनुषस् तुजेते। "जन्म लेने पर उनके भय से स्थिर पर्वत, और आकाश तथा पृथिवी भयभीत होते हैं।"

१.१००,१···महो दिवः पृथिव्याश् च सम्राट्।···१५. न यस्य देवाः देवता न मर्त्ताः आपश् चन शवसो अन्तम् आपुः। "महान आकाश तथा पृथिवी का सम्राट्···१५. जिसकी शक्ति की सीमा को न तो अपनी दिव्य अन्तर्दृष्टि द्वारा देवता और न तो मनुष्य अथवा जल ही देख सके हैं।"[१८४]

१.१०१,५ : यो विश्वस्य जगतः प्राणतस् पतिः। "वह (इन्द्र) जो सम्पूर्ण गतिशील और जीवित प्राणियों का अधिपति है", इत्यादि।

१.१६५,९ : अनुत्तम् आ ते मघवन् नकिर् नु न त्वावान् अस्ति देवता विदानः। न जायमानो नशते न जातो यानि करिष्या कृणुहि प्रवृद्ध। "तुम्हारे द्वारा कुछ भी अविजित नहीं है। देवों में भी तुम्हारे जैसा कोई नहीं। कोई भी जिसने जन्म लिया है या लेगा, तुम्हारी समता नहीं कर सकता। हे महान् देवता! तुम जो चाहते हो वह करो। (तुकी० ४.१८,४)।

१.१७३,६ : प्र यदु इत्था महिना नृभ्यो अस्ति अरं रोदसी कक्ष्ये न अस्मै। "यतः इन्द्र मनुष्यों के लिये इतने श्रेष्ठ हैं कि आकाश और पृथिवी उनके कटिबन्ध के लिये भी पर्याप्त नहीं है", इत्यादि।

२.१७,५ : स प्राचीनान् पर्वतन् दृंहदु ओजसा अधराचीनम् अकरोदु अपाम् अपः। अधारयत् पृथिवीं विश्वधायसम् अस्तभ्नादु मायया द्याम अवस्रसः। "उसने अपने ओज से प्राचीन पर्वतों को दृढ़ किया है; उसने जलों को नीचे गिरने की क्रिया को आरम्भ कराया है। उसने विश्वधाय पृथिवी को स्तम्भित किया है। अपनी माया से उसने आकाश को गिरने से रोक रक्खा है।"

२.३०.५ (ऊपर उद्धृत): "हे मघवन्! जब तुमने उन दोनों असीम लोकों को पकड़ा तब वे भी तुम्हारी मुट्ठी में ही आ गये।"[१८५]

३.३४,२। इन्द्र क्षितीनाम् असि मानुषीनां विशाम् दैवीनाम् असि पूर्वयावा। "इन्द्र! तुम मनुष्यों और दिव्य लोगों के नायक हो।" ७. युधेन्द्रो मह्ना वरिवश् चकार देवेभ्यः। "युद्ध में उसने अपनी शक्ति से देवों के लिये धन अर्जित किया है।"

---

[१८४] ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट में बेनफे का अनुवाद, २.५१८।

[१८५] तुकी इसिया: ४०.१२।

३.४६,२ : एको विश्वस्य भुवनस्य राजा। ३. प्र मात्राभिः रिरिचे रोचमानः प्र देवेभिर् विश्वतो अप्रतीतः। प्र मज्मना दिवः इन्द्रः पृथिव्याः प्र उरोर् महो अन्तरिक्षाद् ऋजीषी। "केवल तुम ! जो सम्पूर्ण विश्व के राजा हो।...३. प्रकाशित इन्द्र समस्त मात्राओं को पार कर गये हैं। ये हर प्रकार से समतारहित हैं। इन्होंने देवों को भी पिछाड़ दिया है। ये वेगवान देवता महानता में आकाश तथा पृथिवी, और चौड़े तथा विशाल अन्तरिक्ष से भी आगे हैं।"

४.१७,२ : तव त्विषो जनिमन् रेजत द्यौः रेजद् भूमिर् भियसा स्वस्य मन्योः। "हे वैभवशाली ! तुम्हारे जन्म के समय आकाश कम्पित हो उठा और भूमि तुम्हारे क्रोध के भय से काँप उठी", इत्यादि (तुकी० ४.२२,३.४)।

४.१८,४ : नहि नु अस्य प्रतिमानम् अस्ति अन्तर् जातेषु उत ये जनित्वाः। "जिन्होंने जन्म लिया है और जो जन्म लेंगे उनमें कोई भी इनके समान नहीं है।

५.३०,५ : परो यत् त्वम् परमः आजानिष्ठाः परावति श्रुत्यं नाम बिभ्रत्। अतश् चिद् इन्द्राद् अभयन्त देवाः। "हे उच्चतम और श्रेष्ठतम, तुम्हारे नाम की कीर्ति दूर-दूर तक फैली है। जब तुमने जन्म लिया तब देव-गण तुमसे (इन्द्र से) भयभीत हुये," इत्यादि।

५.४२,६ : मरुत्वतो अप्रतीतस्य जिष्णोर् अजूर्यतः प्र ब्रवाम कृतानि। न ते पूर्वे मघवन् न अपरासो न वीर्यं नूतनः कश् चन आप। "आओ हम अप्रतिम, विजेता, अनश्वर और मरुतों द्वारा सेवित देवता के कर्मों का गायन करें। न तो किसी पूर्व प्राणी ने, न किसी अपर प्राणी ने, और न किसी नूतन प्राणी ने तुम्हारी वीरता को प्राप्त किया है।"[१८८]

६.२४,८ : न वीळवे नमते न स्थिराय न शर्धते दस्युजूताय स्तवान्। अज्राः इन्द्रस्य गिरयश् चिद् ऋष्वाः गम्भीरे चिद् भवति गाधम् अस्मै। "स्तुति करने पर वह न तो शक्तिशाली के आगे झुकता है और न दस्युओं अथवा दुष्टों के आगे। उच्च होते हुये भी पर्वत इन्द्र के लिये मैदान हैं, और जो कुछ गहन है इन्द्र उसका तल ढूँढ़ लेते हैं।" तुकी० ८.८९,१०।

६.३०,१ (ऊपर उद्धृत) : "इन्द्र आकाश और पृथिवी का अतिक्रमण

---

[१८८] ८.७०.३ में यह कहा गया है कि एक भयंकर वृषभ की ही भाँति इन्द्र को भी, जब वह उदार होना चाहें तो, न तो देवता रोक सकते हैं और न मनुष्य (न त्वा शूर देवाः न मर्तासो दित्सन्तम् भीमं न गा वारयन्ते)।

करते हैं। दोनों लोक उसके केवल आधे के ही बराबर हैं।" (तुकी० १०.११९,७)।

६.३०,५ : राजाऽभवो जगतश् चर्षणीनां साकं सूर्यं जनयन् द्याम् उषासम्। "तुम सूर्य, स्वर्ग, और उषा को एक समय में ही प्रकाशित करनेवाले अखिल विश्व के स्वामी हो"। (तुकी० ३.४९,४)।

८.६,१५ : न द्यावः इन्द्रम् ओजसा न अन्तरिक्षाणि वज्रिणम्। न वि व्यचन्त भूमयः। "न तो आकाश, न अन्तरिक्ष, और न पृथिवी ही वज्रिन् इन्द्र की शक्ति की समता कर सकते हैं।"

८.१२,३० : यदा सूर्यम् अमुं दिवि शुक्रं ज्योतिर् अधारयः। आद् इत् ते विश्वे भुवनानि येमिरे। "जब तुमने (इन्द्र ने) एक श्वेत ज्योति, सूर्य, को दूर आकाश में स्थित किया तब अखिल विश्व ने तुम्हारे समक्ष समर्पण कर दिया" (तुकी० ६.३०,२)।

८.१४,९ : इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे। "इन्द्र ने ही आकाश के प्रकाशों को स्थापित और दृढ़ किया है। जो स्थापित हैं उन्हें वह हटाते नहीं।"

८.१५,२ : यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दधार रोदसी। गिरीन् अज्रान्। अपः स्वर् वृषत्वना। "इन्द्र का प्रशंसनीय पराक्रम आकाश-पृथिवी को धारण करता है। वह शीघ्रगामी मेघ तथा गतिशील जल को अपने पराक्रम से ही धारण करते हैं।"

८.५१.७ : विश्वे ते इन्द्र वीर्यं देवाः अनु क्रतुं ददुः। "हे इन्द्र! सभी देवता शक्ति और वीरता में तुम्हारे अधीन हैं।"

८.७८,२ : देवास् ते इन्द्र सख्याय येमिरे। "हे इन्द्र! देवों ने तुम्हारे सख्यत्व की कामना की।" (तुकी० ८.८७,३)।

८.८२,५ : यद् वा प्रवृद्ध सत्पते "न मरै" इति मन्यसे। उतो तत् सत्यम् इत् तव। "हे देवों के शक्तिशाली अधिपति! तुम जिसकी इच्छा करते हो, अर्थात् "मैं नहीं मारूँगा", वह सत्य होता है।" (तुकी० १०.८६, ११, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है)।

८.८५,४ : मन्ये त्वा यज्ञियं यज्ञियानाम् मन्ये त्वा च्यवनम् अच्युतानाम्। मन्ये त्वा सत्वनाम् इन्द्र केतुम् मन्ये त्वा वृषभं चर्षणीनाम्। ...६. तम् उ ष्टवाम यः इमा जजान विश्वा जातानि अवराणि अस्मात्। ...९. अनयुधासो असुराः अदेवाश् चक्रेण तान् अप वप ऋजीपिन्। "हे इन्द्र! मैं तुम्हें स्तुत्यों में सबसे अधिक स्तुत्य, अच्युत को

च्युत करनेवाला,[१८७] जीवित प्राणियों में सबसे विशिष्ट, तथा प्राणी में प्रधान मानता हूँ।...६ हम उस इन्द्र की स्तुति करें जिसने इन लोकों को उत्पन्न किया; सभी प्राणी उससे हीन हैं।...९. असुरगण आयुधरहित और अदेव हैं: तुम अपने चक्र से उन्हें दूर भगाओ।" (तुकी० ६ १८,१०) जहाँ यह कहा गया है कि अपनी अशनि ने इन्द्र राक्षसों को उसी प्रकार भस्म करते हैं जैसे सूखे वन को अग्नि : अग्निर् न शुष्कं वनम् इन्द्र हेती रक्षो नि धक्षि अशनिर् न भीमा।

८.८६,१४ : त्वद् विश्वानि भुवनानि वज्रिन् द्यावा रेजेते पृथिवी च भीषा। "हे वज्रिन्! अखिल विश्व आकाश और पृथिवी दोनों ही तुम्हारे भय से काँपते हैं।"

१०.४४,८ : गिरीन् अज्रान् रेजमानान् अधारयद् द्यौः क्रन्दद् अन्तरिक्षाणि कोपयत्। "उसने कम्पित पर्वतों और मैदानों को धारण किया: आकाश ने क्रन्दन किया; उसने अन्तरिक्ष को हिलाया।" इत्यादि। (तुकी० २.१२,२)।

१०.५४,१ : तां सु ते कीर्त्तिम् मघवन् महित्वा यत् त्वा भीते रोदसी अह्वयेताम्। प्रावो देवान्।... २. यद् अचरस् तन्वा वावृधानो बलानि इन्द्र प्रब्रुवाणो। मायो इत् सा ते यानि युद्धानि आहुर् न अद्य शत्रुं न पुरा विवित्से। ३. कः उ नु ते महिमनः समस्य अस्मत् पूर्वे ऋषयो अन्तम् आपुः। यद् मातरं च पितरं च साकम् अजनयथास् तन्वाः स्वायाः। ६. यो अदधाज् ज्योतिषि ज्योतिर् अन्तर् यो असृजद् मधुना सम् मधूनि। "हे मघवन्! मैं तुम्हारी श्रेष्ठ महिमा को कहता हूं। भयभीत द्यावापृथिवी ने तुम्हारा आह्वान किया।... २. हे इन्द्र! तुम्हारा शत्रु कोई नहीं है। पहले भी कभी कोई शत्रु नहीं था। तुमने अपने देह को अधिक पुष्ट करके बल से सिद्ध होने वाले जिन कार्यों को पूर्ण किया था वे सब माया द्वारा ही पूर्ण हो जाते हैं। तुम्हारे सभी कार्य माया मात्र हैं। ३. हमारे पूर्व ऋषियों ने भी तुम्हारी माया का आदि-अन्त नहीं पाया। तुमने अपने माता-पिता रूप आकाश-पृथिवी को अपने देह से प्रगट किया है।[१८८] ६. उसने तेजोमय पदार्थों में ज्योति स्थापित की है; उसने मधुर पदार्थों को मधुरता प्रदान की है।"

१०.८९,४ : यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर् विष्वक् तस्तम्भ पृथिवीम् उत द्याम्। १०. इन्द्रो दिवः इन्द्रः ईशे पृथिव्याः इन्द्रो अपाम् इन्द्रः इत पर्वतानाम्। "(इन्द्र) जो अपनी शक्ति से पृथिवी और आकाश को

---

[१८७] मरुतो को भी ऐसी ही शक्ति से युक्त कहा गया है (१ ६४,३)

[१८८] देखिये ऊपर।

उसी प्रकार पृथक स्थापित रखता है जैसे धुरा रथ के दो पहियों को। इन्द्र आकाश पर शासन करते हैं; इन्द्र पृथिवी पर शासन करते हैं; इन्द्र जलों पर शासन करते हैं; इन्द्र पर्वतों पर शासन करते हैं", इत्यादि।

१०.१०२,१२ : त्वं विश्वस्य जगतश् चक्षुर् इन्द्रासि चक्षुपः। "हे इन्द्र! तुम समस्त देखनेवाले जगत के चक्षु हो।"

१०.१३८,६ : मासां विधानम् अदधाः अधि द्यवि त्वया विभिन्नम् भरति प्रधिम् पिता। "हे इन्द्र! तुमने स्वर्गलोक में मासों की गति निर्धारित की है : पिता (आकाश) के व्यास को तुमने विभक्त किया है।"

कुछ स्थानों (४.१९,२; ४.२१,१०) पर इन्द्र को सम्राट अथवा सार्वभौम सम्राट और कुछ अन्य स्थानों (३.४६,१; ३.४९,२; ८०.२२,२; ८.१२,१४) पर 'स्वराट्', कहा गया है। ८.६,४१ में इन्हें "ऋषिर् हि पूर्वजाः असि एकः ईशानः ओजसा" कहा गया है। १.१७४,१; ८.७९,६ पर इन्हें "असुर" कहा गया है।

उपरोक्त स्थल उस भाषा का एक सतोषजनक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमें इन्द्र की सूक्तों में सर्वसामान्य रूप से प्रशस्ति की गई है। यह देखा जा सकता है कि इन्द्र पर आरोपित गुण प्रमुखतः दैहिक श्रेष्ठता तथा बाह्य जगत् पर शासन करने से सम्बद्ध हैं। वास्तव में इन्द्र उस आध्यात्मिक उच्चता और नैतिक महिमा से युक्त नहीं हैं जिससे वरुण को अक्सर संयुक्त किया गया है।

(६) अपने स्तोताओं के साथ इन्द्र का सम्बन्ध

फिर भी, अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें अपने स्तोताओं के साथ इन्द्र के घनिष्ठ सम्बन्ध का वर्णन है और कुछ ऐसे भी हैं जिनमें इनको एक नैतिक चरित्र भी प्रदान किया गया है। निम्नलिखित स्थलों पर इनमें आस्था प्रगट की गई है :

१.५५,५ : अध चन श्रद् दधति त्विषीमते इन्द्राय वज्रं निघनिघ्नते वधम्। "जब इन्द्र अपने विनाशकारी वज्र का पुनः पुनः प्रक्षेपण करते हैं तब मनुष्यों को इनमें आस्था होती है।"

१.१०२,२ : अस्मे सूर्या-चन्द्रमसा अभिचक्षे श्रद्धे कम् इन्द्र चरतो वितर्तुरम्। "हे इन्द्र! सूर्य और चन्द्रमा बारी-बारी से गतिमान होते हैं जिससे हम उन्हें देख सकें और आश्वस्त हो सकें।"

१.१०३,५ : तद् अस्य इदम् पश्यत भूरि पुष्टम् श्रद् इन्द्रस्य धत्तन वीर्याय। "उनकी महती प्रचुरता को देखो और इन्द्र की वीरता में विश्वास रखो।"

१.१०४,६ : मा अन्तराम् भुजम् आ रिरिषो नः श्रद्धितं ते महते इन्द्रियाय। ७. अध मन्ये श्रत् ते अस्मै अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय। ६. "हमारे भावी उत्पादन को क्षति न पहुँचाओ : हमें तुम्हारी महती शक्ति में विश्वास है। ७. हमें पूर्ण विश्वास है कि तुममें आस्था रक्खी गई है : हे शक्तिशाली देवता! हमें प्रचुर धन की ओर प्रेरित करो।"

१.१०८,६ : यद् अब्रवम् प्रथमं वां वृणानो अयम् सोमो असुरैर् नो विहव्यः। तां सत्याम् श्रद्धाम् अभि आ हि यातम् अथ सोमस्य पिबतं सुतस्य। "हे इन्द्र–अग्नि! मेरा संकल्प था कि मैं तुम दोनों को वरण कर सोम से तृप्त करूँगा। तुम मेरी हार्दिक श्रद्धा पर ध्यान देकर पधारो। इस निष्पन्न सोम का पान करो।"[१८९]

६.२८,५ : इन्द्रः याः गावः स जनासः इन्द्रः इच्छामि इद् हृदा मनसा चिद् इन्द्रम्। "हे मनुष्यों! ये गायें इन्द्र हैं : मैं हृदय और आत्मा से इन्द्र की इच्छा करता हूँ।"

९.११३,२ में स्तोता के सत्य, आस्था, और तप का वर्णन है : ऋतवाकेन सत्येन श्रद्धया तपसा सुतः इन्द्राय इन्दो परिस्रव। "ऋतवाक्यों से, सत्य से, श्रद्धा से, तप से, हे सोम तुम इन्द्र के लिये प्रवाहित होवो।"

१०.१६०,३ : यः उशत मनसा सोमम् अस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति। न गाः इन्द्रस् तस्य पराददात् इत्यादि। "जो यजमान निर्लिप्त भाव से और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अपनी हार्दिक भावना द्वारा इन्द्र के निमित्त सोम का निष्पीडन करता है उस देवोपासक की गौओं को इन्द्र क्षीण नहीं करते।"

और इनके अस्तित्व तथा शक्ति की सत्यता को निम्नलिखित स्थलों पर इनके प्रति अनास्था तथा सन्देहों का विरोध करते हुये व्यक्त किया गया है।

२.१२,५ : य स्म पृच्छन्ति कुह सेति घोरम् उत ईम् आहुर् न एषो अस्ति इति एनम्। सो अर्यः पुष्टीर् विजः इव[१९०] आमिनाति श्रद् अस्मै धत्त स जनासः इन्द्रः। "जिनके सम्बन्ध में लोग जिज्ञासा करते हैं कि "वह कहाँ है" और जिनको लोग कहते हैं कि "वह नहीं है", जो शत्रुओं के धन को शासक के समान छीन लेते हैं, वे इन्द्र हैं।"

६.१८,३ : अस्ति स्विद् नु वीर्यं तत् ते इन्द्र न स्विद् अस्ति तद्

---

[१९०] सायण ने "विजः इव" शब्दों की "उद्वेजकः एव सन्" के रूप में व्याख्या की है।

ऋतुथा वि वोचः। ४. सद् इद् हि ते तुविजातस्य मन्ये सहः सहिष्ठ। "हे इन्द्र! क्या यह तुम्हारा ही वीर्य है, अथवा नहीं है? हमें सच-सच बताओ। ४. हे प्राणियों में सबसे शक्तिशाली! तुम प्रकृति से महान हो; तुम्हारे बल का अस्तित्व सचमुच है।"

८.८९,३: प्र सु स्तोमम् भरत वाजयन्तः इन्द्राय सत्यं यदि सत्यम् अस्ति। "न इन्द्रो अस्ति" इति नेमः उ त्वः आह कः ईं ददर्श कम् अभि स्तवाम। ४. अयम् अस्मि जरितः पश्य मेह विश्वा जातानि अभि अस्मि मह्ना। "३. यदि इन्द्र का वास्तव में अस्तित्व है तो अन्न की कामना से इन्द्र को एक स्तोत्र, एक सत्य स्तोत्र समर्पित करो। कुछ कहते हैं कि 'इन्द्र नहीं हैं। उन्हें किसने देखा है? हम किसकी स्तुति करें?' हे स्तोता (इन्द्र कहते हैं)! 'मैं यहाँ हूँ; मुझे यहाँ देखो। महानता में मैं सब प्राणियों से महान हूँ'।"

वर्तमान स्तोताओं के भी इन्द्र उसी प्रकार सखा, यहाँ तक कि भ्राता हैं, जैसे उनके पूर्वजों के थे: २.१८,६; २ २०,३; ३.५३,५ (आ च याहि इन्द्र भ्रातः), ४.१७,१८; ४.२३,६; ६.१८ (प्रत्नं सख्यम); ६.२१,५ (इदा हि ते वेविषतः पुराजाः प्रत्नासः आसुः पुरुकृत् सख्याः)[१११] ८ (त्वं हि आपि. प्रदिवि पितॄणां शश्वद् बभूथ); ६.४५,१.७; ७.२१,९; ८.४,७; ८.४५, १ और बाद; १६.१८; ८.५०,११; ८.५७,११ (यस्य ते स्वादु सख्य स्वाद्वी प्रणीतिः); ८.८१,३३; ८ ८२,३; ८.८६,७; ८.८९, २; १०.२२,१ और बाद; १०.२३,७ (मा किर् नः एना सख्या वि यौषुस् तव च इन्द्र विमदस्य च ऋषे.); १०.४२,११ (इन्द्रः पुरस्ताद् उत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु)। इन्द्र हविदाताओं में से ही अपने घनिष्ठ व्यक्ति का चयन करते हैं और जो हवि नहीं देते उनके साथ किसी भी प्रकार की मित्रता की इच्छा नहीं रखते: १०.४२,४ (अत्र युजं कृणुते यो हविष्मान् न असुन्वता सख्यं वष्टि शूरः)। इन्हें यह स्मरण दिलाया गया है कि ये सखाओं से युक्त हैं किन्तु इनके स्तोता मित्ररहित: ८.२१,४ (वयं हि त्वा बन्धुमन्तम् अबन्धवो। विप्रासः इन्द्र येमिम)। ये न केवल मित्र हैं वरन् पिता, और अत्यन्त पितृवत् पिता भी हैं: ४.१७,१७ (सखा पिता पितृतमः पितॄणाम्)। इसी रूप में मनुष्य इनका आवाहन करते हैं: १०.४८,१ (मां हवन्ते पितरं न जन्तवः; तुकी० १.१०४,९, और ७.३२, ३,२६)। ये माता और पिता दोनों हैं: ८.९८,११ (त्वं हि नः पिता वसो

[१११] प्रस्तुत ग्रन्थ का तृतीय भाग भी देखिये।

त्वम् माता शतक्रतो बभूविथ; तुकी० ८.१,६)। एक स्थान (८.८१,३२) पर स्तुतिकर्ता कवि यह कहता है : त्वम् अस्माकं तव स्मसि। ये निर्धनों के सहायक हैं (८.६९,३ : रध्रचोदनम्); एक मात्र सहायक जिनका स्तोता आश्रय लेते हैं (वही १ : न हि अन्यम् बलाऽकरम् मर्डितारम्)। देवों में अकेले इन्हीं को मर्त्यों से प्रेम है : ७.२३,५ (एको देवत्रा दयसे हि मर्त्यान्)। यही मर्त्यों के सहायक हैं : १.८४,१८ (न त्वद् अन्यो मघवन्न् अस्ति मर्डिता इन्द्र ब्रवीमि ते वचः। ८.५५,१३ : न हि त्वद् अन्यः पुरुहूत कश्चन मघवन्न् अस्ति मर्डिता)। इनके लाभों से सभी मनुष्य लाभ पाते हैं : ८.५४,७ (यत् चिद् हि शश्वतां असि इन्द्र साधारणस् त्वम्)। ये अपने उपासकों के मुक्तिकर्ता और वक्ता (८.८५,२० : न प्राविता मघवा नोऽधिवक्ता) और उनके बल हैं (७.३१,५ : त्वे अपि क्रतुर् मम)। ये एक पुर के समान हैं (८.६९,७ : इन्द्र दृह्यस्व पूर् असि)। इनका मित्र न तो कभी मारा जाता है और न पराजित होता है (१०.१५२, १ : न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन)।[१९२] रक्षा के लिये इनकी शक्तिशाली भुजाओं का आश्रय किया जाता है। ६.४७,८ : ऋष्वा ते इन्द्रा स्थविरस्य बाहू उप स्तेयाम शरणा बृहन्ता)। इनका एक ऐसे शक्तिशाली रक्षक और मुक्तिदाता के रूप में आवाहन है जो सरलता से प्रसन्न होते हैं (वही ११ : त्रातारम् इन्द्रम् अवितारम् इन्द्रं हवे हवे सुहवं शूरम् इन्द्रम्)। स्तोता यह मानते हैं कि दूर रहते हुये भी इन्द्र बहरे नहीं हैं, बल्कि स्तोताओं के आवाहनों को सुनते हैं (८.४५,१७ : उत त्वा अबधिरं वयं श्रुत्कर्णं सन्तम् ऊतये। दूराद् इव हवामहे)। स्तोता धन के लिये इनका दाहिना हाथ पकड़ता है (१०.४७,१ : जगृम्भ ते दक्षिणम् इन्द्र हस्तं वसूयवो वसुपते वसूनाम्)। हृदय से उच्चरित स्तोताओं की प्रेमपूर्ण स्तुतियाँ दूतों के समान जाकर इनके हृदय का स्पर्श करती हैं : १०.४७,७ (वनीवानो मम दूतास इन्द्रं स्तोमाश् चरन्ति सुमतीर् इयानाः। हृदिस्पृशो मनसा वच्यमानाः)। अपने सूक्त से आवाहन करनेवाला कवि इनके परिधान के निचले भाग को उसी प्रकार पकड़ता है जैसे कोई पुत्र अपने पिता के परिधान को (३.५३,२ : पितुर् न पुत्रः

[१९२] मित्र के लिये (३.५९,२) और मरुतों के लिये (५.५४, ७) भी यही कहा गया है। तुकी० ७.२०,६; ७.३२,१४; ८.१६,५; ८.५२,११, ८.६९,४ में इनकी स्तोताओं के रथ की रक्षा करने के लिये स्तुति की गई है (इन्द्र—प्रनो रथम् अव पश्चात् चित् सन्तम् 'अद्रिवः। पुरस्ताद् एनम् में कृधि तुकी० ५ और ६ श्लोक)। देखिये २.२७,१२ भी।

सिचम् आरभे ते इन्द्र स्वादिष्ठया गिरा शचीवः)। अपने मनीषि भक्तों के सूक्तों द्वारा यह उसी प्रकार आलिंगित होते हैं जैसे एक पति अपनी प्रिय पत्नियों द्वारा (१.६२,११ : पतिं न पत्नीर् उशतीर् उशन्तम् स्पृशन्ति त्वा शवसावन मनीषाः। १.१८६,७ : तम् ईं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्त। १०.४३,१ : अच्छ मे इन्द्रम् मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर् विश्वाः उशतीर् अनूषत। परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिम् मर्यं शुन्ध्युम् मघवानम् ऊतये। तुकी० २.१६,९)।[१९३] सूक्त इनके पास दौड़ कर जाते हैं और इनको उसी प्रकार चाटते हैं जैसे गौयें अपने बछड़ों को (१०.११९,४ : उप मा मतिर् अस्थित वाश्रा पुत्रम् इव प्रियम्। १.१८६, ७ : उत नः ईम् मतयो अश्वयोगाः शिशुं न गावस् तरुणं रिहन्ति)। इनसे आग्रह किया गया है कि ये पुरोहित की भाँति सुस्त न हों (८,८१, ३० : मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर् भव वाजानान् पते)। इनसे यह भी निवेदन किया गया है कि ये सोम से सन्तुष्ट करनेवाले हविर्दाता के घर आते समय अन्य स्तोताओं द्वारा अपने घोड़ों को बन्दी न बनाने दें बल्कि उन बन्धनों को कूद जाँय जिनसे सभी अन्य आवेदक इसी प्रकार इन्हें बन्दी बनाकर इनकी कृपा प्राप्त करना चाहते हैं जैसे बहेलिये पक्षी को (२.१८,३ : मो सु त्वाम् अत्र बहवो हि विप्राः नि रीरमन् यजमानासो अन्ये। ३.२५,५ : मा ते हरी वृषणा वीतपृष्ठा नि रीरमन् यजमानासो अन्ये। अति आयाहि शश्वतो वयं ते अरं सुतेभिः कृणवाम सोमैः। ३.४५,१ : आ मन्द्रैर् इन्द्र हरिभिर् याहि मयूररोमभिः। मा त्वा केचिन् नि यमन् विं न पाशिनः अति धन्व इव तान् इहि। १०.१६०,१ : तीव्रस्य अभिवयसः अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च। इन्द्र मा त्वा यजमानासः अन्ये नि रीरमन् तुभ्यम् इमे सुतासः)। ये गतिशील वस्तुओं के, मनुष्यों के तथा सभी पार्थिव वस्तुओं के राजा हैं; और अपनी इस प्रचुरता से ये अपने हविर्दाताओं को धन देते हैं (७.२७,३ : इन्द्रो राजा जगतश् चर्षणीनाम् अधि क्षमि विषुरूपम् यद् अस्ति। ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद् राधः उपस्तुतश् चिद् अर्वाक्)। इनके दोनों ही हाथ सम्पत्तियों से पूर्ण हैं (७.३७,३ः उभा ते पूर्णा वसुना गभस्ती)। ये धनों से परिपूर्ण कोश हैं जिनकी स्तोता उदार होने के लिये स्तुति करते हैं (१०.४२,२ : कोशं न पूर्णं वसुना निऋष्टम् आ च्यावय मघदेयाय शूरम्)। जिस प्रकार किसी वृक्ष से शाखायें निकलती

[१९३] ७.१०४,६ में स्तुति करता है कि—उसका यह सूक्त इन्द्र और सोम के चारो ओर उसी प्रकार लिपट जाय जिस प्रकार एक पट्टा घोड़े को जकड़ लेता है (परि वाम् भूतु विश्वतः इयम् मतिः कक्ष्याऽश्वेव वाजिना)।

हैं उसी प्रकार इनसे भी अनेक सहायतायें निकलती हैं (६.२४,३ : वृक्षस्य नु ते पुरुहूत वयाः वि ऊतयो रुरुहुर् इन्द्र पूर्वीः)। जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी अंकुश द्वारा किसी वृक्ष से पके फल हिलाता है उसी प्रकार इनसे भी स्तोता पर सतोपकारक धनों की वर्षा करने का आग्रह किया गया है (३.४५,४ : वृक्षम् पक्वम् फलम् अंकी इव धूनुहि इन्द्र सम्पारणं वसु)। तुकी० १.९७,५३। जिस प्रकार किसी भयंकर वृषभ को रोका नहीं जा सकता उसी प्रकार जब ये उदारता के लिये तत्पर होते हैं तब इन्हें भी न कोई देवता रोक सकता है और न मनुष्य ही (८.७०,३ न हि त्वा शूर देवाः न मर्तासो दित्सन्तम्। भीमं न गां वारयन्ते)। तुकी० ८.३३,८ और ४.१६,४। इनकी मित्रता अनश्वर है : इनसे गोकामी के लिये गौ तथा अश्वकामी के लिये अश्व होने की प्रार्थना की गई है (६.४५,२६ : दूणाश सख्यं तव गौर् असि वीर गव्यते। अश्वो अश्वायते भव)। पत्नीविहीनों को ये पत्नी प्रदान करते हैं (५.३१,२ : अमेनांश् चिज् जनिवतश् चकर्थ। ४.१७,१६ : जनियन्तो जनिदाम् अक्षितोतिम् आ च्यावयामः)। ये अपने निष्ठावान सेवकों और स्तोताओं को बहुपुरस्कृत करते हैं (१.१२,६ : यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः। १४ : यः सुन्वन्तम् अवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानम् ऊती। २.१९४ : सो अप्रतीनि मनवे पुरूणि इन्द्रो दाशद् दाशुषे। ७.२२,३ : दाता राधः स्तुवते काम्यं वसु)। जो व्यक्ति यह कहता है कि "आओ हम इन्द्र के निमित्त हवि दें" उसको उषा समृद्धि लाती है (५.३७,१ : तस्मै अमृध्राः उषसो वि उच्छान् यः "इन्द्राय सुनवाम" इत्य आह)। जिस राजा के घर में यह देवता दुग्धमिश्रित सोम का पान करता है उस पर कोई विपत्ति नहीं आती और वह अपने शत्रुओं को पददलित करता हुआ उनका वध करता है और सुख तथा शान्तिपूर्वक अपने घर में निवास करता है (वही, ४ : न स राजा व्यथते यस्मिन्न् इन्द्रस् तिव्रं सोमम् पिबति गोसखायम्। आ सत्वनैर् अजति हन्ति वृत्रं क्षेति क्षितीः सुभगो नाम पुष्यम्। तुकी० अगला मन्त्र भी)। इनका सखा सुन्दर, अश्व और गौओंवाला, और रथों से युक्त होता है; वह सम्पन्नता का जीवन व्यतीत करता है और सभा में प्रकाशित होकर जाता है (८.४,९ : अश्वी रथी सुरूपः इद् गोमान् इद् इन्द्र ते सखा। श्वात्रभाजा[१९४] वयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभाम् उप)। पवित्र मनुष्य के, चाहे वह विद्वान् हो या अविद्वान्, स्तोत्रों से इन्द्र हर्षित होते हैं (८.५०,९ : अविप्रो वा यद्

[१९४] "श्वात्र" को भारतीय लेखकों द्वारा प्रदत्त आशय के विषय पर देखिये जएसो० १८६६, पृ० ३७८ में वेदों की व्याख्या के विषय में मेरा लेख।

अविधद् विप्रो वा इन्द्र ते वचः। स प्र मन्दत् त्वाया। तुकी० ८.८१, १२)। आज, कल, उसके बाद के दिन तथा प्रतिदिन, रात और दिन दोनों समय मुक्ति प्रदान करने के लिये इनकी स्तुति की गई है (८.५०,१७: अद्य अद्य श्व' श्वः इन्द्र त्रास्व परे च नः। विश्वा च नो जरितॄन् सत्पते अहा दिवा नक्तं च रक्षिषः। तुकी० ८.५३,६)। फिर भी कभी-कभी एक भोंडे ढंग से इस देवता से उदारता में अधिक शीघ्रता करने के लिये कहा गया है (४.२१,९: भद्रा ते हस्ता सुकृतोत पाणी प्रयन्तारा स्तुवते राधः इन्द्र। का ते निषत्तिः किम् उ नो ममत्सि किम् न उद् उ हर्षसे दातवे उ)। पुनः १०.४२,३ में इनसे पूछा गया है: "हे सम्पन्न देवता! लोग तुम्हें उदार क्यों कहते हैं? मुझे तीक्ष्ण करो, क्योंकि मैंने सुना है तुम तीक्ष्ण करनेवाले हो; मेरा स्तोत्र उत्पादक हो। हे शक्तिशाली देवता! मुझे सौभाग्य और धन दो" (किम् अंग त्वा मघवन् भोजम् आहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि। अप्नस्वती मम धीर् अस्तु शक्र वसुविदम् भगम् इन्द्र आभर नः)। इन्द्र देवता से यहाँ तक कहा गया है कि यदि कवि उसके स्थान पर होता, तथा यदि कवि के पास भी वह प्रचुर साधन होते जो उसके पास हैं, तो कवि इन्द्र से अधिक उदार होता और अपने स्तोता को निर्धनता में छोड़ने की अपेक्षा उसे प्रतिदिन गौ और अन्य सम्पत्तियों से सम्पन्न करता रहता (७.३२,१८: यद् इन्द्र यावतस् त्वम् एतावद् अहम् ईशीय। स्तोतारम् इद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय १९. शिक्षेयम् इन् महयते दिवे दिवे रायः आ कुहचिद्विदे।[195] ८.१४,१: यद् इन्द्र अहम् यथा त्वम् ईशीय

[195] इन मंत्रों तथा इनके सम्पूर्ण सूक्त का प्रो० मैक्समूलर ने अपने ऐ०लि० (पृ० ५४३ और बाद) में अनुवाद किया है। 'कुहचिद्विदे' शब्द का आपने 'वह जिसके लिये भी हो' अनुवाद करते हुये एक टिप्पणी में यह कहा है कि भाष्यकार के अनुसार 'कुहचिद्विद्' का अर्थ "वह जहाँ कहीं भी हो" है। प्रो० मुलर इतना और कहते हैं कि सम्भवतः इसका अर्थ अनभिज्ञ भी हो सकता है। अपनी व्याख्या में प्रो० रॉथ सायण का अनुसरण करते हैं। ८.१९,२५ में एक ऐसी ही प्रार्थना अग्नि से की गई है: "यद् अग्ने मर्त्यस् त्वं स्याम् अहम् मित्रमहो अमर्त्यः। सहसः सूनव् आहुत। न त्वा रासीय अभिशस्तये वसो न पापत्वाय सन्त्य। न मे स्तोता अमतीवा न दुर्हितः स्याद् अग्ने न पापया।" "हे अग्ने! तुम बल के पुत्र, घृत द्वारा आहूत, एवं सुन्दर तेज वाले हो। मैं मरणधर्मा मनुष्य तुम्हारी उपासना करता हुआ तुम्हारे समान ही अमरत्व प्राप्त करूँ।" और पुनः, ८.४४,२३ में इसी देवता को इस प्रकार सम्बोधित

वस्वः एकः इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात्। शिक्षेयम अस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यद् अहं गोपतिः स्याम्)।

इन्द्र कवच प्रदान करते हैं और रथ में बैठकर युद्ध करने में कुशल हैं (७.३१,१ : त्वं वर्म सप्रथः पुरोयोधश् च वृत्रहन्। त्वया प्रतिब्रुवे युजा)। हर प्रकार की सांसारिक सम्पत्तियों, जैसे गोधन, अश्व, रथ, स्वास्थ्य, प्रज्ञा, सुस्वादु वाणी (स्वाद्मानं वाचः), सम्पन्नता के दिन, शतायुष्य आदि के लिये इनकी प्रार्थना की गई है (२.२१,६; ३.३१,१०; ७ २७,५; १०.४५,१ और बाद)। ४.३२,१७ और बाद में स्तोता और विस्तार से अपनी आकांक्षाओं को व्यक्त करते हुये इन्द्र से एक सहस्र सन्नद्ध घोड़े, सहस्र घट सोम, सैकड़ों, हजारों, गौयें, आदि प्रदान करने के लिये कहता है। स्तोता यह स्वीकार करता है कि उसने दस सुवर्ण कलश प्राप्त किये हैं और इस देवता से कहता है कि वह स्तोता का परित्याग न करके अपने स्वभावानुसार प्रचुरता से प्रदान करता रहे (सहस्रं व्यतीनां युक्तानाम् इन्द्रम् ईमहे। शतं सोमस्य खार्यः। १८. सहस्रा ते शता वयं गवाम् आ च्यावयामसि। अस्मत्रा राधः एतु ते। १९. दश ते कलशानां हिरण्यानाम् अधीमहि। भूरिदाः असि वृत्रहन्। २० भूरिदाः भूरि देहि नो मा दभ्रम् भूरि आ भर। भूरि घ इद् इन्द्र दित्ससि। २१. भूरिदाः हि असि श्रुतः पुरुत्रा शूर वृत्रहन्। आ नो भजस्व रोधसि)। अन्य वरदानों के रूप में इन्द्र से युद्ध में विजय माँगी गई है जो इनकी इच्छा पर ही निर्भर है और जिसके लिये दोनों ही युद्धरत पक्ष इनका आवाहन करते हैं (२.१२,८ : यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परे अवरे उभयाः अमित्राः। ९. यस्माद् न ऋते विज-

---

किया गया : "यद् अग्ने स्याम् अहं त्वम् त्वं वा घ स्याः अहम्। स्युस् ते सत्याः इहाशिषः" "हे अग्ने ! यदि मैं तुम होता और तुम मैं, तो तुम्हारे आशीर्वाद सफल होते।" ८ १९,२५ में एक शब्द 'मित्रमहस्" आता है जो सायण के व्याख्या की अनिश्चितता को व्यक्त करता है। सायण इसकी "अनुकूलदीप्तिमान्" व्याख्या करते हैं। १.४४,११ में ये इसी की "मित्राणाम् पूजक" ;१.५८,८ मे "अनुकूल—दीप्तम्" ; २.१.५ में "हितकारी-तेजः"; ६,२,११ में "अनुकूले दीप्ते"; ६.५,४ में "अनुकूल-दीप्ते मित्राणाम् मदयितर् वा"; ७ ५,६ मे "मित्राणाम् पूजयितः"; ८ ४४,१४ मे "मित्राणाम् पूजनीय"; ८.४९,७ मे "मित्राणाम् अस्माकम् पूजक तेजो वा", आदि अनुवाद करते हैं। प्रो० रॉथ के मत से इसका अर्थ "मित्रो से सम्पन्न" है। मैक्समूलर के ऋग्वेद के अनुवाद (पु० ६५,७० ओर बाद) जएसो० (१८६६, पु० ३७१, ३८१ ओर बाद) में वेद की व्याख्या के विषय पर मेरे लेख में १.३८,४.५ पर विवेचन देखिये।

यन्ते जनासः यं युध्यमानाः अवसे हवन्ते)। १०.१०३,८ और बाद (= सामवेद २.१२०६ और बाद; तथा वासं० १७.४० और बाद) में अन्य देवों के साथ इन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया गया है : ८. इन्द्रः आसाम् नेता बृहस्पतिर् दक्षिणा यज्ञः पुरः एतु सोमः। देवसेनानाम् अभिभञ्जतीनां जयन्तीनाम् मरुतो यन्तु अग्रम्। ९. इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञः आदित्यानाम् मरुता शर्धः उग्रम्। महामनसाम् भुवनच्यवानां घोषो देवानां जयताम् उद् अस्थात्। १०. उद् धर्षय मघवन्न् आयुधानि उत् सत्वनाम् मामकानाम् मनांसि। उद् वृत्रहन् वाजिनां वाजिनानि उद् रथानां जयतां यन्तु घोषाः। ११. अस्माकम् इन्द्र समृतेषु ध्वजेषु अस्माकम् याः इषवस् ताः जयन्तु। अस्माकं वीराः उत्तरे भवन्तु अस्मान् उ देवाः अवत हवेषु। १२. (= निरु० ९.३३) अमीषां चित्तम् प्रतिलोभयन्ती गृह्णाणा अंगानि अप्वे[१९६] परेहि। अभिप्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर् अन्धेनामित्रास् तमसा सचन्ताम्। "८. जिन सेनाओं की अध्यक्षता इन्द्र कर रहे हैं उन सेनाओं के दक्षिण ओर बृहस्पति रहें; यज्ञ में उपयुक्त सोम उनके साथी हों। शत्रुओं को डरानेवाली विजयवाहिनी देवसेनाओं के आगे विकरालकर्मा मरुद्गण चलें। ९. इन्द्र! जलवर्षक हैं इनके साथ ही वरुण, आदित्यगण, और मरुद्गण भी विकराल कर्मवाले हैं। जब सब देवता लोक को कम्पायमान कर उसे जीतने लगे तब सर्वत्र घोर कोलाहल होने लगा। १०. हे इन्द्र! अपने आयुधों को उठाओ। हमारे वीरों के मनों को उत्साह से पूर्ण कर दो। हमारे अश्व वेगवाले हों। विजयशील रथ से जयरूप ध्वनि प्रगट हो। ११. जब हम संग्राम के लिये पताका फहराते हैं तब इन्द्र हमारा पक्ष लेते है। हमारे बाण हमको विजयी करें। हमारे वीर विकराल कर्मवाले हों। हे देवगण! संग्राम में हमारे रक्षक होओ। १२. हे अप्वा[१९७]! तुम यहाँ से चले आओ! उन शत्रुओं के पास जाकर उन्हीं के हृदयों को लुभाओ। उनके शरीर में वास करो और उन्हें शोक के द्वारा दग्ध करो। वे घोर अन्धकार से भरी हुई रात्रि को प्राप्त हों।"[१९८]

---

[१९६] सामवेद में "अघे" पाठ है।

[१९७] 'अप्वा' का निरुक्त ९.१२ में "व्याधि या भय" (व्याधिर् वा भयं वा) अर्थ किया गया है। रॉथ (वस्या०) कहते हैं कि इसका अर्थ व्याधि है। अपने कोश के परिवर्धन में रॉथ इसे एक देवी का द्योतक मानते हुये इण्डि० स्टूडियन १.२०३ तथा ९४८२, में उद्धृत करते हैं।

[१९८] प्रो० बेनफे ने अपने सामवेद के अनुवाद में इस स्थल का अनुवाद किया है। तुली० अथर्ववेद ३.१९,६ और बाद, तथा ८.८,१ और बाद।

इन्द्र मनुष्यों के भाग्यों का नियन्त्रण करते हैं। ६.४७,१६ में इन्हें मन-माना कार्य करनेवाला कहते हुए इनके सम्बन्ध में यह कथन है : पादाव् इव प्रहरन्न् अन्यम् अन्यम् कृणोति पूर्वम् अपरं शचीभिः। १६. शृण्वे वीरः उग्रम् उग्रं दमायन् अन्यम् अन्ति नेनीयमानः। एधमान-द्विळ्उभयस्य राजा चोष्कूयते विशः इन्द्रो मनुष्यान्। १७. परा पूर्वेषां सख्या वृणक्ति वितर्तुराणो अपरेभिर् एति। "चलते समय अपने पैरों को गतिमान करने वाले की भाँति ही इन्द्र भी स्तोता को आगे पीछे रहनेवाला करते हैं। १६. इन्द्र शत्रु का दमन करते समय स्तोता के स्थान को परिवर्तित करते हैं। वे अपने पराक्रम के लिये प्रसिद्ध हैं। वे ऐश्वर्यवालों[१११] के शत्रु इन्द्र रक्षा के

[१११] "जो हवि नही देते" ऐसा सायण और यास्क कहते हैं। इस पंक्ति की रॉथ ने अपने निरुक्त (पृ० १०) में व्याख्या की है। अथवा क्या यहाँ हमें यह विचार मिलता है कि देवगण मनुष्यो की सम्पन्नता के प्रति ईर्ष्या रखते थे ? क्योंकि यह भाव यूनान में भी सुप्रचलित था और हिरोडोटस (३.४०) के कथन के अनुसार पोलीक्रेटीज को दिये गये अमेसिस के एक सदेश मे व्यक्त हुआ है : "किन्तु तुम्हारी अत्यधिक सम्पन्नता से मुझे प्रसन्नता नही हुई क्योकि मैं जानता हूँ कि देवता ईर्ष्यालु है।" देखिये श्री ब्लेक्सले की टिप्पणी, हिरोडोटस, १.३२ और ७.४६ में, जहाँ यही भाव आते हैं। प्रो० विलसन (ऋग्वेद का अनुवाद, ३रा भाग प्रस्तावना) इस स्थल पर यह टिप्पणी करते हैं : "इसी सूक्त मे इन्द्र को ईर्ष्यालु प्रकृति का व्यक्ति भी बताया गया है जो अपने स्तोताओ की उपेक्षा तथा नास्तिकों पर कृपा करता है। यह पहले व्यक्त इस सिद्धान्त से भिन्न है कि इन्द्र की उपासना से जघन्यतम अपराधो तक का परिमार्जन हो जाता है (पृ० २८९. टिप्पणी)"। किन्तु उपर्युक्त व्याख्या करने पर क्या यह निष्कर्ष ठीक सिद्ध होता है ? मन्त्र इस प्रकार है। "यस्य अवधीत् पितरं यस्य मातरं यस्य शक्रो भ्रातरं न अतः ईषते। वेति इद् उ अस्य प्रयता यतंकरो न किल्बिषाद् ईषते वस्वः आकरः।" "हे इन्द्र! तुम जिसके पिता, माता अथवा भ्राता को भी दण्ड देते हो उससे भी भयभीत नही होते और उसे सदैव नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न करते हो। अपने ऐश्वर्य को सब ओर से संग्रह करने में सफल इन्द्र पापी से भी भयभीत नही होते वरन् सदैव उसके नाश को ही प्रस्तुत रहते हैं।" सायण कहते हैं कि जिसके सम्बन्धियो का यह देवता वध करते हैं वह यज्ञों की उपेक्षा करनेवाला होता है जिसे दण्डित करने के बाद ये उस पर पुनः अनुग्रह करते हैं (अयज्वानं शिक्षयित्वा नियोजयति)। फिर भी, इन्द्र यदि केवल देवद्रोही को ही दण्डित करते हैं, तब क्या मन्त्र के अन्तिम चरण में प्रयुक्त 'किल्बिषात्' शब्द से यह उद्दिष्ट है कि ये अपराधी हैं ? सम्भवतः

निमित्त अपने उपासकों को बार-बार आश्वस्त करते हैं। १७. इन्द्र के तीन रूप पृथक् पृथक् प्रगट होते हैं। वे अनेक रूप धारण कर यजमानों के पास जाते हैं।"

निम्नलिखित मन्त्रों (८.४५,३२) में कवि इन्द्र की शक्ति के अपर्याप्त प्राकट्य पर असन्तोष-सा व्यक्त करते हुये भी इनकी कृपा तथा क्षमा की आकांक्षा करता है : दभ्रं चिद् हि त्वावतः कृतं शृण्वे अधि क्षमि। जिगातु इन्द्र ते मनः। ३३. तवेद् उ ताः सुकीर्त्तयः असन्न् उत प्रशस्तयः। यद् इन्द्र मृळयासि नः। ३४. मा न एकस्मिन्न् आगसि मा द्वयोर् उत तृषु। वधीर् मा शूर भूरिषु। ३५. बिभय हि त्वावतः उग्राद् अभिप्रभंगिनः। दस्माद् अहम् ऋतीषहः। "तुम जैसे हो वैसे किसी अन्य के द्वारा इस पृथिवी पर कुछ किये गये के सम्बन्ध में बहुत ज्ञात नहीं है : हे इन्द्र! तुम अपने मन को हमारे अनुकूल करो। ३३. हे इन्द्र! तुम्हारी वे प्रसिद्धियाँ और तुम्हारी वे स्तुतियाँ तुम्हारे द्वारा हम पर कृपा करने से सत्य सिद्ध हों। ३४. हे शूर! हमारे एक पाप के लिये, दो पापों के लिये, तीन पापों के लिये और अनेक पापों के लिये हमारा वध मत करो। ३५. हे इन्द्र! मैं तुम्हारे जैसे भयंकर, उग्र, विनाशक, हिंसाकर्मों का दमन करनेवाले, से भयभीत हूं।"[200] इन्द्र अधार्मिकों के शत्रु हैं और उन्हें नष्ट तथा दण्डित करते हैं : १.१३१,४ : शासस् तम् इन्द्र मर्त्यम् अयज्युम (हे इन्द्र! तुमने यज्ञ न करनेवाले को दण्डित किया है); २.१२,१० : यः शश्वतो मह्य् एनो दधानान् अमन्यमानान् शर्वा जघान (उसने अपने वज्र से उनका वध किया जो पापी थे और जो उसे नहीं मानते थे); ८.१४, १५ : असुन्वाम् इन्द्र संसद विषूचीं व्य् अनाशयः। सोमपा उत्तरो भवन्

इसका यही अर्थ है कि ये अपने अपराधी को दण्डित करने से भयभीत नहीं होते। सूक्त के ३,५ और ६ मन्त्र में हवि देनेवाले देवभीरु व्यक्ति को सम्पन्नता तथा अधार्मिक को इस देवता की अप्रसन्नता का पात्र कहा गया है।

[200] इस ३४ वें और बाद के मन्त्रों का प्रो० रॉथ (निरुक्त, ४.२, पृ० ३८) ने यह आशय दिया है : "कवि इन्द्र से यह प्रार्थना करता है कि वह उसके एक या अधिक पापों के लिये उसे नष्ट न करें। वह कहता है कि वह इस देवता जैसे शक्तिशाली से भयभीत है और प्रार्थना करता है कि यह देवता उसे मित्र या पुत्र के नाश से बचाये। तदनन्तर वह ३७ वें मन्त्र मे व्यक्त यह उत्तर देता है - इन्द्र ने कहा : 'हे मर्त्यो! बिना अपकार के किसने अपने मित्र का नाश किया है? हमसे किसे दूर रहना चाहिये?"

(हे इन्द्र ! तुम सोमपायी और सर्वश्रेष्ठ हो; तुमने उन संसदों का नाश किया है जहाँ हवियाँ नहीं दी जातीं)। (तुकी० जएसो, १८६६, पृ० २८६ और बाद में प्रकाशित मेरा वैदिक युग के पुरोहितों के विषय पर लेख)।[२०१] इन्द्र सबको देखते और सुनते हैं; ये स्वयं अनियन्त्रित रहकर मनुष्यों के क्रोध को देखते हैं (८.६७,५ : विश्वं शृणोति पश्यति । ६. स मन्युम् मर्त्यानाम् अदब्धो निचिकीषते)। ये अपने आस्थावान सेवकों की रक्षा करते हैं और उन्हें पर्याप्त स्थानों में ले जाकर दिव्य प्रकाश और सुरक्षा प्रदान करते हैं (६.४७,८ : उरु[२०२] नो लोकम् अनु नेषि विद्वान् स्वर्वज् ज्योतिर् अभयं स्वस्ति)। एक स्थान (८.५८,७) पर यह आशा व्यक्त की गई है कि स्तोता इनके साथ सौर क्षेत्र में आकर आवास प्राप्त करेंगे और वहाँ अपने इन मित्र के साथ इक्कीस वार अमृतपान करेंगे। (उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहम् इन्द्रश् च गन्वहि । मध्वः पीत्वो सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे)।

किसी भी अन्य देवता[२०३] की अपेक्षा इन्द्र का आर्यों के संरक्षक के रूप

---

[२०१] तुकी० ऋग्वेद ८.२१,१४ (=ससा० २.७४०): "नकिः रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति त्वा सुराश्वः । यदा कृणोषि नदनुं समूहसि आद् इत पितेव हूयसे", जिसका का प्रो० मूरर (ऐसंलि०, पृ० ५४३ और बाद) ने इस प्रकार अनुवाद किया है : "तुम किसी धनी व्यक्ति को कभी मित्र नही बनाते; मद्यप तुमसे घृणा करते हैं। किन्तु जब तुम गर्जन करते हो, जब (मेघो को) एकत्र करते हो, तब तुम्हें पिता कहते हैं।" बेनफे इस मन्त्र का एक भिन्न रूप से यह अनुवाद करते हैं : "जो केवल धनवान है उसे तुम कभी मित्र नही बनाते; जो मदमत्त है वह तुम्हारे लिये भारस्वरूप है; केवल घोष से ही तुम इनका वध कर देते हो; और तब तुम्हारी पिता के समान स्तुति की जाती है।"

[२०२] तुकी० ८.५७,१३ । अवे० ७.८४,२ में इन्द्र को शत्रुओ को भगानेवाला तथा देवो के लिये पर्याप्त स्थानों को खोलनेवाला कहा गया है (अपानुदो जनम् अमित्रायन्तम् उरुं देवेभ्यः अकृणोर् उ लोकम्)।

[२०३] फिर भी, आर्यों के रक्षको के रूप में अन्य देवो का भी उल्लेख है। १.११७,२१ (निरुक्त ६.२५) में अश्विनो के लिये यह कहा गया है : "अभि दस्युं बकुरेण आ धमन्ता उरु ज्योतिर् चक्रतुर् आर्याय"। "वज्र से दस्युओ को दूर भगाकर तुमने आर्यों के लिये महान् प्रकाश का सृजन किया है।" प्रो० रॉथ का विचार है कि "बकुर्" का अर्थ एक वायु-उपकरण है (निरुक्त पृ० ९२, और कोश, वस्था०)। प्रो० बेनफे इसका सायण का अनुसरण करते हुये वज्र अनुवाद करते हैं। ६.२१,११ में सभी देवो के लिये यही कहा गया है : "ये अग्निजिह्वाः ऋतसापः आसुर् ये मनुं चक्रुर् उपरं दसाय।" "वे अग्नि-

में, तथा पार्थिव और अन्तरिक्षीय शत्रुओं के विरुद्ध उनके रक्षक के रूप में आवाहन किया गया है (१.५१,८ : वि जानीहि आर्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धय शासद् अव्रतान्। शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वा इन सधमादेषु चाकन। "आर्यों और जो दास हैं, उनमें विभेद करो; निरंकुशों को हविदाताओं के अधीन करो; यज्ञ करनेवालों के शक्तिशाली सहायक बनो। तुम्हारे उत्सवों के समय मैं ये सभी वस्तुयें चाहता हूं।"[२०४]

१.१०३,३ : स जातुभर्मा[२०५] श्रद्दधान ओजः पुरो विभिन्दन्न् अचरद् वि दासीः। विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिम् अस्य आर्यं सहो वर्धय द्युम्नम् इन्द्र। "वज्र धारण किये हुये और अपने के प्रति आश्वस्त होकर वह आगे बढ़ा और दस्युओं के पुरों को ध्वस्त कर दिया। हे वज्रिन! जानते हुये दस्युओं पर अपने वज्र से प्रहार करो और आर्यों की शक्ति तथा वैभव का वर्धन करो।" १.१३०,८ : इन्द्रः समत्सु यजमानम् आर्यम् प्रावद् विश्वेषु शतमूतिर् आजिषु। "मनवे शासद् अव्रतान् त्वचं कृष्णाम् अरन्धयत्। "इन्द्रने अपने साधक आर्यों की अत्यन्त रक्षा की; उसने व्रतहीनों को दण्ड देकर काली त्वचावालों को मनु (अथवा आर्य) के अधीन किया।" २.११, १८ : अपावृणोर् ज्योतिर् आर्याय नि सव्यतः सादि दस्युर् इन्द्र। "तुमने आर्यों के लिये प्रकाश का उद्घाटन किया; दस्यु को बायें ओर रक्खा।" ३.३४,९ : ससान अत्यान् उत सूर्यं ससान ससान पुरुभोजसम् गाम्। हिरण्ययम् उत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्र आर्यं वर्णम् आवत्। "इन्द्र

जिह्व और धार्मिक कृत्यो मे आनेवाले देवता, जिन्होने मनु की सन्तान को दास से श्रेष्ठ बनाया।" ७.१००,४ में विष्णु के लिये यही कथन है : "वि चक्रमे पृथिवीम् एष एताम् क्षेत्राय विष्णुर् मनुषे दशस्यन्।" "इस विष्णु ने पृथिवी का अतिक्रमण करते हुये इसे मनु की सन्तानो को दे दिया।" और ८.९२,१ में अग्नि के लिये यह कहा गया है : "उपो षु जातम् आर्यस्य वर्धनम् अग्निं नक्षन्त नो गिरः।" "हमारे सूक्त उस अग्नि के पास पहुँच गये जिनका आर्यों के उत्थान के लिये जन्म हुआ है।"

[२०४] देखिये ओरियण्ट उण्ट आॅक्सीडेण्ट, १.४०८ में प्रो० बेनफे का अनुवाद।

[२०५] सायण कहते हैं कि इसका अर्थ यह है कि "वह जिसका आयुध वज्र है" अथवा "प्राणियों का पोषण करनेवाला"। बेनफे (ओरियण्ट उण्ट आॅक्सीडेण्ट १ ११२) इस यौगिक शब्द का "जन्मजात योद्धा" के अर्थ में अनुवाद करते हैं।

ने अश्व दिया है, सूर्य दिया है, बहुत गौ दिया है, सुवर्ण और धन दिया है : दस्युओं को नष्ट करते हुए उसने आर्य वर्ण की रक्षा की है।" ४.२६,२ : अहम् भूमिम् अददाम् आर्याय अहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। "मैंने आर्यों को भूमि दी है और मर्त्य स्तोता को वर्षा।" ६.१८,३ : त्वं ह नु त्यद् अदमायो दस्यून् एकः कृष्टीर् अवनोर् आर्याय। "तब तुमने दस्युओं को वश में करके आर्यों को दे दिया था।" ६.२५,२ : आभिर् विश्वाः अभियुजो विषूचर् आर्याय विशः अवतारीर् दासीः। "तुमने अपनी इन सहायताओं से समस्त हिंसक दस्युओं को आर्यों के अधीन किया था।" ८.२४,२७ : यः ऋक्षाद् अंहसो मुचद् यो वा आर्यात् योवा आर्यात सप्त सिन्धुषु। वधर् दासस्य तुविनृम्ण नीनमः। "हे महान् शक्ति के देवता! किसने बड़े संकुचित स्थानों से मुक्त किया था; सप्तसिन्धु देश में किसने आर्यों से दस्युओं के शस्त्रों को विमुख किया था।" ८.८७,६ : त्वं हि शश्वतीनाम् इन्द्रं दर्ता पुराम् असि। हन्ता दस्योर् मनोर् वृधः पतिर् दिवः। "हे इन्द्र! तुम असंख्य पुरियों के विनाशक, दस्युओं का वध करनेवाले, आर्यों का उत्थान करनेवाले, और दिव्यलोक के अधिपति हो।" १०,४९,२ : अहम् शुष्णस्य श्नथिता वधर् यम न यो ररे आर्यं नाम दस्यवे। "वध करनेवाले मैंने आर्य जाति को दस्युओं के अधीन नहीं होने दिया।" १०.८६,१९ : अयम् एमि विचाकशद् विचिन्वन् दासम् आर्यम्। "मैं आर्यों और दासों में विभेद करता हुआ और उनको देखता हुआ आता हूँ।" (फिर भी, यहाँ मैं यह कह सकने में असमर्थ हूँ कि वक्ता कौन है।[२०६]

---

[२०६] फिर भी ६.६० में इन्द्र और अग्नि की सभी शत्रुओं, आर्यों और दस्युओं, का वध करने के लिये स्तुति की गई है : हतो वृत्राणि आर्या हतो दासानि सप्तती। हतो विश्वा अप द्विष)। १०.३८,३ मे अकेले इन्द्र को ही इसी प्रकार सम्बोधित किया गया है : यो नो दासः आर्यो वा पुरुष्टुत अदेवः इन्द्र युधये चिकेतति। अस्माभिर् ते सुषहाः सन्तु शत्रवस् त्वया वयं तान् वनुयाम संगमे। और १०.१०२,३ में यह कथन है : अन्तर् यच्छ जिघांसतो वज्रम् इन्द्र अभिदासतः। दासस्य वा मघवन्न् आर्यस्य वा सनुतर् यवय वधम्। ७.८३,१ में इसी उद्देश्य से इन्द्र और वरुण का आवाहन किया गया है : दासा च वृत्रा हतम् आर्याणि च सुदासम् इन्द्रा-वरुणाऽवसाऽवतम्। इसी प्रकार १०.८३,१ में मन्यु की भी स्तुति है : साह्याम दासम् आर्यं त्वया युजा सहस्कृतेन सहसा सहस्वता। सम्भवतः २.११,१९ (सनेम येते ऊतिभिस तरन्तो विश्वाः स्पृधः आर्येण दस्यून्) का भी यही आशय है। १० ६५,११ में कुछ सुन्दर देवताओं की स्तुति, गो, अश्व, ओषधि, वृक्ष, पृथिवी, पर्वत, जल, आदि

(७) इन्द्र के उपरोक्त चित्रणों में कुछ प्रत्यक्ष असंगतियाँ

ऐसा पाठक जो मूल अथवा अनुवादों के रूप में वेद के सूक्तों से सुपरिचित नहीं है, यह विचार कर सकता है कि उपरोक्त चित्रणों के विभिन्न भागों में इस देवता सम्बन्धी धारणाओं में एक असंगति है। और हमारे विचार से भी, निःसन्देह असंगति है ही। कुछ स्थानों पर इन्द्र के चित्रण में उनके चरित्र के एक अस्पष्ट परिचय की अन्य स्थानों पर उनकी महानता विषयक उदात्त विचारों के साथ संगति नहीं है। विशेषतः वासनात्मक चरित्र, जो इस देवता पर सामान्य रूप से आरोपित किया गया है, उस नैतिक पूर्णता का विरोधी प्रतीत होता है जिसे अन्यत्र इसकी प्रकृति की अनिवार्य विशिष्टता कहा गया है। फिर भी, हमारे विचार से यह कितना भी असंगतिपूर्ण क्यों न हो, ये दोनों ही प्रस्तुतीकरण एक ही सूक्त में साथ साथ मिलते हैं; और हमें इनके सहअस्तित्व और परस्पर सन्निवेश की उस मान्यता के आधार पर पुष्टि करना चाहिये कि प्राचीन भारतीय कवि अपने द्वारा स्तुत्य इस देवता को एक उच्चतर रथ पर मूर्तीकृत रूप से उन सभी वासनात्मक, और साथ ही साथ, बौद्धिक तथा नैतिक धर्मों में भाग लेनेवाला मानते थे जो स्वय उन कवियों के स्वभाव की भी एक समान विशिष्टता थी। यह भी ध्यानार्ह है कि ये प्राचीन कवि के वासनात्मक व्यवहार को उन हेय विचारों के साथ सम्बद्ध नहीं करते थे जिनसे आज हम कर सकते हैं। वे इस देवता के चरित्र में इस प्रकार के व्यवहारों को उसके प्रिय आह्लादकारी पेय, सोम, के प्रति अतिशय प्रेम में व्यक्त मानते थे। यह, जैसा कि हम यहाँ आगे देखेंगे, इन कवियों द्वारा स्वयं सोम को ही एक ऐसे देवता के रूप में प्रदत्त उच्च पद द्वारा स्पष्ट है जिसमें इस मादक प्रभाव को मूर्तीकृत कर दिया गया है और जिसके प्रभाव से इस देवता द्वारा अपने उपासकों को अमरत्व प्रदान करनेवाला माना गया है।

और ये प्रत्यक्षतः असंगत धारणायें विकास के विभिन्न स्तरों पर भिन्न-भिन्न बुद्धियों की उत्पाद नहीं है। निम्नलिखित उद्धरणों से यह देखा जा सकता है कि ये एक ही कवियों के विचार हैं। २.१५,२ में यह कहा गया है

को उत्पन्न करनेवाला तथा सूर्य को आकाश में उठाने और आर्यों के व्रतों की स्थापना करनेवाला कहा गया है (ब्रह्मगाम् अश्वं जनयन्तः ओषधीर् वनस्पतीन् पृथिवीम् पर्वताँ अपः। सूर्यं दिवि रोहयन्तः सुदानवः आर्या व्रता विसृजन्तः अधि क्षमि)।

कि इन्द्र ने अपने कुछ महानतम कार्य सोमरस के प्रभाव के अन्तर्गत ही किये थे : अवशे द्याम् अस्तभायद् बृहन्तम् आ रोदसी अपृणद् अन्तरिक्षम् । स धारयद् पृथिवीम् पप्रथच्च सोमस्य ता मद इन्द्रश् चकार । "उसने आकाश को रिक्त स्थान में स्थित किया। उसने दोनों लोकों और अन्तरिक्ष को पूर्ण किया, उसने पृथिवी को धारण किया और उसे फैलाया। इन कार्यों को इन्द्र ने सोमपान से मदमस्त हो कर किया।" इसी प्रकार ८.३६,४ : जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः पिब सोमम् मदाय कं शतक्रतो । "दिव्य लोक के जनक, पृथिवी के जनक, अपने को मदमस्त करने के लिये सोमपान करो; हे शतक्रतु। ८.६७,५ में, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, इन्द्र को सब कुछ देखने और सुननेवाला कहा गया है। इसी सूक्त के सातवें मन्त्र में हमें यह बताया गया है कि इस तीव्रगामी नायक, वृत्रहन्ता और सोमपान करनेवाले का उदर शक्ति से परिपूर्ण है (क्रतवः इत् पूर्णम् उदरम् तुरस्य अस्ति विधतः । वृत्रघ्नः सोमपाव्नः) । और ८.८१,६ में इनके लिये यह कहा गया है : अस्य पीत्वा मदानां देवो देवस्य ओजसा । विश्वाऽभि भुवनाऽभवत् । "इस मादक देव (सोम) को पीकर एक देवता ने अपनी शक्ति से सम्पूर्ण भुवन को जीत लिया।"

(८) इन्द्र द्वारा वरुण की उपासना को दमित कर देने के सम्बन्ध मे प्रो० रॉथ का सिद्धान्त

प्रो० रॉथ का विचार है कि इन्द्र की अपेक्षा वरुण देवों के एक अपेक्षाकृत प्राचीनतर वंश के देवता हैं और यह कि वैदिक युग में मूलतः वरुण से संयुक्त उच्च विचार क्रमशः इन्द्र पर स्थानान्तरित हो गये। इस युग में वरुण की उपासना के ह्रासोन्मुख होने के सम्बन्ध में अपने विचारों की पुष्टि में आप इस परिस्थिति का आग्रह करते हैं कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल में, जो वैदिक युग की सबसे बाद की कृति है, वरुण को सम्बोधित एक भी सूक्त नहीं है।[१०७]

---

[१०७] देखिये जजओसो० ६.७३; बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में इन्द्र (वरुण) । प्रो० ह्विट्ने भी यही मत अपनाते हैं (जजओसो० ३.३२७) । विंडिशमैन मित्र के लिये भी यही मानते हैं । यद्यपि दसवें मण्डल में वरुण को सम्बोधित कोई सूक्त नही है। तथापि दो, आठ मन्त्रोवाला १२६ वाँ और तीन मन्त्रोंवाला १८५ वाँ, ऐसे हैं जिनमे इनका दो अन्य आदित्यो, मित्र और अर्यमा के साथ आवाहन है। वरुण का दसवें मण्डल के अनेक अलग-अलग मंत्रों में भी उल्लेख है, जैसे : ८,५; १०,६; ११,१; १२,८; १४,७; ३०,१; ३१,९;

मैं प्रो० रॉथ के रोचक विचारों का सारांश दे रहा हूँ।

रॉथ के विचार से एक देवता द्वारा दूसरे का दमन उस क्रमिक परिवर्तन का परिणाम है जो भारत में स्थापित होने के बाद प्राचीन आर्य-धर्म में होने लगा था। आपके विचार से इस धर्म के अपेक्षाकृत अधिक अतीन्द्रिक अथवा आध्यात्मिक तत्त्व उस पर्शियन मत में यद्यपि एक विशिष्ट तथा कुछ परिवर्तित रूप में सुरक्षित रहे जिसने साथ ही साथ उन प्राकृतिक शक्तियों को व्यक्त करनेवाले देवों को प्रायः सर्वथा अस्वीकृत कर दिया जिन्हें इसने एक पूर्वतर युग से प्राप्त किया था। इसके विपरीत, ऋग्वेद में उपलब्ध भारतीय धर्म ने, रॉथ के अनुसार, उक्त द्वितीय वर्ग के देवताओं को ही प्रमुखता देते हुये इन्हें उत्तरोत्तर उच्च मर्यादा तथा आदर से युक्त कर दिया। इस प्रकार, इसने प्रकृति में दिव्य जीवन का समावेश करके उसे मनुष्य के निकट ला दिया। इसका प्रमाण विशेषरूप से इन्द्र से सम्बद्ध पुराकथा के विकास में मिलता है। इन्द्र एक ऐसा देवता है जिसका आर्य धर्म के इतिहास के एक पूर्वतर काल में या तो कोई अस्तित्व नहीं था अथवा एक अस्पष्ट क्षेत्र तक ही सीमित था। जेन्द धर्म उन कार्यों को एक अन्य देवता से संयुक्त करता है जो इन्द्र से सम्बद्ध बाद की पुराकथा के सारभूत बन गये। फिर भी, यह देवता, त्रित, वैदिक युग के भारतीय पुराकथाशास्त्र में समाप्त हो गया है और इसके स्थान पर इन्द्र आ गये हैं। और स्थिति केवल ऐसी ही नहीं है। इस युग के अन्तिम चरण में इन्द्र प्राचीन मत के उच्चतम देवता, स्वयं वरुण तक को उस स्थान से अपदस्थ कर देता है जो अंशतः ऐतिहासिक शास्त्रों और अंशतः वरुण के चरित्र की धारणा मात्र के कारण उनके साथ संयुक्त है। इस प्रकार, अब वरुण के स्थान पर इन्द्र स्वय यदि सर्वोच्च देवता नहीं तो कम से कम एक राष्ट्रीय देवता अवश्य बन जाते हैं जिन्हें उनके उपासक प्राचीन वरुण से भी उच्च स्थान देने का प्रयास करते हैं। यह प्रक्रिया, जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा इस युग की अन्य कृतियों स्पष्ट है, वैदिकोत्तर काल में पूर्ण हो गई। इन्द्र भारतीय द्युलोक के प्रधान बन जाते हैं और अपनी इस स्थिति को उस संहत प्रणाली में भी सुरक्षित रखते हैं जिसने अपने अन्त-

---

३५,१०; ३६,१,३ १२,१३; ३७,१; ५१ २,४; ६१,१७, ६३,९; ६४ ५,१२; ६५,१.५ ८९; ६६,२; ७० ११; ७५,२; ८३,२, ८४,७; ८५,१७ २४; ८९,८०; ९; ९३,४; ९७,१६; ९८ १; ९९.१०; १०३,९; १०९,२; ११३,५; १२३,६· ११४.४५७, १२५,१; १३०,५; १३२,२; १४७,५; १६७,३; १७३,५। देखिये लैंग्लोई कि ऋग्वेद के फ्रेंच अनुवाद का इण्डेक्स भी।

र्गत तीन महान् देवताओं को ग्रहण कर लिया। इस प्रकार प्रगति की दिशा इस प्रकार है : एक प्राचीन देवता, जो आर्यों (पर्शियन और भारतीयों दोनों) के लिये और सम्भवतः सम्पूर्ण इण्डो-जर्मनिक जाति के लिये मान्य था, वरुण—ओरमुज्द—यूरेनोस था। यह देवता क्रमशः अन्धकार में ढकेल दिया गया और इसके स्थान पर इन्द्र, जो विशिष्टतः भारतीय और एक राष्ट्रीय देवता है, प्रतिष्ठित हो गया। वरुण के साथ ही साथ इस जाति का प्राचीन चरित्र भी लुप्त हो गया, जब कि इन्द्र के साथ प्रायः एक नवीन चरित्र का उसी स्तर पर समावेश कर दिया गया किन्तु यह देवता पूर्वग इण्डो-जर्मनिक प्रकृति के लिये अपरिचित था। इसके आन्तरिक पक्ष की दृष्टि से देखने पर आर्यों की धार्मिक धारणाओं का यह परिवर्तन मत के अतीन्द्रिक, रहस्यवादी पक्षको उस सीमा तक क्षीण करने की सतत बलवती प्रवृत्ति में निहित है जिसमें कि वे देवता, जो मूलतः उच्चतम और सर्वाधिक आध्यात्मिक थे, प्रकृति के अर्थरहित प्रतिनिधि बन कर रह गये—वरुण अब समुद्र के शासक के अतिरिक्त और कुछ नहीं, और आदित्यगण केवल सूर्य पथ के क्षेत्रपाल मात्र बन गये। ह्रास की इस प्रक्रिया ने स्वभावतः एक प्रतिक्रिया को उत्पन्न कर दिया (देखिये मज-ओमो० ६.७६ और बाद)।

इन्द्र की अपेक्षा वरुण की प्राचीनता की श्रेष्ठता का तर्क, निःसन्देह, वरुण के नाम के यूनानी 'यूरेनोस' के साथ सादृश्य के तथ्य के आधार पर भी प्रस्तुत किया जा सकता है, जो कुछ सीमा तक सिद्ध कर देता है कि इस नाम के एक देवता की सम्पूर्ण इण्डो जर्मनिक जाति द्वारा, अपनी पूर्वी शाखाओं के पश्चिमी से पृथक्करण के पूर्व, उपासना की जाती थी, जब कि इन्द्र के नाम का यूनानी पुराकथाशास्त्र में कोई भी चिह्न ढूँढ़ने का प्रयास निरर्थक है।

(९) प्रो० बेनफे और व्राल के अनुसार इन्द्र द्वारा द्यौस् का दमन

फिर भी, कुछ अन्य लेखकों का मत है कि इन्द्र वास्तव में वरुण की अपेक्षा द्यौस् के उत्तराधिकारी थे। इस प्रकार अपने ऋग्वेद १.३३,५ के अनुवाद (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट १.४८,१८६२) की एक टिप्पणी ('स्थातर' शब्द के स्पष्टीकरण के लिये) में प्रो० बेनफे यह लिखते हैं : "इस बात को स्पष्ट रूप से दिखाया जा सकता है कि इन्द्र ने द्युलोक के उस देवता का स्थान ग्रहण कर लिया जिसका वेदों में द्यौस्-पितर के रूप में आवाहन किया गया है (ऋग्वेद ६.५१,५)। यह इस तथ्य द्वारा सिद्ध होता है कि यह वाक्पद लैटिन (डीसपिटेर ? और द्यौसपिटेर के लिये जुपीटर) में और यूनानी 'ज्यू पाटेप

(जिसे फलस्वरूप 'ज्यूस पाटेप' के रूप में ग्रहण करना चाहिये) में, भाषाओं के पृथक्करण के पूर्व, अनेक अन्य सूत्रों की ही भांति एक निश्चित धार्मिक सूत्र के रूप में सर्वथा प्रतिबिम्बित होता है। जब संस्कृत भाषी लोगों ने उस समान देश को छोड़ा जहाँ उनके लिये तथा अन्य सजातीय जातियों के लिये दिव्य लोक की उज्ज्वलता (दिवन्त्, 'दिव्' अर्थात् द्युतिमान होना, से निर्मित) वहाँ की जलवायु के कारण पवित्रतम वस्तु प्रतीत हुई थी, और उष्ण भारत में आकर बस गये जहाँ आकाश की चमक केवल लाभकर वर्षा को छोड़कर प्रायः विनाशकारी है, तब दिव्य देवता का यही रूप सर्वाधिक पूजनीय प्रतीत हुआ होगा। इसने उस 'इन्द्-र' नाम में अपनी अभिव्यक्ति को प्राप्त किया जिसमें हम निःसंकोच रूप से ऐसे शब्द को देख सकते हैं (जो किसी स्थानीय बोली से उत्पन्न हुआ था और बाद में उपासना के प्रसार के साथ-साथ संस्कृत हो गया) जो 'सिन्द् र' का अभिव्यञ्जक है। पुनः यह 'सिन्द्-र' भी 'स्यन्द (गिरना) से व्युत्पन्न था।[२०८] तब द्यौस, जोउस, ज्यूस, से सम्बद्ध धारणायें इन्द्र पर स्थानान्तरित कर दी गईं और इसीलिये हमें 'स्टेटर' उपाधि, जो लैटिन में जुपीटर के साथ संयुक्त है, इसके लिये व्यवहृत मिलती है।" प्रोफेसर बेनफे के इस मत का एम० माइकेल ब्रील ने भी अपने "हरक्यूल एट केकस", पृ० १०१ में अनुसरण किया है। खण्ड ५ में इन्द्र तथा वृत्र की पुराकथा का विवरण देने के बाद यह विद्वान लेखक अगले खण्ड में इसके निर्माण की निम्नलिखित व्याख्या प्रस्तुत करता है : "प्रथम बात जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है वह यह है कि पुराकथा का नायक भारत में वही नहीं है जो पश्चिमी अभिजात पुराकथा में मिलता है। 'इन्द्र' नाम की 'ज्यूस' के साथ कोई समानता नहीं है। साथ ही इन्द्र सर्वथा भारतीय देवता है जिसका सृजन उस युग में हुआ था जब योरोपीय जातियों के पूर्वज एशिया में अपने भ्राताओं से पृथक हो चुके थे। वेदों को पढ़ते समय हम एक प्रकार से इस देवता के प्रथम प्राकट्य के दर्शन करते हैं और यह समय प्राचीनतम सूक्तों की रचना का

---

[२०८] प्रो० मूल इन्द्र को भी इसी आशय से युक्त करते हैं (लेक्चर्स ऑन लैंग्वेजेज़, २४३०)। तुकी बेनफे : ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट, १.४९। प्रो० रॉथ (अपने कोश में) यह मानते हैं यह शब्द 'इन्' अथवा 'इन्व्' धातु और 'र्' प्रत्यय से बना है जिसके पहले 'द्' आता है। इसका अर्थ 'शक्तिशाली' है। इसकी प्राचीन भारतीय व्युत्पत्तियों को, आपके अनुसार, निरुक्त १०.८ में देखा जा सकता है। देखिये ऋग्वेद १.३४ पर सायण भी, जिसका रॉथ ने अपने निरुक्त (पृ० १३६) में उल्लेख किया है।

समसामयिक काल है। किन्तु हम पहले ही कह चुके हैं कि वैदिक पुराकथा-शास्त्र सर्वथा सरल है और एक देवता के गुण सरलता से दूसरे पर स्थानान्तरित कर दिये जाते हैं। इसी प्रकार वृत्र के विजेता के रूप इन्द्र के स्थान पर अन्य देवताओं का भी आवाहन किया गया है। इसलिये हमें यह सोचने का अधिकार मिल जाता है कि इस पुराकथा में इन्द्र ने किसी और प्राचीन देवता का स्थान ग्रहण किया है। इस देवता का नाम, जिसे हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं, द्यौस् अथवा द्यौष्पितर्, अर्थात् प्राणियोंका पिता, आकाश, है। द्यौस् योरोपीय राष्ट्रों का प्रथम देवता है। इसे यूनानियों और लैटिनों ने उच्चतम पद पर सुरक्षित रक्खा है। वेदों में अवश्य यह अपने स्थान से च्युत हो गया है किन्तु यहाँ भी इसका कभी-कभी, प्रमुखतः पृथिवी देवी के साथ-साथ, आवाहन किया गया है।"

किन्तु द्यौस् की जो भी स्थिति रही हो, इन्द्र की उत्तरोत्तर बढ़ती लोकप्रियता ने, निःसन्देह, जैसा कि प्रो० रॉथ मानते हैं, वरुण के वैभव को भी आच्छन्न कर लिया है।

(१०) इस समस्या पर कि वरुण और अहुर मज्द ऐतिहासिक दृष्टि से सम्बद्ध हैं या नहीं, प्रो० रॉथ, ह्विट्ने, स्पीगल, और डा० एफ० विण्डिशमैन के मत।

यदि प्रो० रॉथ का यह मत[२०९] कि जेन्दावेस्ता के अहंस्पन्दों और आदित्यों के बीच न केवल साम्य ही है वरन् वास्तविक ऐतिहासिक सम्बन्ध भी है, सुनिश्चित हो तो यह भी कहा जा सकता है कि वरुण भी, जो आदित्यों में से ही एक है, भारतीय शाखा से पर्शियन शाखा के पृथक् होने के पहले आर्यों में अवश्य पूज्य रहा होगा; और यदि हम प्रो० ह्विट्ने[२१०] के इस विचार को मान

[२०९] जजओसो० ६.९.७० ।

[२१०] जजओसो० ३.३२७। आप लिखते हैं कि अहुर मज्द, ओर्मुज्द स्वयं निःसन्देह ही वरुण का विकास है। आदित्यगण अंहस्पन्द के सहसम्बन्धी हैं। पर्शियन धर्म में अहुर मज्द तथा मिथ्र के बीच वैसा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है जैसा कि भारत में मित्र और वरुण के बीच।" इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'असुर' शब्द, जिसे वरुण और मित्र के लिये, तथा इन्द्र आदि अन्य वैदिक देवताओं के लिये अक्सर ही व्यवहृत किया गया है, वही है जो अपने जेण्ड रूप में 'अहुर' शब्द और जिसमें 'मज्द' और जोड़ दिया गया है। इस प्रकार अहुर मज्द ईरानियन पुराकथाशास्त्र का सर्वोच्च देवता है। प्रो० मूलर 'अहुरो मज्दाओ' शब्द को संस्कृत 'असुरो-मेधस्' का समकक्ष मानते हैं (लैंग्वेजेज, प्रथम सिरीज, पृ० १९५)। देखिये प्रो० बेनफे : ग्लॉसरी टु सामवेद में 'मेधस', जिससे ऐसा

हैं कि अहुरमज्द वरुण का ही विकास है तो हमारा उक्त निष्कर्ष पुष्ट हो जायगा।

फिर भी, कुछ समय पूर्व एरलान्जेन के प्रो० स्पीगल से प्राप्त एक सूचना से मुझे ज्ञात हुआ है कि यह प्रख्यात जेण्द विद्वान अहुरमज्द और वरुण में कोई भी साम्य देखने में असमर्थ है और यह मानता है कि अंहस्पन्दों तथा आदित्यों का सम्बन्ध भी अत्यन्त सन्दिग्ध है।[२११] जैसा कि प्रो० स्पीगल मुझे सूचित करते हैं, डा० विण्डिशमैन भी अहुरमज्द को एक विशुद्ध ईरानी देवता मानते थे (जोरोआस्ट्रिशे स्टूडियन, पृ० १२२)। और वरुण को इन्द्र की अपेक्षा एक प्राचीन देवता मानने के आधार, जिन्हें अन्यथा जेण्दावेस्ता से ग्रहण किया जा सकता था, उस समय और भी क्षीण हो जाते हैं जब हम इन्द्र अथवा जेण्दावेस्ता के 'अन्द्र' को उसी देवता का सूचक मान लेते हैं जो भारत में इन्द्र के नाम से ज्ञात था (देखिये स्पीगल का अवेस्ता, १.१०), और एक ऐसे देवता को व्यक्त करता था जो एक समय भारतीय और पर्शियन आर्यों का सम्मिलित रूप से उपास्य था, किन्तु बाद में दोनों जातियों के पृथक्करण के पश्चात् पर्शियनों में एक दुष्टात्मा के रूप में पतित हो गया। क्योंकि, जहाँ इस प्रकार इन्द्र को उक्त पृथक्करण के समय के पूर्व से ज्ञात सिद्ध किया जा सकता है, वहीं यह एक समय में एक ऐसा देवता भी रहा होगा जिसे वरुण के साथ-साथ ही आर्यों की दोनों शाखायें उच्च स्थान प्रदान करती रही होंगी। फिर भी, प्रो० स्पीगल से मुझे ज्ञात हुआ है कि इस नाम से सम्बद्ध जेण्द पुस्तकों में उपलब्ध सामग्री किसी भी निश्चित निष्कर्ष को सम्भव बनाने के लिये पर्याप्त नहीं है।[२१२]

प्रतीत होता है कि इन्होने भी ऐसे ही अर्थ मे लिया है और ऋग्वेद ८.२०,१७ के 'असुरस्य वेधस.' को 'असुरस्य मेधस.' का भ्रष्ट पाठ मानते हैं। किन्तु 'वेधस्' भी अन्यत्र देवो की, जैसे विष्णु की (१.१५६,२.४) उपाधि के रूप मे आता है। इस अन्तिम मन्त्र मे इन्हें 'मारुतस्य वेधसः' कहा गया है।

२११ अहुर मज्द और अहस्पन्द के सम्बन्ध में प्रो० स्पीगल ने, जैसा कि वह मुझे सूचित करते हैं, अवेस्ता मे उपलब्ध सभी प्राचीन सूचनाओं को अपने इसके तीसरे भाग के अनुवाद की प्रस्तावना मे सगृहीत कर दिया है।

२१२ प्रो० स्पीगल मुझे बताते हैं कि 'अन्द्र' का इन्द्र के साथ समीकरण का सर्वप्रथम बर्नफ (यस्न ५२६ और बाद) ने प्रस्तावित किया था जहाँ इस स्थल का अनुवाद दिया गया है। प्रो० स्पीगल मुझे सूचित करते हैं कि अन्द्र शब्द अवेस्ता में केवल एक और स्थल (पृ० ४७५, वेस्टरगार्ड सं०) पर आता है जिसे आप प्रक्षिप्त मानते हैं। यहाँ यह केवल नाम ही है अतः अवेस्ता के

(११) क्या सूक्तों में ऐसे स्थल हैं जो निश्चित रूप से यह दिखायें कि इन्द्र ने वरुण का अतिक्रमण किया है ?

रॉथ द्वारा उल्लिखित इस तथ्य के अतिरिक्त कि ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों की अपेक्षा अन्तिम में वरुण का बहुत कम उल्लेख हुआ है, मुझे स्वयं सूक्तों में कुछ भी ऐसा नहीं मिला है जिसे इस बात का निर्णायक प्रमाण माना जा सके कि इन्द्र की उपासना इन सूक्तों की रचना के समय वरुण का अतिक्रमण कर रही थी। यह सत्य है कि वेद के आरम्भिक अंशों तक में इन्द्र को सम्बोधित सूक्तों की संख्या उससे कहीं अधिक है जिनमें वरुण की प्रशस्ति है। किन्तु मैं कोई भी ऐसी अभिव्यक्ति नहीं ढूँढ सका हूँ जो स्पष्ट रूप से यह संकेत करे कि एक की लोकप्रियता घट और दूसरे की बढ़ रही थी। फिर भी, कुछ स्थल ऐसे हैं जो यद्यपि इस प्रकार की मान्यता का कोई स्पष्ट संकेत नहीं करते, तथापि इसकी सत्यता के साथ असंगत भी नहीं प्रतीत होते। इस प्रकार अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनमें स्तुत्य होने के रूप में इन्द्र वरुण के साथ सम्बद्ध हैं,[११२] और जिनमें दोनों को एक साथ मिलकर कार्य करनेवाला बताया गया है, जैसे, १.१७; ४.४१; ४.४२; ६.६८; ७.८२; ७.८३; ७.८४; ७.८५; इत्यादि। और इन दोनों का यह सम्बन्ध इन्द्र के उपासकों द्वारा इन्द्र को एक और प्राचीनतर तथा पूज्य देवता के साथ सम्बद्ध कर के उनकी मर्यादा में वृद्धि की इच्छा द्वारा ही उत्पन्न हुआ है। ७.३४,२४ में यह कहा गया है कि वरुण इन्द्र के सखा हैं (वरुण इन्द्रसखा) किन्तु इससे इस व्याख्या की पुष्टि नहीं होती कि इनके उपासक दोनों को प्रतिद्वन्द्वी तथा शत्रु मानने के अभ्यस्त थे, क्योंकि १.२२,१९ में विष्णु को भी इन्द्र का घनिष्ठ सखा कहा

देवता पर कोई प्रकाश नही डालता। बाद के पारसी ग्रन्थो मे इन्द्र अथवा अन्द्र सम्बन्धी सूचना भी अत्यन्त अल्प है (तुकी० स्पीगल का अवेस्ता २.३५)। इस विषय पर प्रो० स्पीगल अपने अवेस्ता के तीसरे भाग, पृ० ८१ पर प्रस्तावना में यह मत व्यक्त करते हैं : "कुछ विद्वानों ने कहा है कि अवेस्ता का अन्द्र वेदो का इन्द्र है; नाओघैथ्य नासत्य है, और सौर्व सर्व है। यहाँ वास्तविक तथ्यो से एक सर्वथा अशुद्ध निष्कर्ष निकलता है। नाम दोनो ही धर्मों में एक ही है; किन्तु वस्तुस्थिति मे कितनी समानता है इसे सोम और हओम की समानता के आधार मात्र पर कभी स्पष्ट नही किया जा सकता; क्योंकि इनमें से किसी के भी सम्बन्ध मे अवेस्ता नामोल्लेख से अधिक और कुछ नही करता।

[११२] अवे० ४-२५,१२ में वरुण और विष्णु की एक साथ उपासना की गई है।

गया है (इन्द्रस्य युज्यः सखा)। इन्द्र और वरुण को दो "सम्राजा" और सभी प्राणियों को धारण करनेवाला[२१४] (१.१७, १.२) कहा गया है। दोनों ही 'धृत-व्रता' (६.६८,१०) हैं। स्तोता के शत्रुओं पर उज्ज्वल और उग्र वज्र से प्रहार करने के लिये इन्द्र के साथ ही वरुण की भी स्तुति की गई है (दिद्युम् अस्मिन्न् ओजिष्ठम् उग्रा नि वधिष्ट वज्रम् , ४.४१,४), यद्यपि अधिकांश स्थानों पर केवल इन्द्र को ही वज्रिन् कहा गया है। ७.८२,२ में यह कहा गया है कि दोनों में से एक, वरुण, सम्राट् कहे जाते हैं और दूसरे, इन्द्र, स्वराट् (३.४६,१, तथा अन्यत्र; देखिये ऊपर १.६१,९)। साथ ही इनके पृथक् सम्बन्धों और कार्यों का इस प्रकार वर्णन किया गया है : ७.८२,५ : इन्द्रा-वरुणा यद् इमानि चक्रथुर् विश्वा जातानि भुवनस्य मज्मना। क्षेमेण मित्रो वरुणं दुवस्यति मरुद्भिर् उग्रः शुभम् अन्यः ईयते। ६. अजामिम अर्यः श्नथयन्तम् अतिरद् दभ्रेभिर् अन्यः प्रवृणोति भूयसः। "हे इन्द्र और वरुण ! जब तुम लोगों ने अपने शक्ति से संसार के इन प्राणियों का निर्माण किया तब वरुण की मित्र शान्तिपूर्वक सेवा करते हैं और दूसरा उग्र देवता (अर्थात इन्द्र) मरुतों के साथ देदीप्यमान होता है। ६. एक विनाशक शत्रुओं को पराजित करता है और थोड़ों के साथ बहुतों को पराभूत कर देता है।" ७.८३,९ : वृत्राणि अन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतानि अन्यः अभि रक्षते सदा। "एक (इन्द्र) युद्ध में शत्रुओं का वध करना चाहता है; दूसरा (वरुण) सदैव अपने व्रतों की रक्षा करता है।" ७.८४,२ : परि नो हेळो वरुणस्य वृज्याः उरु नः इन्द्रः कृणवद् उ लोकम्। "हमसे वरुण के क्रोध को दूर करो; इन्द्र हमारे लिये पर्याप्त स्थानों को खोलें।" ७.८५,३ : कृष्टीर् अन्यो धारयति प्रविक्ताः वृत्राणि अन्यः अप्रतीनि हन्ति। "एक पृथक् प्राणियों को धारण करता है; दूसरा अप्रतिम शत्रुओं का वध करता है।" इसी प्रकार अन्य मन्त्रों में भी इनके सम्मिलित पराक्रमों का वर्णन है। इन्हें नदियों के प्रवाह के लिये मार्ग खोदनेवाला, आकाश में सूर्य को प्रेरित करनेवाला कहा गया है (७.८२,३ : अनु अपां खानि अतृन्तम् ओजसा आ सूर्यम् ऐरयत दिवि प्रभुम्)। इन्होंने ही सम्पूर्ण प्राणियों की सृष्टि की है (वही, ५)। अन्य सभी देवताओं को उच्चतम द्युलोक में इन दोनों को शक्ति तथा ओज से युक्त करनेवाला कहा गया है (वही, २ : विश्वे देवाः परमे व्योमनि सं वाम् ओजो वृषणासम् बलं

[२१४] 'धर्तारा चर्षणीनाम'। ५ ६०,२ मे इसे ही मित्र और वरुण के लिये प्रयुक्त किया गया है। और वरुण को 'चर्षणी-धृत्' कहा गया है (४ १,२)।

दधुः)। इन स्थलों की इस मान्यता के साथ संगति है कि दोनों देवताओं को प्रतिद्वन्द्वी माना जाता था और यह कि सूक्त का प्रणेता दोनों के विरोधी अधिकारों में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता था, किन्तु यह निर्णायक नहीं है क्योंकि विष्णु तथा इन्द्र को भी कुछ सूक्तों में इसी प्रकार सम्बद्ध किया गया है (१.१५५; ६.६९; ७.९९,४ और बाद)। कुछ अन्य में इन्द्र और अग्नि को (१.२१,१.१०८; १.१०९; ३.१२; ५.८६; ६.५९); इन्द्र और वायु को (४.४६-४८); इन्द्र और पूषा को (६.५७); तथा इन्द्र और सोम को (६.७२; १.१०४) भी सम्बद्ध किया गया है।

ऋग्वेद के विभिन्न भागों (जैसे १.१३३,१; ४.२३,७; ५.२,३; ७.१८, १६; १०.२७,६; १०.४८,७) में कुछ ऐसे मन्त्र आते हैं जिनमें 'अनिन्द्र' उपाधि का प्रयोग किया गया है; किन्तु ऐसा प्रतीत नहीं होता है कि इसका उन लोगों के लिये ही व्यवहार किया गया है जो अन्य देवताओं की तुलना में केवल इन्द्र की उपासना नहीं करते थे। इनके विपरीत, यह या तो उन आदिवासी जातियों के लिये व्यवहृत है जो न तो इनका और न अन्य किसी आर्य-देवता की उपासना करते थे, अथवा सम्भवतः सामान्य रूप से इन्द्र-शत्रु दुष्टात्माओं के लिये ही प्रयुक्त है : अन्य स्थानों पर हमें (देखिये ऊपर) इन्द्र के सम्बन्ध में शंकाओं की अभिव्यक्ति मिलती है।

दूसरे मण्डल का बारहवाँ सूक्त इन्द्र की प्रशस्ति में समर्पित है। इसके प्रथम तथा द्वितीय मन्त्र इस प्रकार हैं : १. यो जातः एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्। यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनासः इन्द्रः। २. यः पृथिवीं व्यथमानाम् अदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितान् अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्याम् अस्तभ्नात् स जनासः इन्द्रः। "जो अपनी शक्ति सहित प्रगट होकर मनुष्यों में अग्रगण्य हुये और जिन्होंने देवगण को वीर कर्मों से विभूषित किया; आकाश और पृथिवी जिनके बल से भयभीत हुये, वे इन्द्र हैं। २. जिन्होंने काँपती हुई पृथिवी को दृढ़ता दी और भड़कते हुये पर्वतों को शान्त किया, जिन्होंने अन्तरिक्ष को बनाकर आकाश को सहारा दिया, वे इन्द्र हैं।" इसके बाद के सभी मन्त्र इसी प्रकार इसी उक्ति से समाप्त होते हैं कि सभी कार्यों को करनेवाले, विभिन्न शक्तियों से युक्त, इन्द्र हैं। यह विरोधियों के विरुद्ध वाद-विवादात्मक उक्तियाँ हो सकती हैं जिनमें इन्द्र की उपासना का उपयुक्त पात्र होने के रूप में स्थापना की गई है।[२१५]

---

[२१५] एक अन्य सूक्त (१०.८६) भी है जिसका प्रत्येक मन्त्र 'इन्द्र सर्वश्रेष्ठ हैं' से समाप्त है।

१०.४८,११ में इन्द्र को यह कहते हुए प्रस्तुत किया गया है : आदित्यानां वसूनां रुद्रियाणां देवो देवाना न मिनामि धाम। ते मा भद्राय शवसे ततक्षुर् अपराजितम् अस्तृतम् अषाळ्हम्। "जिन आदित्यों, वसुओं और रुद्रों ने मेरे कल्याण के लिये तथा मुझे अजेय और अहिंसित रखने के लिये किसी अन्य को कल्पित नहीं किया है, मैं उन देवताओं के स्थान को नहीं छोड़ता।"

८.५१,२ में यह कहा गया है : अयुजो असमो नृभिर् एकः कृष्टीर् अयास्य'। पूर्वीर् अति प्र ववृधे विश्वा जातानि ओजसा इत्यादि। ७. विश्वेते इन्द्र वीर्यं देवा अनु क्रतुं ददुः। १०. सत्यम् इदं वै उतं वयम् इन्द्रं स्तवाम् नानृतम्। महान् असुन्वनो वधो भूरि ज्योतींषि सुन्वतः। "किसी भी मनुष्य द्वारा ममता न किये जाने योग्य, किसी भी साथी के बिना, इन्द्र ने अकेले ही, अविजित रह कर शक्ति में अनेक जातियों और सभी प्राणियों को परास्त किया है। सभी देवता शक्ति और पराक्रम में इन्द्र की प्रधानता स्वीकार करते हैं। १२. हम इन्द्र की मिथ्या नहीं बल्कि सत्य स्तुति करें : जो इन्द्र के लिये हवि नहीं देता उसे महान् विनाश का सामना करना पड़ता है,[216] जब कि इन्हें हवि समर्पित करनेवाला प्रचुर प्रकाश द्वारा पुरस्कृत होता है।"

४.३०,१ और बाद में इन्द्र को किसी भी श्रेष्ठ या समान से रहित कहा गया है (नकिर् इन्द्र त्वद् उत्तरो न ज्यायान् अस्ति वृत्रहन्। नकिर् एव यथा त्वम्) : "इन्होंने अकेले ही युद्ध में सभी देवताओं को जीत लिया है"। ७.२७,१ में यह कहा गया है कि यहाँ तक कि पूर्व देवताओं ने भी अपने दिव्य वैभव तथा राजकीय मर्यादा को इन्द्र के अधीन कर दिया था (देवाश् चित् ते असुर्याय पूर्वे अनु क्षत्राय ममिरे सहांसि)। निम्नलिखित स्थलों में यह कहा गया है कि सभी देवता मिलकर भी इन्द्र के महान् पराक्रमों और परामर्शों को विफल नहीं कर सकते (२.३२,४); यह कि, मनुष्य या देवता कोई भी इनसे आगे नहीं जा सकता (६.३०,४); यह कि दिव्य या पार्थिव कोई भी न तो ऐसा जन्मा है और न जन्म लेगा जो इन्द्र के समान हो (७.३२,२३); और यह कि युद्ध से इन्द्र ने देवों के लिये पर्याप्त स्थान अर्जित किया है (७.९८,३)। यहाँ तक भी कहा गया है कि वरुण और सूर्य भी इन्द्र के आदेशों के अधीन हैं (१.१०१, ३ : यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः); और १०.८९,८ में इन्द्र से मित्र,

---

[216] इस भाव को १.१०१,४ से दोहराया गया प्रतीत होता है।

अर्यमा और वरुण के शत्रुओं को नष्ट करने का आग्रह किया गया है जिससे, इन तीनों देवताओं की तुलना में इन्द्र की श्रेष्ठता प्रामाणित होती है (प्र ये मित्रस्य वरुणस्य धाम युजं न जनाः मिनन्ति मित्रम् । ६. प्र ये मित्रम् प्र अर्यमणं दुरेवाः प्र सगिरः प्र वरुणम् मिनन्ति । नि अमित्रेषु वधम् इन्द्र तुम्र वृषन् वृषाणाम् अरुषं शिशीहि) ।

फिर भी, इन सभी स्थलों की जिनमें इन्द्र की इतनी अधिक प्रशस्तियाँ हैं, ऋग्वेद में न केवल इसी समान के मित्र और वरुण को समर्पित स्थल ही वरन् अनेक ऐसे अन्य स्थल भी समता कर सकते हैं जिनमें अन्य देवताओं की इसी शैली में स्तुति है। इसका किसी भी देवता के, जो उनकी स्तुति का पात्र है, गुणों को अतिरंजित[२१७] करने की भारतीय कवियों की प्रवृत्ति के साथ पूर्ण सामञ्जस्य है। इस प्रकार २.३८,९ में यह कहा गया है कि न तो इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, और न रुद्र ही सविता के व्रतों का उल्लंघन कर सकते हैं (न यस्य इन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतम् अर्यमा न मिनन्ति रुद्रः) । ८.३८,४ में यह कथा है कि दिव्य अदिति और राजा वरुण, मित्र तथा अर्यमा एक साथ मिल कर सविता की स्तुति करते हैं (अभि यं देवी अदितिः गृणाति सवं देवस्य सवितुर् जुषाणा । अभि सम्राजो वरुणो गृणन्ति अभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः) । पुनः, १.१५६,४ में यह कथन है कि राजा वरुण तथा अश्विनगण विष्णु की शक्ति के अधीन हैं (तम् अस्य राजा वरुणस् तम् अश्विना क्रतुम् सचन्ते मारुतस्य वेधसः) । १.१४१,९ में मित्र, वरुण, और अर्यमा प्रज्वलित अग्नि के द्वारा विजय प्राप्त करते हैं (त्वया हि अग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा) । ४.५,४ में इसी देवता से वरुण तथा बुद्धिमान मित्र के सुदृढ आवासों[२१८] पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को भस्म करने की प्रार्थना की गई है (प्रतान् अग्नि बभसत्…प्र ये मिनन्ति वरुणस्य धाम प्रिया मित्रस्य चेततो ध्रुवाणि) । अतः यदि १.१०१,३ जैसे स्थलों (जो वरुण और सूर्य को इन्द्र के अधीन करते हैं) से यह निष्कर्ष निकालें कि इन्द्र की उपासना वरुण पर प्रभुत्व स्थापित करना आरम्भ कर चुकी थी, तो हमें इसी प्रकार अन्य स्थलों से यह भी निष्कर्ष निकालना होगा कि सविता, विष्णु, अथवा अग्नि की उपासना स्वयं इन्द्र सहित उन अन्य सभी देवताओं की उपासना पर प्रभुत्व स्थापित करने लगी थी जिन्हें अग्नि के आधीन किया गया है ।

---

[२१७] देखिये मूलरः ऐसंलि० पृ० ५३२ और बाद ।

[२१८] विधान—रॉथ 'धामन' (वस्था०) ।

(१२) सूक्तों में चित्रित इन्द्र के विविध स्वरूप

निम्नलिखित विवरणों में मैंने सूक्तों में उपलब्ध इन्द्र के सर्वप्रमुख चारित्रिक गुणों को एक साथ संकलित करके प्रस्तुत किया है। इनसे यह देखा जा सकता है कि यह सम्पूर्ण वितरण इन्द्र की उपाधियों, वर्णनों, और गुणों का एक संक्षिप्तीकरण है।

(१) यज्ञ में आने के लिये इन्द्र को आमन्त्रण

हे महान् वज्रिन्! तुम मध्य स्थानों के उज्ज्वल अधिपति हो। हम जिन सुरचित स्तोत्रों द्वारा तुम्हारी स्तुति करते हैं उन्हें सुनो। हमने इन स्तुतियों का उसी प्रकार निर्माण किया है जैसे एक कुशल कारीगर रथ का निर्माण करता है। हे बहु-आहूत देवता! हमारे पास आओ। हमारे सूक्तों ने तुम्हारे अश्वों को समृद्ध कर दिया है; तुम्हारा सुवर्ण रथ तुम्हारे प्रासाद-द्वार पर तुम्हारी इच्छा की प्रतीक्षा कर रहा है। हे मित्र इन्द्र! आकाश से उतरा तुम्हारा शुभ पथ इधर हो। सीधे हमारे पास आओ और कोई भी प्रतिद्वन्द्वी पुरोहित तुम्हें हमारे सत्र से दूर न बुलाये। कोई भी तुम्हें उसी प्रकार अनजान में न पकड़े जैसे कुशल बहेलिया पक्षी को पकड़ता है। सभी कुछ तैयार है; सोमरस इतना मधुर है कि तुमने ऐसे का कभी पान न किया होगा। हम तुम्हें अन्न से तृप्त करेंगे और तुम्हारी यात्रा के अन्त में तुम्हारे अश्वों की भी सेवा करेंगे। हे इन्द्र! यद्यपि तुम हमारे सम्बन्ध में सोचते हो और हमारी हवियों का सहर्ष पान करते हो, तथापि हम मनुष्यगण तुम्हारी कृपा का एक अल्पांश ही पा सकते हैं। हमको मालूम है कि स्वर्ग में तुम्हें कैसे बन्धन रोक रखते हैं—घर पर तुम्हारे पास एक सुन्दर पत्नी है जो तुम्हारे जीवन का आकर्षण और शान्ति है, तुम्हारे पास अक्षय सुख है—ऐसा सुख जिसे केवल अमर देवता ही जानते हैं और यहाँ नीचे मनुष्य उसे नहीं जान सकते। किन्तु, हे भ्राता इन्द्र! शीघ्रतापूर्वक आकर हमारे सूक्तों को सुनो, हमारा भोजन लो—उसी प्रकार जैसे किसी प्रेमिका पर मोहित होकर उसका प्रेमी उसका आलिङ्गन करने के लिये दौड़ पड़ता है। हमारे मधुर और आभार भरे गीतों को सुनो। हमारे पास आओ; हम तुम्हें बहुत देर तक नहीं रोकेंगे।

(२) इन्द्र का जन्म

हे इन्द्र! सुनो, हम तुम्हारे जन्म, तुम्हारी महानता तथा तुम्हारे पराक्रमों का गायन करते हैं। तुम एक वैभवशाली राजा हो। तुम्हारे जन्म के समय प्राचीन पिता आकाश (द्यौस्)[२१९] तथा माता पृथिवी कम्पित हुये थे। उस

[२१९] द्यौस् = ज्यूस्।

महान् द्रव्य को देखकर द्यौस् ने कहा था कि तुम्हें बनानेवाला देवता, तुम्हारा पिता अत्यन्त कुशल रहा होगा।" यह अप्रतिम शक्तिवाला शिशु एक अतीन्द्रिय स्रोत से उत्पन्न हुआ था। एक सौभाग्यवती माता ने इस शिशु को उत्पन्न किया था। उसने अपने इस पुत्र के जन्म पर प्रसन्न होकर सगर्व इस शिशु के पराक्रम और वैभव के सम्बन्ध में भविष्यवाणी की थी। इसने जन्म लेते ही अपनी शक्ति का अनुभव किया था और सभी शत्रुओं की शक्ति पर आक्षेपपूर्वक हँसा था। अपनी घातक अशनि को पकड़ते हुये इसने शक्ति के गर्व से अपनी माता से पूछा : "हे माता! वे भयङ्कर योद्धा कहाँ रहते हैं जिनके उद्धत हृदयों का मेरा यह वज्र वेधन करे?" और जब तुम्हारा पिता ही तुम्हारा शत्रु हुआ तब, हे इन्द्र! तुम्हारे क्रोध ने उसे नीचा दिखाया। तुम जब सोते हो और जब जागते हो तब कौन तुम्हारा जीवन लेने का निष्फल प्रयास करेगा? तुम्हारे क्रोध का किस देवता ने सामना किया। जो तुमसे युद्ध करने आता है उसे तुम पददलित करके उसका वध कर देते हो।

(३) इन्द्र का आगमन

हमारी स्तुतियों से प्रसन्न होकर इन्द्र अन्तरिक्ष से आते हैं। महान् और उज्ज्वल, हमारे बहु-प्रतीक्षित मित्र इन्द्र दिखाई पड़ते हैं। इनका उज्ज्वल रूप दूर से देखने पर सुवर्ण रथ में विशालकाय दृष्टिगत होता है। श्वेत सूर्य के समान दीप्ति, देवोपम सौन्दर्य, प्रज्ज्वलित अग्नि इनके मुख को प्रकाशित करते हैं। फिर भी इनका एक ही रूप नहीं है। ये अनेक वैभवशाली रूप ग्रहण करते हैं। जब यह योद्धा युद्ध के लिये खड़े होते हैं तो इनके हाथ में लाल विद्युत रूपी आयुध होते हैं। इनके दिव्य अश्व, इनका उज्ज्वल दल, सभी मयूर के रङ्गों की भाँति देदीप्यमान होते हैं। इनके अश्व मन के वेग से आकाशमार्ग से चलते हैं। जब इस शक्तिशाली अधिपति को इनके अश्व हमारे निकट लाते हैं तब हम धन्य हो जाते हैं। अब आकाश से उतर कर इंद्र हमारी ओर आ रहे हैं। यद्यपि हम उन्हें देख नहीं पाते, तथापि हम अनुभव करते हैं कि वह यहाँ कैसे उपस्थित हैं। हमारे यज्ञ से पवित्र गृहों में आकर इन्द्र हमारे अन्न के स्वाद की इच्छा रखते हैं।

(४) सोमपान के लिये इन्द्र को आमन्त्रण

हे पुरातन इन्द्र! तुमने हमारे सोमरस का प्रसन्नतापूर्वक पान किया है। सभी देवता मधुर सोमरस से प्रेम करते हैं किन्तु सबसे अधिक। तुम्हारी माता भलीभाँति जानती थी कि यह सोमरस तुम्हारे लिये कितना उपयुक्त है। इसीलिये उसने तुम्हें सोमरस दिया जिसका तुमने उसकी गोद में बैठकर पान

किया। हाँ, हे इन्द्र! जब तुमने जन्म लिया ठीक उसी समय तुमने सोम के स्वाद का आनन्द लिया और वह आज भी तुममें शक्ति के रूप में विद्यमान है। पवित्रात्मा कहते हैं कि एक बार तुमने तीस कलश सोम का पान कर डाला था। सोमरस उसी प्रकार तुम्हारे पास जाता है जैसे नदियाँ सागर की ओर। हमारा प्याला ऊपर तक सूक्तों की ध्वनि के साथ दबाये गये सोम से भरा है। आओ, अपनी तृष्णाभर इसका पान करो, जैसे एक भूखा मृग वन के सरोवर के जल का पान करता है। अपनी क्षुधा शान्त करो, प्रचुर सोमपान करो; सोम से अपना विशाल उदर भर लो।

(५) सोम की स्तुति

यह सोम एक देवता है। यह मनुष्यों की तीक्ष्णतम व्याधियों तक का उपचार कर देता है। यह बीमारों को अच्छा और दुःखी लोगों को प्रोत्साहित करते हुये उनमें नूतन स्फूर्ति जागृत करता है, उनके भयों को दूर करता है। यह आत्मा को पृथिवी से ऊपर आकाश में उठा देता है। इसके गुण इतने महान् तथा आश्चर्यजनक हैं। मनुष्य इस देवता का अपनी धमनियों में अनुभव करते हैं। देवता भी आनन्दपूर्वक इसके प्रभाव का अनुभव करते हैं। प्राचीन कवियों के अनुसार इन्द्र ने भी सोम का प्रशस्तिगान किया था।

(६) इन्द्र का सोमपान

"मैं इन्द्र, गौ, अश्व आदि धनों को देने की इच्छा कर रहा हूँ क्योंकि मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। वायु जैसे वृक्ष को कम्पित करके उसे ऊपर उठाता है वैसे ही पान किये जाने पर सोमरस मुझे उन्नत करता है। जैसे द्रुतगामी अश्व रथ को ऊपर रखता है वैसे ही पान किये जाने पर सोम ने भी मुझे उन्नत किया है। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। जैसे हुंकार करती हुई गौ अपने बछड़े की ओर जाती है वैसे ही स्तुतियाँ मेरी ओर गमन करती हैं। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। त्वष्टा जैसे रथ के ऊपर के स्थान का निर्माण करते हैं, वैसे ही मैं स्तुति करनेवाले के मन में स्तोत्र का निर्माण करता हूँ। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूं। पञ्चजन मेरी दृष्टि से छिप नहीं सकते। मैं अनेक बार सोमपान कर चुका हूँ। आकाश और पृथिवी, दोनों लोक मेरे एक पार्श्व की भी समता नहीं कर सकते। मैं अनेक बार सोमरस का पान कर चुका हूं। स्वर्ग और विस्तीर्ण पृथिवी को मेरी महिमा ही व्याप्त करती है। मैंने अनेक बार···। यदि मैं चाहूं तो इस पृथिवी को अपनी शक्ति से एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाकर रख दूँ। जिस स्थान को चाहूँ उसे ही नष्ट कर डालूँ। मैं इस पृथिवी को भस्म करने में समर्थ हूं। मैंने···। मेरा एक पार्श्व स्वर्ग में और एक पृथिवी पर है। मैं आकाश के समान उन्नत और

महान हूँ। मैंने··· । जब मेरी स्तुति होती है, तब मैं देवों के लिये हव्य-वहन करता हूँ और अपना भाग पाकर चला जाता हूँ। मैंने अनेक बार सोम-रस का पान किया है।[२२०]

(७) इन्द्र हवियों का पान करते हैं

मनुष्य व्यर्थ ही स्तुति नहीं करते। देवता सोमरस के अतिरिक्त और किसी से प्रसन्न नहीं होता। वह इस प्रचुर सोमरस का बार-बार पान करके अपनी सम्पूर्ण तृष्णा शान्त कर लेता है। ज्योंही सोम इन्द्र की धमनियों में अपनी शक्ति दिखाता है त्योंही वह उठकर खड़ा हो जाता है; उसका ललाट चमकने लगता है; उसके नेत्रों से ज्वाला निकलने लगती है; उसका सम्पूर्ण शरीर विशाल आकार ग्रहण कर लेता है। तब वह अपने सखाओं को बुलाकर उन्हें उत्साहित करता हुआ शत्रुओं का मानमर्दन करने लगता है।

(८) मरुद्गणों से सेवित इन्द्र वृत्रवध के लिये जाते हैं

समस्त दिव्य समूह के युद्धघोष के बीच स्तुतियों की मधुर ध्वनि से वर्धित यह वीर देवता रथारूढ़ होता है। इसके द्रुतगामी अश्व आकाश में इसे एक ओर से दूसरी ओर ले जाते हैं। मरुद्गण इसकी सहायता करते है। ये सभी चमकते हुये विद्युत के रथों पर चलते हैं और युद्धोपम गर्व के साथ प्रकाशित होते हैं। इनके वक्षों पर चमकदार कवच होते हैं। इनके कन्धों पर भाले, हाथों में बाण, पैरों में चमकदार पादत्राण होते हैं। इनके आने पर पृथिवी के सभी प्राणी कम्पित होने लगते हैं।

(९) इन्द्र का वृत्र से युद्ध

वह कौन है जो बिना सूचना दिये ही इन्द्र की भुजाओं की शक्ति को चुनौती दे रहा है? वह कौन है जो इन्द्र के साथ आनेवाले मरुद्गणों से भयभीत नहीं है? कौन इनके साथ घोर युद्ध की सम्भावना से भयभीत नहीं होता? यह वृत्र[२२१] है जिसकी माया पृथिवी पर होनेवाली वर्षा को रोक देती है; जो मनुष्यों को त्रस्त तथा देवों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करता है; जिसकी दानवसेना युग-युग से इन्द्र के साथ कभी न समाप्त होनेवाला युद्ध करती रहती है; जिसका असंख्य बार वध हुआ है और जो हर बार जन्म लेता है। इस वृत्र का विशाल दुर्ग सम्भवतः अन्तरिक्ष की ऊँचाइयों में स्थित है। यह दानव अपने आग्नेयास्त्रों को लेकर देवों से युद्ध करने आया और अपने अस्त्र-

---

[२२०] यह पेयगीत प्रायः सम्पूर्णतः ऋग्वेद १०.११९ का अनुवाद है।

[२२१] सूखे का मूर्तीकृत दैत्य 'शुष्ण' और 'अहि' है।

शस्त्रों से प्रहार करने लगा। इसने इन्द्र पर भी निष्फल प्रहार किया। जब इसके सभी आयुध समाप्त हो गये; जब इसकी सेना का वध हो गया तब यह हतप्रभ होकर खड़ा हो गया और जान गया कि अन्त समीप है। तब बिजली चमकने लगी और इन्द्र ने गर्व से अपने वज्र को इस पर फेंका। उस समय स्वयं देवता भी भयभीत हो गये तथा सम्पूर्ण लोक काँपने लगे। यहाँ तक कि वज्र को बनानेवाले स्वयं त्वष्टा देव, जो उसकी शक्ति जानते थे, वज्र के भयंकर शब्द को सुनकर काँपने लगे। इन्द्र के लाल दाहिने हाथ में प्रक्षिप्त इस वज्र का कौन सामना कर सकता है। शत कोणोंवाले, एक सहस्र नोकों वाले, और द्रुतगामी वज्र ने शत्रुओं को धराशायी कर दिया। जो वज्रिन् इन्द्र के सामने आता है वह वज्र के शब्द मात्र से ही भयभीत हो जाता है। अतः इन्द्र के वज्र से आहत होकर वृत्र गिर पड़ा। उसका सम्पूर्ण शरीर विदीर्ण हो गया और वह सर के बल गिर पड़ा।

(१०) इन्द्र की महानता

आज के कवि, पुरातन ऋषि, सभी इन्द्र की महानता को जानते हैं। इन्द्र ने अपने विशाल शरीर से ही आकाश तथा माता पृथिवी को उत्पन्न किया। इन्होंने ही आकाश को रिक्त स्थान में लटकाया और पृथिवी को एक दृढ़ आधार दिया। इन्होंने ही ऊपर सूर्य में प्रकाश का निर्माण किया। इनकी ही शक्ति आकाश और पृथिवी को एक दूसरे से पृथक् करके धारण करती है— वैसे ही जैसे रथ के दोनों चक्रों को धुरा अलग-अलग रखता है। महानता में कौन इन्द्र की समता कर सकता है? बिना अनुभव किये ही इनकी उपस्थिति दूर-दूर तक व्याप्त है। यदि सौ पृथिवी भी हों तो, यदि सौ आकाश भी हों तो ये सभी इनसे छोटे होंगे। इनके दिव्य प्रकाश की ज्योति की मनुष्य सदैव कामना करते हैं। इन्द्र आकाश या पृथिवी पर सर्वत्र अप्रतिम हैं। तुम्हारी शक्ति इतनी अधिक है कि तुम्हारा जन्म ही शत्रुरहित हुआ है। तुम सम्पूर्ण जगत के सार्वभौमिक सम्राट् हो। देव तथा मनुष्य दोनों तुम्हारी पूजा करते हैं। सब देवता मिलकर भी तुम्हें परास्त नहीं कर सकते। युगों के व्यतीत हो जाने पर भी तुम युवा और शक्तिशाली बने रहते हो। किसी प्रकार की चिन्ता, भय या कष्ट से मुक्त रहकर तुम सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हो।

(११) स्तोताओं के साथ इन्द्र का सम्बन्ध

हे इन्द्र! तुम सखा, भ्राता, प्रिय सम्बन्धी, पिता और माता हो। यद्यपि तुम्हारे पास सखाओं की सेना है तथापि हमारे लिये तुम्हारे अतिरिक्त और कोई सखा नहीं है। अपने इस सूक्त द्वारा हम तुम्हारे अधोवस्त्र को पकड़ते हैं

जैसे कोई पुत्र अपने पिता के वस्त्र को पकड़ता है। हमारी उत्कट स्तुतियाँ तुम्हारे रूप का आलिङ्गन करती हैं जैसे स्त्रियाँ अपने प्रेमियों का। स्तुति तुम्हें उसी प्रकार चारों ओर से घेर लेती है जैसे कटिबन्ध अश्व को। हम श्रद्धा-पूर्वक तुम्हारी दिव्य सहायता की कामना करते हैं। तुम बहरे नहीं हो अतः दूर रहते हुये भी हमारी स्तुतियों को सुनते हो। उस आलसी पुरोहित की तरह मत होओ जो भोजन पर देर तक बैठा रहता है और केवल अपनी प्रसन्नता की ही बात सोचता है। हमारे पास आओ अपने उदार हाथों से हमारी मनोवांछित वस्तुयें हमें दो! तुम चुपचाप क्यों बैठे हो? हमारी इच्छाओं को पूर्ण क्यों नहीं करते? यदि हम तुम्हारी जगह होते तो स्तोताओं को हम प्रचुर दान देते। यदि हम देवता और तुम मनुष्य होते तो हम तुम्हें कभी विपन्न नहीं करते। यदि हमारे पास तुम्हारे समान असीम शक्ति होती तो हम अपने सभी सखाओं पर उपहारों की वर्षा कर देते। उसी प्रकार धन की वर्षा करो जैसे हिलाने पर वृक्ष अपने पके फलों की भूमि पर वर्षा कर देते हैं। हे महान् देवता, हम सुवर्ण की इच्छा से तुम्हारा शक्तिशाली दाहिना हाथ पकड़ते हैं। यदि तुम चाहो तो हमारी सम्पूर्ण इच्छाओं को पूर्ण कर सकते हो। एक हुंकार करते हुये वृषभ की भाँति तुम्हारा अप्रतिम बल मार्ग के सभी अवरोधों को धराशायी कर देता है। तुमसे प्रचुर सहायता उसी प्रकार उत्पन्न होती है जैसे एक शक्तिशाली वृक्ष से पत्तियोंवाली शाखायें। स्त्री-विहीनों को तुम स्त्री, दुखियों को सुख देते हो। तुम साहसी, शक्तिशाली पुत्र देते हो। सभी प्रकार की सम्पत्ति तुम्हारी दी हुई ही है। तुम्हारे मित्र का कभी वध नहीं होता; उसका युद्ध में बल कभी क्षीण नहीं होता। जो युद्ध में सच्चे हृदय से तुम्हारा आवाहन करता है, उसके शत्रुओं का तुम तुमुल घोष करते हुये नाश कर देते हो। तुम उनको प्रचुर उपहार देते हो जो तुम्हारी स्तुति करते हैं किन्तु सभी उद्धतों, यज्ञ-द्रोहियों और आस्थाहीनों को दण्डित करते हो। कौन तुम्हारी सत्ता पर शंका कर सकता है? धनी कभी तुम्हारा प्रिय नहीं होता। जब झञ्झावात बन्द हो जाता है और आकाश उज्ज्वल होता है तब मघप तुम्हारे प्रति उपेक्षा प्रदर्शित करते हैं किन्तु जब मेघ घिर आते हैं और गर्जन होने लगता है तो वे ही काँपने लगते हैं। कोई भी उच्चरित शब्द ऐसा नहीं है जिसे तुम न सुनते हो। तुम मनुष्यों के भाग्य का निर्धारण करते हो। शक्ति-शाली भी तुम्हारे व्रतों के आगे नत होते हैं। तुम उच्च और भयंकरों को नीचे गिराते हो तथा गिरे हुये लोगों को पुनः उनके स्थान पर पहुँचा देते हो। तुम आर्य वर्ण के लोगों पर विशेष कृपा रखते हो। तुम हमको अश्व, पशुधन, सुवर्ण आदि उसी प्रकार देते हो जैसे तुमने प्राचीन काल में दिया था। तुमने

काली त्वचा वालों को, जो असभ्य, मतहीन, उद्दण्ड, और बुद्धिहीन थे, भगा दिया। दस्युओं को हमसे दूर भगाओ, और रात में विचरण करनेवाली दुष्टात्माओं से हमारी रक्षा करो। हे मित्र! हमारी रक्षा करो, हमारे भय को दूर करो, और हमें शत शरदों की आयु दो। जब हम अपना पार्थिव जीवन समाप्त कर लें और सूर्य लोक प्राप्त करें तब हमें अक्षत आनन्द से रहने दो जिससे हम वहाँ तुम्हारे साथ मधुर अमृतरस से तृप्त होते रहें।



खण्ड ७

पर्जन्य

निम्नलिखित ऋग्वेद का सूक्त (५.८३) वर्षा के गर्जन करनेवाले देवता का एक सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करता है :

५.८३.१ : अच्छ वद तवसं गीर्भिर् आभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा आविवास। कनिक्रदद् वृषभो जीरदानुः रेतो दधाति ओषधीषु गर्भम्।
२. विवृक्षान् हन्ति उत हन्ति रक्षसो विश्वम्-बिभाय भुवनम् महावधात्।
उत अनागाः ईषते वृष्ण्यावतो यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः।
३. रथीव कशयाऽश्वान् अभिक्षिपन्न् आविर् दूतान् कृणुते वर्ष्यान् अह। दूरात् सिंहस्य स्तनथाः उद् ईरते यत् पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः।
४. प्र वाताः वान्ति पतयन्ति विद्युतः उद् ओषधीर् जिहते पिन्वते स्वः। इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसाऽवति। ५. यस्य
व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज् जर्भुरीति। यस्य व्रते ओषधीर् विश्वरूपाः स नः पर्जन्य महि शर्म यच्छ। ६. दिवो नो वृष्टिम् मरुतो ररीध्वम् प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः। अर्वाङ् एतेन स्तनयित्नुना आ इहि अपो निषिञ्चन्न् असुरः पिता नः। ७. अभि क्रन्द स्तनय गर्भम् आ धाः उदन्वता परि दिय रथेन। दृतिं सु कर्ष निषितम् न्यञ्चम् समाः भवन्तु उद्वतो निपादाः। ८. महान्तं कोशम् उद् अच निषिञ्च स्यदन्तां कुल्याः विषिताः पुरस्तात्। घृतेन द्यावा-पृथिवी वि उन्धि सुप्रपाणम् भवतु अघ्न्याभ्यः। ९. यत् पर्जन्य कनिक्रदत् स्तनयन् हंसि दुष्कृतः। प्रति इदं विश्वम् मोदते यत् किञ्च पृथिव्याम् अधि। १०. अवर्षीर् वर्षम् उद् उ सुगृभाय अकर् धन्वानि अति एतवै उ। अजीजनः ओषधीर् भोजनाय कम् उत प्रजाभ्यो अविदो मनीषाम्।

"हे स्तोताओ ! तुम शक्तिशाली पर्जन्य के सम्मुख उपस्थित होकर उनकी स्तुति करो। सुन्दर स्तोत्र-रूप वाली स्तुति से उनका स्तवन करो। हविष्यरूप अन्न से उनकी सेवा करो। जलवृष्टि करनेवाले, उदारचेता, गर्जन शब्दवाले पर्जन्य वर्षाद्वारा वनस्पतियों में गर्भ स्थापित करते हैं और उन्हें फलप्रद बनाते हैं। २. पर्जन्य देव वृक्षों को भूमिसात करते हैं; असुरों का संहार करते हैं; विकराल होते हुये जगत को भयभीत करते हैं; और पापियों को नष्ट करते हैं। अतः जो पापी नहीं हैं वे भी भयभीत होकर उन वर्षा करनेवाले पर्जन्य के

सामने से भाग जाते हैं।[२२२] ३. जैसे रथी चाबुक मार कर घोड़ों को उत्तेजित करते हुये वीरों को उत्साहित करते हैं वैसे ही पर्जन्य मेघों को प्रेरित करके जलवृष्टि के लिये उत्साहित करते हैं। जब तक पर्जन्य मेघों को अन्तरिक्ष में एकत्र करते हैं तब तक सिंह के समान गर्जन वाले मेघों का शब्द दूर से ही सुनाई पड़ता है। ४. जब तक पर्जन्य देव वर्षा द्वारा पृथिवी का पालन करते हैं तब तक वर्षा के कार्य में योग देनेवाली वायु प्रवाहित रहती है। सब ओर विद्युत चमकता, अन्तरिक्ष वृष्टि करता और वनस्पतियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। तब पृथिवी सबका हित करने में सक्षम हो जाती है। ५. हे पर्जन्य! तुम्हारे कर्म के सामने पृथिवी नत है; तुम्हारे ही कर्म द्वारा वनस्पतियाँ विभिन्न वर्ण तथा रूप वाली होती हैं। हे पर्जन्य! हमको अत्यन्त सुख दो। ६. हे मरुद्गण! हमारे निमित्त तुम अन्तरिक्ष से वृष्टि को प्रेरित करो। वर्षा करनेवाला तथा सर्वत्र व्याप्त जल गिराओ। हे पर्जन्य! तुम जल सींचनेवाले गर्जनयुक्त मेघ सहित हमारे सामने आओ क्योंकि तुम जल की वर्षा द्वारा हमारा पालन करनेवाले हो। ७. हे पर्जन्य! तुम गर्जनशील होओ। वर्षा द्वारा वनस्पतियों को फलप्रद बनाओ। अपने जलयुक्त रथ से अन्तरिक्ष में घूमो। जलयुक्त मेघ को वृष्टि के लिये प्रेरित करो। ऊँचे नीचे प्रदेशों को समतल करो। ८. हे पर्जन्य। जल के कोषरूप मेघ को उत्तेजित करके वृष्टि कराओ। वेगवती नदियाँ प्रवहित हों। जल द्वारा आकाश और पृथिवी को सींच दो। गौओं को पीने के लिये मधुर जल की कमी न रहे। ९. पर्जन्य! जब तुम गम्भीर गर्जन द्वारा मेघों को चीरते हो तब यह सम्पूर्ण संसार और पृथिवी के सभी जीव बल को प्राप्त करते हैं। १०. हे पर्जन्य! तुमने जलवृष्टि द्वारा मरुभूमि को उर्वरा बनाने के लिये उसे जल से परिपूर्ण कर दिया। मनुष्य के लाभार्थ वनस्पतियों को उगाकर स्तोताओं द्वारा पूजे गये।"[२२३]

---

[२२२] यहाँ दुष्टों का आशय मानने के लिये पर्याप्त कारण प्रतीत नहीं होते, और ९ वें मन्त्र में मेघ-दानव, जो वर्षा को रोकते हैं, भी दुष्ट नहीं है, जैसा कि सायण अपनी व्याख्या में कहते हैं (पापकृतोमेघान्)। कवि ने स्वभावतः यह माना होगा कि वज्र से केवल दुष्ट ही मारे जाते हैं। डा० बूहलर का विचार है कि मेघरूपी दानवों का ही अर्थ है (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट, १.२१७, नोट २)।

[२२३] अन्तिम पद का मैंने प्रो० रॉथ की व्याख्या के अनुसार (देखिये उनके कोश में 'मनीषा') अनुवाद किया है। सायण का अनुसरण करते हुये

ऋग्वेद के अन्य दो सूक्तों, जैसे ७,१०१ और १०२, में भी पर्जन्य की प्रशस्ति है। इस दूसरे सूक्त में केवल तीन ही मन्त्र हैं और प्रथम सूक्त ऊपर उद्धृत तथा अनूदित सूक्त की अपेक्षा कम काव्यात्मक है। इसमें, फिर भी, पर्जन्य को दूसरे की अपेक्षा कुछ महानतर कार्यों और उपाधियों से युक्त किया गया है। यह इस देवता को सम्पूर्ण प्राणियों का अधिपति कहता है (७.१०१, २: यो विश्वस्य जगतो देव' ईशे)। आगे यह पर्जन्य में सम्पूर्ण लोकों और तीनों क्षेत्रों को निहित बताता है (वही ४: यस्मिन् विश्वानि भुवनानि तस्थुस् तिस्रो द्यावः)। सम्पूर्ण चराचर[११४] जगत की आत्मा इसी में स्थित हैं (वही, ६: तस्मिन्न् आत्मा जगतश् तस्तुपश् च)। यह एक स्वतन्त्र राजा है (वही ५: स्वराजे)। ७.१०२,१ में इन्हें द्यौस् का पुत्र (दिवस् पुत्राय) कहा गया है। ऋग्वेद के कुछ फुटकर मन्त्रों में भी पर्जन्य का उल्लेख है, जैसे ४.५७,८; ५.६३, ४.६; ६.५२,६; ७.३५, १०; ८.६,१; ८.२१,१८; ९ २,९; ९.२२, २; १०.६६, ६; १०. ९८,१.८; १०. १६९,२,६ ४९,६; ६.५०,१२; १०.६५,९; १०.६६, १०, में इन्हें वात से (पर्जन्य- वाता, वाता,पर्जन्या), और ६.५२,१६ में अग्नि से (अग्नि-पर्जन्यौ) से सम्बद्ध किया गया है। ९.८२,३ में इन्हें पत्तोंवाले महान् वृष, सोम, का पिता कहा गया है (पर्जन्यः पिता महिषस्य पर्णिनः तुकी० ९.११३,३)।

पर्जन्य डा० बूहलर के दो शोध-निबन्धों का (एक अंग्रेजी में ट्रॉजक्शन्स ऑफ लन्दन फिलॉलॉजिकल सोसाइटी, १८५९, पृ० १५४ और बाद में, तथा दूसरा जर्मन में बेनफे के ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट, भाग १,१८६२, पृ० २१४ और बाद में प्रकाशित) विषय है। इनमें से दूसरा निबन्ध पहले का अनुवाद नहीं है। पहले में ऋग्वेद ५.८३; ७,१०१; और ७.१०२ के अनुवाद हैं, और दूसरे में अवे० ४.१५ का जर्मन अनुवाद सम्मिलित है। उक्त अंग्रेजी निबन्ध में पर्जन्य की लिथुआनियन देवता "पर्कुनस" (गर्जन के देवता) के साथ तुलना है जिसे जर्मन निबन्ध में पुनः उद्धृत नहीं किया गया है। डा० बूहलर पर्जन्य को स्पष्टतः इन्द्र से भिन्न मानते हैं (ट्रा० फिलॉ० सोस० पृ० १६७ और ओ० उ० पृ० २२९)। अंग्रेजी निबन्ध में आप यह

विलसन "तुमने लोगों से सत्य ही हवियाँ प्राप्त की है" अनुवाद करते हैं, और डा० बूहलर भी यही आशय स्वीकार करते हैं। 'प्रजाभ्य.' नि.सन्देह सम्प्रदान अथवा अपादान हो सकता है।

[११४] तुकी० १.११५,१, जहाँ सूर्य के लिये यही बात कही गई है।

कहते हैं (पृ० १६१) : "सम्पूर्ण स्थिति का पर्यालोचन करने पर हम देखते हैं कि पर्जन्य एक ऐसा देवता है जो विद्युत, गर्जन, वर्षा और वनस्पतियों तथा प्राणियों के सृजन का अधिपति है। किन्तु यह किसी भी प्रकार स्पष्ट नहीं है कि यह मूलतः एक वर्षा का देवता है या गर्जन का देवता।" फिर भी, आप पर्जन्य की व्युत्पत्ति की दृष्टि से तथा इसके तथा पर्कुनस के साम्य की दृष्टि से, इसे मूलतः एक गर्जन देवता मानते हैं (पृ० १६१–१६७)। अपने जर्मन निबन्ध में आपका निष्कर्ष (पृ० २२९) यह है कि "पर्जन्य झंझावात और वर्षा का देवता है जो वनस्पतियों तथा जीवित प्राणियों का पोषक और जनक है।"



खण्ड ८

वायु

जसा कि हम पहले ही देख चुके हैं वायु को अक्सर इन्द्र के साथ सम्बद्ध किया गया है। देखिये १.२,४; १.१४,३; १.२३,२; १.१३५,४ और बाद (आ वां रथो नियुत्वान् वक्षद् अवसे अभि प्रयांसि सुधितानि वीतये वायो हव्यानि वीतये। पिबतम् मध्वो अन्धसः पूर्वपेयं हि वां हितम्); १.१३९,१; २ ४१,३; ४.४६,२ और बाद; ४.५७,२ और बाद; ५.५१, ४ ६ और बाद; ७ ९०,५ और बाद; ७.९१,४ और बाद, १०.६५,९; १०,१४१,४। वेद के प्राचीन व्याख्याता इन दोनों देवताओं को घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध मानते थे, क्योंकि यास्क द्वार उद्धृत (निरुक्त ७.५) नैरुक्त जहाँ अग्नि और सूर्य को क्रमशः पार्थिव और दिव्य देवता मानते थे वहीं वायु और इन्द्र को सयुक्त रूप से ऐसे देवता जिनमें से किसी को भी मध्य-क्षेत्र का ही माना जा सकता है : तिस्रः एव देवताः इति नैरुक्ताः अग्नि पृथिवीस्थानो वायुर् वा इन्द्रो वा अन्तरिक्ष-स्थानः सूर्यो द्युस्थानः)। "नैरुक्तों के अनुसार ये तीन देवता हैं : अग्नि जो पार्थिव हैं : वायु अथवा इन्द्र जो अन्तरिक्ष स्थान के देवता हैं; और सूर्य जो द्युस्थानीय हैं", इत्यादि।

वायु का ऋग्वेद में बहुत प्रमुख स्थान नहीं है। यदि हम पुरुषसूक्त (१०.९०,१३) के काल्पनिक वर्णन को, जहाँ इन्हे पुरुष के प्राण से उत्पन्न माना गया है (प्राणाद् वायुर् अजायत), अथवा ७.९०,३ (राये नु यं जज्ञतुः रोदसी इमे) को जहाँ इन्हें आकाश और पृथिवी से उत्पन्न कहा गया है, छोड़ दे तो हमें अन्य कोई ऐसा स्थल ज्ञात नहीं होगा जहाँ वायु की पैतृकता का उल्लेख हो। फिर भी, इन्हें त्वष्टा का जमाता माना गया है (८.२६,२१ : तव वायो ऋतस्पते त्वष्टुर् जामातर् अद्भुत। अवांसि आ वृणीमहे। २२. त्वष्टुर् जामातरं वयं ईशानं रायः ईमहे। सुतावन्तो वायुं द्युम्ना जनास) "हे ऋतस्पति वायु, त्वष्टा के अद्भुत जामाता हम तुम्हारी कृपा चाहते हैं। २२. हवि देते हुये हम मनुष्य, त्वष्टा के जामाता, और धन के अधिपति वायु की शरण में जाकर वैभव प्राप्त करते हैं।" फिर भी इनकी पत्नी का

उल्लेख नहीं है।[225] इन्हें कुछ उपाधियों से भी युक्त किया गया है। इन्हें 'दर्शत' (१.२,१) और 'सुप्सरस्तम' (८.२६,२४) कहा गया है। इन्हें स्वभावतः "क्रन्दद्-इष्टि" (१०.१००,२) अर्थात् क्रन्दन करते हुये आगे बढ़नेवाला कहा गया है। इन्द्र के साथ इन्हें आकाश का स्पर्श करने वाला, मन के समान द्रुतवेगवाला, बुद्धिमान, सहस्राक्ष (दिविस्पृशा, मनोजवा, विप्रा, सहस्राक्षा) कहा गया है (१.२३,२,३)। ये एक देदीप्यमान रथ में चलते हैं जिसे अरुण वर्ण अश्व (१.१३४,३ : वायुर् युङ्क्ते रोहिता वायुर् अरुणा); अथवा अश्वों के अनेक दल (चन्द्रेण रथेन, नियुत्वता रथेन : ४.४८,१; १.१३४,१; १ १३५,४; ४ ४७,१) खींचते हैं। इनके दल में अक्सर निन्यानवे, एक सौ, अथवा कभी कभी एक सहस्र इनकी इच्छा से सम्बद्ध होनेवाले अश्व कहे गये हैं : १.१३५, १.३ (सहस्र नियुता । नियुद्भिः शतिनीभिः । सहस्रिणीभि.); २.४१,१ (सहस्रिणो रथासः), ४ ४८, ४.५ (वहन्तु त्वा मनोयुजो युक्तासो नवतिर् नव); ७.९१,६; ७.९२,१.५। जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है, इन्द्र और वायु अक्सर एक ही रथ पर बैठते हैं : ४.४६,२; ४ ४८,२ (इन्द्रसारथिः । वायो); ७.९१,५ (इन्द्रवायू सरथं यातम् अर्वाक्)। यह रथ आकाश का स्पर्श करता हुआ सुवर्ण का बना है जिसे एक सहस्र अश्व खींचते हैं : ४.४६, ३.४ (आ वां सहस्र हरयः इन्द्रवायू अभि प्रय. । वहन्तु सोमपीतये । रथं हिरण्यवन्धुरम्[226] इन्द्रवायू स्वध्वरम् । आ हि स्थाथो दिवि स्पृशम्)। अन्य देवों की ही भाँति वायु भी सोमपायी हैं। वास्तव में ये अकेले अथवा इन्द्र के साथ, अन्य देवों की स्वीकृति से सोम की प्रथम हवि के अधिकारी हैं : १,१३४,१; १.१३५, १.४ (तुभ्य हि पूर्वपीतये देवा देवाय येमिरे । ४. पूर्वपेयं हि वां हितम); ४.४६,१ (त्व हि पूर्वपाः असि); ५.४३,३ ; ७.९२,२ (प्र यद् वां मध्वः अग्रियम् भरन्ति अध्वर्यवः); ८.१६,२५।[227] यह उल्लेखनीय है कि

---

[225] सायण कोई सहायता नही देते। आप केवल इतना ही कहते हैं : 'एषा कथा इतिहासादिभिर् अवगन्तव्या'। त्वष्टा के खण्ड में हम लोग देखेंगे कि ऋग्वेद १०.१७,१ और बाद, के अनुसार इनके एक सरण्यू नामक कन्या थी जो विवस्वत् की भार्या बनी; किन्तु विवस्वत् वायु नही हैं।

[226] 'वन्धुर' शब्द के लिये देखिये अश्विनों का खण्ड।

[227] इस विषय पर हमे ऐतरेय ब्राह्मण २ २५ में यह कथा मिलती है : 'देवा वै सोमस्य राज्ञोऽग्रपेये न समपादयन् 'अहम् प्रथम पिबेयम्" "अहम् प्रथम पिबेयम्" इत्यु एव अकामयन्त। ते सम्पादयन्तोऽब्रुवन् "हन्त आजिम् इयाम स योनः उज्जेष्यति स प्रथमः सोमस्य पास्यति" इति। "तथा" इति।

वायु को मरुद्गणों के साथ कदाचित् ही सम्बद्ध किया गया है; किन्तु एक स्थान (१.१३४,४) पर इन्हें दिव्यलोक की नदियों से उत्पन्न कहा गया है (अजनयो मरुतो वक्षणाभ्यो दिवः आ वक्षणाभ्यः); और एक अन्य स्थान पर (१.१४२,१२) इन्हें पूषा, मरुद्गणों और विश्वेदेवों (पूषण्वते मरुत्वते विश्वदेवाय वायवे) से सेवित कहा गया है।

वायु के ही एक अन्य नाम 'वात' को सम्बोधित ऋग्वेद के सूक्त इस प्रकार हैं :

१०.१६८,१ : वातस्य नु महिमानम् रथस्य रुजन्न् एति स्तनयन्न् अस्य घोषः । दिविस्पृग् यात्य् अरुणानि कृण्वन्न् उतो एति पृथिव्याः रेणुम् अस्यन् । २. सम् प्रेरते अनु वातस्य विष्ठाः आ एनं गच्छन्ति

ते आजिम् अयुः । तेषाम् आजिं यताम् अभिसृष्टानां वायुर् मुखम् प्रथमः प्रत्यपद्यत अथ इन्द्रोऽथ मित्रावरुणाव् अथ अश्विनौ । सोऽवेद इन्द्रो वायुम् उद् वै जयति इति तम् अनु परापतत् । स ह "नाव् अथ उज्जयाव" इत्य अब्रवीद् "अहम् एव उज्जेष्यामि" इति । "तृतीयम् मेऽथ उज्जयाव" इति । स 'न' इति ह एव अब्रवीद् 'अहम् एव उज्जेष्यामि" इति । "तुरीयम् मेऽथ उज्जयाव इति ।" "तथा" इति । तं तुरीयेऽत्यार्जत । तत् तुरीय-भाग् इन्द्रोऽभवत् त्रिभाग् वायुः । तौ सह एव इन्द्रवायू उदजयतां सह मित्रावरुणौ सह अश्विनौ"। "देवगण राजा सोम को प्रथम सोमपान का अधिकार देने के लिये सहमत नहीं हुये; किन्तु प्रत्येक ने इच्छा की कि 'हम पहले पान करें' 'हम पहले पान करें'। किन्तु सबने सहमत होकर कहा : 'हम एक दौड़ दौड़े, जो विजेता होगा वही पहले सोमपान करेगा।' उन सबने कहा 'ठीक है'। तदनुसार सब दौड़े; और जब उन्होंने दौड़ आरम्भ की तब सबसे पहले वायु, फिर इन्द्र, फिर मित्र और वरुण और अन्त में अश्विन् गन्तव्य स्थान पर पहुँचे। इन्द्र ने सोचा कि वह वायु को पराजित कर देंगे इसलिये वे उनके बहुत पास ही दौड़ रहे थे। उन्होंने वायु से कहा : 'आओ हम दोनों विजेता हो जायँ'। वायु ने कहा 'नहीं; मैं ही विजेता हूँ।' इन्द्र ने कहा कि 'हम ऐसे जीतें कि हमें तृतीय पान का अधिकार मिले।' वायु ने कहा 'नहीं, मैं अकेले ही विजेता होऊँगा।' इन्द्र ने कहा कि 'हम ऐसे जीतें कि मुझे चौथा स्थान मिले।' वायु सहमत हो गये। वायु ने इन्द्र को चौथा अधिकार दिया इसलिये चार में से वायु का तीन और चौथा इन्द्र का भाग होता है। इस प्रकार इन्द्र और वायु एक साथ और फिर क्रमशः मित्र और वरुण, तथा दो अश्विनीकुमार विजयी हुये।" इसी प्रकार दौड़ के आधार पर निर्णय की एक अन्य कथा के लिये देखिये ऐत० ब्रा० ४.७ और बाद।

समनं न योषाः । ताभिः सयुक् सरथं देवः ईयते अस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा । ३. अन्तरिक्षे पथिभिर् ईयमानो न नि विशते कतमच् चन अहः । अपां सखा प्रथमजाः ऋतावा क्व स्विज् जातः कुतः आबभूव । आत्मा देवानाम् भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देवः एषः । घोषाः इद् अस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम । "रथ के समान वेगवान् वात की महिमा की मैं प्रशस्ति करता हूँ । इनका शब्द वायु के समान घोर शक्तिवाला है । यह वृक्षादि का तोड़ फोड़ करते हुये आते हैं । यह सब ओर के वर्ण को बदलते हुये जाते हैं । यह पृथिवी के रजकणों को सब ओर बिखेरते हैं । २. इन वात के वेग से चलने पर पर्वत तक कम्पित होते हैं । जैसे अश्व युद्धस्थल की ओर गमन करता है, वैसे ही पर्वत आदि सब वायु के आश्रम में जाते हैं । अश्वों की सहायता से रथारूढ़ हुये वात देवता सब लोकों के राजा के समान गमन करते हैं । ३. वात जब अन्तरिक्ष में वेग से चलते हैं तब वे कठिनता से स्थिर होते हैं । यह जल के बन्धु एवं जल के आगे प्रगट होनेवाले हैं । इनका स्वभाव सत्य से पूर्ण है । ४. वात देवता प्राणरूप हैं यह लोकों के अपत्य के समान हैं । यह इच्छानुसार विचरण करते हैं ।[२२८] इनके रूप के प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होते । इनके गमन का शब्द सुना जाता है । हम उपासकगण अपने यज्ञ में श्रेष्ठ हविरन्न द्वारा इन वात का पूजन करते हैं ।

१०.१८६, १ः वातः आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे । २. प्र नः आयूंषि तारिषत् । उत वात पिताऽसि नः उत भ्राता उत नः सखा । स नो जीवातवे कृधि । ३. यद् अदो वात ते गृहे अमृतस्य निधिर् हितः । ततो नो देहि जीवसे ।

"वात देवता औषधि के समान गुणकारी होकर हमारे पास आवें । वे हमारी आयु की वृद्धि करें और मंगलमय तथा सुखकारी हों ।[२२९] २. हे वात ! तुम हमारे पिता और भ्राता हो । हमारे जीवन के लिये ओषधियों को गुणवती करो । ३. हे वात ! तुम्हारे धाम में अमृत की जो निधि प्रतिष्ठित है उसके द्वारा हमारे शरीर को जीवन दो ।"

यहाँ उन्हीं गुणों को वात पर आरोपित किया गया है जो अन्यत्र रुद्र पर आरोपित हैं, अर्थात् ओषधियों को लाने के गुण ।



---

[२२८] तुकी० सेण्ट जॉन का गॉस्पेल ३.८ ।

[२२९] तुकी० १.८९,४ ।

खण्ड ९

मरुद्गण

(१) इनकी पैतृकता और उपाधियाँ, तथा गुण और कर्म

झंझावात[२३०] के देवता मरुद्गण अथवा रुद्रगण, जिनके दल में साठ के तिगुने (८.८५,८ : त्रिः षष्टिस् त्वा मरुतो ववृधानाः), अथवा केवल सत्ताइस (१.१३३,६ : त्रिसप्तैः शूर सत्वभिः)[२३१] सदस्य हैं, रुद्र और पृश्नि[२३२] के पुत्र हैं (रुद्रस्य मर्याः । रुद्रस्य सूनवः । रुद्रस्य सूनून् । रुद्रस्य पुत्राः । इदम् पित्रे मरुताम् उच्यते वचः । पितर् मरुतां...रुद्र । पृश्नि वोचन्त मातरम् । अध पितरम् इष्मिणं रुद्रं वोचन्त । युवा पिता स्वपाः रुद्रः एषां सुदुघा पृश्निः । सुदिना मरुद्भ्यः । पृश्निमातरः । असूत पृश्निर् महते रणाय त्वेषम् अयासाम् मरुतां अनीकम् । गोमातरः । गौर् धयति मरुतां श्रवस्युर् माता मघोनाम्) ।[२३३] अथवा ये चितकबरी गाय हैं

[२३०] प्रो० वेनफे ऋग्वेद १.६,४ की एक टिप्पणी में कहते है कि मरुत् ('मर्' धातु से व्युत्पन्न) मृतकों की आत्मा के मूर्तीकरण हैं ।

[२३१] देखिये अवे० १३.१,३ भी जहाँ यही अल्प संख्या दी हुई है (त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसम्मुदः) । सायण ऋग्वेद ८.२८,५ से 'सप्तानां सप्त ऋषयः' शब्द की यह कहकर व्याख्या करते हैं कि यह एक प्राचीन कथा का द्योतक है जिसके अनुसार इन्द्र ने अदिति के गर्भ के सात टुकड़े कर दिये थे जिससे मरुद्गण उत्पन्न हुये । इसी कथा को सायण ने ऋग्वेद १.११४,६ पर और विस्तार से कहा है—जहाँ यह कहा गया है कि असुरों की माता दिति के गर्भ के इन्द्र ने पहले सात टुकड़े किये; फिर प्रत्येक टुकड़े को सात-सात में उपविभाजित कर दिया । देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा भाग भी ।

[२३२] रॉथ के निरुक्त (१० ३९, पृ० १४५) में इसे चितकबरे मेघों का द्योतक माना गया है । अपने कोश में यही लेखक कहता है कि गाय के अन्य नामों की ही भाँति इस शब्द का लाक्षणिक रूप से पृथिवी, मेघ, दूध, तारोंभरे आकाश आदि का द्योतक होने के रूप में प्रयोग किया गया है । २.३४,२ पर सायण एक कथा देते हैं जिसमें वृषभ रूप रुद्र ने पृश्नि से मरुतों को गौ के रूप में उत्पन्न किया ।

[२३३] तैत्तिरीय सं० २.२,११,४ यह कहा है : पृश्नियै वै पयसो मरुतो जाताः ।

(१.६४,२; १.८५,१ और बाद; १.११४,६; १.११८,९; २.३३,१; २.३४,२; ५.४२,१५; ५.५२,१६; ५.६०,५; ५.५९,६; ६.५०,४; ६.६६,३; ७.५६,१; ८.७,३.१७; ८.२०,१७; ८ ८३,१)। फिर भी इन्हें इन्द्र के पुत्रों के समान कहा गया है (सा सूनुभिर् न रुद्रेभिः, १.१००,५); और इन्हें 'सिन्धु-मातरः' भी कहा गया है चाहे इसे हम पार्थिव समुद्र माने या अन्तरिक्षीय (१० ७८,६)। ये 'दिवस-पुत्रासः' (१०.७७,२) और 'दिवो-मर्याः' (३.५४, १३; ५ ५९,६) भी हैं। ५ ५६,८ में मरुतों के रथ का उल्लेख है (आ यस्मिन् तस्थौ सुरणानि बिभ्रती सचा मरुत्सु रोदसी)। इस पर सायण यह टीका करते हैं कि रोदसी रुद्र की पत्नी और मरुद्गणों की माता है, अथवा रुद्र वायु हैं और उनकी पत्नी मध्यवर्ती या अन्तरिक्षीय देवी (रोदसी रुद्रस्य पत्नी मरुताम् माता ; यद्वा रुद्रो वायुः । तत्-पत्नी माध्यमिकादेवी); ये अक्सर इन्द्र के साथ सम्बद्ध हैं। तुकी० उन अभिव्यक्तियों को जो इन्हें इन्द्र के सखा, मित्र और उनका बलवर्धन करनेवाले तथा उनकी महानता के गायक कहती हैं : मरुत्वन्तम् इन्द्रम्। इन्द्र-ज्येष्ठाः मरुद्गणाः । सखिभिः स्वेभिर् एवैः। ये ते शुष्मं ये तविषीम अवर्धन्न् अर्चन्तः इन्द्र मरुतस् ते ओजः। पिब रुद्रेभिः सगणः। ये त्वा अनु अहन् वृत्रम् अदधुस् तुभ्यम् ओजः । अर्चन्ति त्वा मरुतः पूतदक्षास् त्वम् एषाम् ऋषिर् इन्द्रासि धीरः। रुद्रासः इन्द्रवन्तः। अयम् इन्द्रो मरुत्-सखाः। बृहद् इन्द्राय गायत मरुतः। १.२३; ७.८; १.१००, १ और बाद; १.१०१,१ और बाद; ३.३२,२.४; ३.३५,९; ३.४७,१ और बाद; ३.५१,७ और बाद; ५.२९,१.२.६; ५.५७,१; ७.३२,१०; ७.४२,५, ८.३६,१ और बाद, ८.५२, १०; ८.६५,१ और बाद; ८.७८,१ और बाद; ८.८५,७ और बाद; १० ७३,१; ९९ ५, १०.११३,३)। किन्तु अनेक सूक्तों में इनकी पृथक् रूप से प्रशस्ति है (जैसे १.३७; १.३८; १ ३९, १ ६४, १,८५; १.८६; १.८७, १,८८; १ १६६); इन सूक्तों का मक्समूलर ने अपने ऋग्वेद के अनुवाद के प्रथम भाग में अनुवाद किया है। देखिये १ १६७; १.१६८; ५.५२; ५.५३, ५.५४; ५ ५५; ५.५६, ७.५६; ७.५७, ७.५८, इत्यादि भी। ये कुछ ऋषियों के प्रिय देवता हैं और अक्सर अत्यन्त काव्यात्मक शैली में इनकी स्तुति की गई है। ये प्रज्वलित अग्नि के समान हैं, इनका रंग हिरण्यवर्ण, और तेज सूर्यवत है (ये अग्नयो न शोशुचन्न् इधानाः। अरेणवः। हिरण्यासः। सूर्यत्वचः। अरुणप्सव'; ६.६,२;७, ५९,११;।८.७,७)। इनकी नीले हंसों के साथ भी तुलना की गई है (हंसासो नीलपृष्ठाः, ७.५९,७), और कभी-कभी इन्हें बालकों अथवा बछड़ों के समान क्रीड़ा करनेवाला कहा गया है

(क्रीळन्ति क्रीळाः। शिशूलाः न क्रीळयः सुमातरः। वत्सासो न प्रक्रीळिनः। १.१६६,२; ७.५६,१६; १०.७८,६)। इनका इस प्रकार मूर्तीकरण किया गया है : ५.५४,११ : असेषु वः ऋष्टयः पत्सु खादयो वक्षस्सु रुक्माः मरुतो रथे शुभः। अग्निभ्राजसो विद्युतो गभस्त्योः शिप्राः शीर्षसु वितताः हिरण्ययी। "हे मरुद्गण! तुम्हारे कन्धों पर भल्ल सुशोभित हैं; पाँवों में रक्षा करनेवाले कटक, वक्ष पर हार और रथ पर दीप्ति चमकती है। तुम्हारे दोनों हाथों में चमकती हुई किरणें और सर पर सुवर्णमय मुकुट[238] हैं।" तुकी०

[238] २.३४,३ मे 'हिरण्य-शिप्रा' उपाधि इन देवो के लिये व्यवहृत है। इसकी सायण 'सुवर्णमय-शिरस्त्राणाः' के रूप में व्याख्या करते हैं। 'शिप्रा' का एक अर्थ 'शिरस्त्राण' है यह ५ ५४,११ से निश्चित हो जाता है जहां "शिप्राः शीर्षसु वितता. हिरण्ययी' शब्द आते हैं और ८.७,२५ से भी जहां यह कहा गया है:'शिप्रा शीर्षन् हिरण्ययी "व्यञ्जत श्रिये।" इनमे से प्रथम स्थल पर सायण 'शिप्राः' का अर्थ 'पगडी' और दूसरे पर 'शिरस्त्राण' करते हैं। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि इन स्थलो पर 'शिप्रा' किसी ऐसी वस्तु का द्योतक है जो शिर के ऊपर धारण की जाती थी। इसका मुखाकृति जैसा कोई अर्थ नही है जो इसका अवसर इन्द्र के लिये व्यवहृत होने पर किया जाता है। इस प्रकार १.९,३ पर सायण ने 'सुशिप्र' का 'शोभन-हनो शोभन-नासिका वा' अर्थ किया है क्योंकि आप कहते हैं कि यास्क के अनुसार 'शिप्र' का मुख के इन्ही दो भागो मे से किसी का तात्पर्य है (निरुक्त ६ १७)। १.२९,२; १ ८१,४; और १.१०१,१० पर भी सायण ने यही व्याख्या की है। ३ ३०,३ पर आप यह कहते है : 'शिप्र शब्देन शिरस्त्राणम् अभिधीयते। शोभन-शिरस्त्राणोपेत·। यद्वा शोभन-हनुमान्।' ३ ३२,१; ३.३६,१०, ८ १२,४.२४; ८ ३३,७; ८ ५५,४; आप पुन बाद वाले अर्थ पर ही लौट आते हैं। ८·१७,४; ८ ८१,४; ८ ८२,१२ पर आप पुन ३.३०.३ की ही भांति वैकल्पिक व्याख्या करते है। प्रो० ऑफरेख्त ने मुझे 'शिप्र' शब्द पर अपनी टिप्पणी दी है जिसकी मुख्य बातें ये हैं . शिप्र का द्विवचन मे 'इन्द्र' अर्थ है (१.१०१, ३ ३२,१; ५.३६,२; ८.६५,१; १० ९६,९, १०.१०५,५)। 'शिप्रवत्' का दीर्घ हनु अर्थ है (६.१७,२)। शिप्रिन् का भी यही अर्थ है और इसका इन्द्र के लिये प्रयोग हुआ है १.२९,२; १.८४; १;३ ३६,१० इत्यादि। प्रो० आफरेख्त 'शिप्रिणी' का एक पेय अर्थ मानते हैं। शिप्रजीवत् (१० १०५,५) पेयवाला अर्थ होगा। ५.५४,११ और ८.७,२५, मे शिप्राः का बाँक अर्थ है जिसके दोनो भागो की जबडो के दोनो भागो के साथ तुलना की गई है। अयः-शिप्र का ऋभुओ के लिये प्रयोग हुआ है (४,३७,४) जिसका भी यही अर्थ होगा।

१.६४,४; १.१६६,१०; २.३४,२.३ (द्यावो न स्तृभिश् चितयन्त खादिनः) ५.५३,४ (जहाँ इन्हें अस्त्रों तथा आभूषणों के साथ-साथ पुष्पहारों से भी अलंकृत कहा गया है : ये अञ्जिषु ये वाशीषु स्वभानवः स्रक्षु रुक्मेषु खादिषु । श्राया: रथेषु धन्वसु); ५.५५,१; ५.५७,५.६ (विश्वा वः श्रीर् अधि तनूषु पिपिशे); ५.५८,२ (खादिहस्तम्); ७ ५६, ११.१३ (असेषु वो मरुतः खादय)[२३५]; ८.७,२५; ८.२०,४ (शुभ्रखादयः) ११.२२; १०.७८,२ । ये हिरण्य अस्त्रों, विद्युत, वज्र और अग्नि की प्रज्वलित लपटों से सज्जित तथा प्रबल वायु के वेग से चलते हैं : ५.५४,३ (विद्युन्महसो नरो अश्मदिद्यवो वातात्विषो मरुतः); ८.७,४.१७.३२ (वज्रहस्तै··· मरुद्भिः···हिरण्यवाशीभिः); १०.७८,२.३ (वातासो न ये धुनयो जिगत्नवो अग्नीनां न जिह्वाः विरोकिनः)। ये वृत्र को तोड़कर टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं (८.७,२३ : वि वृत्रम् पर्वशो ययुः)। ये वर्षा का परिधान धारण करते हैं (५.५७,४ वर्षनिर्णिजः)। ये दिन के समय भी अन्धकार उत्पन्न कर देते हैं; वर्षा के मेघों से संसार में सर्वत्र वर्षा का वितरण करते हैं; पृथिवी को सींचकर ताप को दूर भगाते हैं : १.३८,९ (दिवा चित् तमः कृण्वन्ति पर्जन्येन उदवाहेन, यत् पृथिवीं व्युन्दन्ति); ५.५४,१ (शर्धाय मारुताय··घर्मस्तुभे); ५.५५,५ (उद् ईरयथा मरुतः समुद्रतो । यूयं वृष्टिं वर्षयथ पुरीषिणः); ८.७,४ (वपन्तु मरुतोमिहम । १६. ये द्रप्साः इव रोदसी धमन्ति अनुवृष्टिभिः)।[२३६] ये सूर्य के लिये एक पथ खोलते हैं ८.७,८ : सृजन्ति रश्मिम् ओजसा पन्थां सूर्याय यातवे)। ये पर्वतों, पृथिवी, और दोनों लोकों को कम्पित करते हैं : १.३९,५ (प्र वेपयन्ति पर्वतान्); १.८७,३ (रेजते भूमि.); ५.५४, १२ (पर्वतच्युतः); ५.६०,२ और बाद (वो भिया पृथिवी चिद् रेजते पर्वतश् चित पर्वतश चिन् महि वृद्धो बिभाय दिवश् चित् सानु रेजते स्वने व); ७.५७,१ (ये रेजयन्ति

---

[२३५] 'खादि' के आशय के लिये देखिये मूलर का ऋग्वेद का अनुवाद पृ० १०२,२१८।

[२३६] अथर्ववेद के एक मन्त्र (४ २७,२) में यह कहा गया है कि मरुद्गण गायों के दूध को, पौधों के अंकुरों को, और अश्वो को गति प्रदान करते हैं (पयो धेनूनां रसम् ओषधीनां जवम् अर्वतां कवयो ये इन्वथ); और ४ मन्त्र में इन्हें समुद्र के जल को आकाश में उठाने और वहाँ से पृथिवी पर वर्षा करानेवाला कहा गया है (अपः समुद्राद् दिवम् उद्वहन्ति दिवस् पृथिवीम् अभि ये सृजन्ति)।

रोदसी चिद् उर्वी); ८.७,४; ८.२०,५। ये वृक्षों को तोड़ते हैं और हाथियों के समान वनों का भक्षण करते हैं : १.३९,५; १.६४,७ (वि विभ्रन्ति वनस्पतीन्। मृगाः इव हस्तिनः खादथ वना)। इनके दाँत लोहे के हैं (१.८८,५ : अयोदंष्ट्रान्); ये सिंहों के समान गर्जन करते हैं (१.६४,८ : सिंहाः इव नानदति); सभी प्राणी इनसे भयभीत रहते हैं (१.८५,८ : भयन्ते विश्वा भुवना मरुद्भ्यः)। इनके आयुध भी विभिन्न प्रकार के हैं—भाले, धनुष, तरकस, और बाण (वासीमन्तः ऋष्टिमन्तः। इषुमन्तो निषङ्गिन.), ५.५७,२; ५.५७,२। इनकी गति मन के समान वेगवान है मनोजुवः, १.८५,४)। ये अपने हाथ में कशा लेकर चलते है (कशाः हस्तेषु, १.३७,३; १.१६८,४)। इनका रथ हिरण्यमय (हिरण्यरथाः ५.५७,१) है जिसमें सोने के चक्र लगे हैं (हिरण्येभिः पविभिः। हिरण्यचक्रान्; १ ६४,११; १.८८,५) जिसे अरुण-पिशङ्ग अश्व खींचते हैं और चलते समय यह रथ विद्युत का प्रकाश उत्पन्न करता चलता है : १.८८, १.२ (आ विद्युन्मद्भिः रथेभिर् ऋष्टिमद्भिर् अश्वपर्णैः। अरुणेभिः पिशङ्गैर अश्वैः); ३.५४,१३ (विद्युद्रथाः मरुतः ऋष्टिमन्तः); ५.५७,४ (पिशङ्गाश्वाः अरुणाश्वाः)। जो पशु इनके रथ को खींचते हैं उन्हें कुछ स्थानों पर 'पृषतीः' (१.३७,२; १.३९,६; १.८५,५; ८.७,२८) उपाधि से व्यक्त किया गया है जिसका प्रो० विल्सन—ऋग्वेद १.३७,२[२३७] पर सायण का अनुसरण करते हुये—"चितकबरा मृग" अनुवाद करते हैं। किन्तु १.३८,१२ में मरुतों के अश्वों का ही उल्लेख है और ८.७,२७ में भी ऐसा ही है जहाँ अश्वों को "हिरण्य-पाणिभिः" कहा गया है; यद्यपि अगले ही मन्त्र (२८) में पुनः 'पृषतीः' तथा साथ ही साथ "प्रष्टिः रोहितः" कहा गया है जो इमें १.३९,६ में भी मिलता है और जिसे सायण या तो एक तीव्रगामी हिरन अथवा हिरनियों के आगे सम्बद्ध हिरन के अर्थ में ग्रहण करते हैं। १.८७,४ में स्वयं मरुद्गणों को 'पृषद्-अश्व' उपाधि से विभूषित किया गया है। वास्तव में इसे सायण ने "अश्वों के स्थान पर सफेद चित्तियों वाली हिरनियों" के अर्थ ग्रहण किया है,[२३८] किन्तु ५.५४, २.१० और ५.५५,१ पर अपनी टीका में, जहाँ मरुतों के अश्वों की पुनः चर्चा है (न वो अश्वाः श्रथयन्त। ईयन्ते

[२३७] पृषत्यो बिन्दु-युक्ता. मृग्यो मरुत्-वाहन भूताः। "पृषत्यो मरुताम्" इति निघण्टाव् उक्तत्वात्।

[२३८] बेनफे (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट २.२५०) मृगों का आशय ही मानते हैं। ७.५६,१ में मरुतों को 'स्वश्वा.' कहा गया है जिसकी सायण 'शोभन-वाहाः' के रूप में व्याख्या करते हैं।

अश्वे सुयमेभिर् आशुभिः), सायण अपनी इस व्याख्या को दोहराते नहीं। ५.५५,६ में, जहाँ मरुतों के रथ में सम्बद्ध अश्वों का उल्लेख है, सायण 'पृषतीः' से या तो चितकबरी अश्वियाँ अथवा हिरनियों का अर्थ ग्रहण करते हैं (पृषती'''पृषद्-वर्णाः वडवाः। सारंगी वा अत्र अश्व-शब्द-वाच्या)। २.६४,३ में 'पृषतीभिः' पर अपनी टीका में सायण कहते हैं कि ये सफेद धब्बोंवाली हिरनियाँ अथवा अश्वियाँ हो सकती हैं; और ५.५७,३ में आप 'पृषतीः' की 'अश्वाः' द्वारा व्याख्या करते हैं। प्रो० ऑफरेख्त का, जिन्होंने मुझे 'पृषतीः' शब्द पर एक टीका से अनुगृहीत किया है, यह विचार है कि उन सभी स्थलों को जिनमें यह मरुतों के सन्दर्भ में आता है, इसका अर्थ अश्वियाँ ही होना चाहिए।[२२९] सम्भवतः प्रो० मूलर (ऋग्वेद का अनुवाद, १, पृ० ५९) के साथ यह मानना ही सर्वश्रेष्ठ है कि वैदिक कवि दोनों ही विचार रखते थे, क्योंकि ये एक ही सूक्त में, और यहाँ तक कि एक

---

[२२९] पृषद्-अश्व' और 'पृषत्' के आशय के सम्बन्ध मे प्रो० ऑफरेख्त ने अनेक स्थलो का उल्लेख किया है जैसे, अमर पर रायमुकुट, वास० २४.११, १८, शतब्रा० ५ ५,१,१,१० और ५.५,२,९। आपने ऋग्वेद के एक अन्य मन्त्र (५.५८,६) का भी सकेत किया है जहाँ 'पृषतीभिस्' को स्त्रीलिङ्ग मे 'अश्वैः' पुल्लिङ्ग के साथ संयुक्त किया गया है। (प्रो० मूलर : ऋग्वेद का अनुवाद १ ५९ इस प्रकार अनुवाद करते हैं : "जब तुम मृग, अश्वो और रथो के साथ आते हो")। ऑफरेख्त आगे यह भी कहते हैं कि ८.५४, १०.११ का यह अर्थ नहीं हो सकता कि ऋषि ने एक सहस्र मृग प्राप्त किये। (शब्द ये हैं. दाता मे पृषतीना राजा हिरण्यवीनाम्। मा देवाः मघवा रिषत्। ११ सहस्रे पृषतीनाम् अधि श्चन्द्रम् बृहत् पृथु। शुक्र हिरण्यम् आददे)। यहाँ सायण इन्द्र को एक दानी सरक्षक बनाते हैं और स्तोताओ को देवताओ से इसलिये स्तुति करनेवाला बताते हैं कि वे इन्द्र को पराजित होने से बचायें। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रो० रॉथ भी एक समय 'पृषत्य' से एक प्रकार के मृग का आशय मानते थे (कोश में 'एत' शब्द के अन्तर्गत टिप्पणी मे)। फिर भी अपने कोश के एक बाद के संस्करण में आप 'पृषत्य.' को मरुद्गणों के दल का द्योतक मानते हैं। भाष्यकारो की साधारण मान्यता के अनुसार इसका अर्थ चितकबरा मृग अर्थ है किन्तु यह न तो निरुक्त से और न किसी ब्राह्मण से ही पुष्ट होता है। आप कहते हैं कि फिर भी ऐसा कुछ नही जो हमे इस शब्द को चितकबरी अश्वियो का द्योतक मानने से रोक सके, क्योंकि मरुद्गणों के अश्वो का अक्सर ही उल्लेख मिलता है।

ही मन्त्र में चितकबरे मृगों और मरुतों के अश्वों दोनों की चर्चा करते हैं।"

निम्नलिखित मंत्रों (८.८१,९ और बाद) में मरुतों को उच्च दिव्य कर्मों से संयुक्त किया गया है; आ ये विश्वा पार्थिवानि पप्रथन् रोचना दिवः। मरुतः सोमपीतये। १०. त्यान् नु पूतदक्षसो दिवो वो मरुतो हुवे अस्य सोमस्त पीतये। ११. त्यान् नु ये वि रोदसी तस्तभुर् मरुतो हुवे। अस्य सोमस्य पीतये। १२. तं नु मारुतं गणं गिरिष्ठां वृषणं हुवे। अस्य सोमस्य पीतये। "९–१० मैं उन मरुतों का इस सोम का पान करने के लिये आवाहन करता हूँ जिन्होंने सम्पूर्ण पार्थिव लोकों को तथा आकाश के प्रकाशित नक्षत्रों को फैलाया; मैं दिव्यलोक से उन शुद्ध शक्तिवाले मरुतों को बुलाता हूँ। ११. मैं उन मरुतों को इस सोमपान के लिये बुलाता हूँ जिन्होंने दोनों लोको को पृथक् करके धारण किया है। १२. मैं उन शक्तिशाली मरुद्गणों को इस सोमपान के लिये बुलाता हूँ जो पर्वतों में वास करते हैं।"

मरुद्गणों अथवा रुद्रगणों (अपने पिता रुद्र की ही भाँति, देखिये, प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा भाग) का एक सूक्त (८.२०, २१.२५) में सिन्धु, असिक्नी, समुद्रों और पर्वतों की ओषधियों को लाने के लिये आवाहन किया गया है: मरुतो मारुतस्य नः आ भेषजस्य वहत। यद् सिन्धौ यद् असिक्न्यां यत् समुद्रेषु'''यत् पर्वतेषु भेषजम्)।

(२) इन्द्र के साथ मरुतों का सम्बन्ध :—दोनों के प्रतिद्वन्द्वी अधिकार

प्रो० विलसन का विचार है (ऋग्वेद २, प्रस्तावना, पृ० ७, और नोट पृ० १४५, १६०) कि कुछ सूक्तों में इन्द्र तथा मरुतों की उपासना की प्राथमिकता के सम्बन्ध में दोनों के अपने अपने उपासकों के बीच विवाद के कुछ चिह्न इङ्गित होते हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के पहले मण्डल के १६५ वें और १७० वें सूक्त में हमें वार्तालाप मिलते हैं—प्रथम दशा में इन्द्र और मरुतों के बीच और दूसरी दशा में इन्द्र और अगस्त्य के बीच, जिनमें इन देवताओं के प्रतिद्वन्द्वी अधिकार प्रगट होते हैं। इन्द्र पूछते हैं: १ १६५,६ : क्व स्या वो मरुतः स्वधा आसीद् यन् माम् एकम् समधत्ता अहिहत्ये। अहं हि उग्रस तविषस् तुविष्मान् विश्वस्य शत्रोर् अनमं वधस्नैः। ७. भूरि चकर्थ युज्येभिर् अस्मे समाने भिर् वृषभ पौंस्येभिः। भूरीणि हि कृणवाम शविष्ठ इन्द्र क्रत्वा मरुतो यद् वशाम। ८. वधीं वृत्रम् मरुतः

इन्द्रियेण स्वेन भामेन। "तुम्हारी, हे मरुतो! निहित शक्ति कहाँ थी जब तुमने मुझे अकेले[280] ही अहि के साथ युद्ध में जाने दिया? वह भयंकर, उग्र, शक्तिशाली, स्फूर्तिमान मैं ही था जिसने अपने शत्रुओं को अपने शस्त्रों से पराजित किया था"। मरुद्गण उत्तर देते हैं: "हे बलवान देवता, हमारी सहायता से तथा हमारी समान शक्ति से ही तुमने महान कर्म किये हैं; क्योंकि, हे शक्तिशाली इन्द्र! हम मरुद्गण इच्छा होने पर अनेक महान् कर्म कर सकते हैं।" इन्द्र उत्तर देते हैं: "८. मरुद्गण! मैंने अपनी ही शक्ति से वृत्र का वध किया है; मैं अपने क्रोध में महान् हूँ", इत्यादि।

१.१७० पर निरुक्त (१.५) यह कहता है कि "इन्द्र के लिये हवि तैयार करने के बाद अगस्त्य ने मरुतों को भी उसमें से एक अंश देना चाहा। इस पर इन्द्र ने आकर शिकायत की (अगस्त्यः इन्द्राय हविर् निरुप्य मरुद्भ्यः सम्प्रदित्सां चकार। स इन्द्रः एत्य परिदेवयाञ्चक्रे)। मरुतों ने यह उत्तर दिया: १.१७०, २: किं नः इन्द्र जिघांससि भ्रातरो मरुतस् तव। तेभिः कल्पस्व साधुया मा नः समरणे वधीः। ३. किं नो भ्रातर् अगस्त्त सखा सन्न् अति मन्यसे। विद्म हि ते यथा मनो अस्मभ्यम् इन न दित्ससि। "हे इन्द्र! तुम हमें क्यों मारना चाहते हो? मरुद्गण तुम्हारे भ्राता हैं। उनके प्रति स्नेह का व्यवहार करो। युद्ध में हमें मत मारो।"[281] इन्द्र तब अगस्त्य से कहते हैं: (मन्त्र ३): "हे भ्राता अगस्त्य, हमारे मित्र होते हुये हमारा तिरस्कार क्यों करते हो? हम तुम्हारे मन को जानते हैं। तुम हमें कुछ नहीं दोगे।" देखिये रॉथ (निरुक्त, पृ० ६)। १.१७१,४ में भी मरुतों की कृपा का आवाहन करने के बाद ऋषि उनसे क्षमा माँगते हुये यह कहता है: अस्माद् अहं तविषाद् ईषमाणः इन्द्राद् भिया मरुतो रेजमानः। युष्मभ्यं हव्या निशितानि आसन् तानि आरे चकृम मृळत नः। "शक्तिशाली इन्द्र के भय से भयभीत होकर मैं भाग गया। हवियाँ तुम्हारे लिये प्रस्तुत की गई थीं; हमने उन्हें अलग रख दिया; हम पर दया करो।" (तुकी० ऋग्वेद ४.१८,११; ८.७,४१ और ८.८५,७)। देखिये प्रो० मूलर का अनुवाद तथा वहाँ पृ० १७० और बाद, की टिप्पणियों में उनके द्वारा की गई सम्पूर्ण व्याख्या। इस सूक्त का तैत्तिरीय ब्राह्मण २ ७,११,१ में इस प्रकार की कथा के रूप में सन्दर्भ मिलता है: अगस्त्यो मरुद्भ्यः उक्ष्णः प्रौक्षत्। तान् इन्द्र. आदत्त। ते एनं वज्रम् उद्यत्य अभ्यायन्त। तान्

[280] देखिये ऊपर नोट १७३।

[281] देखिये इस स्थल के आशय के लिये देखिये रॉथ ('कल्प' वस्था)।

अगस्त्यश्चैव इन्द्रश्च कयाशुभीयेन अशमयताम्। तान् शान्तान् उपाह्वयत यत् कयाशुभीयम् भवति शान्त्यै। तस्माद् एते ऐन्द्रामारुताः उक्षाणः सवनीयाः भवन्ति। त्रयः प्रथमेऽहन्न् आलभ्यन्ते। एवं द्वीतीये। एवं तृतीये। पञ्च उत्तमेऽहन्न् आलभ्यन्ते। "अगस्त्य मरुतों के लिये वृषभ समर्पित करनेवाले थे। इन्द्र इन वृषभों को उठा ले गये। तब वज्र लेकर मरुद्गण उनके पीछे दौड़े। अगस्त्य और इन्द्र ने तब 'कयाशुभीय' (ऋग्वेद १.१६५,१) द्वारा उन्हें शान्त किया। शान्त होने पर इन्द्र ने उन्हें यज्ञ में आमन्त्रित किया, क्योंकि 'कयाशुभीय' मन्त्र का शान्त करने के लिये प्रयोग होता है। अतः इन वृषभों को इन्द्र और मरुतों दोनों को समर्पित करना चाहिये। प्रथम दिन तीन की बलि दी जानी चाहिये। दूसरे और तीसरे दिन भी इतनों की ही बलि दी जानी चाहिये, किन्तु अन्तिम दिन पाँच की बलि देनी चाहिये।"

निम्नलिखित स्थलों पर यह कहा गया है कि मरुद्गण इन्द्र की उपासना करते हैं: ३.३२,३; ५.२९,१.२.६; ८.३,७; ८.७८,१.३।



खण्ड १०

सूर्य

(१) सूक्तों मे दो सूर्य देवताओं की पृथक्-पृथक् प्रशस्तियाँ हैं

जैसा कि हम देख चुके हैं, दिन और रात की अधिष्ठात्री महान् शक्तियों को भारतीय भाष्यकार मित्र और वरुण के रूप में मूर्तीकृत मानते हैं। किन्तु ये देवता, और विशेषतः वरुण, जैसा कि इनका वेद में वर्णन है, केवल दिन और रात के प्रतिनिधि मात्र से कहीं अधिक हैं। इन्हें नैतिक नियन्ता तथा भौतिक घटनाओं का अध्यक्ष माना गया है : दो अन्य देवता भी ऐसे हैं जो सूर्य के मूर्तीकरण[242] हैं, जैसे सूर्य और सविता।[243] इन दो भिन्न नामों के अन्तर्गत ही ऋग्वेद में सूर्य की मुख्य रूप से प्रख्याति है; और यद्यपि यह समझ पाना कठिन हो सकता है कि किसी विशेष दशा में एक शब्द का ही दूसरे की अपेक्षा क्यों प्रयोग किया गया है, तथापि नामों का व्यवहार सूर्य के उस पक्ष की भिन्नता पर निर्भर हो सकता है जिसमें उसकी कल्पना की गई है; अथवा यह उसके द्वारा सम्पन्न कार्यों के स्वरूप के अन्तर के कारण भी हो सकता है। सर्वत्र सूक्तों की भिन्न-भिन्न श्रृङ्खला ही इनमें नामों में से प्रत्येक के लिये प्रयुक्त है और इन दोनों नामों के अन्तर्गत सूर्य को जिन उपाधियों से संयुक्त किया गया है वे भी अधिकांशतः भिन्न हैं। कुछ स्थानों पर ये दोनों ही नाम, और अवसर कुछ अन्य भी, बिना किसी विभेद के ही सौर देवता के लिये व्यवहृत हैं, किन्तु अधिकांश दशाओं में इनके बीच के विभेद को नाम मात्र तक ही सीमित रखा गया है।

सूर्य के लिये उद्दिष्ट प्रमुख सूक्त अथवा सूक्तांश इस प्रकार हैं : १.५०, १-१२; १,११५,१ ६; ४.१३,१-३; ५.४०,५.६.८,९; ५.४५,९.१०; ५.५९,५; ७.६०,१-४; १० ३७,१ और बाद; १०.१७० । निरुक्त १२.१४-१६ में भी इनका विवेचन है।

---

[242] देखिये हेलियोस के प्रति होमर का सूक्त, श्लोक ८ और बाद।

[243] सूर्य, चन्द्रमा, और नक्षत्रों के देवत्व के सम्बन्ध में यूनानी विचारों के लिये पाठक श्री ग्रोट द्वारा उद्धृत प्लेटो (प्लेटो, ३.३८४, ४१४, ४१८, ४४९, ४५२, ४९७) देख सकते हैं।

(२) सूर्य की पैतृकता, अन्य देवों से इनका सम्बन्ध; इनकी उपाधियाँ और कार्य

१०.३७,१ में सूर्य को द्यौस् का पुत्र कहा गया है। (दिवस् पुत्राय सूर्याय शसत)। १०.८८,११ में इन्हें अदिति का पुत्र बताया गया है (सूर्याम् आदितेयम्) और ८.९०,११ में भी यही उपाधि मिलती है (बण् महान् असि सूर्य बळ आदित्य महान् असि); किन्तु अन्य स्थानों पर इनका आदित्यों के साथ विभेद किया गया प्रतीत होता है, जैसे ८.३५,१३ और बाद में (सजोषसा उषसा सूर्येण च आदित्यैर् यातम् अश्विना)। एक स्थान पर उषा को इनकी पत्नी कहा गया है (७.७५,५ : सूर्यस्य योषा); जब कि एक अन्य स्थल (७.७८,३) पर यह कहा गया है कि उषायें यज्ञ और अग्नि सहित इन्हें उत्पन्न करती हैं (अजीजनन् सूर्यं यज्ञम् अग्निम्)। एक तीसरे स्थान पर यह भी कहा गया है कि उषा इन तीनों को प्रगट करती है (प्राचिकितत् सूर्यं यज्ञम् अग्निम्)। सूर्य को एक ऐसे रथ में चलनेवाला बताया गया है जिसे कभी एक, कभी अनेक और कभी सात द्रुतगामी अरुणवर्ण अश्व या अश्वियाँ खींचती हैं[२४४] : १.११५,३४; ७.६०,३ (अयुक्त सप्त हरितः सधस्ताद् याः ईं वहन्ति सूर्यं घृताचीः); ७.६३,२ (यद् एतशो वहन्ति धुर्षु युक्त); तुकी० ९.६३,७ (अयुक्त सूरः एतशम् पवमानः); १०.३७,३; १०,४९,५। आदित्य, मित्र, अर्यमा और वरुण इनके पथ को प्रशस्त करते हैं : १.२४,८ (उरुं हि राजा वरुणश् चकार सूर्याय पन्थाम् अनु एतवै उ); ७.६०,४ (यस्मै आदित्याः अध्वनो रदन्ति मित्रो अर्यमा वरुणः सजोषाः); ७.८७,१। अपनी सुवर्णमय नौकाओं सहित पूषा इनके दूत हैं जिनकी ये नौकायें अन्तरिक्ष समुद्र में संतरण करती हैं : ६.५८,३ (यास् ते पूषन् नावः अन्तः समुद्रे हिरण्ययीर् अन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर् यासि दूत्यं सूर्यस्य)। ये सम्पूर्ण चराचर जगत् की आत्मा तथा उसके रक्षक हैं : १.११५,१ (सूर्यः आत्मा जगतस् तस्तुषश्च); ७.६०,२ (विश्वस्य स्थातुर् जगतश्च गोपाः)। ये मनुष्यों के 'प्रसविता'[२४५], तथा सब के लिये समान हैं : ७.६३,२.३ (साधारणः सूर्यो मानुषाणाम्।

---

[२४४] ऐसा कहा गया है कि इन्द्र सूर्य के अश्वों के साथ आकाश की यात्रा करते हैं (अह सूर्यस्य परि यामि आशुभिः प्र एतशेभिर् वहमान. ओजसा; १०, ४९,७)। तुकी० फाएथॉन के अश्वों का ओविड का वर्णन, मेटम० २.१५१।

[२४५] यह तथा अन्य शब्द उसी 'सु' अथवा 'सू' धातु से व्युत्पन्न हैं जिसका अत्यधिक बार सविता के लिये व्यवहार किया गया है। १०.६६,२ देवों को 'इन्द्र,प्रसूताः' कहा गया है।

उदु उ एति प्रसविता जनानाम्)। इनके द्वारा प्रसूत मनुष्य अपने अभीष्टों और कार्यों को करते हैं : ७.६३,४ (नूनं जनाः सूर्येण प्रसूताः अयन्न् अर्थानि कृणवन्न् अपांसि)। ये दूरदर्शी, सर्वदर्शी, सम्पूर्ण प्राणियों को देखनेवाले, तथा मनुष्यों के भले बुरे कर्मों का अवलोकन करनेवाले हैं :[२४६] १.५०,२,७; ६.५१,२; ७.३५,८; ७.६०,२; ७.६१,१; ७.६३,१.४; १०.३७;१ (सूराय विश्वचक्षसे। पश्यन् जन्मानि सूर्य। सूर्यः उरुचक्षाः। ऋजु मर्तेषु वृजिना च पश्यन्। अभि यो विश्वा भुवनानि चष्टे। दूरेदृशे)। इन्हें मित्र तथा वरुण का, और कभी-कभी अग्नि का भी नेत्र कहा गया है : १.११५,१; ६.५१,१; ७.६१,१; ७.६३,१; १०.३७,१ (चक्षुर् मित्रस्य वरुणस्य अग्नेः। चक्षुर् मित्रस्य वरुणस्य। नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षसे)। एक स्थल (७.७७,३) पर यह कहा गया है कि उषा देवों के नेत्र को लाती है और उज्ज्वल तथा सुन्दर अश्वों का पथप्रदर्शन करती है, जिसमे सूर्य ही उद्दिष्ट प्रतीत होता है (देवानां चक्षुः सुभगा वहन्ती श्वेतं नयन्ती सुदृशीकम् अश्वम् ; तुकी० ७.७६,१ : क्रत्वा देवानाम् अजनिष्ट चक्षुः)।[२४७] १०.८५,१ में यह कहा गया है कि जहाँ पृथिवी को सत्य धारण करता है वहीं आकाश को सूर्य धारण करता है (सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः)। ये चर्म की भाँति अन्धकार को लपेटते हैं : ७.६३,१ (चर्मेव यः समविव्यक् तमांसि)। अपनी महानता के द्वारा ये देवों के दिव्य नायक हैं : ८,१०,१२ (मह्ना देवानाम् असुर्यः पुरोहितः)। ८.८२,१.४ में इन्हें इन्द्र के साथ अथवा इन्द्र को इनके साथ समीकृत किया गया है। १०.१७०,४ में 'विश्वकर्मन्' तथा 'विश्वदेव्यवत्' उपाधियों का इनके

---

[२४६] लौकिक साहित्य में इसी बात को स्वाभाविक रूप से और बहुधा ही सूर्य के लिये कहा गया है। देखिये होमर : इलियड, ३.२७७; १४.३४४ और बाद, और ओडेसी ८.२७० और बाद। प्रोमेथियस विंक्टस में एचिलस, और प्लूटार्क : इसिस ऐण्ड ओसिरिस १२। मेटेम० ४.१७१ और १९५ और बाद।

[२४७] ५.५९,३.५ और १०.१०,९ में सूर्य के नेत्र की चर्चा है; और १०.१६,३ में सूर्य और नेत्र के सम्बन्ध का संकेत है। अवे० ५.२४.९ मे सूर्य को नेत्रो का अधिपति कहा गया है (सूर्यश् चक्षुषाम् अधिपतिः); और अवे० १३.१,४५ में यह कहा गया है कि ये आकाश, पृथिवी और जलों के उस पार तक देखते हैं और सम्पूर्ण चराचर जीवों के एक नेत्र हैं (सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽतिपश्यति। सूर्यो भूतस्य एकं चक्षुर् आरुरोह दिवम् महीम्)।

लिये व्यवहार किया गया है। जैसे ८.८७,२ में इन्द्र को भी 'विश्वकर्मन्' और 'विश्वदेव' कहा गया है)। ७.६०,१ और ७.६२,२ में उदय के समय इनकी इसलिये स्तुति की गई है कि ये मित्र और वरुण से मनुष्यों को पाप-रहित घोषित करें (यद् अद्य सूर्य ब्रवो अनागाः उद्यन् मित्राय वरुणाय सत्यम्)।

(३) इन्हें कभी-कभी हीन पद दिया गया है

फिर भी, अनेक स्थलों पर सूर्य की आश्रित स्थिति का उल्लेख है। इस प्रकार यह कहा गया है कि इन्द्र ने ही इन्हें उत्पन्न किया, अथवा इन्हें प्रकाशित किया, अथवा उदित होने के लिये प्रेरित किया, अथवा इनका पथ प्रशस्त किया, इत्यादि : २.१२,७ (यः सूर्यं यः उषसं जजान); ३,३१,१५ (इन्द्रो नृभिर् अजनद् दीद्यानः साकं सूर्यम् उषसं गातुम् अग्निम्); ३.३२,८ (जजान सूर्यम् उषसम); ३.४४,२ (सूर्यं हर्यन्न् अरोचयः); ३.४९,४ (जनिता सूर्यस्य); ६.१७,५; ६.३०,५; ८.७८,७ (आ सूर्यं रोहयो दिवि);[२४८] ८.८७,२; १०.१७१,४ (त्वं त्यम् इन्द्र सूर्यम् पश्चा सन्तम् पुरस् कृधि)। इन्द्र और सोम ने इन्हें उत्पन्न किया : ६,७२,२ (उत् सूर्यं नयथो ज्योतिषा सह)। अग्नि ने इन्हें उत्पन्न किया : १०.३,२; १०.१५६,४ (अग्ने नक्षत्रम् अजरम् आ सूर्यं रोहयो दिवि। दधज् ज्योतिर् जनेभ्यः)। उषाओं ने इन्हें उत्पन्न किया : ७.७८,३ (अजीजनन् सूर्यं यज्ञम् अग्निम्)। सोम ने : ९.४४,२३ (अयं सूर्ये अदधाज् ज्योतिर् अन्तः); ९.६३,७; ९.७५,१; ९.८६,२९ (तव ज्योतींषि पवमान सूर्यः); ९.९६,५ (जनिता सूर्यस्य); ९.९७,४१; ९.१०७,७; ९.११०,३; धाता ने : १०.१९०,३ (सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयत्)। वरुण ने : १२४,८; ७.८७.१। मित्र और वरुण ने : ४.१३,२ (अनु व्रतं वरुणो यन्ति मित्रो यत् सूर्यं दिवि आरोहयन्ति); ५.६३,४.७ (सूर्यम् आ धत्थो दिवि)। इन्द्र और वरुण ने : ७.८२,३ (सूर्यम् ऐरयत दिवि प्रभुम्)। इन्द्र और विष्णु ने : ७.९९,४ (उरुं यज्ञाय चक्रथुर् उ लोक जनयन्ता सूर्यम् उषसम् अग्निम्)। अङ्गिरसों ने अपने कृत्यों से इन्हें उत्पन्न किया : १०.६२,३ (ये ऋतेन सूर्यम् आरोहयन् दिवि अप्रथयन् पृथिवीम् मातरं

---

[२४८] इस स्थल (८.७८.७) के अपने भाष्य में सायण एक आख्यान का उल्लेख करते हैं : पूर्व समय मे पणियो ने अङ्गिरसों की गायो का हरण कर लिया और उन्हें अन्धकाराच्छन्न एक पर्वत मे छिपा दिया। अङ्गिरसो ने जब इन्द्र की स्तुति की तब इन्द्र ने सूर्य को उदित किया जिससे वह गायो को देख सकें।

वि)। इस वर्णन के स्थलों में सूर्य के दिव्य व्यक्तित्व को पृष्ठभूमि में छोड़ दिया गया है : यह महान प्रकाशमान देवता प्रकृति का एक भाग मात्र हो गया है जिसका सृजन और नियन्त्रण उन आध्यात्मिक शक्तियों द्वारा होता है जो समस्त भौतिक घटनाओं के ऊपर स्थित हैं। मित्र और वरुण की दिव्य शक्ति आकाश में इंगित होती है जहाँ सूर्य इनके प्रकाशित दूत के रूप में विचरण करता है। सूर्य को ये देवता मेघ तथा वर्षा से आच्छादित कर देते हैं : ५.६३.४ (माया वाम् मित्रावरुणा दिवि श्रिता सूर्यो ज्योतिश् चरति चित्रम् आयुधम्। तम् अभ्रेण वृष्ट्या गूहथो दिवि)। इन्हें देवजात (१०.३७,१) और 'दिवस पुत्र' कहा गया है (वहीं : देवजाताय केतवे दिवस् पुत्राय सूर्याय)। इन्हें देवों ने उस समुद्र से निकाला जहाँ ये छिपे थे (१०.७२,७)। देवों ने ही उन्हें आकाश में स्थित किया (१०.८८,११ : यदा इद् एनम् अदधुर् यज्ञियासो दिवि देवाः सूर्यम् आदितेयम्)। ये पुरुष के नेत्र से उत्पन्न हुये (१०.९०,१३ : चक्षोः सूर्यो अजायत)।[२४९] इन्द्र ने इन्हें पराजित और नष्ट किया : १०.४३,५ (संवर्गं यन् मघवा सूर्यम् जयत)[२५०]। कुछ अस्पष्ट मन्त्रों में यह कहा गया है कि इन्द्र इनके रथ की एक पहिया उठा ले गये; १.१७५,४; ४.२८,२; ४.३०,४; ५.२९,१०।

(४) सूर्य को समर्पित एक सूक्त का अनुवाद

यहाँ मैं एक सुन्दर किन्तु कुछ नीरस सूक्त का अनुवाद प्रस्तुत कर रहा हूँ : १.५० : उद् उ त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्। २. अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्ति अक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे। ३. अदृश्रम् अस्य केतवो वि रश्मयो जनान् अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा। ४. तरणिर् विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृद् असि सूर्य। विश्वम् आ भासि रोचनम्। ५. प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ् उद् एषि मानुषान्। प्रत्यङ् विश्वं स्वर् दृशे। ६. येन पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनान् अनु। त्वं वरुण पश्यसि। ७. वि द्याम् एषि रजस् पृथु अहा मिमानो अक्तुभिः। पश्यन् जन्मानि सूर्य। ८. सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षण। ९. अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर् याति स्वयुक्तिभिः। १० उद् वयं तमसस् परि ज्योतिष् पश्यन्त उत्तरम्। देवं देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिर् उत्तमम्।

---

[२४९] अवे० ४.१०,५ में सूर्य को वृत्र से उत्पन्न कहा गया है (वृत्राज् जातो दिवाकरः)।

[२५०] देखिये प्रस्तुत कृति का चौथा भाग।

"१. सर्वभूतों के ज्ञाता प्रकाशमान सूर्य की ध्वजायें[२५१] आकाश में ही गमन कराती हैं। २. सर्वदर्शी सूर्य की रश्मियों के प्रगट होते ही नक्षत्रादि प्रसिद्ध चोरों के समान छिप जाते हैं। ३. सूर्य की ध्वजा रूप रश्मियाँ प्रज्ज्वलित अग्नि के समान मनुष्यों की ओर जाती हुई स्पष्ट दिखाई देती हैं। ४. हे सूर्य! तुम वेगवान्, सबके दर्शन करने योग्य हो। तुम प्रकाशवाले सबको प्रकाशित करते हो। ५. सूर्य! तुम देवगण, मनुष्य तथा सभी प्राणियों के निमित्त साक्षात हुये तेज को प्रकाशित करने को आकाश में गमन करते हो। ६. हे पवित्रताकारक वरुण! तुम जिस नेत्र से मनुष्यों की ओर देखते हो, हम उस नेत्र को प्रणाम करते हैं।[२५२] ७. हे सूर्य! रात्रियों को दिनों से पृथक् करते हुये, जीवमात्र को देखते हुये, तुम विस्तृत आकाश में गमन करते हो। ८. हे दूरद्रष्टा सूर्य! तेजवन्त रश्मियों सहित रथारोही हुये तुमको सात घोड़े चलाते हैं। ९. सूर्य, रथ की पुत्री रूप स्वयं वहनेवाली सात अश्वियों को रथ में जोड़कर आकाश में गमन करते हैं। १०. अन्धकार के ऊपर विस्तृत प्रकाश को फैलाते हुए देवताओं में श्रेष्ठ सूर्य को हम प्राप्त हों।[२५३]

अथर्ववेद में भी सूर्य को समर्पित एक लम्बा सूक्त (१३ २) मिलता है जिसके कुछ अंश ऋग्वेद से ही गृहीत हैं।

महाभारत (३.१६६ और बाद) में भी इसी देवता को एक स्तोत्र समर्पित है जिसमें इसे "जगत् का नेत्र, सम्पूर्ण देहधारियों का आत्मा," (त्वम भानो जगतश् चक्षुस् त्वम् आत्मा सर्व-देहिनाम्), सम्पूर्ण प्राणियों की योनि, कृत्य करनेवालों के आचार, सर्वसांख्यों की गति, योगियों के परम परायण, खुला द्वार और मुमुक्षाकांक्षियों की गति, आदि कहा गया है: ५.१६६ और बाद (त्वं योनिः सर्वभूतानां त्वम् आचारः क्रियावताम्। त्वं गतिः सर्व-सांख्यानां योगिनां त्वम् परायणम्। अनावृतार्गलद्वारं त्वम् गतिस त्वम् मुमुक्षताम्)। महाभारत ५.१७० में इनके 'दिव्यरथ' का भी उल्लेख है। जो कालगणना को समझते हैं वे इन्हें (सूर्य को) उस सहस्रयुग का आदि और अन्त कहते हैं जो ब्रह्मा का एक दिन होता है

---

[२५१] ऋग्वेद १.१६६,१ के अपने अनुवाद में प्रो० मूलर 'केतु' का ध्वजा अनुवाद करते हैं। यह आशय उपयुक्त भी प्रतीत होता है।

[२५२] देखिये प्रो० बेनफे का अनुवाद और ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेन्ट १, पृ० ४०५।

[२५३] मैंने इस सूक्त का पद्यबद्ध अनुवाद भी किया है।

(यद् अहो ब्रह्मणः प्रोक्तं सहस्र-युग-सम्मितम् । तस्य त्वम् आदिर् अन्तश् च कालज्ञैः सम्प्रकीर्त्तितः) । ये मनु के, मनुपुत्रों के, मनु से उत्पन्न सम्पूर्ण जगत के और सम्पूर्ण मन्वन्तरों के भी अधिपति हैं । जब प्रलय का समय उपस्थित होता है तब वह संवर्त्तक अग्नि, जो सब कुछ भस्म कर देती है, इन्हीं के क्रोध से उत्पन्न होती है (५.१८५ और बाद; तुकी० प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रथम भाग भी) ।



खण्ड ११

सविता

(१) इनकी उपाधियाँ; इनके गुण और कर्म

प्रमुखतः अथवा सर्वशः सविता देव को समर्पित सूक्त ये हैं : १.३५; २.३८; ४,५३; ४.५४; ५.८१; ५.८२; ७.३७; ७.४५; १०.१४९। इनके अतिरिक्त अनेक फुटकर स्थल या मन्त्र ये हैं : १.२२,५.८; ३.५६,६ ७; ३.६२, १०.१२, इत्यादि।

ऋग्वेद में वर्णित इस देवता की उपाधियाँ तथा इसके गुण और कर्म इस प्रकार हैं :

ये प्रमुखतः हिरण्य देवता हैं, क्योंकि ये हिरण्याक्ष (१.३५,८); हिरण्यपाणि[२५४], हिरण्य हस्त (१.२२,५; १.३५,९-१०; ३.५४,११; ६.५०,८; ६.७१,४; ७.३८,२; सामवेद १.४६४; वाज० सं० ११६; ४.१५; अवे० ३.२१, ८; ७.१४,१; ७.११५,२)[२५५], हिरण्यजिह्व (६.७१,३), सुजिह्व (३.५४, ११; ७.४५,४) और मन्द्र-जिह्व (६.७१,४) हैं। ये सुवर्ण या पिशङ्ग कवच धारण करते हैं (पिशङ्ग द्रापिम्, ४.५३,२); और विश्वरूप हैं (विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः; ५.८१,२)। ये हरिकेश भी हैं (१०.१३९,१)। ये प्रकाशमान देवता एक सुवर्ण रथ पर चढ़ते हैं जिसे देदीप्यमान, भूरे, श्वेतपाद, अश्व खींचते हैं। ये सभी प्राणियों को देखते हुये आरोहक अवरोहक पथ का अनुसरण करते हैं : १.३५,२–५; ७.४५,१ हिरण्ययेन सविता रथेन देवो याति भुवनानि पश्यन्। याति देवः प्रवता याति

---

[२५४] देखिये इस उपाधि की अरुचिपूर्ण व्याख्यायें जिन्हे भाष्यकार और कौषीतकी ब्राह्मण ने दी हैं। देखिये १.२२,५ पर विलसन की टिप्पणी और वेबरः इण्डिशे स्टूडियन २.३०६। वास० १.१६ में यही उपाधि सविता के लिये प्रयुक्त हुई है जहाँ भाष्य को देखिये। सविता को 'पृथुपाणि (२.३८,२) और 'सुपाणि' (३.३३,६; ७.४५,४) कहा गया है। त्वष्टा को भी 'सुपाणि' (३,५४,१२) कहा गया है और मित्र तथा वरुण को भी (३.५६,७)।

[२५५] अवे० १.३३,१ के अनुसार यह और अग्नि हिरण्यमय जलो में उत्पन्न हुये थे (हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः यासु जातः सविता यासु अग्निः)।

उद्वता याति शुभ्राभ्यां यजतो हरिभ्याम्। कृशनैर् विश्वरूपं हिरण्य-शंयं यजतो बृहन्तम् आ अस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः। वि जनान् श्यावाः शितिपादः अख्यन् रथ हिरण्यप्रउगं वहन्तः। सविता सुरत्नो अन्तरिक्षप्राः वहमानो अश्वैः)। हिरण्य आभा से घिरे हुये (हिरण्ययीम् अमतिम्, ३.३८,८; ७.३८,१; ७.४५,३) ये अन्तरिक्ष तथा पृथिवी की सभी दिशाओं को प्रकाशित करते हैं: १.३५, ७.८; ४.१४,२; ४.५३,४; ५.८१,२ (वि सुपर्णो अन्तरिक्षाणि अख्यत्। अष्टौ वि अख्यत् ककुभः पृथिव्याः। ऊर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज् ज्योतिर् विश्वास्मै भुवनाय कृण्वन्। अदाभ्यो भुवनानि प्रचाकशत्। वि नाकम् अख्यत् सविता)। इनके बलिष्ट और सुवर्ण बाहु[२७८], जिन्हें ये आशीर्वाद देने के लिये तथा सम्पूर्ण प्राणियों में शक्ति का संचार करने के लिये फैलाते हैं, द्युलोक के अन्तिम छोर तक पहुँचते हैं: २ ३८,२; ४.५३,३-४; ६ ७१,१-५; ७ ४५,२ (विश्वस्य हि श्रुष्टये देव ऊर्ध्वः प्र बाहवा पृथुपाणिः सिसर्ति। प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि। उदु ष्य देवः सविता हिरण्यया बाहू अयंस्त सवनाय सुक्रतुः। उद् अस्य बाहू शिथिरा बृहन्ता हिरण्यया दिवो अन्तान् अनष्टाम्)। एक स्थान (६.७१,४) पर इन्हें 'अयोहनु' कहा गया है, जहाँ भाष्यकार कहता है कि 'अयस्' का, जिसका साधारणतया लोहा अर्थ है, सुवर्ण ही अनुवाद करना चाहिये। आकाश में इनके प्राचीन पथ को धूलरहित कहा गया है: १.३५,११ (ये ते पन्थाः सवितः पूर्व्यासो अरेणवः सुकृताः अन्तरिक्षे)। वरुण तथा अन्य देवों की ही भांति इन्हें भी 'असुर' कहा गया है (१ ३५,७-१०, ४ ५३,१)। इनकी इच्छा और स्वतन्त्र अधिकार को इन्द्र, वरुण, मित्र, अर्यमा, रुद्र अथवा अन्य कोई भी प्राणी रोक नहीं सकता: २.३८,७-९; ५ ८२,२ (नकिर् अस्य तानि व्रता देवस्य सवितुर् मिनन्ति। न यस्य इन्द्रो वरुणो न मित्रो व्रतम् अर्यमा न मिनन्ति रुद्रः। अस्य हि स्वयशस्तर सवितुः कच् चन प्रियम्। न मिनन्ति स्वराज्यम्)। ये दृढ़व्रती हैं: ४.५३,४; १०.३४,८; १०.१३९,३ (व्रतानि देवः सविताऽभिरक्षते। सविता सत्यधर्मा)। अन्य देव इनका

२७८ इन्द्र को भी 'हिरण्य-बाहु' कहा गया है (७ ३४,४)। अग्नि को सविता की ही भांति अपने हाथों को ऊपर उठानेवाला बताया गया है (१.९५,७)। ७ ७९,२ में यह कहा गया है कि उषायें उसी प्रकार प्रकाश भेजें जैसे सविता अपने हाथ फैलाते हैं। १ १९०,३ में भी सविता के बाहुओं का उल्लेख है। ७ ६२,५ में मित्र और वरुण से निवेदन किया गया है कि ये अपने बाहुओं को फैलायें।

अनुसरण करते हैं : ५.८१,३ (यस्य प्रयाणम् अनु अन्ये इद् ययुर् देवाः)। जल तथा वायु इनके व्रतों का पालन करते हैं : २.३८,२ (आपश् चिद् अस्य व्रते आ निमृग्राः अयं चिद् वातो रमते परिज्मन्)। वसुगण, अदिति, सम्राट वरुण, मित्र और अर्यमा भी इनकी स्तुति करते हैं : ७.३८,३-४ (अपि स्तुतः सविता देवो अस्तु यम् आ चिद् विश्वे वसवो गृणन्ति। अभि यम देवि अदितिर् गृणाति सवं देवस्य सवितुर् जुषाणा अभि सम्राजो वरुणो गृणन्ति अभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः)। ये सभी मनोवाञ्छित वस्तुओं के अधिपति हैं और आकाश से, अन्तरिक्ष से तथा पृथिवी से आशीर्वाद भेजते हैं : १.२४,३; २.३८,११ (ईशाना वार्याणाम्। अस्मभ्यं तद् दिवो अद्भ्यः पृथिव्यास् त्वया दत्तं काम्यं राधः आ गात्। शं यत् स्तोतृभ्यः आपये भवाति उरुशंसाय सवितर् जरित्रे)। उषा के पूर्व ये अश्विनों के रथ को प्रेरित करते हैं : १.३४,१० (युवोर् हि पूर्वं सविता उषसो रथम् ऋताय चित्र घृतवन्तम् इष्यति)। ये प्रजापति[२५७], सभी प्राणियों के अधिपति और आकाश तथा लोक को धारण करनेवाले हैं। इनसे स्तोताओं के पास वैसी ही शीघ्रता से आने की स्तुति की गई है जैसी शीघ्रता से पशु ग्राम की ओर, योद्धा अश्व की ओर, गौ अपने बछड़े को दूध पिलाने की ओर, तथा पति अपनी पत्नी की ओर जाते हैं : ४.५३,२; ४.५४,४; १०.१४९,१.४[२५८] (देवो धर्त्ता भुवनस्य प्रजापतिः। सविता यन्त्रैः पृथिवीम् अरम्णाद् अस्कम्भे सविता द्याम् अदृंहत्। ४. गावः इव ग्रामं युयुधिर् इवाश्वान् वाश्रेव वत्सं सुमनाः दुहाना। पतिर् इव जायाम् अभि नो नि एतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः)। ५.८२,७ में इन्हें 'विश्वदेव' कहा गया है। इन्होंने पार्थिव क्षेत्रों को नापा था (५.८१,३ः यः पार्थिवानि वि ममे)। ये देवों को अमरत्व देते हैं : ४ ५४,२ = वाज० सं ३३. ५४ (देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्यो अमृतत्वं सुवसि भागम् उत्तमम्)। इन्होंने उन ऋभुओं को भी अमरत्व दिया था जो अपनी महानता के कारण इनके क्षेत्र को प्राप्त हुये थे : १.११०,

---

[२५७] तैत्तिरीय ब्राह्मण १.६,४,१ मे यह कहा गया है : "प्रजापतिः सविता भूत्वा प्रजा. असृजत"। सविता और प्रजापति के सम्बन्ध के विषय पर देखिये वेबर : ओमिना उन्ट पोर्टेण्टा, पृ० ३८६; ३९२; और शतब्रा० १२ ३,५,१ जहाँ यह कहा गया है . यो ह्य एव सविता स प्रजापतिर् इति वदन्तः, इत्यादि।

[२५८] यह स्पष्ट नही है कि यह सविता है या अन्तरिक्ष समुद्र, जिससे ही १०.१४९,२ में पृथिवी, अन्तरिक्ष और आकाश को उत्पन्न कहा गया है।

२.३ (चरित्तस्य भूमना अगच्छत सवितुर् दाशुषो गृहम् । तत् सविता वो अमृतत्वम् आसुवत्) । १०.१७,४ में मृतकों को पुण्यात्माओं के आवास में पहुँचाने के लिये इनकी स्तुति है (यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस् तत्र त्वा देवः सविता दधातु) । स्तोताओं को पाप से मुक्त करने के लिये इनकी स्तुति की गई है : ४.५४;३ (अचित्ती यच् चकृम दैव्ये जने··· । देवेषु च सवितर् मानुषेषु च त्व नो अत्र सुवताद् अनागसः) ।

सविता को कभी-कभी 'अपां नपात्' भी कहा गया है (११ १४९,२) जो ऐसी उपाधि है जिसका सामान्यतया अग्नि के लिये प्रयोग हुआ है ।

(२) ऐसे स्थल जिनमें इनके नाम की उत्पत्ति उल्लिखित प्रतीत होती है

यास्क ने 'सवितृ' शब्द की (निरुक्त १०.३१ में) 'सर्वस्य प्रसविता' के अर्थ में परिभाषा दी है, किन्तु उन्होंने यह स्पष्ट नहीं किया है कि 'प्रसविता' को किस आशय में ग्रहण करना चाहिये । 'सु' अथवा 'सू' धातु, जिससे यह व्युत्पन्न है, तीन प्रमुख आशयों से युक्त है : (१) प्रसव करना या उत्पन्न करना; (२) हवि गिराना और (३) भेजना या प्रेरित करना । सवितृ के के लिए इस धातु की व्युत्पत्तियों का विवेचन करते हुये सायण इसे कभी भेजने या प्रेरित करने के अर्थ में, और कभी स्वीकृति देने अथवा अनुज्ञा देने के आशय में ग्रहण करते हैं । कुछ स्थानों पर ये इस 'धातु की 'प्रसव' करने के अर्थ में भी व्याख्या करते हैं । इस प्रकार १.११३,१ में ये 'प्रसूता' की 'उत्पन्ना' और 'सवः' की 'उत्पत्तिः' के अर्थ में व्याख्या करते हैं । 'प्रसवितृ' शब्द तथा 'सु' धातु के अन्य व्युत्पन्न रूपों का ऋग्वेद में सविता देव से सम्बद्ध अनेक स्थलों पर समावेश मिलता है, जहाँ इनके नाम के प्रत्यक्षतः 'सु' धातु से ही व्युत्पन्न होने का सन्दर्भ है । साथ ही, इनके नाम के इतने अधिक व्याकरण रूपों को गढ़ा गया है जितना अन्य किसी भी देवता की दशा में उदाहरण नहीं मिलता ।[२५२]

नीचे ऋग्वेद के कुछ स्थल दिये जा रहे हैं जिनमें ये व्युत्पन्न रूप आते हैं :

१.१२४.१ : देवो नो अत्र सविता नु अर्थम् प्रासावीद् द्विपत् प्र चतुष्पद् इत्यै । "सविता देव ने दुपायों और चौपायों को अपने-अपने कर्मों में प्रेरित किया ।"

---

[२५२] देखिये रॉथ : निरुक्त पृ० ७६ । मैं यह नहीं कह सकता इस सूक्त की विशिष्टतायें इन्हें कृत्रिम या अपेक्षाकृत बाद के समय का मानने के लिये पर्याप्त आधार प्रदान करती हैं ।

१.१५७,१ : प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्। "सविता ने संसार के सम्पूर्ण जीवों को उत्तम प्रेरणा दी।"

५.८१,२ (= वाज० सं० १२.३) : विश्वा रूपाणि प्रति मुञ्चते कविः प्रासावीद् भद्रं द्विपदे चतुष्पदे। विनाकम् अख्यत् सविता वरेण्यो अनु प्रयाणम् उषसो विराजति। ५. उतेशिषे प्रसवस्य त्वम् एक इद् उत पूषा भवसि देव यामभिः। "वे मेधावी सवितादेव स्वयं ही सब रूपों को धारण करनेवाले हैं। वे द्विपाद और चतुष्पाद आदि सब प्राणियों के कल्याण के ज्ञाता हैं। वे सब के द्वारा वरण के योग्य, सब को प्रेरणा देनेवाले, तथा स्वर्ग को प्रकाशित करनेवाले हैं। वे उषा के आविर्भूत होने के पश्चात् उदित होते हैं। हे सविता देव! तुम अकेले ही इस जगत को उत्पन्न करने में पूर्णतया समर्थ हो और तुम एक ही अपने नियमों द्वारा सब के लिये 'पूषा' (अथवा रक्षक) बनते हो।"

१.११०,२ : सौधन्वनासश् चरितस्य भूमना अगच्छत सवितुर् दाशुषो गृहम्। ३. तत् सविता वो अमृतत्वम् आसुवत्। "हे सुधन्वा पुत्रो (ऋभुओ)! अपने कर्मों की महानता से तुम सविता के घर पहुँच गये। सविता ने तुमको वह अमरत्व प्रदान किया (आसुवत्)।"

१.१५९,५ : तद् राधो अद्य सवितुर् वरेण्यं वयं देवस्य प्रसवे मनामहे। "सविता की प्रेरणा से स्थिर तुमसे हम उस अत्यन्त उत्तम धन की याचना करते हैं।"

२.३८,१ : उद् उ स्यः देवः सविता सवाय शश्वत्तमं तद्-अपाः वह्निर् अस्थात्। "संसार को वहन करनेवाले प्रकाशमान सविता देव प्रसव के निमित्त नित्यप्रति प्रगट होते हैं।"

३.३३,६ (निरुक्त २.२६) : देवो अनयत् सविता सुपाणिस् तस्य वयम् प्रसवे यामः उर्वीः। "सविता देव ने हम जलों को प्रेरित किया; उनके प्रसव से ही हम चौड़े होकर प्रवाहित होते हैं।"

३.५६,६ : त्रिर् आ दिवः सवितः वार्याणि दिवे दिवे आसुव त्रिर् नो अह्नः। ७. त्रिर् आ दिवः सविता सोषवीति राजाना मित्रावरुणा सुपाणी। "हे सविता! प्रतिदिन तीन बार तुम हमारी मनोवाञ्छित वस्तुयें आकाश से भेजते हो। ७. सविता तीन बार आकाश से हमें ये वस्तुयें भेजते हैं; और राजा मित्र-वरुण भी ऐसा ही करते हैं।

४.५३,३ : प्र बाहू अस्राक् सविता सवीमनि[२०] निवेशयन् प्रसुवन्न

---

[२०] सामवेद १.४६३ में भी यह शब्द आता है।

अक्तु भिर् जगत् । ६. बृहत्सुम्नः प्रसविता जगतः स्थातुर् उभयस्य यो वशी । स नो देवः सविता शर्म यच्छतु । "सविता देव नित्यप्रति संसार को कार्य की ओर प्रेरित करते और सृष्टि के निर्माण कार्य के लिये भुजा फैलाते हैं : ६. जो कर्मों को निर्धारित करते हैं, जिनके पास महान् ऐश्वर्य हैं, जो सबके जानने योग्य तथा सब प्राणियों को वश में रखनेवाले हैं, वे सविता देव हमारी रक्षा करें ।"

४.५४,३ : अचित्ती यच् चकृम दैव्ये जने दीनैर् दक्षैः प्रभूती पुरुषत्वता । देवेषु च सवितर् मानुषेषु च त्वं नो अत्र सुवताद् अनागसः । "हे सवितादेव ! अज्ञानवश अथवा धन के मद में, या बल और कुटुम्ब के अहंकार से हमने तुम्हारा या अन्य देवताओं और विद्वान मनुष्यों का कोई अपराध किया हो तो तुम हमको पाप से मुक्त करो ।"

५.८२,३ : स हि रत्नानि दाशुषे सुवाति सविता भगः । ४. अद्य नो देवः सवितः प्रजावत् सावीः सौभगम् । परा दुष्वप्न्यं सुव । ५. विश्वानि देव सवितर् दुरितानि परा सुव यद् भद्रं तन्न आसुव । ६. अनागसः अदितये देवस्य सवितुः सवे । विश्वा वामानि धीमहि । ७. आ विश्वदेवं सत्पतिं सूक्तैर् अद्या वृणीमहे । सत्यसवं सवितारम् । "वह सविता देव तथा यजन के योग्य भग देवता हम हवि देनेवालों के लिये रमणीय ऐश्वर्य देते हैं । अतः हम इन भगदेवता से भी रमणीय ऐश्वर्य की प्रार्थना करते हैं । ३. हे सविता देव ! इस यज्ञ में आज तुम हमको सन्तानयुक्त ऐश्वर्य देते हुये दुःस्वप्न से उत्पन्न शंका तथा दारिद्र्य के दुःख को दूर करो (तुल० १०.३७, ४, भी जहाँ इसी प्रकार की 'अप सुव' अभिव्यक्ति का सूर्य के लिये व्यवहार हुआ है) : ५. हे सविता देव ! हमारे सभी अनिष्टों को दूर करते हुये हमें सभी श्रेष्ठ सुख प्रदान करो । ६. हम साधकगण प्रेरणा देनेवाले सवितादेव की प्रेरणा से अदिति का कोई अपराध न करें । हम सविता के प्रभाव से सभी रमणीय धनों को प्राप्त करें । ७. आज हम यज्ञ दिवस में स्तोत्रों द्वारा सर्वदेवताओं के स्वामी, साधकों के रक्षक, सत्य-सव[२६१] सवितादेव की सब प्रकार से उपासना करने में समर्थ हों ।"

६.७१,१ : उदु ष्य देवः सविता हिरण्यया बाहू अयंस्त सवनाय सुक्रतुः । २. देवस्य वयं सवितुः सवीमनि श्रेष्ठे स्याम वसुनश् च दावने । यो विश्वस्य द्विपदो यश् चतुष्पदो निवेशने प्रसवे चासि भूमनः । ६.

[२६१] १०.३६,१३ में भी यही उपाधि इनके लिये व्यवहृत है । यह सामवेद १.४६४ में भी आती है ।

वामम् अद्य सवितुर् वामम् उ श्वो दिवे दिवे वामम् अस्मभ्यं सावीः। "श्रेष्ठकर्मा सविता देव अपनी भुजाओं को ऊपर उठाकर संसार को शक्ति प्रदान करते हैं। २. हम उन सविता की श्रेष्ठ शक्तिदायक क्षमता (तुकी १०.३६,१२) और धनदान को प्राप्त करने की सामर्थ्य पावें। हे सविता देव! तुम सभी द्विपादों और चतुष्पादों की रक्षा करते और शक्ति देते हो। ६. हे सविता देव! हमें आज वांच्छित धन दो; कल भी हमें देना और प्रतिदिन देते रहना।"

७.३८,२ : उदु उ तिष्ठ सवितः...आ नृभ्यो मर्त्तभोजनं सुवानः। ४. अभि यां देवी अदितिर् गृणाति सव देवस्य सवितुर् जुषाणा। अभि सम्राजो वरुणो गृणन्ति अभि मित्रासो अर्यमा सजोषाः। "हे सविता।... तुम मनुष्यों को भोजन भेजते हो जो मर्त्यों के लिये उपयुक्त है। ४. जिसकी देवी अदिति स्तुति करती हैं; दिव्य सविता की प्रेरणादायक शक्ति का स्वागत करते हुये उनकी वरुण, मित्र और अर्यमा एक साथ स्तुति करते हैं।"

७.४०,१ : यद् अद्य देवः सविता सुवाति स्याम अस्य रत्निनो विभागे। "जो धन सविता देव आज प्रेषित करेंगे हम उस धन को प्राप्त करें।"

७.४५,१ : आ देवो यातु सविता सुरत्नो अन्तरिक्ष-प्राः वहमानो अश्वैः। हस्ते दधानो नर्या पुरूणि निवेशयन् च प्रसुवन् च भूम। ३. स घ नो देवः सविता सहावा साविषद् वसुपतिर् वसूनि। "सविता देव मनुष्यों के लिये कल्याणकारी धन धारण करते हुये, सब जीवों को कर्म की प्रेरणा देते हुये, अन्तरिक्ष को व्याप्त करते हुये, अश्वों द्वारा वहन किये जाते हुये, और हाथों में मनुष्यों के लिये अनेक उपहार लिये हुये उदित हों। ३. शक्ति शाली देवता सविता, जो धन के अधिपति हैं, हमें धन भेजें।"

८.९१,६ : आसवं सवितुर् यथा भगस्येव भुजिं हुवे। अग्निं समुद्र-वाससम्। "मैं उसी प्रकार समुद्रवासस् अग्नि का आवाहन करता हूँ जैसे मैं सविता की प्रेरणादायक शक्ति[२६२] और भग के धन का आवाहन करता हूँ।"

१०.३५,७ : श्रेष्ठम् नो अद्य सवितर् वरेण्यम् भागम् आसुव स हि रत्नधाः असि। "हे सविता देव! हमें आज सर्वश्रेष्ठ वाञ्छनीय अंश भेजो क्योंकि तुम धनों के स्वामी हो।"

---

[२६२] १.१६४.२६ और ९.६७,२५ मे 'सव' का अर्थ सोम की हवि हो सकता है। तुकी० ९.६७,२४ में "ब्रह्मसवैः"।

१०.३६,१४ : सविता नः सुवतु सर्वतातिम्। "सविता हमें हर प्रकार की सम्पन्नता भेजें।"

१०.१००,८ : अप अमीवां सविता साविषद् न्यक्। "सविता व्याधियों को दूर हटायें।"

१०.१३९,१ : सूर्यरश्मिर् हरिकेशः पुरस्तात् सविता ज्योतिर् उदं अयान् अजस्रम्। तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः। "सूर्य रश्मियों से सम्पन्न, हरिकेशी सविता सदैव पूर्व से अपने प्रकाश को प्रगट करते हैं। उनके प्रसव से मेधावी पूषा, जो सम्पूर्ण जगत के रक्षक हैं, सब लोकों को देखते हुये आगे आते हैं।"

तुलना कीजिये अवे० ५.२४,१; ७.१४,१.२; ७.१५,१।

उपरोक्त स्थल इस बात को दिखाने के लिये पर्याप्त है कि किस सीमा तक सविता को सम्बोधित सूक्तों में 'सु' धातु से उत्पन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इसी 'सु' धातु के व्युत्पन्न रूप सूर्य के लिये भी प्रयुक्त हुये हैं, जैसे ऋग्वेद ७.६३,२ और ४ में 'प्रसविता' तथा 'प्रसूतः'; और ऋग्वेद १०.३७,४ में 'अपसुव'। इसी प्रकार, ऋग्वेद ३ ३०,१२ में 'हर्यश्व प्रसूता.' इन्द्र के लिये; २ २८,९ में 'परासुव' वरुण के लिये; तथा ७.६६,४ में 'सुवाति' मित्र, अर्यमा, सविता और भग के लिये। ७ ७७,१ में यह कहा गया है कि उषायें सम्पूर्ण जीवों को कर्म के लिये उठाती (प्रसुवन्ती) हैं। ८ १८,१ में आदित्यों की प्रेरक, अथवा अनुकूल सहायता (सवीमनि) का उल्लेख है।

(३) सविता : कभी सूर्य के साथ समीकृत; कभी सूर्य से इनका विभेदीकरण

कभी कभी सविता का सूर्य से स्पष्ट विभेद किया गया है। इस प्रकार, १ ३५,९ में यह कहा गया है कि सविता सूर्य के निकट अथवा (प्रो० बेनफे का अनुवाद) सूर्य को लाते हैं (वेति सूर्यम्)[६३]। १.१२३,३ में यह कहा गया है कि ये सूर्य के प्रति मनुष्यों को निष्पाप घोषित करें[६४] (देवो नो

[६३] सायण यहाँ यह टिप्पणी करते हैं कि यद्यपि सविता और सूर्य का देवत्व समीकृत है, तथापि ये दो रूपों के द्योतक हो सकते हैं, जिनमें से एक दूसरे के पास जाता है (यद्यपि सवितृ सूर्ययोर् एकदेवतत्वं तथापि मूर्तिभेदेन गन्तृ गन्तव्य-भावः)।

[६४] जैसे कि अन्य स्थान (१०.१२,८) पर इनको मित्र और अदिति

अत्र सविता दमूनाः अनागसो वोचति सूर्याय); और ५.८१,४ में यह कि ये सूर्य की रश्मियों के साथ मिल जायँ (उत सूर्यस्य रश्मिभिः समुच्यसि)। इस अन्तिम स्थल की व्याख्या करते हुये सायण यह टीका करते हैं उदय के पूर्व सूर्य को सविता कहते हैं, और उदय से अस्त तक सूर्य (उदयात् पूर्वभावी सविता। उदयास्तमयवर्त्ती सूर्यः इति)। और इसी प्रकार यास्क (निरुक्त १२.१२) का यह कथन है कि 'सविता के प्राकट्य का समय वह है जब अन्धकार हट जाता है, और प्रकाश की किरणें आकाश में फैल जाती हैं, (तस्य कालो यदा द्यौर् अपहततमस्का अकीर्णरश्मिर् भवति)। यदि ऐसा है तो इनकी क्रिया को दिन के बाद के समय को भी व्याप्त करना चाहिये क्योंकि ७.६६,४ में स्तोता को सूर्योदय के बाद प्रेरित करने के लिये इनकी मित्र (दिन के देवता) और अर्यमा तथा भग के साथ स्तुति की गई है (यद् अद्य सूरे उदिते अनागाः मित्रो अर्यमा। सुवाति सविता भगः)। पुनः, १०.१३९,१ में सविता को 'सूर्यरश्मि' तथा ७.३५ के आठवें और दसवें मंत्रों (८. शंनः सूर्यः उरुचक्षाः; १०. शं नो देवाः सविता त्रायमाणः) में तथा १०.१८१,३ (धातुर् द्युतानात् सवितुश् च विष्णोर् आ सूर्याद् अभरन् घर्मम् एते) सविता तथा सूर्य का तब तक अलग-अलग उल्लेख माना जायगा जब तक यह न मान लिया जाय (जिसके लिये प्रत्यक्षतः कोई आधार नहीं है) कि अन्तिम स्थल पर कवि का तात्पर्य वहाँ उल्लिखित चारों देवताओं, अर्थात् धाता, सविता, विष्णु और सूर्य को समीकृत करना है। १.१५७,१ में भी, जहाँ सूर्य और सविता के साथ अनेक देवताओं का उल्लेख है, सूर्य तथा सविता का विभेद ही किया गया प्रतीत होता है : अबोधि अग्निर् ज्मः उदेति सूर्यो वि उषाश् चन्द्रा मही आवो अर्चिषा अयुक्षाताम् अश्विना यातवे रथम् प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्। "अग्नि पृथिवी पर जाग गये : सूर्य उदित होता है; विशाल और उज्ज्वल उषा अपनी आभा के साथ प्रगट हो गई; अश्विनों ने जाने के लिये रथ को सन्नद्ध कर लिया है, सविता ने प्रत्येक जीव को प्रेरित कर दिया है।" फिर भी, अन्य स्थलों पर इन दोनों नामों का एक ही देवता के द्योतक के रूप में निर्विवेक रूप से प्रयोग किया गया प्रतीत होता है, जैसे ४.१३,२ (ऊर्ध्वं केतुम् सविता देवो अश्रेज् ज्योतिर् विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्। आ अप्राः द्यावा-पृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश् चेकितानः); १०.१५८,१ (सूर्यो नो दिवस पातु··· । २. जोष सवितः··· ।

के साथ स्तुति की गई है कि ये स्तोता को वरुण के समक्ष निष्पाप घोषित करें।

३ चक्षुर् नो देवः सविता··· । ५. सुसन्दशं त्वा वयम् प्रति पश्येम सूर्य)। १.३५,७ में भी सूर्य को सविता का पर्यायवाची माना जा सकता है। ९ वें मन्त्र को छोड़ कर, जहाँ दोनों का विभेद है, इसी सूक्त के अन्य मन्त्रों में भी दोनों नाम एक ही देवता के लिये प्रयुक्त प्रतीत होते हैं। देखिये १.१२४,१ और ७ ६३,१–४ (जहाँ १, २, और ३ मन्त्र में सूर्य शब्द तथा ४ मन्त्र में सविता शब्द का प्रयोग हुआ है। यहाँ 'सु' के व्युत्पन्न रूप सामान्य रूप से सविता के लिये व्यवहृत हैं, किन्तु मन्त्र २ और ४ में सूर्य के लिये)।

५.८१,४ और ५ (उत मित्रो भवसि देव धर्मभिः। ५. उत पूषा भवसि देव यामभि.) में सविता को मित्र तथा पूषा के साथ समीकृत किया गया है या कम से कम इन्हीं देवों का कार्य करते हुए दिखाया गया है। इसी प्रकार ५ ८२,१-३ तथा ७ ३८,१६ (जब तक कि हम प्रो० रॉथ के साथ 'भग' को केवल एक उपाधि ही न मान लें) सविता को भग के साथ समीकृत किया गया है। दूसरी ओर, ३.५४,११ १२; ६.४९,१४; ६.५०, १.१३; ८.१८,३; ८.९१,६; १०.१२९,१ जैसे स्थलों पर सविता का इन तथा अन्य देवताओं से स्पष्ट विभेद किया गया है।

'सविता' शब्द सदैव व्यक्तिवाचक नाम ही नहीं है। इसका कभी कभी उपाधि के रूप में भी प्रयोग हुआ है। इस प्रकार, २.३०,१ में यह इन्द्र के एक गुण को व्यक्त करता हुआ प्रतीत होता है; और ३.५५,१९ तथा १०.१०,५ (देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः) में यह शब्द तथा 'विश्वरूप' भी त्वष्टा की उपाधि है। त्वष्टा के लिये व्यवहृत रूप में इसका अर्थ 'प्रेरक' की अपेक्षा 'जनक' प्रतीत होता है।'



खण्ड १२

पूषा

मैं इस देवता के अपने वर्णन का आरम्भ श्री बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश (भाग ४, पृ० ८५४ और बाद) में दिये गये विवरण के अनुवाद से आरम्भ करूँगा।

(१) पूषा के कार्य तथा उपाधियाँ

"पूषा 'पशुपा' और सामान्यतया मानव सम्पत्तियों के रक्षक (पुष्टिम्भर, ऋग्वेद ६.३,७) हैं। गोपाल के रूप में ये एक चाबुक रखते हैं (६,५३,९, ६.५८,२) और बकरे (अजश्व) इनका वहन करते हैं। प्रकृति की दृष्टि से ये एक सौर देवता[२६५] हैं; सम्पूर्ण विश्व को देखते हैं, और पथों तथा यात्राओं के प्रदर्शक हैं (१.४२,१; १०.१७,६; १०.५९,७; १०.८५,२६; अवे० ६.७३,३)। दूसरे लोक के भी पथप्रदर्शक हैं (पथस्पति, प्रपथ्य, १०.१७,३-५; अवे० १६.९,२; १६.९,२; १८.२,५३)। इन्हें अपनी बहन सूर्या का प्रेमी कहते हैं (६.५५,४ ५; ६.५८,४)। ये दिन और रात के चक्रों में सहायता देते हैं (१.२३,१३-१५)। सोम सहित ये प्राणियों के रक्षक हैं (सोम पूषणौ : २ ४०,१ और बाद)। इनका अनेक अन्य देवताओं के साथ, किन्तु सर्वाधिक बार इन्द्र (इन्द्रा-पूषणौ, १.१६२,२; ७.३५,१), और भग (४.३०,२४; २.४१,४; ५ ४६,२; १०.१२५,२) के साथ आवाहन किया गया है। तुकी० शतपथ ब्राह्मण ११.४,३,३; कात्या० श्रौसू० ५.१३,१। उपरोक्त के अतिरिक्त इनकी सर्वाधिक उल्लेखनीय उपाधियाँ आघृणि, कपर्दिन्, करम्भाद्, दस्र, दस्म, दस्मवर्चस्, नराशंस्' (ऋग्वेद १.१०६,४; १०.६४, ३), 'विमुचो नपात्, और विमोचन' हैं। तुकी० विशेषतः ऋग्वेद ६.५३-५८; १०.२६।"

पाठक प्रो० विलसन (ऋग्वेद का अनुवाद, भाग १, पृ० XXXV और भाग ३, पृ० XII) की टिप्पणियों को भी देख सकता है।

जो सूक्त एकमात्र पूषा की प्रशस्ति में समर्पित हैं वे इस प्रकार हैं : १.४२; १.१३८; ६ ५३-५६; ६.५८; और १०.२६। २.४० में इनका सोम के साथ, और ६.५७ में इन्द्र के साथ आवाहन किया गया है। उन अलग-

[२६५] निरुक्त ७.९ में, जहाँ महावेद १०.१७३ उद्धृत है, यास्क 'भुवनस्य गोपा.' शब्दों को पूष्पा के लिये व्यवहृत मानते हैं सर्वेषाम् भूताना गोपायिता आदित्य:।

फुटकर मन्त्रों की संख्या बहुत अधिक है जिनमें इनका उल्लेख है। प्रो० रॉथ द्वारा ऊपर उल्लिखित उपाधियों के अतिरिक्त निम्नलिखित उपाधियाँ और देखी जा सकती हैं जो नीचे अनूदित सूक्तों में मिलती हैं: अगोह्य (१०.६४,३); अनर्वन् (६.४८,१५); अभ्यर्धयज्वन् (६.५०,५)[२९९]; असुर (५.५१,११); चयद्वीर (१.१०६,४); तव्यस् और तुर (५ ४३,९); सुविजात (१ १३८,१); पुरन्धि (२.३१,४); पुरुवसु (८.४,१५); मन्तुमत् (१.४२,५); महिष्ठ (८.४,१८); मयोभू (१.१३८,२); वाजिन् (१.१०६,४); शक्र (८ ४, १५); विश्वदेव्य (१०.९२,२३); विश्वसौभग (१.४२,६); विश्ववेदस् (१.८९,६); हिरण्यवाशीमत्तम (१.४२,६); और सोम को भी पूषा की भाँति आत्मा का प्रेरक (धीजवन) कहा गया। ये सम्पूर्ण चराचर जगत के स्वामी, आत्मा का उत्थान करनेवाले तथा दुर्जेय रक्षक हैं। धन की वृद्धि के लिये इनका आवाहन किया गया है: १.८९,५ (तम् ईशानं जगतस् तस्तुषस् पतिं धियंजिन्वम् अवसे हूमहे वयम्। पूषा नो यथा वेदसाम् असद् वृधे रक्षिता पायुर् अदब्धः स्वस्तये। तुकी० २.१,६)। इनसे उसी प्रकार मैत्री को दृढ़ रखने की प्रार्थना की गई है जिस प्रकार दही से भरा चर्म छिद्ररहित और दृढ़ रहता है। इन्हें मनुष्यों से ऊँचा तथा वैभव में देवों के समान कहते हुये, पूर्वकाल की ही भाँति अपने सेवकों की युद्ध में रक्षा करने के लिये इनकी प्रार्थना की गई है: ६.४८,१८ (दृतेर् इव ते अवृकम् अस्तु सख्यम्। अछिद्रस्य दधन्वतः सुपूर्णस्य दधन्वतः। १९ पुरो हि मर्त्यैर् असि समो देवैर् उत श्रिया। अभि ख्यः पूषन् पृतनासु नस् त्वम् अव नूनं यथा पुरा)। यह कहा गया है कि ये स्पष्ट रूप से तथा एक साथ ही सभी जीवों को देखते हैं: ३.६२,९ (यो विश्वा अभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पूषाऽविता भुवत्)। १०.१३९,१ में इन्हें सविता के साथ सम्बद्ध करते हुये सविता की प्रेरणा से चलने और सभी जीवों को देखने और जाननेवाला रक्षक कहा गया है (तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुवनानि गोपाः)। १०.८५,२६ और ३७ में इन्हें विवाह कृत्य के साथ सम्बद्ध किया गया है और इनसे वधू का हाथ पकड़ कर दूर ले जाने (मंत्र २६: पूषा

---

[२९९] रॉथ, निरुक्त ६ ६ में यास्क इस यौगिक शब्द की 'अभ्यर्धयन् यजति' के अर्थ में व्याख्या करते हैं। सायण इसका इस प्रकार विस्तारण करते हैं: स्तोतॄन् अभ्यर्धयन् समृद्धान् कुर्वन् यो यजति धनेन पूजयति तादृश। रॉथ (निरुक्त, पृ० ७५) इसी व्याख्या को मानते प्रतीत होते हैं।

त्वा इतो नयतु हस्तगृह्य) और वैवाहिक सम्बन्धों में उसे आशीर्वाद देने के लिये कहा गया है (मंत्र ३७ : ताम् पूषन् शिवतमाम् आ ईरयस्व)।[२६७] एक अन्य स्थान पर इनसे स्तोताओं को सुन्दर रमणियाँ देने की प्रार्थना की गई है : ९.६७,१० (अविता नो अजाश्वः पूषा यामनि यामनि आ भक्षद् कन्यासु नः)। प्रो० रॉथ के अनुसार पूषा न केवल यात्रियों के एक रक्षक देवता हैं वरन् सविता तथा अग्नि और यूनानी हर्मीस की भाँति एक ऐसे देवता भी जो मृतात्माओं को दूसरे लोक में ले जाते हैं। इसके प्रमाण में आप ऋग्वेद १०.१७,३.५ तथा अथर्ववेद के दो स्थलों को उद्धृत करते हैं। ये स्थल इस प्रकार हैं : ऋग्वेद १०.१७,३ और बाद (इन मन्त्रों का, जैसा कि ब्राह्मणों[२६८] की अन्त्येष्टि के विषय पर प्रो० मूलर के लेख से मुझे ज्ञात हुआ है, मृतक संस्कार के समय पाठ करना चाहिये) : पूषा त्वा इतश् च्यावयतु प्र विद्वान् अनष्टपशुर् भुवनस्य गोपाः। स त्वा एतेभ्यः परिददत् पितृभ्यो अग्निर् देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः। ४. आयुर् विश्वायुः परि पासति त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्। यत्रासते सुकृतो यत्र ते ययुस् तत्र त्वा देवः सविता दधातु। ५. पूषा इमाः आशाः अनु वेद सर्वाः सो अस्मान् अभयतमेन नेषत्। स्वस्तिदाः आघृणिः सर्ववीरो अप्रयुच्छन् पुरः एतु प्रजानन्। ६. प्रपथे पथाम् अजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः। उभे अभि प्रियतमे सदस्थे आ च परा च चरति प्राजनन्। "३. हे मेधावी पुरुष, संसार के पालनकर्त्ता पूषादेव तुम्हें श्रेष्ठ लोक प्राप्त करावें; अग्नि देवता तुम्हें धनदाता देवताओं के पास पहुँचावें। ४. जीवन, शक्ति से पूर्ण, तुम्हारी रक्षा करे। पूषा देव तुम्हें इच्छित स्थान तक ले जायँ; सविता तुम्हें पुण्यमानों के लोक में पहुँचावें। ५. पूषा इन सभी दिशाओं के ज्ञाता हैं। वे हमें भयरहित मार्ग से ले जाँय। तेजस्वी, कृपाशील, सर्ववीर, वह हमसे पहले जाँय; वे हमें देखते हैं और समझते हैं। ६. पूषा का जन्म सुदूर पथों पर, द्युलोक के सुदूर पथ पर और पृथिवी के सुदूर पथ पर हुआ था। वह दोनों प्रिय आवासों को जाते और वहाँ से लौटते हैं।"

अथर्ववेद १६.९,२ : तद् अग्निर् आह तद् उ सोमः आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके। "अग्नि कहते हैं और सोम कहते हैं कि 'पूषा हमें पुण्यकर्माओं के लोक में स्थित करें।"

अवे० १८.२,५३ : अग्निषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्

[२६७] देखिये वेबरः इण्डिशे स्टू० ५.१८६,१९०

[२६८] जजओसो, भाग ९, अन्त में।

वि लोकम् । उप प्रेष्यतम् पूषणं यो वहाति अजयानैः पथिभिस् तत्र गच्छतम् । "पथों के निर्माता, अग्नि और सोम ! तुम लोगों ने देवों के कोशागार के रूप में एक सुन्दर लोक की रचना की है; तुम लोग वहाँ जाओ और पूषा को हमारे पास भेजो जो हमें सीधे मार्गों से ले जाँयगें।"[२६९]

ऋग्वेद १.२३,१३ और बाद में प्रकाशित पूषा की एक खोये हुये पशु की भाँति इधर लाने के लिये स्तुति की गई है। ये पूषा आकाश को धारण करनेवाले और उज्ज्वल तृण से घिरे हैं,[२७०] इन्होंने खोये हुये राजा को ढूँढा है (आ पूषन् चित्रबर्हिषम् आघृणे धरुणं दिवः आज नष्टं यथा पशुम् । १४. पूषा राजानम् आघृणिर् अपगूळ्हं गुहा हितम् । अविन्दच् चित्रबर्हिषम्) ।

एक स्थल (१ २३,८) पर अन्य देवों को 'पूषराति' कहा गया है।

(२) पूषा को सम्बोधित सूक्त

अब मैं पूषा को सम्बोधित कुछ सूक्तों का अनुवाद करूँगा जिनसे यह स्पष्ट होगा कि इस देवता के चरित्र की बहुत स्पष्ट परिभाषा नहीं की गई है, और यह कि द्यौस्, पृथिवी, अग्नि, इन्द्र, पर्जन्य या सूर्य के विपरीत इसके सम्बन्ध में यह निर्णय कर सकना अत्यन्त कठिन है कि प्रकृति के किस अंग को इसमें प्रतिनिधित्व मिला है।

१.४२,१ : सम् पूषन्न् अध्वनस् तिर् वि अंहो विमुचो नपात् । सक्ष्व देव प्र नस् पुरः । २. यो नः पूषन्न् अघो वृको दुश्शेवः आदिदेशति । अप स्म त्वम् पथो जहि । ३. अप त्यम् परिपन्थिनम् मुषीवाणं हुरश्चितम् । दूरम् अधि स्रुतेर् अज । ४. त्वं तस्य द्वयाविनो अघशंसस्य कस्य चित् । पदाऽभि तिष्ठतपुषिम् । ५. आ तत् ते दस्र मन्तुमः पूषन्न् अवो वृणीमहे । येन पितॄन् अचोदयः । ६. अध नो विश्वसौभग हिरण्यवाशीमत्तम । धनानि सुषणा कृधि । ७. अति नः सश्चतो नय सुगा नः सुपथा कृणु । पूषन्न् इह क्रतुं विदः । ८. अभि सुयवसं नय न नवज्वारो अध्वने । पूषन्न्... । ९. स अग्धि पूर्धि प्र यांसि च शिशीहि प्रासि उदरम् । पूषन्न्... । १०. न पूषणम् मेथामसि सूक्तैर् अभि गृणीमसि । वसूनि

---

[२६९] प्रो० रॉथ (वस्था) 'अयजानैः' को अञ्जोयानैः' मानते हैं।

[२७०] प्रो० रॉथ इस 'चित्रबर्हिस्' से 'चमकदार तृण से युक्त' अथवा 'चारो ओर मणियों की भाँति तृणों से युक्त' अर्थ में ग्रहण करते हुये इसे चन्द्रमा के लिये व्यवहृत मानते हैं। प्रो० बेनफे, सायण का अनुसरण करते हुये सोम का आशय मानते हैं। सन्दर्भ अस्पष्ट प्रतीत होता है।

दस्मम् ईमहे। "1. हे पूषन! मार्ग में हमारा पथ प्रदर्शन करो; दुःखों को हटाओ; तुम मुक्तिदाता के पुत्र हो;[271] हमारे आगे चलो। 2. हमारे मार्ग से उस विनाशकारी और क्षति पहुँचानेवाले भेड़िये को हटाओ जो हमारा पीछा कर रहा है। 3 हमारे पथ को चोरों, डाकुओं और हिंसकों से मुक्त करो। 4. हे पूषा! वह पापी चाहे जो कोई भी हो तुम उसके प्रज्वलित आयुध को अपने पैरों से कुचल डालो। 5. हे विकराल कर्मवाले, ज्ञानी पूषा देव! तुम्हारी रक्षा के निमित्त हम स्तुति करते हैं। उस रक्षा ने हमारे पूर्वजों को भी बढ़ाया था। 6. हे परम सौभाग्यशाली, स्वर्ण रथवाले पूषादेव! हमारे लिये सुसाध्य धनों को प्राप्त करने की शक्ति दो। 7. क्लेश में पड़े हुये हमको शत्रुओं से दूर ले जाओ। हमको सरल मार्गावलम्बी बनाओ; हमारी रक्षा के लिये बल प्रदान करो। 8. जहाँ कृषि के लिये उपयुक्त सुन्दर भूमि हो वहाँ हमको ले चलो। मार्ग में कोई नवीन सङ्कट न आवे। हमारी रक्षा के लिये बलिष्ट होओ। 9. हे समर्थ पूषा! हमको इच्छित धनादि दो। हमको तेजस्वी बनाओ। हमारी उदरपूर्ति करो। हमरे लिये बल प्राप्त करो। 10. हम पूषा देव की निन्दा नहीं स्तुति करते हैं; हम उस अद्भुत देवता से धन मागते हैं।"[272]

अगला सूक्त आरम्भ में यात्रियों के रक्षक देवता के रूप में पूषा का उल्लेख करता है (तुकी० 6.49,8; 10,17,3-6; 10.59,7; 10.92, 13); किन्तु इस सूक्त में प्रमुखतः कवि द्वारा एक उदार संरक्षक की कामना की भावना व्यक्त हुई है। साथ ही, कवि उन दुष्टों के प्रति इस देवता के क्रोध को जागृत करना चाहता है जिनसे वह अपने को घिरा मानता है।

---

[271] विमुचो नपात्। प्रो० बेनफे इसे 'मेघों की सन्तान' मानने में सायण का अनुसरण करते हैं (जल-विमोचक-हेतोर् मेघस्य पुत्र)। फिर भी 5.55,1 मे इसी शब्द को सायण एक अन्य आशय प्रदान करते हुये यह कहते हैं: विमुञ्चति सृष्टि-काले स्वसकाशात् सर्वा. प्रजाः विसृजति इति विमुक् प्रजापतिः। तस्य पुत्रा ऋग्वेद 8.4,15 मे पूषा को 'विमोचन' कहा गया है जिसकी सायण 'पापाद् विमोचयितः' व्याख्या करते हैं। सम्भवतः 'विमुचो नपात्' का अर्थ भी यही है। तुकी० अवे० 7 112,3 मे ये शब्द. वि ते मुञ्चन्ता विमुचो हि सन्ति; और 'शवसो नपात्' आदि भी जिन्हे ऊपर उद्धत किया जा चुका है। अपना अनुवाद तैयार करने मे मैंने बेनफे और सायण दोनो से सहायता ली है।

[272] प्रो० बेनफे अपने ऋग्वेद 1.41,8 की एक टिप्पणी का सन्दर्भ देते हैं।

६.५३,१ : वयम् उ त्वा पथस् पते रथं न वाजसातये । धिये पूषन्न् अयुज्महि । २. अभि नो नर्यं वसु वीरम् प्रयत-दक्षिणम् । वाम गृहपतिम् नय । ३. अदित्सन्तं चिद् आघृणे पूषन् दानाय चोदय । पणेश् चिद् वि म्रद मनः । ४. वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि साधन्ताम् उग्र नो धियः । ५. परि तृन्धि पणीनाम् आरया हृदया कवे । अथेम् अस्मभ्य रन्धय । ६. वि पूषन्न् आरया तुद् पणेर् इच्छ हृदि प्रियम् । अथेम् अस्मभ्यं रन्धय । ७. आ रिख किकिरा कृणु पणीनां हृदया कवे । अथेम्... । ८. याम पूषन ब्रह्मचोदिनीम् आराम् बिभर्षि आघृणे । तया समस्य हृदयम् आ रिख किकिरा कृणु । ९. या ते अष्ट्रा गोपशा आघृणे पशुसाधनी । तस्यास् ते सुम्नम् । ईमहे । १०. उत नो गोषणिम् धियम् अश्वसाम् वाजसाम् उत । नृवत् कृणुहि वीतये ।

"१. हे पूषा ! पथ के स्वामी ! हम तुम्हें कर्म के लिये और अन्न के लिये रथ के समान अपने सामने करते हैं । २. हे पूषा ! मनुष्यों के योग्य धन भेजो; मनुष्यों का हितैषी और दानी एक गृहस्थ हमारे यहाँ भेजो । ३. हे पूषा ! उदारता को प्रेरित करो; जो लोभी है उसको भी दानशील बनाओ; कठोर के हृदय को भी कोमल करो । ४. ऐसे पथों को खोलो जिनसे हमें अन्न प्राप्त हो; हमारे शत्रुओं का वध करो; हे वैभवशाली देवता ! हमारी इच्छायें पूर्ण होवें । ५. हे मेधावी देवता ! पणियों के हृदय का वेधन करो; और फिर उन्हें हमारे आधीन करो । ६. हे पूषन् ! पणियों के हृदयों को विदीर्ण करो; उनके हृदय में सद्भाव जागृत करके उन्हें मेरे आधीन करो । ७. हे मेधावी देवता ! दस्युओं के हृदयों को विदीर्ण करके उन्हें हमारे आधीन करो । ७. हे पूषन् ! अन्न प्रेरक प्रतोद धारण करके उससे कृपणों के हृदयों की कठोरता को न्यून करो । ९. हे पूषन् ! तुम अपने जिस अस्त्र से पशुओं को हाँकते हो, जिसमें चमड़े को नथियाँ[२०३] लगी हैं, उसी अस्त्र से हम अपने हित की याचना करते हैं । १०. हे पूषन् ! हमारे यज्ञादि कर्म के लिये, गौ, अश्व, भृत्य और अन्न प्राप्त कराओ ।"

६.५४,१ : सम पूषन् विदुषा नय यो अञ्जसाऽनुशासति । यः एव इदम् इति ब्रवत् । २. सम् उ पूष्णा गमेमहि यो गृहान् अभिशासति । इमे एव इति च ब्रवत् । ३. पूष्णश् चक्र न रिष्यति न कोश अव पद्यते । नो अस्य व्यथते पविः । ४ यो अस्मै हविषाऽविधत् न तम पूषाऽपि मृष्यते । प्रथमो विन्दते वसु । ५. पूषा गाः अनु एतु न पूषा रक्षतु

---

[२०३] देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश, 'गूपश' (वस्त्रा०) ।

अर्वतः । पूषा वाजं सनोतु नः । ६. पूषन्न् अनु प्र गाः इहि यजमानस्य सुन्वतः । अस्माकं स्तुवताम् उत । ७. माकिर् नेशत् माकीं रिषत् माकी सं शारि केवटे । अथ आरिष्टाभिर् आ गहि । ८. शृण्वन्तम् पूषण वयम् इर्यम् अनष्ट-वेदसम् । ईशानं रायः ईमहे । ९. पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन । स्तोतारस् ते इह स्मसि । १०. परि पूषा परस्ताद् हस्त दधातु दक्षिणम् । पुनर् नो नष्टम् आजतु ।

"१. हे पूषन् ! हम एक ऐसे बुद्धिमान मनुष्य से मिलें जो हमें सीधे निर्देशित करते हुये कहे कि 'यह ऐसा है' ।[२७४] २. हम पूषन् से मिलें[२७५] जो एक गृह की ओर संकेत करेंगे और कहेंगे कि 'वह यह है' । ३. पूषन का चक्र भग्न नहीं है, न तो उसका कोश गिरा है; न उसका पवि ही टूटा है । ४. पूषा उस मनुष्य पर क्रोध नहीं करते जो उन्हें हवि देता है; ऐसा मनुष्य धन पाने में सर्वप्रथम होता है । ५. पूषा हमारे पशुओं का अनुगमन करें; ये हमारे अश्वों की रक्षा करें; ये हमें अन्न दें । ६. हे पूषा ! अपने उस स्तोता के पशुओं की रक्षा करो जो तुम्हें सोम-हवि देता है; जब हम ऐसा करें तो हमारे पशुओं की भी रक्षा करो । ७. कुछ भी नष्ट न हो, क्षतिग्रस्त न हो; गड्ढे में न गिरे, सभी गौओं को सुरक्षित लेकर हमारे पास आओ । ८. हम उस पूषा की स्तुति करते हैं जो हमें सुनता है, जो सदैव सतर्क रहता है, जो कभी सम्पत्ति नष्ट नहीं करता, जो धनों का अधिपति है । ९. हे पूषन् देव ! हम तुम्हारे आशीर्वाद से कभी विपत्ति में न पड़े; तुम्हारी स्तुति करनेवाले हम यहाँ हैं । १० पूषा देव अपना दाहिना हाथ दूर-दूर तक फैलावें और हमारे नष्ट धन को हमारे पास भेजें ।

१.५५,१ : एहि वां विमुचो नपाद् आघृणे सं सचावहै । रथीर् ऋतस्य नो भव । २ रथीतमं कपर्दिनम् ईशानं राधसो महः । रायः सखायम् ईमहे । ३. रायो धाराऽसि आघृणे वसोः राशिर् अजाश्व । धीवतो धीवतो सखा । ४. पूषणं नु अजाश्वम् उप स्तोषाम वाजिनम् । स्वसुर् यो जारः उच्यते । ५. मातुर् दिधिषुम् अब्रवं स्वसुर् जारः शृणोतु नः । भ्राता इन्द्रस्य सखा मम । ६. आ अजासः पूषणं रथे निशृम्भास् ते जनश्रियम् । देवं वहन्तु बिभ्रतः । "१. उज्ज्वल देवता, यहाँ

---

[२७४] सायण कहते हैं कि इस मंत्र का नष्टधन मनुष्य को पाठ करना चाहिये (नष्ट-धनम् अन्विच्छता एतज् जप्यम्); और गृह्यसूत्र ३.९ का सन्दर्भ देते हैं ।

[२७५] देखिये प्रो० विलसन की टिप्पणी । सायण भी देखिये ।

आओ; हमसे मिलो; हमारे यज्ञों के रथी होओ। २. हे रथियों में सर्वश्रेष्ठ! कपर्दी देवता, धनों के अधिपति और हमारे मित्र! हम तुमसे धन की याचना करते हैं। ३. तुम प्रचुरता की धारा, जनों के ढेर हो। हे उज्ज्वल देवता! बकरे तुम्हें खींचते हैं, तुम प्रत्येक भक्त के मित्र हो। ४. आओ हम उस पूषा की स्तुति करें जिसके रथ को बकरे खींचते है, जो अन्नदाता है, जिसे अपनी बहन का प्रेमी कहते हैं।[२७६] ५. मैं अपनी माता के पति को सम्बोधित करता हूँ,[२७७] वह हमारी स्तुति सुने जो अपनी बहन का प्रेमी, इन्द्र का भ्राता और हमारा मित्र है। ६. रथ में योजित[२७८] बकरे, जो पूषा के रथ को, उस देवता के रथ को वहन करते हैं जो मनुष्यों के पास आता है; वे उन्हें रथ में बैठाकर यहाँ लावें।"

६ २६,१. यः एनम् आदिदेशति "करम्भाद्" इति पूषणम्। न तेन देवः आदिशे। २. उत घ स रथीतमः सख्या सत्पतिर् युजा। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते। ३ (निरुक्त ९.६) उत अदः परुषे गवि सूरश् चक्रं हिरण्ययम्। नि ऐरयद् रथीतमः। ४. यद् अद्य त्वा पुरुष्टुत ब्रवाम दस्र मन्तुमः। तत् सु नो मन्म साधय। ५. इमं च नो गवेषणं सातये सीषधो गणम्। आरात् पूषन्न् असि श्रुतः। ६. आ ते स्वस्तिम् ईमहे आरेअघाम् उपावसुम्। अद्य च सर्वतातये स्वश् च सर्वतातये।

"१. जो घृतयुक्त अन्न सहित पूषा की स्तुति करता है उसे अन्य देवताओं की स्तुति करने की आवश्यता नहीं होती। २. महारथी और श्रेष्ठकर्मों के अधिपति इन्द्र अपने मित्र पूषा की सहायता से वैरियों का वध करते हैं, ३. और इस सर्वश्रेष्ठ रथी ने सूर्य के हिरण्यमय रथ के चक्र को चितकबरे मेघों के बीच से चलाया।[२७९] ४. हे विकराल कर्मा और मेधावी देवता! आज हम जिस धन के लिये तुम्हारी स्तुति करते हैं वह हमें दो। ५. हे! पूषना हम खोजियों को अभीष्टों तक पहुँचा दो, क्योंकि तुम्हारी दूर-दूर तक ख्याति है। ६. हम तुम्हारी उस कृपा की याचना करते हैं जो विपत्ति को दूर भगाती है और धन

---

[२७६] सायण के अनुसार उषायें; प्रो० रॉथ के अनुसार सूर्या। ६.५८ का अन्तिम मन्त्र देखिये।

[२७७] सायण 'मातु' का 'निर्मात्र्याः रात्रेः' अनुवाद करते हैं।

[२७८] रॉथ (वस्पा०) कहते हैं कि 'निम्रृभ्म' का अर्थ निश्चित पग रखने वाला' है। सायण के अनुसार 'निश्चयेन सम्बध्य हर्तारः।' सभी अनुमानात्मक हैं।

[२७९] प्रो० रॉथ: निरुक्त, पृ० १९।

के नितान्त समीप है, और जिसमे हमें आज और कल के लिये पूर्ण सम्पन्नता प्राप्त हो।"

६.५७,१: इन्द्रा नु पूषणा[२८०] वय सख्याय स्वस्तये हुवेम वाजसातये। २. सोमम् अन्य. उपासदत् पातवे चम्वोः सुतम्। करम्भम्[२८१] अन्यः इच्छति। ३. अजाः अन्यस्य वह्नयो हरी अन्यस्य सम्भृता। ताभ्यां वृत्राणि जिघ्नते। ४. यद् इन्द्रो अनयद् रितो महीर् अपो वृषन्तमः। तत्र पूषाऽभवत् सचा। ५. ताम् पूष्णाः सुमतिं वयं वृक्षस्य प्र वयाम् इव। इन्द्रस्य च आ रभामहे। ६. उत् पूषण युवामहे अभीशून इव सारथि। मह्यै इन्द्रं स्वस्तये।

"हे इन्द्र और पूषन! हम अपनी मगल कामना करते हुये तुम्हारी मित्रता चाहते हैं और अन्नलाभ के लिये तुम्हें आहूत करते हैं। २. तुममें से इन्द्र इन स्रुवाओं से गिराये गये सोम के पान की और पूषा घृतयुक्त अन्न की इच्छा से आते हैं। ३. इनमें पूषा के वाहन बकरे हैं और इन्द्र के वाहन दो भूरे अश्व: इन्द्र अपने इन्हीं अश्वों पर जाकर शत्रु का संहार करते हैं। ४. जब अत्यन्त शक्तिशाली इन्द्र महावृष्टि करतें हैं तो पूषा सहायता देतें हैं। ५. हम पूषा और इन्द्र को कृपापूर्ण रचा पर उसी प्रकार आश्रित हैं जैसे हम सुदृढ वृक्ष की शाखा के आश्रय में रह सकते हैं। ६. सारथि जैसे लगाम को खींचता है वैसे ही हम भी अपने मंगल के लिये पूषा और इन्द्र को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।"

६.५८,१ (= सावे० १.७५): शुक्रं ते अन्यद् यजत ते अन्यद् विषुरूपे अहनी द्यौर् इवासि। विश्वाः हि मायाः अवसि स्वधावो भद्रा ते पूषन्न् इह रातिर् अस्तु। २. अजाश्वः पशुपाः वाजपस्त्यो धियंजिन्वो भुवने विश्वे अर्पितः। अष्ट्राम् पूषा शिथिराम् उद्वरीवृजत् सञ्चक्षाणो भुवना देवः ईयते। ३. यास ते पूषन् नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीर् अन्तरिक्षे चरन्ति। ताभिर् यासि दूत्यं सूर्यस्य कामेन कृत[२८२] श्रवः इच्छमानः। ४. पूषा सुबन्धुर् दिवः आ पृथिव्याः इळस्पतिर् मघवा दस्मवर्चाः। यं देवासो अददु. सूर्यायै कामेन कृतं तवसं स्वञ्चम्।

---

[२८०] तुकी० ३.५७,१ और ६.१७,११ जहाँ पूषा और विष्णु को इन्द्र के लिये तीन घट सोम पवित्र करने वाला कहा गया है (पूषा विष्णुस् त्रीणिस् रासि धावन् वृत्र-हणम् मदिरम् अंशुम् अस्मै)।

[२८१] ३ ५२,७।

[२८२] देखिये अगला मन्त्र और ६.४९,८।

"१. हे पूषन् ! तुम्हारा एक रूप उज्ज्वल है; दूसरा रूप पूज्य है; तुम्हारे दो काल भिन्न-भिन्न हैं। तुम द्यौस के समान हो : क्योंकि हे आत्मनिर्भर देवता ! तुम सम्पूर्ण आश्चर्यजनक शक्तियों का प्रयोग करते हो। हे पूषा ! तुम्हारे दान कल्याणकारी हों। २. जिन पूषा का वाहन बकरा है, जो पशुओं का पालन करनेवाले हैं, जो प्रचुर तथा सम्पन्न गृहों के स्वामी हैं, जो आत्मा को प्रीति प्रदान करते हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टि में व्याप्त हैं, वही पूषा सूर्य-रूप से सब प्राणियों को प्रकाशित करते हुये अन्तरिक्ष में गमन करते हैं। ३ हे पूषा ! अपनी उन हिरण्य नौकाओं के साथ, जो अन्तरिक्ष समुद्र में चलती है, तुम सूर्य के दूत के रूप में कार्य करते हुये अन्नकामना करते हो। स्तोता तुम्हें हव्य दान द्वारा प्रसन्न करते हैं। ४. पूषा पृथिवी और आकाश के बन्धु हैं। पूषा अन्नों के स्वामी हैं; वे ऐश्वर्यशाली और सुन्दर गमन करनेवाले हैं। इन्हीं शक्तिशाली, द्रुत तथा प्रेमविभोर देव को देवताओं ने सूर्या को दिया।"

२.४० में सोम और पूषन् की एक साथ ही धनों के तथा आकाश और पृथिवी के जनक, संसार के जन्मजात रक्षक तथा देवों द्वारा अमरत्व के केन्द्र-बिन्दु होने के रूप में प्रशस्ति है (सोम-पूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः। जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवाः अकृण्वन्न् अमृतस्य नाभिम्, १.)। ये घृणित अन्धकार को छिपा देते हैं (इमौ तमांसि गुहताम् अजुष्टा, वही २)। ये सात चक्रोंवाले उस रथ को प्रेरित करते हैं जो अन्तरिक्ष में चलता है किन्तु सर्वव्यापी नहीं है; जो सभी दिशाओं में चक्कर लगाता है, जो मनोजवा है और सातरश्मियों से प्रकाशित है (सोमापूषणा रजसो विमानं सप्तचक्रं रथम् अविश्वमिन्वम्। विषुवृतम् मनसा युज्यमानं तं जिन्वथो वृषणा पञ्चरश्मिम्; मंत्र ३)। दोनों में से एक (पूषा) को आकाश में अपना निवास स्थापित करनेवाला, तथा दूसरे (सोम) को पृथिवी पर तथा अन्तरिक्ष में (दिवि अन्यो सदनं चक्रे उच्चा पृथिव्याम् अन्यो अधि अन्तरिक्षे; मंत्र ४)। सोम ने सभी जीवों को उत्पन्न किया, और पूषा विश्व को देखता हुआ आगे बढ़ता है (विश्वानि अन्यो भुवना जजान विश्वम् अन्यो अभिचक्षाण· एति, मंत्र ५)।

ऋग्वेद १.१३८ के अन्तिम मन्त्र में कवि पूषा से कहता है कि वह मधुर सूक्तों से उनका ध्यान आकर्षित करना चाहता है और वह इस देवता के प्रति दर्प अथवा ईर्ष्या का भाव नहीं रखता : वह इसकी मित्रता को भी अस्वीकार नहीं करता (ओ सु त्वा ववृतीमहि स्तोमेभिर् दस्म साधुभिः। न हि त्वा पूषन्न् अतिमन्ये आघृणे न ते सख्यम् अपह्नुवे)।

१०.२६ में इन्हें प्रार्थनाओं को पूर्ण करनेवाला और ऋषियों को उद्दीप्त करनेवाला कहा गया है (मतीनं च साधनं विप्राणां च अधवम् ; मंत्र ४) इन्हें यज्ञों का वर्धक[२८३], रथों के अश्वों का प्रेरक और मनुष्यों का हितैषी ऋषि, और बुद्धिमान व्यक्तियों का रक्षक मित्र कहा गया है (प्रत्यधिर् यज्ञानाम् अश्वहयो रथानाम् । ऋषिः स यो मनुर्हितो विप्रस्य यवयत्–सखः; मंत्र ५)। ये पूर्व समय में उत्पन्न, प्रत्येक स्तोता के अडिग मित्र हैं (विश्वस्य अर्थिनः सखा सनोजाः अनपच्युत)।



[२८३] प्रो० रॉथ (वस्था०) 'प्रत्यधि' शब्द को जो १०.१,५ मे भी आता है, 'आधे के अधिकारी' का द्योतक मानते हैं। तुको० 'अभ्य्-अर्धयज्जवन् ।'

खण्ड १३

उषा

यह देवी, जो यूनानियों के 'एओस' और लैटिनों के 'आरोरा' के समकक्ष है, ऋग्वेद के कवियों की प्रशस्ति की एक प्रिय वस्तु है और इसे समर्पित सूक्तों को हम यदि सर्वाधिक सुन्दर नहीं तो कम से कम सर्वाधिक सुन्दरों के बीच अवश्य रख सकते हैं। निम्नलिखित सूक्त सर्वथा इसी के सम्मान में समर्पित हैं: १.४८; १.४९; १.९२; १.११३; १ १२३; १.१२४; ३.६१; ४ ५१; ४.५२; ५.७९; ५.८०; ६ ६४; ६.६५; ७.७५ ८; १० १७२। अनेक फुटकर मन्त्रों में भी इसकी प्रशस्ति है।

जिस रूप में उषा का वर्णन या प्रशस्ति है उसके सम्बन्ध में स्पष्ट विचार-निर्धारण के लिये मैं उन तीन सूक्तों के अधिकांश को उद्धृत करूँगा जिनमें से दूसरे और तीसरे सूक्त पहले की अपेक्षा अधिक उल्लेखनीय हैं। तदनन्तर मैं इसके प्रधान गुणों और कर्मों का एक सारांश प्रस्तुत करूँगा।

(१) उषा को सम्बोधित तीन सूक्त

१.४८,१ : सह वामेन नः उषो वि उच्छ दुहितर् दिवः। सह द्युम्नेन बृहता विभावरी राया देवि दास्वती। २. अश्वावतिर् गोमतीर् विश्वसुविदो भूरि च्यवन्त वस्तवे। उदीरय प्रति मा सूनृताः उषश् चोद राधो मघोनाम्। ३. उवास उषाः उच्छात् च नु देवी जीरा रथानाम्। ये अस्याः आचरणेषु दध्रिरे समुद्रे न श्रवस्यवः। ४. उषो ये ते यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः। अत्राह तत् कण्वः एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्। ५ आ घ योषेव सूनरी उषाः याति प्रभुञ्जती। जरयन्ती वृजनम् पद्वद् ईयते उत् पातयति पक्षिणः। ६ वि या सृजति समनं वि अर्थिन। पदं न वेति ओदती। वयो नकिस् ते पप्तिवांसः आसते व्युष्टौ वाजिनीवति। [१.१२४,१२ = ६.६४,४: उत् ते वयश् चिद् वसतेर् अपप्तन् नरश् च ये पितुभाजो व्युष्टौ। देखिये १.४८,९ भी] १.४८,७ : एष अयुक्त परावतः सूर्यस्योदयनाद् अधि। शतं रथेभिः सुभगा उषाः इयं वि याति अभि मानुषान्। ८. विश्वम् अस्याः ननाम चक्षसे जगज् ज्योतिष् कृणोति सूनरी। अप द्वेषो मघोनी दुहिता दिवः उषा उच्छद् अप स्रिधः। ९ उषः आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर् दिवः। आवहन्ती भूरि अस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु। १०. विश्वस्य हि

जीवनम् प्राणनं त्वे वि यद् उच्छसि सूनरि। सा नो रथेन बृहता विभावरि श्रुधि चित्रमघे हवम्। [१.४६,१ : उषो भद्रेभिर् आ गहि दिवश् चिद् रोचनाद् अधि। वहन्तु अरुणप्सवः उप त्वा सोमिनो गृहम्। २. सुपेशसं सुखं रथं यम् अध्यस्थाः उषस् त्वम्। तेन सुश्रवसं जनम् प्राव अद्य दुहितर् दिवः। ६.६४,२ : वि तद् ययुर् अरुणयुग्भिर् अश्वैश् चित्रं भान्ति उषसश् चन्द्ररथाः। ७.७५,६ : प्रति द्युतानाम् अरुषासो अश्वाश् चित्राः अदृश्रन्न् उषसं वहन्तः। याति शुभ्रा विश्वपिशा रथेन।] १.४८,१२. विश्वान् देवान् आ वह सोमपीतये अन्तरिक्षाद् उषस् त्वम्।

"हे आकाशपुत्री, अत्यन्त कान्तिवती उषे! हमको प्रशंसायुक्त, उपभोग्य और यश प्राप्त करानेवाले ऐश्वर्य के साथ तुम प्रगट होओ। २. अश्वों और गायों को लानेवाली और सब कुछ प्रदान करनेवाली उषा अक्सर शीघ्रता से प्रगट होती है।[२८४] हे उषे! मेरे निमित्त प्रिय और सत्य बात (अथवा सूक्त)[२८५] कहो और धन प्रेरित करके हमें धनी बना दो। ३. उषा पहले भी हमारे पास निवास करती थी; वह आज भी प्रगट हो। यह वह देवी है जो हमारे रथों को प्रेरित करती है। हम इसके आगमन की उसी प्रकार प्रतीक्षा कर रहे हैं जैसे रत्नों के इच्छुक समुद्र में मन लगा रखते हैं।[२८६] ४. हे उषे! तुम्हारे आने के साथ ही जो स्तोता दान की इच्छा करते हैं उन पुरुषों के नाम को कण्वों में महान् कण्व प्रशंसा-वचनों सहित कहते हैं। ५. एक सक्रिय गृहस्वामिनी की भाँति उषा उत्तम मार्ग पर चलती हुई सब का पालन करती है।[२८७] वह पैरवाले जीवों[२८८] को कर्म में लगाती है और पक्षियों को उड़ाती है। ६. वह भिक्षुकों और कर्म करनेवाले दोनों को कार्य में प्रेरित करती है; वह स्वयं भी विश्राम नहीं करती। हे अन्नदायिनी उषा! तुम्हारे आने पर

---

[२८४] बेनफे ने 'वस्तवे' का यही अनुवाद किया है। (ग्लॉसरी टु सामवेद, वस्था 'उष्', 'वस्ट' और 'वस्तु')। रॉथ (वस्था) 'उष्' २।

[२८५] बेनफे 'सूनृता.' का 'कान्तिमान वस्तुयें' अनुवाद करते हैं किन्तु १.९२,७ और १.११३,१२ में आप 'सुन्दर सूक्त' अनुवाद करते हैं। इस पर प्रो० आफरेख्त की टिप्पणी आगे मिलेगी।

[२८६] 'दध्रिरे' का आशय यहाँ स्पष्ट नहीं है। प्रो० विलसन सायण के अनुसार अनुवाद करते हैं।

[२८७] सायण के अनुसार प्रभुञ्जती = प्रकर्षेण सर्वम् पालयन्ती।

[२८८] प्रो० बेनफे और बॉलेनसेन (ओरियण्ट उण्ड ऑक्सीडेण्ट २.४६३) दोनों यहाँ 'जरयन्ती' को 'गतिशील बनाने' के अर्थ में व्याख्या करते हैं।

पक्षी भी अपने घोंसले छोड़ देते हैं। [१.१२४,१२ : पक्षी अपने घोंसले से उड़ जाते हैं, और मनुष्य भी भोजन की इच्छा से घर छोड़कर कर्मरत हो जाते हैं]। ७. इसने सूर्य के सुदूर स्थल से अपने अश्वों को सन्नद्ध किया है। यह सौभाग्यशालिनी उषा सौ रथों द्वारा मनुष्यों के लोक में आती हैं। ८. सम्पूर्ण संसार इसके दर्शन के लिये नत होता है। यह कर्मशील देवी प्रकाश का सृजन करती है; आकाश की यह भव्य पुत्री हमको घृणा करनेवालों को दूर भगाती है। उषा ने हमारे शत्रुओं को दूर हटाया है! ९. हे आकाश पुत्री उषे! हमको सौभाग्यशाली बनाती हुई हमारे यज्ञों में प्रगट होओ और आनन्ददायक प्रकाश से सर्वत्र चमकती रहो। १०. हे सजीव देवी! तुम्हारे प्रगट होने में ही सभी जीवों का जीवन और प्राण निहित है। अपने विशाल रथ पर कान्तिमान होते हुये हमारे आह्वान को सुनो। [१.४९,१ : हे उषे! प्रकाशमय आकाश से भी उत्तम मार्गों से आओ; सोमयागवाले के घर लाल रंग के अश्व तुम्हें पहुँचावें। २. हे आकाशपुत्री उषे! तुम जिस सुन्दर और सुखदायक रथ पर विराजमान हो उसके सहित आकर यजमान की रक्षा करो। ६.६५,२ : वे अपने सन्नद्ध लाल घोड़ों सहित दूर गये; हे उषे! तुम कान्तिमान रथों पर बैठकर उज्ज्वल प्रकाश फैलाओ। ७.७५,६ : उज्ज्वल और लाल घोड़ों को प्रकाशित उषा को लाते हुये देखा गया था। यह सुन्दर देवी हर प्रकार के अलंकरण से सुसज्जित सुन्दर रथ पर चलती है]। १.४८,१२ : हे उषे! सोमपान के लिये अन्तरिक्ष से सब देवताओं को यहाँ लाओ।"

१.९२,१ (= सावे० २,११०५) : एता. उ त्याः उषसः केतुम् अक्रत पूर्वेऽर्धे रजसो[२१०] भानुम् अञ्जते। निष्कृण्वानाः आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावो अरुषीर् यन्ति मातरः। २ (= सावे० २.११०६) उद् अपप्तन् अरुणाः भानवो वृथा स्वायुजो अरुषीर् गाः अयुक्षत। अक्रन् उषासो वयुनानि पूर्वथा रुशन्तम् भानुम् अरुषीर् अशिश्रयुः। ३ (= सावे० २.११०७) अर्चन्ति नारीर् अपसो न विष्टिभिः समानेन योजनेन आ परावतः। इष वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वा इद् अह यजमानाय सुन्वते। ४. अधि पेशांसि वपते नृतूर् इव अपोर्णुते वक्षः उस्रेव बर्जहम्।

---

[२०९] 'वाजिनीवती' की यास्क ने (निरुक्त ११.२६ और १२.६) में 'अन्नवती' व्याख्या की है। सायण ऋग्वेद १.३,१० में 'अन्नवत्-क्रियावती' अर्थ मानते हैं। शब्द का आशय अस्पष्ट प्रतीत होता है।

[२१०] तुकी० १.१२४,५ : पूर्वेऽर्धे रजसो अप्त्यस्य गवां जनित्री अकृत प्र केतुम्।

ज्योतिर् विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं वि उषाः आवर् तमः। [१.१२३,१० : कन्येव तन्वा शाशदाना एषि देवि देवम् इयक्षमाणम्। संस्मयमाना युवतिः पुरस्ताद् आविर् वक्षांसि कृणुषे विभाती। ११. सुसंकाशा मातृमृष्टेव योषा आविस् तन्वं कृणुषे दृशे कम्। १.१२४,४ (=निरुक्त ४.१६) उपो अदर्शि शुन्ध्युवो न वक्षो नोधाः इवाविर् अकृत प्रियाणि। अद्मसद् न ससतो बोधयन्ती शश्वत्तमा आगात् पुनर् एयुषीनाम्। ७. (=निरुक्त ३.५): अभ्रातेव पुंसः एति प्रतीची गर्त्तारुग् इव सनये धनानाम्।[२९१] जायेव पत्ये उशती सुवासाः उषाः हस्रेव नि रिणीते अप्सः। ५.८०,५ एषा शुभ्रा न तन्वो विदाना ऊर्ध्वेव स्नाती दृशये नो अस्थात्। ६.६४,२ : आविर् वक्षः कृणुषे शुम्भमाना देवि रोचमाना महोभिः। तुकी० ५.८०,४६]: १९२,५ प्रति अर्चिः रुशद् अस्याः अदर्शि वि तिष्ठते बाधते कृष्णम् अभ्वम्।[२९२] स्वरुं न पेशो विदथेषु अञ्जन् चित्रं दिवो दुहिता भानुम् अश्रेत्। ६. अतारिष्म तमसस् पारम् अस्य उषाः उच्छन्ती वयुना कृणोति। श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसाय अजीगः। ७. भास्वती नेत्री सूनृतानां दिवः स्तवे दुहिता गोतमेभिः। प्रजावतो नृवतो अश्वबुध्यान् उषो गोअग्रान् उप मासि वाजान्। ८. उषस तम् अश्यां यशसं सुवीरां दासप्रवर्गं रयिम् अश्वबुध्यम्। सुदंससा श्रवसा या वि भासि वाजप्रसूता सुभगे बृहन्तम्। ९. विश्वानि देवी भुवनाऽभि-चक्ष्य प्रतीची चक्षुर् उर्विया विभाति। विश्वं जीवं चरसे बोधयन्ती विश्वस्य वाचम् अविदत् मनायोः। १०. पुनः पुनर् जायमाना[२९३] पुराणी समानं वर्णम् अभि शुम्भमाना। श्वघ्नीव कृत्नुर् विजः आमिनाना मर्तस्य देवी जरयन्ती आयुः। ११. व्यूर्ण्वती दिवो अन्तान् अबोधि उप स्वसारं सनुतर् युयोति। प्रमिनती मनुष्या युगानि योषा जारस्य चक्षसा विभाति। [१.११५,२ : सूर्यो देवीम् उषसं रोचमानाम् मर्यो न योषाम् अभि एति पश्चात्। ७.७५,४ दिवो दुहिता भुवनस्य पत्नी। ५. वाजी-नीवती सूर्यस्य योषा:] १.९२,१९ : पशून् न चित्रा-सुभगा प्रथाना सिन्धुर् न क्षोदः उर्विया वि अश्वत्। अमिनती दैव्यानि व्रतानि सूर्यस्य

[२९१] तुकी० ऋग्वेद ९.९६,२०।

[२९२] तुकी० ४.५१,९ : गूहन्ती : अभ्वम् असितं रुशद्भिर् शुक्रास् तनूभिः शुचयः।

[२९३] तुकी० १ १२३,२ : उच्चा वि अख्यद् युवतिः पुनर्भूः। ३.६१,१ : पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिर् अनु व्रतं चरसि।

चेति रश्मिभिर् दृशाना । १३. उषस् तत् चित्रम् आभर अस्मभ्यं वाजिनीवति । येन तोकं चतनयं च धामहे । १४. उषो अद्येह गोमति अश्वावति विभावरि । रेवद् अस्मे वि उच्छ सूनृतावति । १५. युद्व हि वाजिनीवति अश्वान् अद्य अरुणान् उषः । अथ नो विश्वा सौभगानि आवह ।

"१. उषायें पूर्व अन्तरिक्ष में प्रकाश फैलाती हुई संकेत करती हैं । यह अरुणवर्ण की गौ मातायें शस्त्रों से सजे हुये वीरों के समान आगे बढ़ रही हैं । २. अरुण उषा उदय हो गई । उसने शुभ्र गौओं (रश्मियों) को रथ में जोड़ा है । पूर्व के समान उषायें हमारे लिये चेतनायें लाई हैं; अरुण गौओं ने चमकीला प्रकाश प्राप्त कर लिया है । ३. कार्यव्यस्त स्त्रियों के समान उषायें दूर से प्रकाशित होती हैं और सोम निष्पन्नकर्ता उत्तम कर्मवान तथा दानशील यजमान को सब प्रकार के धन पहुँचाती हैं । ४. एक नर्तकी की भाँति उषायें अपने भूरे परिधान धारण करती हैं; ये अपने स्तनों को उसी प्रकार प्रगट करती हैं जैसे गौयें अपने थनों को; उषा समस्त लोकों को प्रकाश से भरती तथा उसी प्रकार अन्धकार को मिटाती है जैसे पशु अपने गोष्ठों को छोड़ते हैं ।[२१४] [१.१२३,१० अपने सुन्दर रूप में गर्वित[२१५] हे देवि ! तुम उन पुण्यात्माओं से मिलने के लिये अग्रसर होती हो जो तुम्हारी इच्छा करते हैं । हँसते हुई, यौवनवती और कान्तिमान तुम अपने स्तनों को सामने से खोलती हो । ११. अपनी माता द्वारा अलंकृत एक सुन्दर बालिका की भाँति तुम देखनेवालों के समक्ष अपने शरीर का प्रदर्शन करती हो । १.१२४, ४ : एक कान्तिमान रमणी के स्तनों की भांति हमने उसे देखा ।[२१६] नोधस्[२१७]

---

[२१४] देखिये सायण ।

[२१५] जिस शब्द का इस प्रकार अनुवाद किया गया है वह 'शशदाना' है । सायण इसको 'प्रकट होना' व्याख्या करते हैं । यह शब्द इन स्थानो पर आता है : १ ३३,१३; १.११६,२; १,१२४,६; १ १४१,४; ७.९८,४; ७-१०४,२४; १० १२०,५ । देखिये रॉथ (निरुक्त, पृ० ८३) को जो १.३३,१३ और १०.१२०,५ में इसका 'विजय प्राप्त करनेवाला' अनुवाद करते हैं । बेनफे भी १.३३,१३ और १.११६,२ में यही अनुवाद करते हैं ।

[२१६] यास्क का अनुसरण करते हुये सायण 'शुन्ध्युवो न वक्ष.' अनुवाद करते हैं । रॉथ (निरुक्त पृ० ४४) इसका एक 'पवित्र कन्या का स्तन' अनुवाद करते हैं ।

[२१७] यह एक ऋषि का नाम है । रॉथ के अनुसार यह यहाँ एक विशेषण

की भांति उसने हमारी प्रिय वस्तुओं को प्रगट किया है। घर के सदस्यों की भांति सोनेवालों को जगा कर वह एक सर्वाधिक चिरकन्या के रूप में आई है। ७. जिस प्रकार भ्रातांविहीन स्त्री किसी अन्य मनुष्य के समक्ष उपस्थित होती है, जिस प्रकार धन की खोज में कोई व्यक्ति रथ पर चढ़ कर जाता है, जिस प्रकार एक प्रिय पत्नी अपने को अपने पति के समक्ष प्रकट करती है, उसी प्रकार उषा भी हँसते हुये अपने रूप को प्रगट करती हैं।[२९८] ५,८०,५ : वह एक सुन्दर स्त्री की भांति, स्नान करने के बाद जल से निकल कर अपने शरीर को प्रदर्शित करनेवाली स्त्री के समान अपने शरीर को प्रगट करती है। ६.६४,२ : उज्ज्वलता से परिपूर्ण, हे देवि! तुम वैभवपूर्वक चमकते हुए अपने स्तनों को प्रगट करती हो] १.९२,५ उषा की चमक सर्वत्र फैल रही है जिसने विशाल-काय अन्धकार को दूर किया है। आकाशपुत्री उषा उसी प्रकार उज्ज्वल प्रकाश से युक्त हुई है जैसे किसी उत्सव के समय यज्ञस्थूण प्रकाशित होता है। ६. हम इस अन्धकार से निकल गये हैं। उषा ने स्थानों को प्रगट कर दिया है; वह दमकती हुई स्वच्छन्द भाव से हँस रही है। वह हर्षित हुई सुन्दर मुखवाली दमकती स्त्री के समान शोभित है। ७. प्रिय सत्यवाणी[२९९] की ओर प्रेरित करनेवाली; दमकती हुई आकाश पुत्री उषा गौतमों द्वारा स्तुत्य है। हे उषे! तुम हमको पुत्र, पौत्र, और अश्वों से युक्त ऐश्वर्य प्रदान करो। ८. हे उषा! तू सौभाग्यवती है। मुझे सुन्दर पुत्रों, सेवकों, अश्वों से युक्त उस यशपूर्ण धन को प्राप्त कराओ जिसे तुम अपने यज्ञ और कर्म से प्रेरित करती हो। ९ सब लोकों को देखती हुई यह देवी पश्चिम की ओर मुख करके चमकती और सब जीवों को गति देती हुई चैतन्य करती है। यह चिन्तनशील प्राणियों की वाणी को जानने वाली है। १०. पुन पुनः प्रगट होती हुई और समान रूप से सब ओर सुशोभित हुई यह प्राचीन उषा मरणशील जीवों की आयु क्षीण करनेवाली है।--उसी प्रकार जैसे जुआरी दाँव पर रक्खी वस्तु को ले लेता है।[३००] ११. यह स्त्री आकाश की सीमाओं को प्रगट करनेवाली

हो सकता है। मूलर (ऋग्वेद का अनुवाद १. पृ० १०७) इससे कवि का सामान्य अर्थ हो सकता है।

[२९८] रॉथ (निरुक्त पृ० २५)।

[२९९] देखिये ऊपर नोट २८५।

[३००] सायण 'श्वघ्नी' को 'व्याध स्त्री' के और 'विज.' को 'पक्षियो' अर्थ मे ग्रहण करते हैं। देखिये विलसन का कोश भी। बेनफे 'विज.' को पासे के अर्थ मे लेते हैं। बॉलेनसेन (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट २.४६४) इसका यह अनुवाद करते हैं "भाग्यशाली जुआरी लाभ को ले जाता है।" "विज. इव

है। यह अपनी बहन (रात्रि) को दूर करती हुई छिपाती है। यह मनुष्यों से युगों का ह्रास करनेवाली अपने प्रेमी के दर्शन से दमकती है। [१.११५,२ : सूर्य चमकती देवी उषा का पीछा करता है—जैसे कोई पुरुष पीछे में आकर किसी स्त्री के निकट आता है। ७,७५,४ : आकाश-पुत्री, संसार की पालनकर्त्री, सूर्य की आनन्ददायिनी स्त्री] १.९२,१२ : उज्ज्वलवर्णवाली सौभाग्यशालिनी उषा पशुओं के समान वृद्धि को प्राप्त हुई नदियों के समान फैलती है। वह देवताओं के नियमों की अवहेलना नहीं करती और सूर्य की किरणों सहित दिखाई पड़ती है। १३. हे उषे! तू अत्यन्त अन्नवाली है। उस अद्भुत अन्न को हमारे लिये ला, जिससे हम अपने पुत्रादि का पोषण करें। १४. हे गौ, अश्व, प्रकाश, सत्यवाणी (सूक्त) से युक्त उषे! तू हमारे लिये धनवाली होकर आ। १५. हे अत्यन्त अन्नवाली उषे! तुम अरुण घोड़ों को सन्नद्ध करके हमारे लिये सभी सौभाग्यों को लानेवाली बनो।"

१.११३,१ (= साम्वे० २.१०९९; निरुक्त २.१९); इदं श्रेष्ठं ज्योतिषां ज्योतिर् आगात् चित्रः प्रकेतो अजनिष्ट विभ्वा। यथा प्रसूता सवितुः सवाय एव रात्री उषसे योनिम् अरैक्। [१.१२४,८: स्वसा स्वस्रे ज्यायस्यै योनिम् अरैग् अपैति अस्याः प्रतिचक्ष्य इव]. १.११३,२ (= सावे० २.११००; निरुक्त २.२१). रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्या आगाद् अरैग उ कृष्ण सदनानि अस्याः। समानबन्धू अमृते अनूची द्यावावर्णं चरतः आमिनाने। ३. (= सावे० २.११०१). समानो अध्वा स्वस्रोर् अनन्तस् तम् अन्याऽन्या चरतो देवशिष्टे। न मेथेते न तस्थतुः सुमेके नक्तोषासा समनसा विरूपे। ४. भास्वती नेत्री सूनृतानाम् अचेति चित्रा वि दुरो नः आवः। प्रार्प्य जगद् वि उ नो रायो अख्यद् उषाः अजीगर् भुवनानि विश्वा। [१.४८,१५: उषो यद् अद्य भानुना वि द्वाराव् ऋणवो दिवः। इत्यादि] १ ११३.५. जिह्मश्ये चरितवे मघोनी आभोगये इष्टये राये उ त्वम्। दभ्रम् पश्यद्भ्यः उर्विया वि चक्षे उषाः अजीगर् भुवनानि विश्वा। ६. क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वम् महीयै इष्टये त्वम् अर्थम् इव त्वम् इत्यै। विसदृशा जीविताऽभिप्रचक्षे उषाः अजीगर् भुवनानि विश्वा। ७. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि व्युच्छन्ती युवतिः शुक्रवासाः[301]। विश्वस्ये-

---

आ मिनानि" शब्द ऋग्वेद २.१२५ मे पुनः आता है, जहाँ सायण 'विजः' को 'उद्वेजक' के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

[301] तुकी० ७.७७,२। विश्वम् प्रतीची सप्रथा उद् अस्थाद् रुशद् वासो बिभ्रती शुक्रम् अश्वैत्।

शाना पार्थिवस्य वस्वः उषो अद्येह सुभगे वि उच्छ। ८. परायतीनाम् अनु एति पाथः आयतीनाम् प्रथमा शश्वतीनाम्। व्युच्छन्ती जीवम् उदीरयन्ती उषाः मृतं कं चन बोधयन्ती। [१.१२३.८: सदृशीर् अद्य सदृशीर् इद् उ श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम। अनवद्यस् त्रिंशतं योजनानि एकैका क्रतुम् परि यन्ति सद्यः। ९. जानती अह्न प्रथमस्यो नाम शुक्रा कृष्णाद् अजनिष्ट श्वितीची। ऋतस्य योषा न मिनाति धाम अहर् अहर् निष्कृतम् आचरन्ती]. १.११.६. उषो यद् अग्निं समिधे चकर्थ वि यद् आवश् चक्षसा सूर्यस्य। यद् मानुषान यक्ष्यमाणान् अजीगस् तद् देवेषु चकृषे भद्रम् अप्नः। १०. कियति आतत् समयो भवाति याः व्यूषुर् याश् च नूनं व्युच्छान्। अनु पूर्वाः कृपते वावशाना प्रदीध्याना जोषम् अन्याभिर् याति। ११. ईयुस् ते ये पूर्वतरम् अपश्यन् व्युच्छन्तीम् उषसम् मर्त्यासः। अस्माभिर् उ नु प्रतिचक्ष्या अभूद् आ उ ते यन्ति ये अपरीषु पश्यान्। १२. यावयद्द्वेषा ऋतपाः ऋतेजाः सुम्नावरी सूनृता ईरयन्ती। सुमङ्गलीर् बिभ्रती देववीतिम् इहाद्य उषाः श्रेष्ठतमा वि उच्छा। १३. शश्वत् पुरा उषाः वि उवास देवी अथो अद्य इदं वि आवो मघोनी। अथो वि उच्छाद् उत्तरान् अनु द्यून् अजराऽमृता चरति स्वधाभिः। १४ वि अञ्जिभिर् दिव. आतासु अद्यौद् अप कृष्णां निर्णिजां देवी आवः। प्रबोधयन्ती अरुणेभिर् अश्वैर् आ उषाः याति सुयुजा रथेन। १५. आवहन्ती पोष्या वार्याणि चित्रं केतुं कृणुते चेकिताना। ईयुषीनाम् उपमा शश्वतीनां विभातीनाम् प्रथमा उषाः वि अश्वैत्। [१.१२४,२: अमिनती दैव्यानि व्रतानि प्रमिनती मनुष्या युगानि। ईयुषीनाम् उपमा शश्वतीनाम् आयतीनाम् प्रथमा उषाः व्य अद्यौत्।] १.११३.१६. उद् ईर्ध्वं जीवो असुर् नः आगाद् अप प्रागात् तमः आ ज्योतिर् एति। आरैक् पन्था यातवे सूर्याय अगन्म यत्र प्रतिरन्ते आयुः। १७. स्यूमना वाचः उद् इयर्त्ति वह्निः स्तवानो रेभः उषसो विभातीः। अद्य तद् उच्छ गृणते मघोनि अस्मे आयुर् नि दिदीहि प्रजावत्। १८. याः गोमतीर् उषसः सर्ववीराः व्युच्छन्ति दाशुषे मर्त्याय। वायोर् इव सूनृतानाम् उदर्के ताः अश्वदाः अश्नवत् सोमसुत्वा। १९. माता देवानाम् अदितेर् अनीकं यज्ञस्य केतुर् बृहती वि भाहि। प्रशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो वि उच्छ आ नो जने जनय विश्ववारे २०. यत् चित्रम् अप्नः उषसो वहन्ति ईजानाय शशमानाय भद्रम्। तन् नो मित्रो वरुणो मामहन्ताम् अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः।

"१. यह ज्योतियों में श्रेष्ठ ज्योति प्रगट हुई; अद्भुत प्रकाश सर्वत्र फैल

गया। रात्रि ने जैसे सविता से जन्म लिया था वैसे ही उसने उषा के लिये अपना स्थान दे दिया। [१.१२४,८ : रात्रिरूप बहन अपनी बड़ी बहन उषा के लिये स्थान छोड़ती हुई हटती है।] १.११३,२ : श्वेतवर्ण बछड़े के समान चमकती हुई उषा अपने प्रकाशित पुत्र (सूर्य) के साथ आ गई; रात्रि ने इसके लिये अपना स्थान छोड़ दिया। रात्रि और दिन दोनों परस्पर बँधे हुये, अमर, आकाश में क्रम-पूर्वक, अपने अपने वर्णों को परिवर्तित करते हुये एकान्तरित होते रहते हैं। ३. इन दोनों बहनों का मार्ग एक ही है, जिस पर देवताओं की प्रेरणा से ये बारम्बार यात्रा करती हैं। एक मनवाली यह उषा और रात्रि विभिन्न वर्णों की हैं और न तो विश्राम करती हैं और न टकराती हैं। ४ स्तुतियों से प्राप्त कान्तिमती उषा आई। उसने हमारे लिये (आकाश के) द्वार खोल दिये। उसने संसार को कर्म के लिये प्रेरित करके धनों को प्रगट किया। उषा ने सम्पूर्ण भुवनों को जागृत कर दिया। [१.४८,१५ : हे उषे! तुमने अपने प्रकाश से हमारे लिये आकाश के दो द्वारों को खोल दिया, इत्यादि।] १.११३,५ : सिकुड़ कर सोते हुओं को यह धनेश्वरी उषा चैतन्य करती है। यह भोग, पूजा, धन दृष्टि, आरोग्य की प्रेरणा देती हुई सब भुवनों को चैतन्य कर देती है। ६. राज्य, यश, यज्ञ, अपेक्षित कार्य, और आजीविका की ओर मनुष्यों को प्रेरित करनेवाली उषा ने सब भुवनों को चैतन्य करके उनको अपने-अपने जीवन-व्यापार में लगा दिया। ७. यह उज्ज्वलवसना युवती सभी पार्थिव धनों की स्वामिनी है। यह आकाश की पुत्री सौभाग्य से खिल उठती है। यह आज यहाँ प्रकाशित हो। ८. नित्य आनेवाली उषाओं में यह उषा विगत उषाओं के मार्ग पर चलती है। यह जीवित को प्रेरणा देनेवाली उषा मृतवत् को भी चैतन्य प्रदान करती है। [१ १२३,८, जैसे आज वैसे ही कल, यह वरुण के नित्य व्रत का पालन करती है। यह तीसों दिन आकाश की परिक्रमा करती रहती है और प्रतिदिन अपने नियत स्थान को प्राप्त होती है।[३०२] ९. दिन के आरम्भिक काल को जानती हुई, अन्धकार से चमकती हुई उषा उत्पन्न हुई है। यह युवती प्रतिदिन नियत स्थान पर पहुँच जाती है तथा नियमों का उल्लंघन कभी नहीं करती]। १.११३,९ : हे उषे! तुमने हविदान के लिये अग्नि प्रदीप्त की और सूर्य के प्रकाश से अन्धकार को मिटाया। यज्ञ में, लगे मनुष्यों के लिये तुमने प्रकाश दिया। तुम्हारा यह कार्य देवों के लिये भी हितकर है। १०. जो उषायें खिलीं और जो अब खिलेंगी उनके बीच[३०३] व्यवधान कितना दीर्घ है? यह निक-

---

[३०२] देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ 'ऋतु' (व्या०)।

[३०३] 'समया' का अर्थ सायण के अनुसार 'निकट' है। प्रो० मूलर (अनु-

रस्थ उषा कितनी देर तक ठहरेगी, जो बीती हुई उषाओं का इतना सोच और आगतों के लिये हर्ष प्रगट करती है। ११. जिन्होंने पुरानी उषाओं को प्रगट होते हुये देखा है, वे मरकर चले गये; इसे हम देखते हैं और आगे आनेवाली उषाओं को वे देखेंगे जो आगे आयेंगे। १२. हे उषे! सत्य को पराजित करनेवाली, नियमों में अटल स्तुतियों का प्रेरक, देवताओं के लिये हविधारक, सर्वश्रेष्ठ! तू आज यहाँ प्रकट हो। १३. प्राचीन काल में धनयुक्त उषा प्रकट होती थी। आज इस उषा ने संसार को प्रकाशित किया है। भविष्य में भी तू प्रगट होगी। अजर, अमर, यह उषा अपनी इच्छा से गतिमान है। १४. उषा अपने तेज से आकाश में चमक उठी। उसने काले अन्धकार को दूर कर दिया। जीवों को चैतन्य करती हुई वह अरुण अश्वोंवाले रथ में बैठ कर आती है। १५. पालक तथा वरणनीय धनों को दिलानेवाली यह उषा ज्ञान के उज्ज्वल प्रकाश को फैलाती हुई विगत उषाओं से भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। [१.१२४,२ : देवों के विधान का पालन करती हुई, किन्तु मनुष्यों के जीवन को नष्ट करती हुई, पूर्व उषाओं में अन्तिम तथा आगत उषाओं में प्रथम यह उषा प्रकाशित हुई]। १.११३.१६. हे मनुष्यो! उठो, हम सब के प्राणस्वरूप आ गये। अन्धकार दूर हो गया; प्रकाश आया; उषा ने सूर्य की यात्रा के लिये मार्ग खोल दिया; हम आयु की वृद्धि करने वाले स्थान पर पहुँच गये हैं। १७. कांतिवती उषाओं की स्तुति करने वाला सूक्त के जाल[304] को प्रस्तुत करता है; अतः हे उषा! उस स्तोता के लिये आज प्रकट होकर उसे सन्ततियुक्त आयु दो। १८. गोधन और वीर सन्तानवाली उषायें हविदाता के लिये प्रकट होती हैं। उन अश्वदेनेवालियों को स्तुति पूर्ण होने पर सोम निष्पन्नकर्ता वायु के वेग से प्राप्त करे।[305] १९. हे वरणीय उषे! तुम देवमाता अदिति के मुखरूप और यज्ञ की ध्वजारूप होकर महत्तापूर्वक प्रकाशित होओ और हमें यशस्वी बनाओ।[306] २०. उषायें जिन दिव्य गुणों को लाती हैं वह यज्ञकर्ता और

वाद, पृ० २२०) इसे 'एक साथ' 'तत्काल' आदि अर्थों का द्योतक मानते हैं।

[304] सायण 'स्यूमना' को कर्म बहुवचन मानते हैं। प्रो० वेनफे इसे 'स्यूमन' का एकवचन करण रूप मानते हैं। ऋग्वेद ३.६१,४ का उल्लेख करते हुये प्रो० ऑफरेख्त इस मत की पुष्टि करते हैं।

[305] देखिये वेनफे; और बाटलिङ्क और रॉथ . 'उदर्क' (वस्था) जहाँ 'सूनृत' की सुक्तो के अर्थ में व्याख्या की गई है।

[306] प्रो० ऑफरेख्त 'जने आ जनय' का 'हमे मनुष्यो में प्रसिद्धि दो' अनुवाद करते हैं। सायण यह व्याख्या करते हैं : 'जनपदे आभिमुख्येन प्रादुर्भावय। अवस्थापय।'

स्तोता को मंगलमय हों। मित्र, वरुण, अदिति समुद्र पृथिवी, और आकाश हमारी इस प्रार्थना का अनुमोदन करें।"

(२) अन्य देवों के साथ उषाओं का सम्बन्ध

जैसा हम देख चुके हैं, उषा का सदैव आकाश की पुत्री के रूप में (दुहिता दिवः, जैसे १.३०,२२; १.४८, १.८,९; १.९२,५-७; १.१८३,२; ४.३०,८; ७.६७,२; ८.४७,१४ और बाद; तथा दिविजाः, ७.७५,१ में) वर्णन किया गया है।[307] इसे भग की बहन तथा वरुण की सम्बन्धिनी भी कहा गया है (भगस्य स्वसा वरुणस्य जामिः)। यह रात्रि की भी बहन है (१.११३,२-३; १०.१२७,३; और १.१२४,८ में बड़ी बहन)। एक स्थान (१०.१२७,८) पर रात्रि को भी आकाशपुत्री कहा गया है। दोनों बहनों को अक्सर द्विवचन में एक साथ 'नक्तोषसा' और 'उषसानक्ता' के रूप में भी प्रस्तुत किया गया है (१.१३,७; १.९०,७; १.९६,५; १.१२२,२; १.१८६,४; २.२,२; २.३,६; २.३१,५; ४.५५,३; ५.४१,७; ७.२,६; ७.४२,५; ९.५,६; १०.३६,१; १०.७०,६; १०.११०,६)। ७.२,६ में इनकी दो दिव्य स्त्रियों के रूप में तुलना की गई है (योषणे दिव्ये मही न उषसानक्ता), और २.३१,५ में इन्हें दो ऐसी सौभाग्यशालिनी देवियाँ कहा गया है जो एक के बाद दूसरी[308] प्रगट होती हैं और सम्पूर्ण जीवों को प्रेरित करती हैं (उत त्ये देवी सुभगे मिथूदृशा उषसानक्ता जगताम् अपीजुवा। स्तुषे) जैसी कि आशा की जाती थी, उषा को अक्सर सूर्य के साथ भी सम्बद्ध किया गया है। जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, सूर्य को इसका प्रेमी (१.९२,११), अथवा यदि हम रॉथ के साथ (वस्या० 'जार') इससे अग्नि का तात्पर्य भी समझ सकते हैं। सूर्य को असन्दिग्ध रूप से उसी प्रकार उषाओं का पीछा करने वाला कहा गया है जैसे कोई मनुष्य किसी स्त्री का पीछा करता है (१.११५,२)। सूर्य इसके पथ का अनुसरण करते हैं (५.८१,२: सविता अनु प्रयाणम् उषसो वि राजति); और उषा के लिये कहा गया है कि यह देवों के नेत्र को लाती तथा सुन्दर श्वेत अश्व (सूर्य) का पथ-प्रदर्शन करती है (७.७७,३)। इसे जगत् की स्वामिनी और सूर्य की पत्नी कहा गया है (७.७५,५: भुवनस्य पत्नी। वाजिनीवती सूर्यस्य योषा)। इसी प्रकार बहुवचन में उषाओं के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कहा गया है (४.५,१३: कदा नो देवीर् अमृतस्य पत्नीः सूरो वर्णेन ततनन्न्

---

[307] १.४६,१ में इसे 'प्रिया दिवः' कहा गया है।

[308] प्रो० रॉथ 'मिथूदृशा' को इसी अर्थ में लेते हैं। सायण इसे 'एक दूसरे को देखने' के अर्थ में ग्रहण करते हैं।

उषसः)। १.९१,४ में उषा को 'स्वसरस्य पत्नी' कहा गया है जिसका सायण सूर्य अथवा दिन की पत्नी अनुवाद करते हैं।[309] ७ ७८,३ में उषाओं को सूर्य की जनक, यज्ञ और अग्नि तक कहा गया है (अजीजनन् सूर्यं यज्ञम् अग्निम्)। उषा और अग्नि को अक्सर एक साथ प्रस्तुत किया गया है : उषा काल में यज्ञादि कर्मों के लिये सदैव अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि को इसका प्रेमी कहा गया है। अग्नि या तो उषा के साथ या उसके पहले प्रगट होते हैं : १.६९,१; १.१२४, १.११; ३.५,१; ४.१३,१; ४.१४,१; ७.८,१; ७.९,१-३; ७.१०,१; ७.६७,२; ७.७७,१; ७.७८,२; ८ ४३,५; १०.१,१; १०.८,४; १०.३५,६; १०,१२२,७।[310] एक स्थान पर यह कथन है कि इसके आगमन काल में अग्नि इसके पास जाकर धनों की याचना करते हैं (३.६१,६ : आयतीम् अग्ने उषसं विभातीं वामम् एषि द्रविणम् भिक्षमाणः)। ७,६,५ में यह कहा गया है कि अग्नि ने उषाओं को सौम्य देवता की पत्नियां बनाया (यो अर्यपत्नीर् उपसश् चकार) जिससे सायण सूर्य का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। उषा को अक्सर उन अश्विनों के साथ भी सम्बद्ध किया गया है जिनके प्रकट होने का समय यास्क मध्यरात्रि और सूर्योदय के बीच मानते हैं (१.४४,२; १.१८०,१; ३.२०,१; ७ ६९,५; ७.७२,३-४; ८.९,१८; १०.४१,१)। अश्विन् इसके साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं (१.१८३,२ : दिवो दुहित्रा उषसा सचेथे); और उषा को इनका मित्र कहा गया है (४.५२,२ : सखाऽभूद् अश्विनोर् उषाः। ३. उत सखाऽसि अश्विनोः)। ८.९,१७ में उषा से अश्विनों को चैतन्य करने के लिये कहा गया है (प्र बोधय उषो अश्विना)। इसके सूक्तों ने अश्विनों को जगाया (३.५८,१ उषसः स्तोमो अश्विनाव् अजीगः)। फिर भी, पुनः, हमें यह बताया जाता है कि जब अश्विनों का रथ सन्नद्ध हो जाता है तब आकाशपुत्री का जन्म होता है (१.३९,१२ : यस्य योगे दुहिता जायते दिवः)। एक स्थान (१०.८५,१९) पर यह कहा गया कि चन्द्रमा बार बार जन्म लेता है और दिन की ध्वजा के समान उषा के आगे जाता है। (नवो नवो भवति जायमानो अह्नां केतुर् उषसाम् एति अग्रम्)। इन्द्र ने उषाओं का सृजन किया या इन्हें प्रकाशित किया;

---

[309] फिर भी, रॉथ (निरुक्त पृ० ५६) कहते हैं कि 'स्वसर' (क्लीव) का केवल साधारण रास्ता, आवास स्थान, गोष्ठ, आदि अर्थ है।

[310] १०.३,२ (= सावे० २.८९८) में अग्नि अपनी बहन रात्रि के प्रेमी प्रतीत होते हैं। देखिये सामवेद २.८९८ का बेनफे का अनुवाद।

२.१२,७ (य. सूर्यं यः उषसं जजान); २.२१,४; ३.३१,१५; ३.३२,८; ३.४४,२ (हर्यन्न् उषसम् अर्चयः); ६.१७,५। फिर भी कभी-कभी इन्द्र उषा के प्रति आक्रामक प्रवृत्ति व्यक्त करते हैं। २.१५,६ में यह कहा गया है कि इन्द्र ने उषा के रथ को अपने वज्र से विदीर्ण कर दिया (वज्रेण अनः उषसः सम्पिपेष)। ४.३०,८ और बाद में भी इसी बात को दोहराया गया है (जहाँ कवि, प्राचीन काल की वीरता के मापदण्ड के अनुसार ही, एक स्त्री का वध करने पर भी इन्द्र की वीरता की प्रशंसा करने में संकोच नहीं करता): एतद् घ इद् उत वीर्यम् इन्द्र चकर्थ पौंस्यम्। स्त्रियं यद् दुर्हणायुवं वधीर् दुहितरम् दिवः। ९ दिवश् चिद् घ दुहितरम् महान् महीयमानाम्। उषसम् इन्द्र सम् पिनक्। १०, (=निरुक्त ११.४७): अप उषाः अनसः सरत सम्पिष्टाद् अह बिभ्युषी। नि यत् सीम् शिश्नथद् वृषा। ११. (=निरुक्त ११.४८) एतद् अस्याः अनः शये सुसम्पिष्टं विपाशि आ। ससार सीम् परावतः। "८. हे इन्द्र! तुमने दुष्टता के लिये कृतसंकल्प आकाशपुत्री का वध करके महान् पौरुष और वीरता का कार्य किया था। ९. हे इन्द्र! तुम एक महान् देवता हो। तुमने आकाश की पुत्री होते हुये भी उषा का, जो अपनी वृद्धि कर रही थी, वध करके महान् कार्य किया। १०. जब वीर इन्द्र ने उषा के रथ को विदीर्ण कर दिया तब वह भयभीत होकर भाग गई। ११ उसका यह रथ भग्न और विलीन हो गया और उषा उसमें से निकल कर दूर भाग गई।" रॉथ ने अपने निरुक्त में इन मन्त्रों का अनुवाद किया है, और ये इसी पुराकथा से सम्बद्ध होने के रूप में ऋग्वेद १० १३८,५ को भी उद्धृत करते हैं: इन्द्रस्य वज्राद् अबिभेद् अभिश्नथः प्राक्रामत् शुन्ध्यूर् अजहाद् उषा अनः। "प्रकाशमान उषा इन्द्र के विनाशकारी वज्र से भयभीत हुई; वह अपना रथ छोड़कर भाग गई।" और १०.७३,६ में यह कथन है कि इन्द्र ने उषा के रथ की ही भाँति अपने शत्रुओं को भी नष्ट किया (अत्राहन्न् इन्द्रः उषसो यथा अनः)।

यह कहा गया है कि सोम ने उषाओं के जन्म के समय उन्हें कान्तिमान किया (६.३९,३ शुचिजन्मनः उषसश् चकार), और उन्हें एक उज्ज्वल देवता की पत्नियाँ बनाया (६.४४,२३ : अयम् अकृणोद् उषसः सुपत्नीः)। बृहस्पति ने उषाओं को और सूर्य को ढूँढा (१०,६७,५ : बृहस्पतिर् उषसं सूर्यं गाम् अर्कं विवेद), और प्रकाश से अन्धकार का विसर्जन किया (१०.६८,९; सो अर्केण वि बबाधे तमांसि)। मेधावी, पुण्यात्मा तथा यज्ञों में देवों के सहचरत्व से युक्त पितृगणों के पास प्रभावशाली सूक्त थे

जिनसे उन्होंने छिपे प्रकाश को ढूँढा और उषाओं को उत्पन्न किया (७.७६,४: ते इद् देवानां सधमादः आसन्न् ऋतावानः कवयः पूर्व्यास. । गूळ्हं ज्योतिर् पितरो अन्वविन्दन् सत्यमन्त्राः अजनयन्न् उषासम्) ।

(३) उषाओं का चरित्र; इनकी उपाधियाँ तथा कार्य

निघण्टु १.८ में उषा के सोलह नाम दिये गये हैं जो सभी सर्वथा उपाधियाँ ही प्रतीत होते हैं, जैसे विभावरी, सूनरी, भास्वती, ओदती (उद् धातु से), चित्रामघा, अर्जुनी, वाजिनी, वाजिनीवती, सुम्नावरी, अहना, द्योतना, श्वेत्या, अरुषी, सूनृता, सूनृतावती, सूनृतावरी ।[311] इनमें से कुछ उपाधियाँ सूक्तों में अक्सर मिलती हैं, और इनके अतिरिक्त भी अनेक मिलती हैं, जैसे मघोनी, सुभगा, अरुणप्सु, ऋतावरी, ऋतपा, ऋतेजा, शुचि, हिरण्यवर्णा, देवी, अमृता, रुशत्पशु, सुदृशीकसन्दृक्, सुप्रतीका, सत्यश्रवमी, भानुचित्रा, घृतप्रतीका, इन्द्रतमा. १ ३०,२०; १.४८,१ २.७.१०; १.९२,६ ९, १४. ५; १ ११३,२.१२.१३; १.१२३,४ ६; १ १२४,४; ३ ६१,२.५; ४ ५५, ९; ५.५९,८; ५.८०,१; ७ ७५,५; ७.७७,२; ७.७८,४, ७ ७९,३; ७.८१,१; ८.६२,१६ ।

उषा एक ऐसे प्रदीप्त रथ में चलती है जो विशाल, अत्यधिक अलंकृत और तत्काल सन्नद्ध हो जानेवाला है (रथेन बृहता, सुपेशसा, विश्वपिशा, शोशुचता, ज्योतिष्मता, स्वश्वया युज्यमानेन): १ ४८,१०; १.४९,२;

---

[311] प्रो० ऑफरेख्त का विचार है कि 'सूनृत' शब्द की यह व्याख्या करनी चाहिये : यह 'नृत्' धातु से व्युत्पन्न है जिसमे 'सु' उपसर्ग लगा है । इसका प्रथम अर्थ 'गतिशील' (सूनृता मघानि, ऋग्वेद ८० ५७,६) है, और फिर 'सतर्क' ('सूनृत', इन्द्र के लिये ८,४६,२० में; 'सूनृते' उषा के लिये ४ ५५,९; १.१२३;५; १२४,१०, ८.९,१७, में) । स्त्रीलिङ्ग सत्तावाचक के रूप में इसका या तो 'क्रिया' अथवा 'गिर्' के साथ 'सजीव वाणियाँ' (सून्हतानां गिराम्, ६ ३१,१८) अर्थ है । 'नेत्री सूनृतानाम्' उषा है और 'सूनृता ईरयन्ती' भी बिलकुल यही । प्रो० ऑफरेख्त का विचार है कि ऋग्वेद १.११३,१८ में 'वायोर् इव सूनृतानाम् उदर्कें' का यह अनुवाद करना चाहिये : 'जब उत्कट वाणियाँ वायु के उठने के समान उत्पन्न होती हैं' । आप 'उदर्के' को 'उद्' से और 'ऋ' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं और ऋग्वेद ३.८,५ (देवयाः विप्रः उदियर्त्ति वाचम्) के साथ तुलना करते हैं । मैंने यह देखा है कि सूनृता' का एक देवी के समान आवाहन किया गया है (ऋग्वेद १.४०,३; १०,१४१,२) ।

१.१२३,७; ३.६१,२; ५.८०,२; ७.७५,६; ७.७८,१-४; १.९२,१; १ १२४,५। इसे सौ रथों पर भी आनेवाला कहा गया है (१.४८,७)। इसके रथ को अरुण अश्व खींचते हैं (अरुणेभिर् अश्वैः : १.३०,२२; १.४९,१; १.९२,१५; १,११३,४; ३ ६१,२; ४,५१,५; ५.७९,१ और बाद; ७ ७५,६। कभी-कभी अरुणिम बैल भी इसके रथ को खींचते हैं (निघण्टु १.१५; ऋग्वेद १.९२,२; १.१२४,११; ५.८०,३), और द्रुतगति से तीस योजनों की दूरी पार करते हैं (१.१२३,८)। अपनी माता द्वारा अलंकृत एक सुन्दर युवती की भांति, एक नर्तकी की भांति सुन्दर परिधान धारण किए हुये, अपने पति के पास सुन्दर परिधान धारण करके आने वाली स्त्री की भांति, अथवा स्नान करके निकलनेवाली कान्तिपूर्ण स्त्री की भांति, हँसते हुये और अपने आकर्षण की असीम शक्ति में विश्वास के साथ उषा अपने स्तनों को खोलती है जिससे देखनेवाले उसे देख सकें : १ ९२,४; १.१२३,१०; १.१२४,४ और बाद ५.८०,४-५; ६.६४,२। यह अन्धकार को विसर्जित करते हुये अन्धकाराच्छन्न कोशों को प्रगट कर देती है; यह विश्व को प्रकाशित करती है और इसकी सुदूर सीमाओं तक को प्रकट कर देती है। यह सभी वस्तुओं का जीवन और प्राण है; यह पक्षियों को अपने घोसलों से उड़ कर जाने के लिये प्रेरित करती है; प्रत्येक घरों में पदार्पण करती है, और एक कुशल गृहस्वामिनी की भांति सम्पूर्ण गृह के लोगों को जगाती है। यह पञ्चजनों को ही नहीं सम्पूर्ण जीवों को मानों मृत्यु से जगाकर चैतन्य कर देती है। यह मनुष्यों को उनके विभिन्न कर्मों में लगाती है : १.४८,५-८-१०; १ ४९,४; १.९२,११; १.११३,८ १६; १.१२३,४ ६; १ १२४,१२; २.३४,१२; ७.७६,१; ७.७९,१ और बाद; ७ ८०,१। यह सम्पूर्ण स्तोताओं को जगाकर तथा यज्ञाग्नियों को प्रज्वलित कराकर देवों की श्रेष्ठ सेवा करती है (१.११३,९)। फिर भी केवल आस्थावान और उदार उपासकों को ही जगाने तथा नास्तिक, कृपण लोगों को अचेतन होकर सुप्त रहने देने के लिये इसकी स्तुति की गई है (१.१२४,१०; ४.५१,३)। यह युवती है; प्रतिदिन नवीन जन्म लेती है; फिर भी यह प्राचीन ही नहीं अमर है; और उत्तरोत्तर पीढ़ियों को समाप्त करती चलती है, जबकि यह स्वयं अजर और अमर बनी रहती है (१.९२,९ और बाद; १.११३,१३ १५; १.१२३,२; १.१२४,२; ७ १८,२०।

फिर भी, उपासक कभी-कभी अपने को उषा से भी अधिक सतर्क होने तथा उषा द्वारा जगाये जाने की अपेक्षा स्वयं उषा को ही जगाने का श्रेय देते हैं (प्रति स्तोमैर् अभुत्स्महि, ४ ५२,४; ७ ६८,९; ७.८१,३; १०.८८,१९);

और यह कार्य सबसे पहले वसिष्ठों द्वारा ही उनके सूक्तों के माध्यम से किया गया कहा गया है (७.८०,१ : प्रति स्तोमेभिर् उषसम् वसिष्ठाः गीर्भिर् विप्रासः प्रथमाः अबुध्रन्)। एक स्थान पर उषा से विलम्ब न करने की प्रार्थना की गई है अन्यथा सूर्य कहीं उसे उसी प्रकार भस्म न कर दे जैसे कोई शत्रु या चोर कर देता है (५.७९,९ : वि उच्छ दुहितर् दिवो मा चिरं तनुथाः अपः। न इत् त्वा स्तेनं यथा रिपुं तपाति सूरो अर्चिषा)। इससे सोमपान के लिये देवों को लाने के लिये कहा गया है (१.४८,१२)। अग्नि तथा देवों को सामान्य रूप से उषा के साथ जागृत होनेवाला कहा गया है (उषर्बुधः): १.१४,९; १,४४,११; १.९२,१८; ३ २,४१; ४.६,८; ६.४,२; ६.१५,१; ९.८४,४।

जैसा कि हम ऊपर अनूदित सूक्तों में देख चुके हैं, उषा से अक्सर विभिन्न प्रकार के धनों, सन्तानों, सेवकों, इत्यादि सहित (पूर्व काल की भाँति) प्रकट होने तथा सुरक्षा और दीर्घ आयुष्य प्रदान करने का निवेदन किया गया है : १.३०,२२, १.४८, और बाद। ९.११ १५; १.९२,८.११ और बाद; ४.५१,७; ७.४१,७; ७.७५,२; ७.७७,५। यह निवेदन किया गया है कि उषा चक्र की भांति घूमती रहे (३.६१,३); कवि के उदार यजमानों को प्रसिद्धि तथा वैभव दे (५.७९,६ और बाद; तुकी० १.४८,४); अनिद्रा को त्रित आप्त्य पर बहिष्कृत कर दे (८.४७,१४-१६)।

एक स्थान पर उपासक इससे धन की इच्छा प्रकट करते हुये इसके साथ अपना पुत्र और माता का सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है (७ ८१,४ : तस्यास् ते रत्नभाजः ईमहे वयं स्याम् मातुर् न सूनवः)।

१०.५८,८ में मृतात्माओं को सूर्य और उषा के स्थान में चले जानेवाला कहा गया है।

(४) सूक्तों में वर्णित उषा का स्वरूप

उषा का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले जिन सूक्तों का मैंने ऊपर उद्धरण और गद्यात्मक अनुवाद दिया है, उन्हीं में से इसकी विशिष्टता को चित्रित करनेवाले मंत्रों से कुछ का स्फुट संकलन करके मैंने उनका अँग्रेजी में पद्यबद्ध अनुवाद भी किया है जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँचवें भाग के अँग्रेजी संस्करण के पृ० १९६–१९८ पर देखा जा सकता है।



खण्ड १३ (क)

अग्नि

अग्नि आग के देवता हैं जो लैटिनों के 'इग्निस'[312] और स्लैवोनियनों के ओग्नि' के समकक्ष हैं। ये ऋग्वेद के सर्वाधिक प्रमुख देवताओं में से एक हैं क्योंकि इनको सम्बोधित सूक्तों की संख्या एकमात्र इन्द्र को सम्बोधित सूक्तों को छोड़कर अन्य सभी देवताओं से कहीं अधिक है।

(१) इनके कार्य

अग्नि, यूनानी 'हेफेस्टस' अथवा लैटिन 'वल्कन' की भांति देवों के शिल्पी नहीं है (यह कार्य वेदों में, जैसा कि हम देखेंगे त्वष्टा पर आरोपित किया गया है) वरिक इनकी प्रमुख महत्ता यज्ञकार्य के साथ इनके सम्बन्ध में निहित है। ये अमर (अमृत, अमर्त्य) हैं (१.४४,६; १.५८,१; २.१२, १-२; ३.२,११; ३.३,१; ३.१,२; ३.२७,५ ७; ६.९,४, ७.४,४; ८.६०,११; १०,७९,१) और मनुष्यों के बीच इन्होंने केवल उनके 'अतिथि' के रूप में स्थान ग्रहण किया है (१.४४,४; १.५८,६; २-४,१; ३.२,२; ४.१,२०, ५.१,८; ५.८,२; ५.१८,१; ६.२,७, ६.१५,१-४; ७.८,४; ८.७३,१; १०.१,५; १०.९१,२; १०.९२,१। ये पुरोहित, ऋत्विज, होतृ, ब्रह्मन् आदि हैं जो या तो उषा के साथ जागते (उषर्बुध) हैं अथवा उषा के पूर्व (उषसः पुरोहितम्): १.१,१; १.१२,१; १.१३,१-४; १.३६,७; १ २६,३-५; १.४४,७-१२; १,४५,७; १.५८,१-६; १.६०,४; १.६८,४-७; १.७६,२,४; १.१२७,१; १.१३१,१२; १.१४९, ४.५,२; ५,१,२,४,६ २.९,१; ३.७,९; ३.१०,२,७; ३.११,१; ३.१४,१; ३.१९,१; ४.१,८; ५.११,२; ५.२६,७; ६.१५, १.४,१४; ६.१६,१; ७ ७,५; ७.१०,५; ७.११,१; ७.१६,५-१२; ८ ४४,६; ८.४९,१; ९.६६,२०;[313] १०.१,६; १०,९१,२। ये ऐसे पुरोहित हैं जिनको देवता और मनुष्य दोनों नियुक्त करते हैं; जो स्वयं अपने व्यक्तित्व पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, और एक उच्चतर आशय में उन सम्पूर्ण और विभिन्न यज्ञकर्मों के अधीक्षक हैं जो भारतीय यज्ञ में मानव कर्मकाण्डियों द्वारा सम्पन्न किये

---

[312] यूनानियों और रोमनों में अग्निपूजा के लिये फुलेञ्जेज का ल सिटे ऐण्टिका, पृ० २१ और बाद।

[313] इस मन्त्र में इन्हें एक ऋषि तथा 'पञ्चजन्यः पुरोहितः' कहा गया है।

जाते हैं, जैसे अध्वर्यु, होतृ, पोट्, नेष्ट्, प्रशास्तृ, इत्यादि के कर्म : १.९४,६; २.१,२; २.५,२ और बाद; ४,९,३-४; १०.२,१ (पिप्रीहि देवान् उशतो यविष्ठ विद्वान् ऋतून् ऋतुपते यजेह। ये दैव्याः ऋत्विजस् तेभिर् अग्ने त्वं होत्रीणाम् असि आयजिष्ठ); १०.९२,८-११ (अग्निं होतारम परिभूतमम् मतिम्)। ये एक ऋषि, ऋषियों में दिव्यतम (अपुरो विपश्चिताम् , ३.३,४), उपासनाओं के प्रत्येक स्वरूप से सुपरिचित, मेधावी निर्देशक, सफलतापूर्वक कार्यसम्पन्न करनेवाले, तथा सम्पूर्ण कृत्यों के रक्षक हैं। ये मनुष्यों को देवों की भलीभाँति सेवा के लिये सक्षम बनाते हैं, जो कार्य बिना इनकी सहायता के सम्पन्न नहीं किया जा सकता : १.१,४ (अग्ने यं यज्ञम् अध्वरं विश्वतः परिभूर् असि। स इद् देवेषु गच्छति); १.३१,१ (त्वम् अग्ने प्रथमो अंगिराः ऋषिर् देवो देवानाम् अभवः शिवः सखा); ३.२१,३ (ऋषिः श्रेष्ठ समिध्यसे यज्ञस्य प्राविता भव); ३.२७,२ (विपश्चितं यज्ञस्य साधनम्। ७. पुरस्ताद् एति मायया विदथानि प्रचोदयन्), ७.१४,२ (वेधस्तमः ऋषिः) ७.४,४ (कविर् अकविषु प्रचेताः); १०,२,४ (यद् वो वयम् प्रमिनाम व्रतानि विदुषाम् देवाः अविदुष्टरासः। अग्निस् तद् विश्वम् आ पृणाति विद्वान् येभिर् देवान् ऋतुभिः कल्पयाति। ५. यम् पाकत्रा मनसा दीनदक्षाः न यज्ञस्य मन्वते मर्त्यासः। अग्निस् तद् होता क्रतुविद् विजानन् यजिष्ठो देवान् ऋतुशो यजाति); १०.९१,३ (अग्ने कविः काव्येन असि विश्ववित्)। इनकी ओर उपासकों की दृष्टि उसी प्रकार लगी रहती है जिस प्रकार मनुष्यों की दृष्टि सूर्य की ओर : ५.१,४ (अग्निम् अच्छ देवयताम् मनांसि चक्षूंषि इव सूर्ये सं चरन्ति)। ये पिता, राजा, शासक, ध्वजा, अथवा बाह्य रूप से प्रगट[३१४], तथा धार्मिक कृत्यों और यज्ञों के अधीक्षक हैं (केतुं यज्ञानाम्। पिता यज्ञानाम्। केतुर् अध्वराणाम्। राजानम् अध्वरस्य। अध्यक्षं धर्मणाम् इमम्। ईशे यो विश्वस्याः देववीतेः, ३.३,३.४; ३.१०,४; ३.११,२; ४.३,१; ६.२,३; ८.४३,२४; १०.१,५; १०.६,३)। ये देवों के भी नायक या पुरोहित हैं (सद्यो जातो वि अमिमीत यज्ञम् अग्निर् देवानाम् अभवत् पुरोगाः। अग्निर् देवो देवानाम् अभवत् पुरोहितः, १०.११०,११; १०.१५०,४)। ये द्रुतगति से चलनेवाले (१०.६,४ : रघुपत्वा[३१५]) दूत,

[३१४] इसके पिता ने इसे सम्पूर्ण यज्ञों के उज्ज्वल ध्वज के रूप में उत्पन्न किया (जनिता त्वा जजान)। इस अभिव्यक्ति के साथ तुकी० १०.२०,९ (अग्नि से सम्बद्ध) और ४.१७,४ (इन्द्र से सम्बद्ध)।

[३१५] तुकी अश्विनों का 'रघुवर्तनि रथम्' ऋग्वेद ८.९,८।

पृथिवी और आकाश के बीच गतिमान, देवों[२१८] और मनुष्यों दोनों द्वारा अपने बीच परस्पर संचार बना रखने के लिये आहूत किये जाते हैं। ये सूक्तों को अमरों के समक्ष घोषित करते हैं और उपासकों की हवियों को देवों तक पहुँचाते हैं, अथवा देवों को आकाश से नीचे यज्ञस्थल तक लाते हैं (स देवान् आ इह वक्षति। अग्निं दूतं वृणीमहे। इमम् ऊ षु त्वम् अस्माकं सनिं गायत्रं नव्यांसम् अग्ने देवेषु प्रवोचः। देवासस् त्वा वरुणो मित्रो अर्यमा सं दूतम् प्रत्नम् इन्धते। दूतो विशाम् असि। पतिर् हि अध्वराणाम् अग्ने दूतो विशाम् असि। यद् देवानाम् मित्रमहः पुरोहितोऽन्तरो यासि दूत्यम्। त्वां दूतम् अरतिं हव्यवाहं देवाः अकृण्वन्न् अमृतस्य नाभिम्। इमं नो यज्ञम् अमृतेषु धेहि। अन्तर ईयसे अरुषा युजानो युष्मांश् च देवान् विशः आ च मर्तान्। त्वाम् अग्ने समिधान यविष्ठ्य देवाः दूतं चक्रिरे हव्यवाहनम्। त्वां विश्वे सजोषसः देवासो दूतम् अक्रत। त्वाम् दूतम् अग्ने अमृतं युगे युगे दधिरे पायुं उग्रं देवासश् च मर्तासश् च जागृविं विभुं विश्पतिं नमसा नि षेदिरे। देवान् आ सादयद् इह। दूतो देवानाम् असि मर्त्यानाम् अन्तर् महांश् चरसि रोचनेन यं त्वा देवाः दधिरे हव्यवाहम् पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम्। १ १२,१.२.४.८; १.२७, ४; १.३६,३.४.५; १.४४,२.३.५.९.१२, १.५८,१; १ ७४,४ ७; १.१८८,१; २.६,६ ७; २.९,२; २.१०,६; ३ ५,२, ३.६,५; ३.९,८; ३,११,२; ३.१७,४; ३.२१,१ ५; ४.१,८; ४ २,३; ४ ७,८; ४.८,२.४; ५.८,६; ५.२१,३; ६ १५, ८-१०; ७.११,४; ७.१६,४; ७ १७,६; ८.१९,२१; ८.२३, १८.१९; ८.३९, १.९; ८.४४,३; १०.४,२; १०.४६,१०; १०.९१,११; १०.१२२,७)। आकाश के आन्तरिकतम गह्वरों तक से परिचित होने के कारण (४.८,२ : स हि वेद वसु धितिम् महान् आरोधनं दिवः। स देवान् आ इह वक्षति। ४. स होता स इदु उ दूत्यं चिकित्वान् अन्तर् ईयते) ये दोनों को उनके सम्मान में मनुष्यों द्वारा आयोजित यज्ञों में बुलाने के लिये सर्वोपयुक्त हैं। ये देवों के साथ उन्हीं के रथ में बैठकर आते हैं (३.४,११; ७.११,१ : आ विश्वेभिः सरथं याहि देवैः) अथवा उनके पहले ही आ जाते हैं (आ देवानाम् अग्रयावा इह यातु); तथा पूजा और सत्कार में अपना अंश ग्रहण

---

[२१८] तैत्तिरीय संहिता २.५,८,५ अग्निर् देवाना दूत. आसीद् उशना काव्योऽसुराणाम्।' वही, २.५,११,८ : अग्निर् देवाना दूत. आसीद् दैव्योऽसुराणाम्'। तैब्रा० २४,१, ६ · 'आ तन्तुम् अग्निर् दिव्य ततान। त्वं नस् तन्तुर् उत सेतुर् अग्ने। त्वम् पथा' भवसि देवयानः। त्वया अग्ने पृष्ठं वयम् आरुहेम। अथ देवैः सधमादम् मदेम।"

करते हैं (१.३६,४; २.२,१)। ये यज्ञकर्म के लिये वरुण को, आकाश से इन्द्र को, अन्तरिक्ष से मरुतों को (१०.७०,११ : आ अग्ने वह वरुणम् इष्टये नः इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात्) लाते हैं। ये हवियों को सुगन्धित बनाते हैं : १०.१५,१२ = वाज० सं० १९ ६६ (त्वम् अग्ने ईळितो जात-वेदो अवाड् हव्यानि सुरभीनि कृत्वी)। इनके बिना देवों को किसी भी सन्तोष का अनुभव नहीं होता (७.११,१ : न ऋते त्वद् अमृताः माद-यन्ते)। ये स्वयं भी देवों को पूजा समर्पित करते हैं (७.११,३; ८.९१,१६; १० ७,६)। इनको कभी-कभी वह मुख और जिह्वा कहा गया है जिसके द्वारा देवता और मनुष्य दोनों यज्ञ में भाग लेते हैं (२.१,१३ : त्वाम् अग्ने आदित्यासः आस्यं त्वां जिह्वां शुचयश् चक्रिरे कवे। १४. त्वे अग्ने विश्वे अमृतासः अद्रुहः आसा देवाः हविर् अदन्ति आहुतम्। त्वया मर्तासः स्वदन्ते आसुतिम्)। अन्यत्र इनसे हवियों का स्वयं भक्षण करने के लिये कहा गया है (३,२१,१ और बाद; ३.२८, १–६ : अग्ने वीहि पुरोळासम् आहुतम्) तथा सोमरस पान के लिये इन्हें आमन्त्रित किया गया है : १.१४,१०; १.१९,९; १.२१,१.३ : विश्वेभि. सोम्यम् मधु अग्ने इन्द्रेण वायुना पिब)।

दसवें मण्डल के ५१ वें सूक्त में अग्नि तथा अन्य देवों के बीच एक वार्ता-लाप है जिसमें देवगण अपनी यह इच्छा व्यक्त करते हैं कि अग्नि, जलों और ओषधियों में अपने अन्धकारपूर्ण छिपे स्थान से निकल कर उन्हें (देवों को) संस्कारगत हवियों तक ले जाय (मंत्र ५. एहि मनुर् देवयुर् यज्ञकामो अरंकृत्य तमसि क्षेषि अग्ने। सुगान् पथः कृणुहि देवयानान् वह हव्यानि सुमनस्यमानः)। आरम्भ में जब ये ऐसा करने में अपनी असमर्थता के आधार प्रस्तुत करते हैं (मंत्र ४,६),[३१७] तब देवगण इन्हें दीर्घ-जीवन

---

[३१७] मंत्र ६: इस प्रकार है : "अग्नेः पूर्वे भ्रातरो अर्थम् एतम् रथीवाध्वानम् अनु आवरीवु। तस्माद् भिया वरुण दूरम् आयम् गौरो न क्षेप्नोर् अविजे ज्यायाः।" मन्त्र ७ से यह स्पष्ट है कि अग्नि का अर्थ यह है कि उसका भ्राता इसी समान सकट के भयसे कभी नही लौटा। तैत्ति० सं० का यह स्थल इसी मन्त्र पर आधारित प्रतीत होता है २ ६,६,१ : अग्नेस् त्रयो ज्यायांसो भ्रातर आसन्। ते देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रामीयन्त। सोऽग्निर् अबिभेद इत्थं वाव स्य आर्तिम् आरिष्यति इति स निलायत। सोऽपः प्राविशत्। तं देवताः प्रैषम् ऐच्छन्। तम् मत्स्यः प्राब्रवीत्। तम् अशपद् "धियाधिया त्वा वध्यासुर् यो मा प्रावोचः" इति। तस्माद् मत्स्यं धियाधिया घ्नन्ति। शप्तः हि। तम् अन्वविन्दन्। तम् अब्रुवन् "उप नः आवर्तस्व हव्यं नो वह" इति। सोऽब्रवीद् वरं वृणै यद्

और यज्ञ भाग देने का आश्वासन देते हैं। इसके पश्चात् ये देवों की प्रार्थना स्वीकार कर लेते हैं (मंत्र ६ : कुर्मस् ते आयुर् अजरं यद् अग्ने यथा युक्तो जातवेदो न रिष्याः। अथ वहासि सुमनस्यमानो भाग देवेभ्यो हविषः सुजात) इसके बाद के (५२वें) सूक्त में अग्नि अपने को कर्मकाण्डों के स्वामी कहते हुये देवों के आदेशों को मानने के लिये प्रस्तुत बताते हैं और यज्ञ में अपने भाग की प्रार्थना करते हुये यह बताते हैं कि वह किस मार्ग से हवियों को देवों तक लायेंगे (मन्त्र १. विश्वे देवाः शास्तन मा यथा इह होता वृतो मनवै यन् निपद्य। प्र मे ब्रूत भागधेयं यथा वो येन पथा हव्यं वो वहानि। २. अहं होता नि असीदं यजीयान् विश्वे मरुतो मा जुनन्ति) अग्नि मनुष्यों के अधिपति, रक्षक, और नेता हैं (विश्पति, विशांगोपा, विशाम् पुरएता : १.१२,२; १.२६,७; १.३१,११; १.९६,४; २.१,८; ३.११,५)। ये मनुष्यों के राजा या सम्राट हैं (राजा कृष्टीनाम् असि मानुषीनाम्। राजानम्। सम्राज चर्षणीनाम् विशां राजनम। १.५९,५; २.१,८; ३.१०,१; ५.४,१; ६.७,१; ७.८,१; ८.४३,२४)। ये गृहपति भी हैं जो प्रत्येक गृह में निवास करते हैं (यः पञ्च चर्षणीर् अभि नि पसाद दमे दमे कविर् गृहपतिर् युवा। १.१२,६; १.३६,५; १.६०,४; ५.८,२; ७.१५,२)। ये प्रत्येक गृह में प्रकाशित अतिथि हैं; पक्षी की भाँति प्रत्येक काष्ठ में निवास करते हैं; मनुष्यों के मित्र हैं तथा किसी मनुष्य से घृणा नहीं करते; सब पर कृपा करते हैं; और प्रत्येक परिवार के बीच निवास करते हैं (१०.९१,२ : स दर्शतश्रीर् अतिथिर् गृहे गृहे वने वने शिश्रिये तक्ववीर् इव। जनं जनं जन्यो नातिमन्यते विशः अ क्षेति विश्यो विशं विशम्)। ये माता, पिता, भ्राता, पुत्र, सम्बन्धी और मित्र हैं (आ हि स्म सूनवे पिता आपिर् यजति आपये सखा सख्ये वरेण्यः। त्वम् पिताऽसि नस् त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम्। त्वं जामिर् जनानाम् अग्ने मित्रो असि प्रियः। सखा सखिभ्यः ईड्यः। त्वाम् अग्ने पितरम् इष्टिभिर् नराः त्वाम् भ्रात्राय शम्या तनूरुचम्। त्वम् पुत्रो भवसि यस् तेऽविधत्। पिता माता सदम् इन् मानुषाणाम्। अग्ने भ्रातः। अग्निम् मन्ये पितरम् अग्निम् आपिम् अग्निम् भ्रातरम् सदम् इत सखायम्। १.२६,३, १.३१,१०.१४. १६, १.७५,४, १.१६१,१; २.१,९; ६.१,५, ५,४,२, ८.४३,१६, ८.६४,१६; १०,७,३), तथा इनके कुछ स्तोता इनके साथ अपना वंशागत सम्पर्क भी

एव गृहीतस्य आहुतस्य बहिःपरिधि स्कन्दात् तन् मे भ्रातृणाम् भागधेयम् असद्" इति।

स्थापित करते हैं (१.७१,१० : मा नो अग्ने सख्या पित्र्याणि प्र मर्षिष्ठाः)। ये राक्षसों को दूर भगाते ये उन्हें नष्ट कर देते हैं (बाधस्व द्विषो रक्षसो अमीवाः। प्र अग्नये विश्वशुचे धियन्धे असुरघ्ने। अग्निः रक्षांसि सेधति। ३.१५,१; ७.१३,१; ७.१५,१०; ८.२३,१३; ८.४३,२६; १०.८७,१; १०.१८७,३)। १०।८७वें सूक्त में यज्ञ की रक्षा करने के लिये इनका आवाहन किया गया है (मंत्र ९: तीक्ष्णेन अग्ने चक्षुषा रक्षा यज्ञम्)। इनसे अपने लोहे के दाँतों तथा अत्यन्त भयंकर क्रोध प्रकट करके राक्षसों और यातुधानों को भस्म कर देने के लिये कहा गया है (मन्त्र २: अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानान् उप स्पृश जातवेदः समिद्धः। मन्त्र ५. अग्ने त्वचं यातु धानस्य भिन्धि हिंस्राऽशनिर् हरसा हन्तु एनम्। मन्त्र १४ : पराशृणीहि तपसा यातुधानान् पराऽग्ने रक्षो हरसा शृणीहि)।

(२) अग्नि के जन्म, और इनकी त्रिविध सत्ता

यद्यपि अग्नि के जन्म के विभिन्न विवरण सूक्तों में मिलते हैं, तथापि ये सभी अनिवार्यतः असंगत नहीं है। कभी-कभी इनकी उत्पत्ति दिव्य बताई गई है जब कि अन्यत्र इनको सामान्य मानवीय उपकरणों के प्रयोग से उत्पन्न अथवा प्रगट होनेवाला कहा गया है। इस प्रकार, यह कथन है कि आरम्भ में इनका आकाश में वास्तविक नहीं वरिक केवल निहित अस्तित्व था (१०.५,७) आकाश से अथवा सुदूर प्रदेश से इन्हें मातरिश्वन्[३१८] लाये थे (आ अन्यं

---

३१८ बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश मे मातरिश्वन् को (१) एक देवता का द्योतक माना गया है जो विवस्वान् के दूत के रूप में भृगुगणों और अग्नि को आकाश से नीचे लाता है; और (२) अग्नि के एक गुप्त नाम का द्योतक है। इस शब्द को किसी भी वैदिक सूक्त के आधार पर वायु का पर्याय नही सिद्ध किया जा सकता। प्रो० रॉथ (निरुक्त पृ० ११२) के कुछ विचार इस सम्बन्ध में द्रष्टव्य हैं जहाँ आप ऋग्वेद ६ ८,४ की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि "मातरिश्वन् को वायु मानने की किसी भी वैदिक स्थल द्वारा पुष्टि नही होती यह विचार केवल इसके 'श्वस्' धातु से व्युत्पन्न होने पर आधारित है। ऋग्वेद के अनेक स्थलो पर जहाँ इसका प्रयोग हुआ है, इसके दो आशय व्यक्त होते है· कभी यह स्वय अग्नि का द्योतक है, जैसे १,९६,१.४; ३ २९,४1.१११); १०.११४,१, इत्यादि। अन्य स्थानो पर यह एक ऐसा व्यक्ति है जो प्रोमेथियस की ही भाँति स्वर्ग से देवताओ के पास से उस अग्नि को नीचे लाता है जो पृथिवी से लुप्त हो गई है, और साथ ही भृगुओ को भी लाता है : १.६०,१; १.९३,६; ३.२,१३; ३.५,१०; ३,९,५। जिस प्रकार प्रोमेथियस भी टाइटनो में एक

[अग्नि] दिवो मातरिश्वा जभार। स जायमानः परमे व्योमनि आविर् अग्निर् अभवन् मातरिश्वने। १.६०,१; १.९३,६; १.१४३,२; ३.५.१०; ३.९,५; ६.८,४)। दो मेघों अथवा पत्थरों के बीच इन्द्र ने इन्हें उत्पन्न किया (यो अश्मनोर् अन्तर् अग्नि जजान, २.१२,३)। द्यौस् ने इन्हें उत्पन्न किया (१०.४५,८ : अग्निर् अमृतो अभवद् वयोभिर् यद् एनं द्यौर् जनयत् सुरेताः)। ये द्यौस् और पृथिवी के पुत्र हैं : ३ २,२; ३ २५,१ (अग्ने दिवः सूनुर् असि प्रचेतस् तना पृथिव्याः उत विश्ववेदाः); १०.१,२; १०.२,७ (यं त्वा द्यावापृथिवी य त्वा आपस् त्वष्टा यं त्वा सुज निमा जजान); १०.१४०,२। इनके जन्म के समय इनके इन माता पिता ने इनको महान् बनाया (३.३,११ : उभा पितरा महयन्न् अजायत अग्निर् द्यावापृथिवी भूरिरेतसा)। जलों से (१०.२,७; १०.९१,७)[३१९], अथवा त्वष्टा से (१.९५,२; १०.२,७) भी इनकी उत्पत्ति हुई। अन्यत्र इन्हें उषाओं द्वारा उत्पन्न बताया गया है : ७ ७८,३ ([उषसो] अजीजनन् सूर्यं यज्ञम् अग्निम्)। इन्द्र और विष्णु ने भी इन्हें उत्पन्न किया : ७.९९,४ ([इन्द्रा-विष्णू] उरुं यज्ञाय चथथुर् उ लोकं जनयन्त सूर्यम् उषसम् अग्निम्)। देवों ने इन्हें उत्पन्न किया या इनका निर्माण किया : ६.७,१ (जनयन्त देवाः); ८.९१,१७ (तं त्वाऽजनन्त मातरः कवि देवासो अङ्गिरः); १०.४६,९ (देवास ततक्षुर् मनवे यजत्रम्)। आर्यों के लिये प्रकाश के रूप में देवों ने इन्हें उत्पन्न किया : १.५९,२ (त त्वा देवासो जनयन्त देवं

अतिमानव है और इसी कारण स्वर्ग से अग्नि को पृथिवी पर लाने में सफल हो सका है, उसी प्रकार मातरिश्वन् को उन अर्धदेवताओं में से एक मानना चाहिये जिसे वैदिक आख्यान में भी देवों के साथ और कभी पृथिवी पर निवास करने वाला माना गया है। यतः यह भृगुओं के लिये अग्नि लाता है, अतः यह कहा गया है कि भृगुओं ने मनुष्यों को अग्नि दिया (१ ५८,६) और अग्नि को 'भृगवाण' कहा गया है। मातरिश्वन् को इसी अर्धदिव्य जाति का सदस्य मानना चाहिये।" "यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि ६.१६,१३ में अग्नि को लाने का यही कार्य अथर्वन् करते हैं जिनके नाम की मातरिश्वन् की ही भांति अग्नि के साथ स्तुति की गई है। अथर्वन् की बहनों को भी 'मातरिश्वरी' (१० १२०,८) कहा गया है।" मेरा मनु पर लेख (जएसो०. पृ० ४१६. नोट) देखिये। एक स्थान (७.१५,४) पर अग्नि को आकाश का श्येन (दिवः श्येनाय) कहा गया है।

[३१९] अवे० १.३३,१ : हिरण्यवर्णाः शुचयः पावकाः यासु जातः सविता यासु अग्निः। या. अग्नि गर्भं दधिरे सुवर्णास् ताः आपः शं स्योनाः भवन्तु।

वैश्वानर ज्योतिर् इद् आर्याय)। देवों ने इन्हें मनु के वंशजों के बीच स्थापित किया : १.३६,१०; २.४,३ (अग्निं देवासो मानुषीषु विक्षु प्रियं धुः क्षेष्यन्तो न मित्रम्); ६.१६,१; ८.७३,२। यद्यपि ये देवों के पुत्र हैं तथापि उनके पिता भी हैं : १.६९,१ (भुवो देवानाम् पिता पुत्रः सन्)। ८.१९,३३ में अन्य प्रकार की अग्नियों को अग्नि देवता पर उसी प्रकार आश्रित करके, जैसे शाखायें वृक्ष पर आश्रित होती हैं, अग्नि देवता की श्रेष्ठता को दर्शाया गया है (यस्य ते अग्ने अन्ये अग्नयः उपक्षितो वयाः इव); ७.१,१४ (स इद् अग्निर् अग्नीम् अति अस्ति अन्यान्)।

कुछ स्थलों पर अग्नि की सत्ता को त्रिविध बताया गया है जिससे आकाश में सूर्य के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत के रूप में, और पृथिवी पर साधारण अग्नि के रूप में इनके त्रिविध प्राकट्य का तात्पर्य हो सकता है, यद्यपि इन तीन स्वरूपों की अन्यत्र अन्य रूप में व्याख्या की गई हैं। १०.८८ में हमें ये मन्त्र मिलते हैं :

६ (= निरुक्त ७.२७) : मूर्धा भुवो भवति नक्तम् अग्निस् ततः सूर्यो जायते प्रातर् उद्यन। ८. सूक्तवाकम् प्रथमम् आद् इद् अग्निम् आद् इद् हविर् अजनयन्त देवाः। स एषां यज्ञो अभवत् तनूपास् तं द्यौर् वेद तम् पृथिवी तम् आपः। १०. (= निरुक्त ७.२८): स्तोमेन हि दिवि देवासो अग्निम् अजीजनन् शक्तिभिः रोदसिप्राम्। तम् ऊ अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः। ११. (= निरुक्त ७.२९) : यदेद् एनम् अदधुर् यज्ञियासो दिवि देवाः आदितेयम्। यदा चरिष्णू मिथुनाव् अभूताम् आद् एत् प्रापश्यन् भुवनानि विश्वा।

"६, अग्नि रात्रि के समय पृथिवी की मूर्धा होते हैं; तदनन्तर ये प्रातःकाल के समय उदित होनेवाले सूर्य के रूप में जन्म लेते हैं।[310] ८. देवों ने सर्वप्रथम सूक्त को उत्पन्न किया, उसके बाद अग्नि को और हवि को। अग्नि वहाँ यज्ञ की रक्षा कर रहे थे; इन्हें द्यौस् जानते हैं, इन्हें पृथिवी जानती हैं,

[310] मत्स्यपुराण की विषयसूची के प्रो० ऑफरेख़्त के संकलन से यह प्रतीत होता है कि ११५ में यह कहा गया है कि रात्रि में सूर्य अग्नि मे, और दिन में अग्नि सूर्य में, प्रवेश कर जाते हैं। ऐत० ब्रा० ८.२८ मे यह कथन है : 'आदित्यो वै अस्तं यन्न् अग्निम् अनुप्रविशति। सोऽन्तर्धीयिते।··· अग्निर् वै उद्वान् वायुम् अनुप्रविशति। सोऽन्तर्धीयते।···वायोर् अग्निर् जायते प्राणाद् हि बलाद् मथ्यमानोऽधिजायते।···अग्नेर् वै आदित्यो जायते।

इन्हें जल जानते हैं। १०. अपनी शक्ति द्वारा एक सूक्त से देवों ने उन अग्नि को उत्पन्न किया जो लोकों को पूर्ण करते हैं: उन लोगों ने इनके त्रिविध अस्तित्व के लिये निर्माण किया। ये हर प्रकार के पौधों को परिपक्व करते हैं। ११. जब पूजनीय देवताओं ने इन्हें, अदिति के पुत्र सूर्य को आकाश में स्थित किया, जब गतिशील यमज अस्तित्व में आये, तब इन लोगों (देवों) ने सम्पूर्ण जीवों को देखा।"

यास्क के अनुसार (निरुक्त ७.२७), छठवें मन्त्र में सूर्य को अग्नि के साथ समीकृत करना उद्दिष्ट है ("ततः सूर्यो जायते प्रातर् उद्यन्" स एव)। यही लेखक हमें बताता है (निरुक्त ७.२८) कि इस लेखक के पूर्वगामी, शाकपूणि, के अनुसार ८ वें मन्त्र में वर्णित अग्नि के त्रिविध अस्तित्व से उनके पृथिवी पर, अन्तरिक्ष में, और द्युलोक में निवास का तात्पर्य है ("त्रेधा" भावाय "पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि" इति शाकपूणिः)। आगे लेखक कहता है कि एक ब्राह्मण अग्नि के तृतीय प्राकट्य को सूर्य बताता है (यद् अस्य दिवि तृतीयं तद् असाव् आदित्यः" इति हि ब्राह्मणम्)। मंत्र ११ में सतत् गतिशील यमज, यास्क के अनुसार उषा और सूर्य हैं (निरुक्त ७ २९ : सर्वदा सहचारिणाव् उषाश् च आदित्यश् च)। इस प्रकार अग्नि न केवल द्युस्थानीय सूर्य के साथ ही वरन्, अन्तरिक्ष के इन्द्र अथवा वायु के साथ भी, निरुक्त ७.५ के अनुसार, समीकृत होंगे। और यदि हम निरुक्त १२.१९ में शाकपूणि की विष्णु तीन पादों की व्याख्या को तथा इस पर दुर्गाचार्य की इस टीका को स्वीकार कर लें कि विष्णु पृथिवी पर पार्थिव अग्नि के रूप में, अन्तरिक्ष में विद्युत के रूप में, तथा द्युलोक में सूर्य के रूप में निवास करते हैं, तो अग्नि विष्णु के साथ भी समीकृत हो जायँगे ("पृथिव्याम् अन्तरिक्षे दिवि" इति शाकपूणिः। पार्थिवोऽग्निर् भूत्वा पृथिव्यां यत् किञ्चिद् अस्ति तद् विक्रमते तद् अधितिष्ठति। अन्तरिक्षे वैद्युतात्मना दिवि सूर्यात्मना)[३२१]। ऋग्वेद १० ४५,१=वाज० सं० १२.,८ (दूसरा मन्त्र भी देखिये) में अग्नि की त्रिविध उत्पत्ति का यह उल्लेख है: प्रथम द्युलोक से, द्वितीय हमसे (अर्थात् प्रत्यक्षतः पृथिवी से) और तृतीय जलों से जिसका अर्थ अन्तरिक्ष हो सकता है[३२२] (दिवस् परि प्रथमं जज्ञे अग्निर् अस्मद् द्वितीयद् परि जातवेदाः। तृतीयम् अप्सु)।[३२३] १०.५६,१=सावे० १.६५

---

[३२१] प्रस्तुत कृति के चौथे भाग में उद्धृत।

[३२२] देखिये ऊपर नोट ७३। वाज० १२.१८ पर भाष्य भी देखिये।

[३२३] अवे० १२ १ २. अग्निर् दिव आ तपति अग्नेर् देवस्य उरु अन्त-

में भी[324] सम्भवतः अग्नि के इन्हीं तीन आवासों का उल्लेख है (इदं ते एकम् परः उ ते एकम् तृतीयेण ज्योतिषा सं विशस्व)। ३.२६,७ (= वासं० १८ ६६) में इन्हें अर्कस् त्रिधाहु:[325]; ५.४,८ में 'त्रिषधस्थ' (सायण के अनुसार = त्रिषु दिव्यादिषु स्थानेषु स्थित); और ८.३९,८ में "त्रिपस्त्य" कहा गया है। १.९५,३ में इनके तीन जन्म बताये गये हैं—एक समुद्र में, दूसरा आकाश में, और तीसरा जलों में (त्रीणि जाना परि-भूषन्ति अस्य समुद्रे एक दिवि एकम् अप्सु)। जिससे सायण प्रथम को 'वडवानल', द्वितीय से सूर्य, और तृतीय से विद्युत का आशय ग्रहण करते हैं। अन्यत्र (१.६०, १ १४०,२; १.१४९,२ ६) इन्हे "द्विजन्मा" कहा गया है जिसकी सायण या तो आकाश और पृथिवी से अथवा अरणी की दो लक-ड़ियों से, अथवा एक बार अरणी से और दूसरी बार औपचारिक रूप से प्रतिष्ठित किये जाने से उत्पन्न होने के रूप में व्याख्या करते हैं, किन्तु इन्हीं स्थलों में से एक में एक में इन्हें तीन ज्योतियों में निवास करनेवाला भी कहा गया है (अभि···त्री रोचनानि···अस्थात्)।

२.९,३ में जन्म के केवल दो स्थानों का—एक ऊपरी (परमे जन्मन्) और दूसरा अवर (अवरे सदस्थे)—का ही उल्लेख है जिसकी सायण आकाश और अन्तरिक्ष के रूप में व्याख्या करते हैं; ओर ८ ४३,२८ में भी इसी प्रकार एक दिव्य तथा दूसरे जलों के रूप में इनके दो ही स्थानों का ही उल्लेख है (यद् अग्ने दिविजाः असि अप्सुजाः वा)।

१०.९१,६ में, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, इनकी उत्पत्ति केवल जलों, माताओं से ही हुई बताई गई है (तुकी० ३.१,३; ३ ९,४)।

अथर्ववेद ४ ३९,२ में पृथिवी को एक गाय और स्वयं अग्नि को उसका बछड़ा कहा गया है (पृथिवी धेनुस् तस्याः अग्निर् वत्सः)। चौथे और छठवें मन्त्र में वायु को अन्तरिक्ष का और सूर्य को आकाश का बछड़ा कहा गया है।

विभिन्न स्थलों पर उस घर्षण[326] की प्रक्रिया का, जिससे उपासक प्रतिदिन

रिक्षम्। अग्निम् मर्तासः इन्धते हव्यवाह घृतप्रियम्। तुकी० अवे० १३.१,२१ और १८.४,११।

[324] सामवेद का भाष्यकार इस मंत्र को इसी अर्थ मे ग्रहण करता है।

[325] तुकी० अवे ८.३९,९।

[326] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण १.१६, और इसका प्रो० हॉग का अनुवाद। शतपथ ब्राह्मण २.१,३,१ यह कहता है कि; प्रजापति द्वारा सृजित होने पर

इस देवता को उत्पन्न करते हैं, वर्णन हैं। ३ २९,१ और बाद, में यह कथन है: अस्तीदम् अधिमन्थनम् अस्ति प्रजननं कृतम्। एतां विश्पत्नीम् आभर अग्निम् मन्थाम। पूर्वथा। २. (=सावे० १.७९) अरण्योर् निहितो जातवेदाः गर्भ' इव सुधितो गर्भिणीषु। दिवे दिवे ईड्यो जागृवद्भिर् हविष्मद्भिर् मनुष्येभिर् अग्निः ३. (=वासं ३४.१४): उत्तानायाम् अव भर चिकित्वान् सद्यः प्रतीता वृषणं जजान। "वर्षण की, उत्पादन की यह प्रक्रिया आरम्भ हो गई; मनुष्यों की इस पत्नी (अरणि की निचली लकड़ी) को लाओ; आओ हम सदा की भांति अग्नि का मन्थन करें।[327]

अग्नि ने सब को भस्म करना आरम्भ करके सम्पूर्ण जगत् को भयभीत कर दिया। इस पर उस समय बचे प्राणियो ने इनको विनष्ट कर देने का निश्चय किया। अग्नि इसे सहन नही कर सके और उन्होने एक मनुष्य से कहा: "मैं इसे सहन नही कर सकता; मुझे अपने भीतर प्रवेश करने दो। मुझे उत्पन्न करके मेरा पोषण करो। यदि तुम इस लोक मे मेरे लिये ऐसा करोगे तो परलोक में मैं भी तुम्हारे लिये ऐसा ही करूंगा।" (स यत्र अग्नि ससृजे स इदं जातः सर्वम् एव दग्धु दध्रे। इत्यम् एव आविलम् एव। ताः यास् तर्हि प्रजा. आसुस् ताः ह एनं सम्पेष्टु दध्रिरे। सोऽतितिक्षमाणः पुरुषम् एव अभ्येयाय। २. सह उवाच" न वै अहम् इद तितिक्षे हन्त त्वा प्रविशानि। तम् मा जनयित्वा बिभृहि। स यथैव मां त्वम् अस्मिन् लोके जनयित्वा भरिष्यसि एवम् एव त्वाम् अमुष्मिन् लोके जनयित्वा भरिष्यामि इति। "तथा" इति तं जनयित्वा अभिभ)। हेरोडोटस् ३.१६ हमे मिस्र के लोगो के अग्नि सम्बन्धी विचार बताता है।

[327] अतः इसीलिये इसे सम्भवत' 'द्वि-माता' (१.३१,२) कहा गया है। 'द्वि-जन्मा' के सम्बन्ध में (१.६०, १; १.१४०,२; १.११९,४५) देखिये ऊपर। इसे 'भूरिजन्मा' भी कहा गया (१०.५,)। ऋग्वेद में १.९५,२ इसे दस युवतियो से उत्पन्न कहा गया हैं (दश इमं त्वष्टुर् जनयन्त गर्भम् अतन्द्रासो युवतय.)। देखिये रॉथ: निरुक्त पृ० १२० बेनफे ओरियण्ट उण्ट आक्सीडेण्ट २.५१०; और रॉथ के कोश से में 'त्वष्ट्' और 'युवति'। ३ २९,३ में इसे इला का पुत्र कहा गया है। उन लोगो या परिवारो के सम्बन्ध में जिन्होने सर्व प्रथम अग्नि उत्पन्न किया था, जैसे मनु, अङ्गिरस्, भृगु, अथर्वन्, दध्यञ्च, इत्यादि देखिये मेरा लेख जएसो० भाग २०, पृ० ४१०-४१६ में। वहाँ मैंने इन स्थलो को उद्धृत किया है: १.३६,१९, ७ २,३; १०. ६३,७; १०,६९,३; ८ ४,२१; ६.१६,१३; १०,२१,५; १.५८,६; १०.४६,३१८ २१, १७ में यह

यह देवता लकड़ी के दो टुकड़ों में उसी प्रकार निहित है जैसे भ्रूण गर्भवती स्त्री में। उन हवियुक्त अग्नि को मनुष्य नित्यप्रति पूजते हैं। ३. हे ज्ञानवान! ऊर्ध्व मुखवाली अरणि पर नीचे मुखवाली अरणि रक्खो। तत्काल गर्भवाली अरणि ने कामनाओं की वर्षा करनेवाले अग्नि को प्रकट किया।"[३२८] तुकी० ऋग्वेद १.६८,२ जहाँ यह उल्लेख ध्यान देने योग्य है कि सूखे काष्ठ से एक जीवित प्राणी को उत्पन्न होना चाहिये (शुष्काद् यद् देव जीवो जनिष्ठाः) ६ १ ३.२३,२-३; ७.१,१; १०,४९,१५; १०.७,५। ये दो अरणियों से उसी प्रकार जन्म लेते हैं जैसे एक नवजात शिशु: ५ ९,३ (उत स्म यं शिशुं यथा नवं जनिष्ट अरणी); ८,२३,२५ (सूनुं वनस्पतीनाम्)। दोनों लोकों का ध्यान आकृष्ट करते हुये कवि कह उठता है कि यह आश्चर्य ही है कि ज्योंही यह शिशु जन्म लेता है त्योंही अस्वाभाविक अतिभक्षणत्व का परिचय देते हुये यह अपने माता-पिता को ही भस्म करना आरम्भ कर देता है, जो इसके मर्त्य उपासकों की कल्पना से सर्वथा बाह्य है (१०.७९,४ : तद् वाम् ऋतं रोदसी प्रब्रवीमि जायमानो मातरा गर्भो अत्ति। नाहं देवस्य मर्त्यश् चिकेत)। किन्तु जब जन्म लेता है तब यह सर्पों के बच्चों की भांति अत्यन्त चंचलकाय होता है जिसे पकड़ना कठिन होता है (५.९,४ : उत स्म दुर्गृभीयसे पुत्रो न ह्वार्याणाम्)। इसका विकास तथा एक दूत के रूप में इसका तत्काल कार्य अद्भुत है—विशेषतः जब हम यह देखते हैं कि यह एक ऐसी माता से उत्पन्न होता है जो इसे स्तनपान भी नहीं करा सकती (१०.११५,१ : चित्रः इत् शिशोस् तरुणस्य वक्षथो न यो मातराव् अप्येति धातवे। अनूधाः यदि जीजनद् अध च नु ववक्ष सद्य महि दूत्य चरन्)। इसका पोषण और विकास उस घृतयुक्त हवि से होता है जिसे इसके मुख में डाला जाता है और जिसे यह भस्म कर देता है : ३.२१,१ (स्तोकानाम् अग्ने मेदसो घृतस्य होतः प्राशान); ५.११,३ (घृतेन त्वा अवर्धयन्); ५.१४,६; ७ ३९,३ (अग्ने मन्मानि तुभ्यं कं घृतं न जुह्व आसनि); ८.४३ १०.२२; १०,६९,१ और बाद; १०.११८,४-६; और अवे० १ ७,२ (अग्ने तैलस्य प्राशान)।

कहा गया है कि काव्य उशना ने मनुष्यों के पुरोहित के रूप में अग्नि को स्थापित किया (उशना काव्यस् त्वानि होतारम् असादयत्। आयजि त्वा मनवे जातवेदसम्)।

[३२८] प्राचीन भारतीय ऊपरी लकड़ी को पुरुष और नीचेवाली को स्त्री मानते हैं।

३.२६,७ में अग्नि स्वयं कहते हैं कि घृत इनका चक्षु है (घृत मे चक्षुः)

(३) इनकी उपाधियाँ और विशिष्टतायें

इनकी उपाधियाँ विविध, तथा उनमें अधिकांशतः इनकी भौतिक विशिष्टताओं का वर्णन निहित है। ये 'सर्पिरासुति', 'घृतान्न' (२.७,६; ७.३.१; १० ६९,२); 'घृत निर्णिक्' (३ १७,१; ३.२७,५; १०.१२२,२); 'घृत-केश (८ ४९,२), 'घृतपृष्ठ' (५.४,३; ५ ३८,१; ७.२,४; १०.१२२,४); 'घृतप्रतीक' (३ १,१८; ५.११,१; १०.२१,७); 'घृतयोनि' (५.८,६; तुकी० २.३, ११); 'द्रवन्न' (२,७,६); 'धूमकेतु' (१.२७,११; १ ४४,३, १,९४,१; १ ९४,१०, ५.११,३; ८ ४३,४; ८.४४,१०; १०.४,५; १०.१२,२) हैं। ये आकाश की ओर स्तम्भवत् धूम उठाते हैं : ४.६,२ (मेता इव धूमं स्तभायदु उप द्याम्); ७ २,१ (उप स्पृश दिव्य सानु स्तूपैः); ७.३,३; ७.१६,३ (उदु धूमासो अरुपासो दिविस्पृशः [अस्थुः]; इनका धूम लहराता है और इनके लपटों को पकड़ा नहीं जा सकता (८,२३,१ : चरिष्णु धूमम् अगृभीतशोचिपम्)। ये वायु द्वारा प्रेरित होते हैं और किसी वन के बीच उसी प्रकार दौड़ते हैं जैसे गायों के समूह के बीच एक वृषभ दौड़ता है। १.५८,४.५ (वने आ वातचोदितो यूथे न साह्वान् अव वाति वंसगः); १.६५,८। ये अन्धकार के विनाशक हैं (१.१४०,१ : तमोहन्) और रात्रि के अन्धकार के बीच से भी देखते हैं (१,९४,७ : राञ्याश् चिदु अन्धो अति देव पश्यसि)। अन्धकाराच्छन्न संसार तथा आकाश, दोनों ही, इनके प्रगट होते ही प्रगट हो जाते हैं, और देवता, आकाश पृथिवी, जल, औषधियाँ इत्यादि इनकी मित्रता से आनन्दित होते हैं (१० ८८,२ : गीर्णम् भुवनं तमसाऽपगूळ्हम् आविः स्वर् अभवज् जाते अग्नौ। तस्य देवाः पृथिवी द्यौर् उतापो अरणयन् ओपधीः सख्ये अस्य)। ये चित्रभानु, चित्रशोचिः (१.२७,६; २.१०,३; ५.२६,२, ६.१०,३; ७.९,३; ७ १२,१; ८.१९,२); ऊर्ध्व-शोचिस् (६ १५,२), शुक्र शोचिः (७.१५,१०; ८ २३,२०); पावकशोचिम[३१] (८,४३,३१); शुक्रवर्ण, शुचिवर्ण (१.१४०,१; १.२,३);

[३१] अग्नि को ८ ६०,१० (=सोवे० २.९०४). १४ (=सावे० १.४९) में 'घोरशोचिस्" और ८.४३,३१ में "घोर" कहा गया है। इस अन्तिम स्थान पर सायण 'घोर' की 'यज्ञेषु शयनय शिलम्' के रूप मे व्याख्या करते हैं। ८.६०,१० मे आप इस योगिक शब्द को 'अशन-शीलज्वालम्' के बराबर मानते हैं। १४ वें मन्त्र में आप इसे 'शयन—स्वभाव—रोचिष्कम्' मानते हैं। देखिये वेनफे का अनुवाद; रॉथ' निरुक्त पृ० ४२।

शोचिष्केश (१.४५,१; ३.१४,१; ३.१७,१; ३,२७,४; ५.८,२; ५.११,४०); हरिकेश (३.२,१३); हिरण्यरूप (४.३,४; १०.२०,९ : हिरण्य रूपं जनिता जजान); और हरि-श्मश्रु (५.७,७) हैं। ये तीक्ष्ण आयुध रखते हैं। (तिग्महेति, तिग्मभृष्टि : ४ ४,४; ४.५,३); इनके तीक्ष्ण दाँत (तिग्म-जम्भः १,७९,६; १.१४३,५, ४.५,४; ४.१५,५; ८,१९,२२), तप्त दाँत (तपुर्जम्भ : १.५८,५; ८.२३,४), शुचिदन्त (५ ७,७), हिरण्यदन्त (५ २ ३), अयोदष्ट्र (१०,८७,२) और तीक्ष्ण जबड़े होते हैं (८.४९,४३; १०,७९ : तिग्मा: अस्य हनव: । नाना हनू विभृते सम् भरेते असिन्वती बप्सती भूरि अत्त:)। एक स्थल के अनुसार ये पादविहीन और सर-विहीन (अपाद् अशीर्षा: ४.१,११) हैं किन्तु अन्यत्र इनको तपुर्मूर्धा अर्थात् तप्त सरवाला (७.३,१), तीन सर वाला और सात रश्मियोंवाला (त्रिमूर्धानं सप्तरश्मिम् १.१४६,१; २ ५,२), चतुराक्ष (१.३१,१३), सहस्राक्ष (१.७९, १२) और सहस्रशृङ्ग (५ १,८)[330] भी कहा गया है। ये कृष्णाध्वन्, कृष्ण-वर्त्तनी, कृष्ण-पवि हैं (२.४,६. ६.१०,४; ७.८,२; ८.२३,१९)। ये वनों को आच्छादित तथा अपनी जिह्वा से अन्धकार को समाप्त करते हैं (१.१४३,५, ५.४,११०; ६.६०,१० : अर्चिषा वना विश्वा परिष्वजत्। कृष्णा करोति जिह्वया:; १०.७९,२ : असिन्वन्न अत्ति जिह्वया वनानि) हैं। ये विश्वाद् (८.४४,२६), और वायु प्रेरित है और वनों पर आक्रमण करते तथा पृथिवी के केशों को उसी प्रकार काट देते हैं (१,६५,४ : इभ्यान् न राजा वनानि अत्ति। यद् वातजूतो वना वि अस्थाद् अग्निर् ह दाति रोमा पृथिव्या:) जैसे नाई दाढ़ी को बना देता है (१०.१४२,४ यदा ते वातो अनुवाति शोचिर् वप्तेव श्मश्रु वपसि प्र भूम)। ये आक्रमक सेना की तरह भय उत्पन्न कर देते हैं : १.६६,८ (सेनेव सृष्टा अमं दधाति); १.१४३,५; १०.१४२,४ (यद् उद्वतो निवतो यासि बप्सत् पृथग् एषि प्रगर्धिनीव सेना)। इनकी ज्वालायें समुद्र की लहरों के समान गर्जन करती हैं (१.४४,१२; यद् देवानाम् मित्रमह: पुरोहितो अन्तरो यासि दूत्यम्। सिन्धोर् इव प्रस्वनितास: ऊर्मयो अग्नेर् भ्राजन्ते अर्चय:)। ये गर्जन की तरह ध्वनि उत्पन्न करते हैं। ७.३,६ (दिवो न ते तन्यतुर् एति शुष्म:), १०.४५,४

---

[330] एक (८.१९,३२) पर अग्निको 'सहस्र-मुष्क' कहा गया है जिसकी भाष्यकार 'बहु-तेजस्क' व्याख्या करता है। ऋग्वेद ६.४६,३ मे यही उपाधि इन्द्र के लिये व्यवहृत है जहाँ सायण इसे 'सहस्र शेफ' मानते हैं।

(अक्रन्दद् अग्निः स्तनयन्न् इव द्यौः[331]) ८.९१,५। ये वायु के समान गर्जन करते हैं (वही : हुवे वातस्वनं कविम् पर्जन्य-क्रन्द्यं सहः। अग्निं समुद्रवाससम्)[332]। ये सिंह के समान गर्जन करते हैं (३.२,११ नानदन् न सिंहः)। और जब ये अपने रथ में वायु प्रेरित और लाल अश्वों को सन्नद्ध कर लेते हैं तो ये वृषभ की भांति हुंकार करते हैं और वन्य वृक्षों पर अपनी ज्वालाओं से आक्रमण करते हैं। जब इनके तृणभक्षी स्फुलिङ्ग निकलते हैं तो उनकी ध्वनि से पक्षी भयभीत हो जाते हैं (१.९४,१० : यद् अयुक्थाः अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः। आद् इन्वसि वनिनो धूमकेतुना। ११. अध स्वनाद् उत बिभ्युः पतत्रिणो द्रप्साः यत् ते यवसादो वि अस्थिरन्)। ये प्रतिध्वनि करनेवाले मरुतों तथा आकाश के विद्युत के समान दुर्जेय हैं (१.१४३,५ : न यो वराय मरुताम् इव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाऽशनिः)। इनके सौ रूप हैं और ये सूर्य के समान चमकते हैं, १.१४९, (सूरो न रुरुक्वान् शतात्मा); ७.३,६। इनकी कान्ति उषा की और सूर्य की किरणों के समान (१०.९१,४ : आ ते चिकित्रे उषसाम् इव एतयः अरेपसः सूर्यस्येव रश्मयः), और वर्षामेघ के विद्युत के समान है (वही ५ = सावे २.३३२ : तव श्रियो वर्ष्यस्येव विद्युतः)। ये विद्युद्रथी (३.१४,१) ज्योतीरथ[333] (१.१४०,१), चन्द्ररथ (१.१४१,१२); ५.१,११ (आ अद्य रथम् भानुमो भानुमन्तम् अग्ने तिष्ठ), चित्ररथ (१०.१,५), हिरण्यरथ (४.१,८), समुद्रथ (३.३,९), सुरथ (४.२,४), हैं। इनका यह रथ ऐसे अश्व या अश्वियाँ खींचते हैं जिन्हें घृतपृष्ठ, वातजूत, स्वश्व, रोहित, अरुष, भीराश्व, विश्वरूप, और मनोयुज् तथा अन्यान्य उपाधियों से व्यक्त किया गया है (१.१४,६-१२; १.४५,२; १.९४,१०; १.१४१,११; २.१,२; २.१०,२; ४.१,८; ४.२,२-४; ३.६,९; ५.१६,४३; ७.१६,२; ८.४३,१६; १०.७४; १०.७०,२ और बाद)। ये अपने अश्वों को देवों को बुलाने के लिये रथ में

---

[331] यह द्रष्टव्य है कि इस स्थलपर द्यौस (इन्द्र नहीं) को ही वज्रिन कहा गया है।'

[332] यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इसे 'समुद्र से आवेष्ठित या आच्छादित' कहा गया है'। यही उपाधि इसके पहले वाले मंत्र (=सावे० १ १८) में भी आती है जहाँ यह कहा गया है कि ऋषि ने इस प्रकाशमान देवता का उसी प्रकार आवाहन किया जैसे और्व, भृगु और अप्नवान् ने किया था (और्वभृगुवत् शुचिम् अप्नवान् वद् आ हुवे अग्नि समुद्र-वाससम्)।

[333] १०.६३,४ मे यही उपाधि सामान्य रूप से देवो के लिये व्यवहृत है।

सम्बद्ध करते हैं : १.१४,१२ (ताभिर् देवान् इहावह); ३,६,६ (ऋतस्य वा केशिना योग्याभिर् घृतस्नुवा रोहिता धुरि धिष्व। अथावह देवान् देव विश्वान्। ६. आ एभिर [देवैः] अग्ने सरथं याहि अर्वाङ्); ८.१४,१ (युक्षा हि देवहूतमान् अश्वान् अग्ने रथीर् इव)।

(४) इन पर आरोपित उच्च दिव्य कार्य

अग्नि को उच्चतम दिव्य कार्यों से सम्बद्ध किया गया है। इन्हें दिव्य सम्राट (सम्राजो असुरस्य) और इन्द्र की भाँति शक्तिशाली कहा गया है (७.६,१ : इन्द्रस्येव प्र तवसस् कृतानि वन्दे)। यद्यपि इन्हें कुछ स्थलों पर आकाश और पृथिवी का पुत्र कहा गया है, तथापि अन्य स्थानों पर कहा गया है कि इन्होंने पृथिवी और आकाश को फैलाया (३.६.५ तम क्रत्वा रोदसी आ ततन्थ); दो चर्मों के समान दोनों लोकों को फैलाया (७.५.४; ६.८,३ : वि चर्मणीव धिषणे अवर्तयत); उन्हें उत्पन्न किया (१.९६,४ : जनिता रोदस्यः; ७.५,६ : भुवना जनयन्); अजन्मा की भाँति पृथिवी और आकाश को सत्य मन्त्रों से उपस्तम्भित किया (१.६७,३: अजो न क्षां दधार पृथिवीं तस्तम्भ द्याम् मन्त्रेभिः सत्यैः); अपनी ज्वाला से आकाश को ऊँचा उठाया (३.५,१० : उद् अस्तम्भीत् समिधा नाकम् ऋष्वः); दोनों लोकों को पृथक् रक्खा (६.८,३ : वि अस्तभ्नाद् रोदसी मित्रो अद्भुतः); पार्थिव क्षेत्रों और आकाश के प्रकाशित नक्षत्रों का निर्माण किया (६.७,७: वि यो रजांसि अमिमीत सुक्रतुर् वैश्वानरो वि दिवो रोचना कविः); ६.८,२; मित्र को जन्म दिया (१०.८'४ : जनयन् मित्रम्); अजर नक्षत्र, सूर्य को आकाश में उठाया (१०.१५६,४ : अग्ने नक्षत्रम् अजारम् आ सूर्यं रोहयो दिवि); उन सब का निर्माण किया जो उड़ता, चलता, खड़ा होता या गतिशील होता है (१०.८८,४[334] : स पतत्रि इत्वरं स्थाः जगद् यत् श्वात्रम् अग्निर् अकृणोद् जातवेदाः); आकाश को तारों से अलंकृत किया (१.६८,५ : पिपेश नाकं स्तृभिर् दमूनाः)। ये आकाश की 'मूर्धा'; और 'ककुद' तथा पृथिवी के 'नाभि' हैं (१.५९,२); तुकी० मन्त्र १ भी; ६.७,१; ८.४४,१६; १०.८८,५। ये एक स्तम्भ की भाँति मनुष्यों को उपस्तम्भित करते हैं (१.५९,१ : स्थूणेव जनान् उपमिद् ययन्थ;

---

[334] इस अर्धऋचा (१०.८८४) को निरुक्त ५.३ में उद्धृत किया गया है। दुर्गाचार्य यह कहकर इसकी व्याख्या करते हैं कि प्रलय के समय अग्नि सभी वस्तुओं को अपने आधीन कर लेते हैं। इसी सूक्त (१०.८८,७) मे यह कहा गया है कि देवो ने एक मन्त्र के साथ अग्नि में आहुति दी; और ९ वें मन्त्र मे इस हवि को 'भुवनानि विश्वा' कहा गया है।

४.५,१ : अनुनेन बृहता वक्थेन उप स्तभायद् उपमिन् न रोधः)। इनकी महानता आकाश और सम्पूर्ण लोकों से भी बढ़ कर है : १ ५९,५ (दिवश् चित् ते बृहतो जातवेदो वैश्वानर प्र रिरिचे महित्वम्); ३.३,१० (जातः आपृणो भुवनानि रोदसी अग्ने ता विश्वा परिभूर् असि त्मना); ३.६,२[३२५]। ये नगरों के विनाशक हैं तथा इन्होंने पूर्वकाल में प्रसिद्ध कर्म किये थे : ७.६,२ (पुरन्दरस्य गीर्भिर् आ विवासे अग्नेर् व्रतानि पूर्व्या महानि)। इनके महान् कर्मों से मनुष्य कम्पित होते हैं और इनके व्रतों तथा उद्देश्यों का उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता : २.८,३ (यस्य व्रत न मीयते); ३.९, १ = वासं० ११.२६ (अदब्धव्रत–प्रमतिर्····अग्निः); ६.७,६; ५; ८.४४, २५; ८ ९२,४ (यस्माद् रेजन्ते कृष्टयश् चकृत्यानि कृण्वतः)। आकाश और पृथिवी, तथा सभी वर्तमान और भावी प्राणी इनके आदेशों का पालन करते हैं : ८०.५,४ (तव त्रिधातु पृथिवी उत द्यौर् वैश्वानर व्रतम् अग्ने सचन्त); अवे० ४.२३,७ (यस्य इदम् प्रदिशि यद् रोचते यज् जातं जनितव्यं च केवलम्। स्तौमि अग्नि नाथितो जोहवीमि)। इन्होंने देवों के लिये युद्ध में धन और स्थान को जीता : १.५९,५ (युधा देवेभ्यो वरिवश् चकर्थ); और देवों को विपत्ति से मुक्त कराया ७.१३,२ (त्वं देवान् अभिशस्तेर् अमुञ्चः)। ये सहस्रों के विजेता हैं (सहस्रजित्), १.१८८,१। जब ये अन्धकार में स्थित होते हैं तब सभी देवता इनसे भयभीत होकर इनकी स्तुति करते हैं : ६.९,७ (विश्वे देवाः अनमस्यन् भियानास् त्वाम् अग्ने तमसि तस्थिवांसम्)। वरुण, मित्र, मरुद्गण और सभी ३,३३९ देवता इनकी उपासना और प्रशंसा करते हैं : ३.९,९ (त्रीणि शता त्री सहस्राणि अग्नि त्रिंशच् च देवाः नव चासपर्यन्); ३.१४,४ (मित्रश् च तुभ्यं वरुणः सहस्वो अग्ने विश्वे मरुतः सुम्नम् अर्चन्); १०.६९,९ (देवाश् चित् ते अमृताः जातवेदो महिमानं वाध्र्यश्व प्रवोचन)। वरुण, मित्र और अर्यमा इन्हीं की सहायता से विजय प्राप्त करते हैं : १.१४१,९ (त्वया हि अग्ने वरुणो धृतव्रतो मित्रः शाशद्रे अर्यमा सुदानवः)। ये सम्पूर्ण लोकों अथवा जीवों को जानते और देखते हैं : ३.५५,१० (अग्निस् ता विश्वा भुवनानि वेद); १०.१८७,४ (यो विश्वाऽभिपश्यति भुवना सं च पश्यति)[३२६]। ये आकाश के आरोहणों को जानते हैं : ८,२.४ (विद्वान्

---

[३२५] इस प्रकार की उपाधियाँ मूलतः किसी और देवता के लिये व्यवहृत हुई होंगी जिनके लिये ये अग्नि की अपेक्षा अधिक उपयुक्त थीं। बाद में स्तोताओं ने इन्हें अन्य देवताओं पर स्थानान्तरित कर दिया।

[३२६] ३.६२,९ में यही शब्द पूषा के लिये व्यवहृत हैं।

आरोधनं दिवः)। ये देवों और मनुष्यों के दिव्य व्रतों और वंशों अथवा जन्मों को जानते हैं : १.७०,१.३ (आ दैव्यानि व्रता चिकित्वान् आ मानुषस्य जनस्य जन्म । एता चिकित्वो भूमा नि पाहि देवानां जन्म मर्तांश् च विद्वान्); ३.४,११,६.१५,१३ । ये मर्त्यों के गुप्त भेदों को जानते हैं (८,३९,६ : अग्निर् जाता देवानाम् अग्निर् वेद मर्तानाम् अपीच्यम्), और अपने को सम्बोधित स्तुतियों को सुनते हैं (८.४३,२३ : तं त्वा वयं हवामहे शृण्वन्तं जातवेदसम्) । ये असुर हैं (४.२,५; ५.१२,१; ५.१५,१; ७,२,३; ७.६,१)।

(५) अपने उपासकों के साथ अग्नि के सम्बन्ध

अग्नि के उपासक सम्पन्नता धन, तथा दीर्घायुष्य प्राप्त करते हैं : ६ २,४ ५ (समिधा यस् ते आहुतिं निशितिम् मर्त्यो नशत् । वयावन्तं स पुष्यात क्षयम् अग्ने शतायुषम्) ६.५,५ (यस् ते यज्ञेन समिधा यः उक्थैर् अर्केभिः सूनो सहसो ददाशत् । स मर्त्येषु अमृत प्रचेताः राया द्युम्नेन श्रवसा वि भाति); ६.१०,३; ६.१३,४; ६.१५,११; ७.११,२; ८ १९,५-६; ८ ४४,१५; ८.७३,९ । यह उन मनुष्यों के मुक्तिदाता (तुकी० ८.४९,५) और मित्र हैं जो इनके पास सुन्दर अश्वों, सुवर्ण तथा धनों से परिपूर्ण रथ सहित आते हैं और इनका आतिथ्य-सत्कार करने में आनन्द लेते हैं : ४.४,१० (यस् त्वा स्वश्वः सुहिरण्यो अग्ने उपयाति वसुमता रथेन । तस्य त्राता भवसि सखा यस् ते आतिथ्यम् आनुषग् जुजोषत्)। ये उस उपासक की रक्षा करते हैं जो इनके लिये ईंधन लाने का अथक परिश्रम करता है,[337] अथवा इनकी सेवा करने के लिये चिन्तित रहता है : ४ २,६ (यस् ते इध्मं जभरत् सिष्विदानो मूर्धानम् वा ततपते त्वाया । भुवस् तस्य स्वतवान् पायुर् अग्ने)। ये उस मनुष्य को सहस्र नेत्रों से देखते हैं जो इनके लिये अन्न लाता है और हवियों से इनका पोषण करता है : १०.७९,५ (यो अस्मै अन्नं तृषु आदधाति आज्यैर् घृतैर् जुहोति पुष्यति । तस्मै सहस्रम् अक्षभिर् वि चक्षे)। ये अपने सेवकों को प्रसिद्ध, भक्त, उत्कृष्ट और अतुलनीय पुत्र देते हैं जो अपने पिता का नाम

---

[337] ८.९१,१९ और बाद में ऋषि अग्नि से कहता है कि उसके पास गाय नही है जिससे वह हवि के लिये घृत प्राप्त कर सके; कोई कुठार नही है जिससे लकड़ी काट सके; अत उसकी हवि वही है जो देवता देख सकता है (न हि मे अस्ति, अघ्न्या न स्वधितिर् वनन्वति । अथ एतादृग् भरामि ते । २०. यद् अग्ने कानि कानि चिद् आ ते दारूणि दध्मसि ता जुषस्व यविष्ठय)।

करता है[228]: ५.२५,५ (अग्निस् तुविश्ववस्तमं तुविब्रह्माणम् उत्तमम् । अतूर्तं श्रावयत्पतिम् पुत्रं ददाति दाशुषे)। ये अपने प्रचुर धन में से मर्त्यों को धनदान करते हैं: १.१,३ (अग्निना रयिम् अश्नवत्); १.३१, १० (त्वम् अग्ने प्रमातिस् त्वम् पिताऽसि नस् त्वं वयस्कृत् तव जामयो वयम् । सं त्वा रायः शतिनः सं सहस्रिणः सुवीरं यन्ति व्रतपाम् अदाभ्य); १.३६,४ (विश्वं सो अग्ने जयति त्वया धनं यस् ते ददाश मर्त्यः)। युद्ध में ये जिस व्यक्ति की रक्षा और उसे उत्साहित करते हैं, वह प्रचुर अन्न जीतता है और कभी भी पराजित नहीं होता: १.२७,७ और बाद = मावे० २ ७६,५ और बाद (यम् अग्ने पृत्सु मर्त्यम् अवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता शश्वतीर् इषः । ८. नकिर् अस्य सहन्त्य पर्येता कयस्य चित्)। जो इस देवता के लिये यज्ञ करता है उसको कोई भी व्यक्ति अपनी किसी अद्भुत शक्ति से भी पराजित नहीं कर सकता: ८.२३,१५ (न तस्य मायया चन रिपुर् ईशीत मर्त्यः । यो अग्नये ददाश हव्य-दातिभिः)। ये अमरत्व के प्रदाता, रक्षक और अधिपति हैं: १.३१,७ (त्वं तम् अग्ने अमृतत्वे उत्तमे मर्त्तं दधासि); ७.७,७ (अमृतस्य रक्षिता); ७.४,६ (ईशे हि अग्ने अमृतस्य भूरेः)। देवों ने इन्हें अमरत्व की नाभि बनाया: ३.१७,४ (अमृतस्य नाभिः)। इनके उपासक इनकी हर्षित हृदय से कामना करते हैं: ८.४३,३१ (हृद्भिर् मन्द्रेभिर् ईमहे)। एक अन्त्येष्टि सूक्त में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है वे मृतक के अजन्मे[229] भाग को अपने ताप से तप्त करें, तथा अपने शुभ रूप में मृतक को पुण्यात्माओं के लोक में ले जाँय: १०.१६,४ (अजो भागस् तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस् तपतु तं ते अर्चिः । यास् ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहैनं सुकृताम् उ लोकम्)।[230] ये मनुष्यों को उसी प्रकार विपत्तियों

---

[228] देखिये 'श्रावयत् पतिम्' को प्रदत्त सायण का आशय।

[229] प्रो० आफरेम्त का विचार है कि इन शब्दो का यह आशय नहीं बल्कि यह है . "वह अज तुम्हारा भाग है; उसे अपने ताप से दग्ध करो; वह तुम्हारी ज्वालाओ से भस्मसात हो"। आप आश्वलायन गृह्यसूक्त ४.२,४ और ३,२०; कात्यायन श्रौतसूत्र २५.७,३४ के साथ इसकी तुलना करते हैं। मनु ५.४२ हमें बताते हैं कि बलि किये गये पशु स्वर्ग जाते हैं। ऋग्वेद १.१६२, २१ तथा १.१६३,१२ में अश्वों के लिये भी यही कहा गया है। १०.१६,५ में यह कहा गया है कि जो मनुष्य अग्नि को समर्पित किया जाता है उसे अग्नि पितरों के पास पहुँचा देते हैं।

[230] इस सूक्त के कुछ और मन्त्रों को आगे यम के खण्ड में उद्धृत किया

पार करते हैं जैसे नौका सागर से, अथवा विपत्तियों से रक्षा करते हैं: ३.२०,४ (परस्कद् विश्वाऽति दुरिता गृणन्तम्); ५.४,९ (विश्वानि नो दुर्गहा जातवेदः सिन्धु न नावा दुरिताऽति पर्षि). ७.१२,२ (स महा विश्वा दुरितानि स्हान् । स नो रक्षिषद् दुरिताद् अवद्यात्)। हर प्रकार के आशीर्वाद इनसे उसी प्रकार उद्भूत होते हैं जैसे शाखायें वृक्ष से: ६.१३,१ (त्वद् विश्वा सुभग सौभगानि अग्ने वियन्ति वनिनो न वयाः) ये मरुभूमि के प्रपात के समान हैं: १०.४,१ (धन्वन्न् इव प्रपा असि अग्ने)। सम्पूर्ण निधियाँ इन्हीं में केन्द्रित हैं: १० ६,६ (सं यस्मिन् विश्वा वसूनि जग्मुः)। ये पृथिवी के, उच्च और अवर समुद्रों के, अन्तरिक्ष के और आकाश के सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं: ७.६,७ (आ देवो ददे बुध्न्या वसूनि वैश्वानर. उदिता सूर्यस्य । आ समुद्राद् अवराद् आ परस्माद् आ अग्निर् दिवः आ पृथिव्याः); १० ९१,३ (वसुर् वसूनां क्षयसि त्वम् एक. इद् द्यावा च यानि पृथिवी च पुष्यतः)। फलस्वरूप हर प्रकार के वरदानों, धनों, अन्नों तथा शत्रुओं, राक्षसों, निर्धनता, नग्नता, भर्त्सना, निःसन्तानत्व, भूख आदि से मुक्ति के लिये इनकी नित्य ही स्तुति की गई है: १.१२,८, ९, १ ३६,१२ और बाद; १,५८,८ ९; २.४,८; २.७, २.३; २.९,५; ३.१,२१; ३.१३ ७; ३.१६,५; ४.२,२०; ४ ३,१४; ४.११,६, ५.३,११; ६.१,१२ और बाद; ६.४,८, ६ ५,७, ६ ६,७; ७-१, ५.१३,१९। स्तोताओं की सौ लौह प्राचीरों द्वारा रक्षा करने के लिये इनकी स्तुति की गई है: ६ ४८,८; ७.३,७ (शतम् पूर्भिर् आयसीभिर् नि पाहि); ७.१६,१०। स्वयं इनसे भी सौ प्राचीरों से घिरे हुये पुर की भांति होने के लिये कहा गया है: ७.१५,१४ (अध मही नः अयसी अनाधृष्टो नृपीतये। पूर् भव शतभुजिः) १.१८९,२। इनसे शत्रुओं को सूखी झाड़ियों की भाँति भस्म करने (४.४,४ : नि अमित्रान् ओषतात् तिग्महेते। यो नो अराति समिधान चक्रे नीचा तं धक्षि अतसं न शुष्कम्), तथा दुष्टों को उसी प्रकार प्रहार करके गिरा देने के लिये कहा गया है जैसे विद्युत प्रहार

जायगा। वासं० १ १७ मे अग्नि से वह स्तुति की गई है 'अप अग्ने अग्निम् आमादं जहि निष् क्रव्यादम् सेध। आ देवयजं वह)। भाष्यकार कहता है कि यहाँ तीन अग्नियों का उल्लेख है, यथा: आमात् जो लौकिक अग्नि है; 'क्रव्यात्' (शवदाहे क्रव्यम् मांसम् अत्ति इति क्रव्यात् चिताग्निः) और 'याग-योग्य.'। तुकी० वासं० १८.५१ और बाद। तैत्तिरीय सं० २.५,८,६ में अग्नि का एक दूसरा ही त्रिविध विभाजन मिलता है: "त्रयो वै अग्नयो हव्यवाहनो देवानां कव्यवाहनः पितॄणां सहरक्षाः असुराणाम्"।

वृत्र को गिराता है (६.८,५ : पव्येव राजन्न् अघशंसम् अजर नीचा नि वृश्च वनिनं न तेजसा)। तुकी० अवे० ३.१,१; ३.२,१; ६.१२०,१। इनका ऐसे युद्ध में आवाहन किया गया है (८.४३,२१ : समुत्सुत्वा हवामहे) जिसमें ये रथ का नेतृत्व करते हैं (८.७३,८ : पुरोयावानम् आजिषु)। इनसे स्तुति की गई है कि ये स्तोता द्वारा अनजान में किये गये पापों के लिये उसे क्षमा करें और उसे अदिति के समक्ष निष्पाप घोषित करें : ४ १२,५ (यत् चिद् हि ते पुरुषत्रा यविष्ठ अचित्तिभिश् चकृम कच् चिद् आगः। कृधि सु अस्मान् अदितेर् अनागान् वि एनांसि शिश्रथो विष्वग् अग्ने); ८.९१,७ (यत् सीम् आगश् चकृम तत् सु मृल तद् अर्यमा अदितिः शिश्रथन्तु); और वरुण के क्रोध से बचायें : ४.१,४ (त्वं नो अग्ने वरुणस्य विद्वान् देवस्य हेळो अव यासिसीष्ठाः)।

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, दो स्थलों पर उपासक अग्नि से यह कहता है : ८.४४,२३ "यदि मैं तुम होता और तुम मैं; तो मैं तुम्हारी सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर देता।"; और ८.१९,२५ : "हे अग्नि ! यदि तुम एक मानव होते और मैं तुम जो मित्रों से युक्त और अमर हो, तो मैं तुम्हें किसी गलत कृपण के हवाले नहीं करता। मेरे उपासक तब निर्धन, कष्टपूर्ण या दुःखी न होते।"

८.९२,२ में अग्नि को 'दैवोदास' (दैवोदासोऽग्निः) कहा गया है जिससे यह प्रतीत होता है कि राजा दिवोदास इन्हें विशेष रूप से अपना उपास्य देव मानते थे। ८.१९,३२ में इन्हें सम्राजं त्रासदस्यवम् और १०.६९,१ तथा बाद में 'अग्नि वध्र्यश्व' कहा गया है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाम के किसी ऋषि ने इन्हें प्रज्वलित किया था। तुकी० ऋग्वेद १.१०,११ में इन्द्र के लिये व्यवहृत 'कौशिक' उपाधि।

अक्सर अग्नि को अन्य देवों और विभिन्न देवियों, जैसे इन्द्र, विष्णु, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, पूषन्, सविता, भग, अदिति, होत्रा, भारती, इळा, सरस्वती आदि के साथ समीकृत किया गया है : २.१, ३ ७ और ११ (त्वम् अग्ने इन्द्रो वृषभः सताम् असि त्वं विष्णुर् उरुगायो नमस्यः, इत्यादि); ३.५,४; ५.३,१; ७.१२,३; १०.८,५।[३४१] विश्वेदेवों की इनमें कल्पना की गई है : ५.३,१ (त्वे विश्वे सहसस् पुत्र देवाः); जिन्हें ये उसी प्रकार आवृत्त करते हैं जैसे किसी चक्र का व्यास तीलियों को : ५.१३,६

[३४१] १.१६४,१६ एक अन्य मन्त्र है जहाँ अग्नि को अन्य देवों के साथ समीकृत किया गया है। तुकी० अवे० १३.३,१३।

अग्ने नेमिर् अरान् इव त्वं देवान् परिभूर् असि); तुकी० १.१४१,९। एक स्थान पर वरुण को इनका भ्राता कहा गया है : ४.१,२ (स भ्रातरम् वरुणम् अग्ने आ ववृत्स्व)।

अग्नि को इन्द्र[342] के साथ विभिन्न सूक्तों में सम्बन्ध किया गया है, जैसे १.१०८, और १०९; ३.१२; ६.५९ और ६०; ७.९३ और ९४; ८.३८ और ४०। इन दोनों देवताओं को यमज भ्राता कहा गया है, जिनके पिता एक ही हैं और मातायें यत्र तत्र[343] (६.५९,२)। दोनों वज्रिन, वृत्रहन्ता, और पुरों को कम्पित करनेवाले हैं : ३.१२,४.६ (इन्द्राग्नी नवतिम् पुरो दासपत्नीर् अधुनुतम्। साकम् एकेन कर्मणा) १.५९,३; ६.६०,६; ७.९३,१.४; ८.३८,२।[344] इनको एक साथ ही सोमपान के लिये आमन्त्रित किया गया है (८.९३,६; ८.३८,४.७-८); और सहायता के लिये भी दोनों का साथ ही आवाहन मिलता है (७.९४,७ : इन्द्राग्नी अवसा आ गतम् अस्मभ्यं चर्षणीसहा)। एक स्थान (१.१०९,४) पर इन्हें 'अश्विना' कहा गया है। अग्नि को अन्यत्र अकेले ही उन कार्यों को करनेवाला कहा गया है जो सामान्यतः इन्द्र के कार्य हैं, जैसे वृत्र का वध या पुरों का विनाश : १.५९,६ (वैश्वानरो दस्युम् अग्निर् जघन्वान् अधूनोत् काष्ठाः अव शम्बरम् भेत); १.७८,४ (तम् उ त्वा वृत्रहन्तमम् यो दस्यून् अवधूनुषे। द्युम्नैर् अभि प्रनोणुमः); ६.१६,१४.३९,४८ (वृत्रहणम् पुरन्दरम्। अग्ने पुरो रुरोजिथ); ७.५,३; ७.६,२; ८.६३,४। यह भी कहा गया है कि ये घरों से दस्युओं को दूर भगाकर आर्य के लिये बृहत् प्रकाश का सृजन करते हैं : ७.५,६ (त्वं दस्यून् ओकासः आजः उरु ज्योतिर् जनयन्न् आर्याय; तुकी० १.५९,२ और १०.६९,६)। ये आर्यों के वर्धक (६.९२,१ : अर्यस्य वर्धनम् अग्निम्), और नास्तिक प्राणियों का हनन करनेवाले हैं (७.६,३ : नि अक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणीन् अश्रद्धान् अवृधान् अयज्ञान्। प्र प्रतान् दस्यून् अग्निर् विवाय पूर्वश् चकार अपरान् अयज्यून्), यद्यपि वास्तव में इन्द्र ही सूक्तों में सर्वाधिक बार आर्यों के संरक्षक और सहायक, तथा उनके शत्रुओं के विनाशक के रूप में वर्णित हैं। दूसरी ओर ७.३८,१ में, जहाँ इन दोनों देवों को दो पुरोहित (यज्ञस्य ऋत्विजा) कहा गया है, इन्द्र

---

[342] देखिये मुलर का लैंग्वेजेज, पृ० ४९५ और बाद।

[343] जिस शब्द का यह अनुवाद है वह है : 'इहेहमातरा'। तुकी० इहेह-जाते (ऋग्वेद ५.४७,५); देखिये मूलर का लैंग्वेजेज, २४९५।

[344] तुकी० अवे० ४.२३,५; ७,११० और बाद।

को भी उन गुणों से युक्त किया गया है जो अग्नि की विशिष्टता हैं।[३४५] १.९३वें सूक्त में अग्नि और सोम की एक साथ प्रशस्ति है।

(६) अग्नि के गुणों का पद्यबद्ध अनुवाद

ऊपर अग्नि के जिन चरित्रों का वर्णन किया गया है उनसे सम्बद्ध सूक्तों का यथास्थान ही गद्यानुवाद भी दे दिया गया है; किन्तु अग्नि[३४६] के गुणों की विशिष्टता से सम्बद्ध कुछ स्फुट मंत्रों का मैंने बिना किसी क्रम या सन्दर्भ-संकेत के ही, पद्यबद्ध अँग्रेजी अनुवाद भी किया है जिन्हें प्रस्तुत ग्रन्थ के अँग्रेजी संस्करण के पृ० २२१–२२३ पर देखा जा सकता है।



[३४५] ऋक्० १०.११९.१२ में इन्द्र को सम्बोधित शब्द।

[३४६] अग्नि प्रज्वलित करने के लिये प्रयुक्त दोनो लकड़ियों को पति-पत्नी कहा गया है।

खण्ड १४

त्वष्टा

यह देवता, जिसे बाद की पुराकथा में आदित्यों में से एक माना जाने लगा,[३४७] किन्तु जैसा कि हम ऊपर आदित्यों के खण्ड में देख चुके हैं, ऋग्वेद के सूक्तों में यह इस प्रकार की प्रकृति से युक्त नहीं हैं, भारतीय देवसभा का 'हिफेस्टस' अथवा 'वल्कन', आदर्श कलाकार, दिव्य शिल्पी, अत्यन्त कुशल ऐसा शिल्पकार है जो हर प्रकार के अद्भुत और अतुलनीय कार्यों में निपुण है : १०.५३,९ (त्वष्टा मायाः वेद अपसाम् अपस्तमः) । यह ब्रह्मणस्पति के लोहे की कुठार को तीक्ष्ण करता है, वही (शिशिते नूनम् परशुं स्वायसं येन वृश्चाद् एतशो ब्रह्मणस्पतिः); और इन्द्र के वज्र का निर्माण करता है :[३४८] १.३२,२ (त्वष्टा अस्मै वज्रं स्वर्य ततक्ष); १.५२,७; १.६१,६; १.८५,९; ५.३१,४; ६.१७,१०; १०.४८,३ । इसके द्वारा निर्मित इन्द्र के वज्रों को 'हिरण्यय' (१.८५,९) अथवा 'आयस' (१०.४८,३), 'सहस्रभृष्टि' अथवा 'शताश्रि' (१.८५,९; ६.१७,१०) कहा गया है । इस देवता को 'सुपाणि', 'सुगभस्ति' (३.५४,१२; ६.४९,९); स्वपस् सुकृत् (१.८५,९; ३ ५४,१२); 'विश्वरूप'[३४९] (१.१३,१०; ३ ५५,१९;[३५०] १०,१०५), और 'सवितृ' (३.५५,१९, १०.१०,५) कहा गया है । यह प्रजनन शक्ति तथा संतान प्रदान करता है[३५१] : १.१४२,१० (तन् नस् तुरीपम् अद्भुतम् पुरु

---

[३४७] देखिये इस ग्रन्थ का चौथा भाग ।

[३४८] ऋग्वेद १ १२१.३ के अनुसार यह कहा गया है स्वयं इन्द्र ने ही वज्र बनाया था (तक्षद वज्रम्) ।

[३४९] ३.३८,४ मे 'विश्वरूप' एक अन्य देवता—सायण के अनुसार इन्द्र—के लिये व्यवहृत है ।

[३५०] निरुक्त १० ३४ मे उद्धृत ।

[३५१] अवे० ६.८१,३ में यह कहा गया है कि पुत्र की इच्छा से अदिति ने त्वष्टा के जिस बन्धन को अपने हाथ मे बांधा था उसे किसी भी स्त्री के हाथ मे बांधने से पुत्र प्राप्त होता है (यम् परिहस्तम् अबिभर अदितिः पुत्रकाम्या । त्वष्टा तं अस्या आबध्नाद् यथा पुत्रं जनाद् इति) । अवे० ११,१.१ में यह कहा गया है कि पुत्र की इच्छा से अदिति ने ब्रह्मौदन पकाया (अदितिर् नाथिता इयम् ब्रह्मौदनम् पचति पुत्रकामा) ।

वा अरम् पुरु त्मना। त्वष्टा पोषाय वि स्यतु राये नाभा नो अस्मयुः); १.४,९ = ७.२,९ (तन् नस् तुरीपम् अध पोषयित्नु देव त्वष्टर् वि रराणः स्यस्व । यतो वीरः कर्मण्यः सुदक्षो युक्तग्रावा जायते देवकामः); ७.३४,२० (आ यन् नः पत्नीर् गोमन्ति अच्छ त्वष्टा सुपाणिर् दधातु वीरान्); तुकी० वासं० २१.२०; २२.२०; २७.२०; और अवे० २.१९,२ । यह एक दूसरे के लिये पति-पत्नी का, यहाँ तक कि गर्भ में ही, निर्माण कर देता है : ऋग्वेद १०.१०,५ (गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर् देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः); अवे० ६ ७८,३ (त्वष्टा जायाम् अजनयत् त्वष्टा अस्यै त्वाम् पतिम्) । यह गर्भ में शुक्राणु को विकसित करता है और मानव अथवा पशु के सभी रूपों का निर्माता है : ऋग्वेद १.१८८,९ (त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून् विश्वान समानजे); ८.९१,८ (त्वष्टा रूपेव तक्ष्या); १०.१८४,१ (विष्णुर् योनिम् कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु); अवे० २.२६,१; ५.२६,८; ९,४,६ (त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्); वासं० ३१.१७; तैसं० १.५ ९,१,२; १.६,४,४ (त्वष्टा वै रेतसः सिक्तस्य रूपाणि विकरोति । तम् एव वृषणम पत्नीष्व् अपिसृजते सोऽस्मै रूपाणि विकरोति); शतब्रा० १.९,२,१० (त्वष्टा वै सिक्तं रेतो विकरोति); १३.१,८,७ । तुकी० २.१,३,४; ३.७,३,११ । इसने अनेक प्रकार के जीवों को उत्पन्न किया है तथा उनका पोषण करता है; सम्पूर्ण विश्व (जीवों का) इसका ही है और इसे ज्ञात है; इसने आकाश और पृथिवी को तथा सम्पूर्ण वस्तुओं को उनका रूप प्रदान किया है : ३.५५,१९ (देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः पुपोष प्रजाः पुरुधा जजान । इमा च विश्वा भुवनानि अस्य); ४.४२,३ (त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्); १०.११०,९ (यः इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैर् अपिंशद् भुवनानि विश्वा) । वाज० सं २९,९ में यह कथन है : त्वष्टा वीरं देवकामं (तुकी० ऋग्वेद ३.४,९, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है) जजान त्वष्टुर् अर्वा जायते आशुर् अश्वः । त्वष्टेदं विश्वम् भुवनं जजान । "त्वष्टा ने एक शक्तिशाली मनुष्य, देवताओं के प्रेमी को जन्म दिया है । त्वष्टा से ही एक द्रुतगामी अश्व उत्पन्न हुआ है । त्वष्टा ने सम्पूर्ण विश्व की रचना की है ।" यह दीर्घ आयुष्य प्रदान करता है : ऋग्वेद १०.१८,६ (इह त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः दीर्घम् आयुः करति जीवसेवः); अवे० ६.७८,३ (त्वष्टा सहस्रम आयूंषि दीर्घम् आयुर् करोतु वाम्) । यह अश्व के पैरों में गति भरता है; वाजसं० ९.८ = अवे० ६ ९२,१ (आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु) । १.२२,१७ में इसे सम्पूर्ण साम ग्रन्थ में निपुण, तथा सभी वीरों

के ऊपर ब्रह्मणस्पति की रचना करनेवाला कहा गया है (विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस् परि त्वष्टाऽजनत् साम्नः साम्नः कविः)। पृथिवी और आकाश, जलों, और भृगुओं के साथ-साथ इसे भी अग्नि को उत्पन्न करने वाला कहा गया है : १०.२,७; १०.४६,२ (द्यावा यम् अग्निम् पृथिवी जनिष्टाम् आपस् त्वष्टा भृगवो यं सहोभिः); तुकी० १.९५,२।[३५२] यह 'भुवनस्य सक्षणि' (२.३१,४); प्रथम जन्मा, रक्षक और नायक (९.५,९ : त्वष्टारम् अग्रजां गोपाम् पुरोयावानम् आ हुवे) (तुक० १,१३,१०), हैं। यह अङ्गिरसों का सखा है (१०७०,९ : यद् अङ्गिरसाम् अभवः सचाभूः), और देवों के क्षेत्रों को जानता है (देवानाम् पाथः उप प्र विद्वान् उशन् यक्षि)। उपासक को पुष्ट करने तथा उसके यज्ञ की रक्षा करने के लिये इसकी स्तुति की गई है। यह 'द्रविणोदस' और सुरत्न है (१०.७०,९ और १०.९२,११), और अन्य देवताओं की ही भाँति इससे भी स्तोताओं के सूक्तों में आनन्दित होने तथा इन्हें धन देने की स्तुति की गई है : ७.३४,२१ और बाद (प्रतिनः स्तोमं त्वष्टा जुषेत। त्वष्टा सुदात्रो वि दधातु रायः)।

अनेक स्थलों पर त्वष्टा को उन ऋभुओं के साथ सम्बद्ध किया गया है जिनको इनकी की ही भांति निपुण शिल्पी कहा गया है (देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ का कोश, वस्था०), और जिन्होंने इन्द्र के रथ तथा अश्वों का निर्माण किया तथा अपने माता पिता को युवा बनाया, इत्यादि : १.१११,१ (तक्षन् रथं सुवृतम् विद्मनाऽपसस् तक्षन् हरी इन्द्रवाहा वृषण्वसू। तक्षन् पितृभ्याम् ऋभवो युवद् वयः); १.१११; ४.३३,३; ४.३५,५; ४.३६,३; और जिन्हें सायण (१.२०,६ पर) ने त्वष्टा के ही शिष्य कहा है (तक्षण-व्यापार-कुशलस्य त्वष्टुः शिष्याः ऋभवः)। यह कहा गया है कि इन ऋभुओं ने त्वष्टा द्वारा निर्मित एक ही चमस से चार यज्ञ चमसों का निर्माण कर दिया था (१.२०,६ : उत त्यं चमसं नवं त्वष्टुर् देवस्य निष्कृतम्। अकर्त्त चतुरः पुनः, ११०,३)। इन लोगों ने देवों के आदेश तथा इस आश्वासन पर कुशलता का परिचय दिया था कि सफल हो जाने पर इन्हें देवयोनि प्राप्त हो जायगी : १.१६१,१-५ (मन्त्र २ : यदि एव करिष्यथ साकं देवैर् यज्ञियासो भविष्यथ)। इसी स्थल पर यह कहा गया है कि अपनी कृति में किये गये इस कुशल परिवर्तन को देख कर त्वष्टा लज्जित होकर देवियों के बीच जा छिपे थे (मन्त्र ४ : यदाऽवाख्यत् चमसान् चतुरः

[३५२] १०.११५,१ और बाद में यह कहा गया है कि यह त्वष्टा और अन्य देवों को धारण करती है (अहम् सोमम् आहनसम् बिभर्मि अहं त्वष्टारम्)।

कृतान् आद् इत् त्वष्टा ग्नासु अन्तर् नि आनजे), और इस परिवर्तन को अपना अपमान मानते हुये इन प्रतिद्वन्द्वियों का वध करने के लिये उद्यत हुये थे (मन्त्र ५ : हनाम् एनान् इति त्वष्टा यद् अब्रवीत् चमसं ये देवपानम् अनिन्दिषुः)। एक अन्य स्थान (४.३३,५ ६) पर, इसके विपरीत, यह कहा गया है कि त्वष्टा ने ऋभुओं की कृति की प्रशंसा करते हुये उनकी उत्कृष्ट कलाकारिता की सराहना की थी (विभ्राजमानांस् चमसान् अहा इव अवनेत् त्वष्टा चतुरोददृश्वान्)।[353]

१०.६६,१० में ऋभुओं को आकाश को धारण करनेवाला बताया गया है (धर्तारो दिवः ऋभव. सुहस्ताः)।

२.१,५ में अग्नि को त्वष्टा के साथ समीकृत किया गया है, जैसा कि इसी सूक्त के अन्य मंत्रों में अनेक अन्य देवों को भी किया गया है। १.९५,५ में अग्नि को 'त्वष्टृ' शब्द से उपाधित किया गया प्रतीत होता है। ६.४७,१९ में, जहाँ यह कहा गया है कि त्वष्टा अपने अश्वों को सन्नद्ध करते हैं और प्रकाशित होते हैं (युञ्जानो हरिता रथे भूरि त्वष्टेह राजति), वहाँ भाष्यकार इन्द्र का सन्दर्भ मानता है।[354]

(२) त्वष्टा की पुत्री तथा उसका विवाह

१० १७,१ और बाद में, यह कहा गया है कि त्वष्टा ने अपनी पुत्री, 'सरण्यू' को विवाह में विवस्वत् को प्रदान किया : "त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति" इति इदं विश्वम् भुवनम् समेति। यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश। अपागूहन्न् अमृताम् मर्त्येभ्यः कृत्वी सवर्णाम् अददुर् विवस्वते। उताश्विनाव् अभरद् यत् तद् आसीद् अजहाद् उ द्वा मिथुना सरण्यूः। "त्वष्टा ने अपनी पुत्री के विवाह का आयोजन किया। इसे सुनकर सम्पूर्ण संसार एकत्र हुआ। यम की माता और महान् विवस्वत् की पत्नी अदृश्य हो गई। २. उन लोगों ने उस अमर (वधू) को मर्त्यों से छिपा दिया। उसी प्रकार की दूसरी वधू बनाकर उसे विवस्वत् को दिया गया। सरण्यू ने यमज अश्विनद्वय को उत्पन्न किया, और ऐसा करने के बाद वह इन यमजों को छोड़कर चली गई।" ये दो मन्त्र निरुक्त (१२.१० और बाद) में भी उद्धृत हैं जहाँ यह कथा दी है : तत्र इतिहासम् आचक्षते। त्वष्टुः सरण्यूर् विवस्वतः आदित्याद् यमौ

[353] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण ३ ३० ।

[354] १ ८४,१५, जहाँ त्वष्टा के नाम का उल्लेख है, के सम्बन्ध में पाठक विलसन का अनुवाद, और रॉथ (निरुक्त, पृ० ४९) की व्याख्या देख सकता है। बेनफ़ेः ओरियण्ड उण्ट ऑक्सीडेण्ट २.२४५ और बाद भी देखिये।

मिथुनौ जनयाञ्चकार । सा सवर्णाम् अन्याम् प्रतिनिधाय अश्वं रूपं कृत्वा प्रदद्राव । स विवस्वान् आदित्यः आश्वं एव रूपं कृत्वाताम् अनुसृत्य सम्बभूव । ततोऽश्विनौ जज्ञाते सवर्णायाम् मनुः । "त्वष्टा की पुत्री, सरण्यू ने अदिति-पुत्र विवस्वत् के द्वारा यमजों को उत्पन्न किया। तदनन्तर वह अपने ही रूप और आकार की एक दूसरी स्त्री को वहाँ रख कर स्वयं एक अश्वी का रूप धारण करके भाग गई। विवस्वत् ने भी उसी प्रकार एक अश्व का रूप धारण करके उसका पीछा किया। दोनों के मिथुन से दोनों अश्विन उत्पन्न हुये, जब कि मनु सवर्णा (उसी के रूप और वर्ण की स्त्री) से उत्पन्न हुये।" देखिये जजओसो० ४.४२४ में ऋग्वेद १०.१७,१ की रॉथ की व्याख्या तथा टीका, तथा इसी लेखक के निरुक्त (पृ० १६१) में बृहद्देवता के एक स्थल का अनुवाद जिसे ऋग्वेद ७ ७२,२ पर उद्धृत करते हुये सायण ने भी विवस्वत् और सरण्यू की उसी कथा का वर्णन किया है जो निरुक्त में मिलती है। वह स्थल इस प्रकार है: अभवद् मिथुनं त्वष्टुः सरण्यूस् त्रिशिराः सह। स वै सरण्युः प्रायच्छत स्वयम् एव विवस्वते। ततः सरण्यवां जाते ते यमयम्यौ विवस्वतः। ताव् अप्य् उभौ यमाव् एव ह्य् आस्ताम् यम्या च वै यमः। सृष्ट्वा भर्तुः परोक्षं तु सरण्यू सदृशीं स्त्रियम्। निक्षिप्य मिथुनौ तस्याम् अश्वा भूत्वा प्रचक्रमे। अविज्ञानाद् विवस्वांस तु तस्याम् अजनयद् मनुम्। राजर्षिर् आसीत् स मनुर् विवस्वान् इव तेजसा स विज्ञाय अपक्रान्तां सरण्युम् आत्मरूपिणीम्। त्वाष्ट्रम् प्रति जगामाशु वाजी भूत्वा सलक्षणः। सरण्यूस् तु विवस्वन्तं विज्ञाय हयरूपिणम्। मैथुनायोपचक्राम ता स तत्रारुरोह सः। ततस् तयोस् तु वेगेन शुक्रं तद् अपतद् भुवि। उपाजिघ्रत् च सा त्व् अश्वा तत् शुक्रं गर्भ-काम्यया। आघ्राण-मात्रात् शुक्रं तत् कुमारौ सम्बभूवतुः। नासत्यश् चैव दस्रश् च यौ स्तुताव् अश्विनाव् अपि। "त्वष्टा के दो पुत्र हुये: एक सरण्यू नामक कन्या और दूसरा त्रिशिरस् नामक पुत्र। उन्होंने सरण्यू को विवाह में विवस्वत् को दे दिया जिससे सरण्यू ने यमज यम और यमी को उत्पन्न किया। अपने पति को बताये बिना ही सरण्यू ने अपने ही समान एक स्त्री की रचना करके दोनों यमजों को उसके पास रख दिया और एक अश्वी का रूप धारण करके स्वयं चली गई। अज्ञानवश विवस्वत् ने उस स्थानापन्न स्त्री से एक पुत्र, मनु, को उत्पन्न किया जो राजर्षि तथा अपने पिता के नाम को प्रसिद्ध करने वाला हुआ। किन्तु बाद में यह जान कर कि त्वष्टा की पुत्री, वास्तविक सरण्यू, कहीं चली गई है, विवस्वत् ने भी शीघ्र ही उसी के वर्ण के अश्व का रूप धारण करके उसका पीछा किया।

उन्हें उस रूप में पहचान कर मैथुन की कामना से सरण्यू उनके पास आई और उनकी कामना पूर्ण हुई। जल्दीबाजी में उनका शुक्र भूमि पर गिर पड़ा और उसने (सरण्यूने) सन्तान कामना से उसे सूँघ लिया। इस क्रिया से दो कुमार, नासत्य और दस्र, उत्पन्न हुये जिन्हें अश्विनद्वय कहते हैं।"

ऋ.वेद ८.२६,२१ और बाद में, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, वायु को भी त्वष्टा का जामाता कहा गया है। वायु की पत्नी सरण्यू से भिन्न थी, अथवा इस कथा तथा अभी ऊपर वर्णित विवस्वान् की कथा में कहीं कोई असंगति है, इसे स्पष्ट नहीं कहा जा सकता।

यह कहा गया है कि त्वष्टा की सेविकायें बहुधा ही देवों की पत्नियाँ हैं। १.२२,९ (अग्ने पत्नीर् इह आ वह देवानाम् उशतीर् उप। त्वष्टारं सेमपीतये); २ ३१,४; २. ३६, ३; ६.५०,१३; ७.३५,६; १०,६४, १०; १०.६६,३। यह प्रो० रॉथ के अनुसार (वस्था०) इस तथ्य का परिणाम है कि स्त्रियों के गर्भ में ही इनकी सृजनात्मक क्रिया प्रमुखतः प्रगट होती है।

१०४९,१०, में इन्हें इस रूप में प्रस्तुत किया गया है जैसे ये एक महत्त्वपूर्ण देवता हों, यद्यपि यहाँ भी इन्द्र से हीन ही हैं क्योंकि यह कहा गया है कि इन्द्र ने नदियों में एक ऐसा तरल पदार्थ स्थित किया जो कार्य देवता होते हुये भी त्वष्टा नहीं कर सके थे (अहं तद् आसु धारयं यद् आसु न देवश् चन त्वष्टा अधारयद् रुशत्)।

(२) इन्द्र और त्वष्टा की शत्रुता

अक्सर इन्द्र को त्वष्टा तथा उनके पुत्र के साथ शत्रुता रखनेवाले के रूप में प्रस्तुत किया गया है।[३५५] इस प्रकार २.४८,४ में यह कहा गया है कि इन्द्र ने इन्हें पराजित किया और इनके सोमरस को लेकर चले गये तथा प्यालों में भर-भर कर उसका पान कर गये (त्वष्टारम् इन्द्रो जनुषाऽभिभूय आमुष्य सोमम् अपिबत् चमुषु)। ४.१८,३ में भी, इसी देवता ने इनके (त्वष्टा के) घर में ही इनके सोम का पान कर लिया (त्वष्टुर् गृहे अपिबत् सोमम् इन्द्रः)। इन कथाओं की व्याख्या करते हुये भाष्यकार ३.४८,४ पर अपने भाष्य में त्वष्टा को एक असुर कहता है (त्वष्टृ नामकम् असुरम्), और तैत्तिरीय संहिता २.४,१२,१ को उद्धृत करता है जहाँ यह कहा गया है कि त्वष्टा ने, जिसके पुत्र का इन्द्र ने वध कर दिया था, इन्द्र की

---

[३५५] १.८०,१४ में यह कहा गया है गर्जन करने पर इन्द्र के क्रोध से त्वष्टा तक काँप उठते हैं। वास० २०.४४ मे यह कहा गया है कि त्वष्टा ने इन्द्र को शक्ति से युक्त किया (त्वष्टा दधत् शुष्मम् इन्द्राय वृष्णे)।

अनुपस्थिति में ही एक सोमयज्ञ आरम्भ किया, और उक्त जघन्य अपराध के कारण उस यज्ञ में इन्द्र की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया। तब इन्द्र ने यज्ञ में हस्तक्षेप करते हुए बलपूर्वक सोम का पान कर लिया (त्वष्टाः हत-पुत्रो वीन्द्र सोमम् आहरत्। तस्मिन्न् इन्द्रः उपहवम् ऐच्छत। तं न उपाह्वयत "पुत्रम्मेऽवधीर्" इति। स यज्ञ-वेशसं कृत्वा प्रासहासोमम् अपिबत्। इन शब्दों को २.५,२,१ में भी दोहराया गया है)। तुकी० शत-पथ ब्राह्मण १.६,३,६ और बाद; ५.५,४,७ और बाद; १२.७,१,१; १२.८, ३,१ और बाद।

त्वष्टा के पुत्र का ऋग्वेद के दो स्थानों पर उल्लेख है। १०.८,८ में यह कथन है : स पित्र्याणि आयुधानि विद्वान् इन्द्रेषितः आप्त्यो अभ्य् अयु-ध्यत्। त्रिशीर्षाणं सप्तरश्मिम् जघन्वान् त्वाष्ट्रस्य चिन् निः ससृजे त्रितो गाः। ९. भूरि इद् इन्द्र' उदिनक्षन्तम् ओजो अवाभिनत् सत्पतिर् मन्यमा-नम्। त्वाष्ट्रस्य चिद् विश्वरूपस्य गोनाम् आचक्राणस् त्रीणि शीर्षा परा वर्क्। "अपने पतृक आयुधों को जानकर इस त्रित आप्त्य ने इन्द्र से प्रेरित होकर उस त्रिशिरस और सप्तरश्मि दानव से युद्ध किया तथा उसका वध करने के बाद उसकी तथा त्वष्टा के पुत्र तक की गायें उठा ले गया। ९. पुण्यकर्मों के देवता इन्द्र ने उस उद्दण्ड प्राणी का वध कर दिया जिसे अपनी महान् शक्ति का गर्व हो गया था। गायों को छीनने के बाद उन्होंने ने त्वष्टा के पुत्र विश्व-रूप के भी तीन मस्तकों को काट दिया।" (तुकी० २ ११,१९)। तीन सरों और छः नेत्रोंवाले सिंहनाद करनेवाले दानव का, जिसे सम्भवतः त्वष्टा के पुत्र के साथ समीकृत किया गया है, १०.९९,६ में भी इन्द्र अथवा त्रित द्वारा पराजित होने के रूप में उल्लेख है (स इद् दासं तु विरवम् पतिर् दन् षलक्षं त्रिशीर्षाणम् दमन्यत्। अस्य त्रितो नु ओजसा वृधानो विपा वराहम् अयोअग्रया हन्)।

बाद के ग्रन्थों में विश्वरूप का अक्सर उल्लेख मिलता है।

तैत्तिरीय संहिता २.५,१,१ और बाद, के अनुसार यह देवों का पुरोहित था, जब कि यह असुरों की बहन का पुत्र था (इससे अधिक और कोई वंशविवरण नहीं)।[३५६] इसके तीन सर थे जिन्हें क्रम से सोमपायी, सुरापायी,

---

[३५६] मैं इसी संहिता से एक अन्य स्थल (६.४,१०,१) उद्धृत करता हूँ जिसमे सुरो और असुरो की मौलिक समानता, तथा इनके पुरोहितो का उल्लेख है ' बृहस्पतिर् देवानाम् पुरोहितः आसीत् षण्डामर्काव् असुराणाम्। ब्रह्मण्वन्तो देवाः आसन् ब्रह्मण्वन्तोऽसुराः। तेऽन्योन्यं नाशक्नुवन् अभिभवितुम्। ते देवाः

और अन्नभक्षी कहते थे। इसने सार्वजनिक रूप से यह घोसणा की थी कि यज्ञों में देवों को भाग मिलना चाहिये, किन्तु व्यक्तिगत रूप से इसने यह कहा था कि केवल असुरों के लिये यज्ञ किये जाने चाहियें। क्योंकि, जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थ का लेखक कहता है, किसी के लिये भी सार्वजनिक रूप से यज्ञ भाग पाने वालों की घोषणा करना परम्परासंगत है, किन्तु वास्तव में भाग वही पाते हैं जिनको व्यक्तिगत रूप से वचन दिया जाता है। इस पर इन्द्र को शंका हुई कि विश्वरूप की इस विधि से कहीं उनका साम्राज्य छिन न जाय; अतः उन्होंने अपने वज्र से विश्वरूप के मस्तक काट दिये। उस विश्वरूप के तीनों मस्तक पक्षी बन गये और सोम-पायी कपिञ्जल हुआ, सुरापायी कलविङ्क, तथा अन्नभक्षी तित्तिरि, इत्यादि (विश्वरूपो वै त्वाष्ट्र पुरोहितो देवानाम् आसीत् स्वस्रियोऽसुराणाम्। तस्य त्रीणि शीर्षाण्य् आसन् सोमपानं सुरापानम् अन्नादनम्। स प्रत्यक्षं देवेभ्यो भागम् अवदत् परोक्षम् असुरेभ्यः। सर्वस्मै प्रत्यक्षम् भाग वदन्ति। यस्मै एव परोक्षं वदन्ति तस्य भागः उदितः। तस्माद् इन्द्रोऽबिभेद् ईदृङ् वै राष्ट्रम् पर्यावर्त्तयति इति तस्य वज्रम् आदाय शीर्षाण्य् अच्छिनत्। यत् सोमपानम् आसीत् स कपिञ्जलोऽभवत्। यत् सुरापानं स कलविङ्क। यद् अन्नादनं स तित्तिरिः)। कुछ रूपान्तरों से शतपथ ब्राह्मण इसी कथा को और विस्तार से कहता है : १.६,३,१ : त्वष्टुर् ह वै पुत्रस् त्रिशीर्षा षडक्षः आस। तस्य त्रीण्य् एव मुखान्य् आसुस् तद् यद् एवं रूपः आस तस्माद् विश्वरूपो नाम। २. तस्य सोमपानम् एव एकं मुखम् आस। सुरापानम् एकम्। अन्यस्मै अशनाय एकम्। तम् इन्द्रो दिद्वेष तस्य तानि शीर्षाणि प्रचिच्छेद। ३. स यत् सोमपानम् आस ततः कपिञ्जलः समभवत्। तस्मात् स बभ्रुकः इव बभ्रुर् इव हि सोमो राजा। ४. अथ यत् सुरापाणम् आस ततः कलविङ्कः समभवत्। सोऽभिमाद्यत्कः। इव वदति। अभिमाद्यन्न् इव हि सुराम् पीत्वा वदति। ५. अथ यद् अन्यस्मै अशनाय आस ततस् तित्तिरिः समभवत। तस्मात् स विश्वरूपतमः इव। सन्त्य् एव घृत-

शण्डामर्काव् उपामन्त्रयन्त। ताव् अब्रूताम् "वरम् वृणावहै ग्रहाव् एव नाव् अत्रापि गृह्येताम्" इति। ताभ्याम् एतौ शुक्रामन्थिनाव् अगृह्णन्। ततो देवाः देवाः अभवन् पराऽसुराः। यस्यैवम् विदुष शुक्रामन्थिनौ गृह्येते भवत्य् आत्मना परा अस्य भ्रातृव्यो भवति। तौ देवाः अपनुद्य आत्मन इन्द्रायाजुहवुः। इत्यादि। यहाँ उद्धृत यजिन की कथा की प्रो० वेबर तैत्तिसं० की कथा से तुलना करते हैं। असुरों और देवों की मौलिक समानता के लिये प्रस्तुत कृति का चौथा भाग देखिये।

स्तोकाः इव त्वद् मधुस्तोकाः इव त्वत् पर्णेष्व् आश्चुतिताः । एवं रूपं हि स तेन अशनम् अविवर्त् । ६. स त्वष्टा चुक्रोध "कुविन् मे पुत्रम् अवधीद्" इति सोऽपेद्रम् एव सोमम् आजह्रे । स यथाऽयं सोमः प्रसुत एवम् अन्पेद्र एव आस । ७. इन्द्रो ह वै ईक्षाञ्चक्रे "इदं वै मा सोमाद् अन्तर्यन्ति" इति । स यथा बलीयान् अबलीयसः एवम् अनुपहूत एव यो द्रोणकलशे शुक्रः आस तम् भक्षयाञ्चकार । स ह एनं जिहिंस । सोऽस्य विष्वङ् एव प्राणेभ्यो दुद्राव मुखाद् ह एव अस्य अथ सर्वेभ्यो ऽन्येभ्य प्राणेभ्यः । ८. स त्वष्टा चुक्रोध "कुविद् मेऽनुपहूतः सोमम् अभक्षद्" इति । स स्वयम् एव यज्ञवेशसं चक्रे । स द्रोणकलशे शुक्रः परिशिष्टः आस त प्रवर्तयाञ्चकार "इन्द्र शत्रुर् वर्धस्व" इति । १०. अथ यद् अब्रवीद् इन्द्र-शत्रुर् वर्धस्व" इति तस्माद् उ ह एनम् इन्द्र एव जघान । अथ यद् ह शश्वद् अवक्षद् "इन्द्रस्य शत्रुर् वर्धस्व" इति शश्वद् उ ह स एव इन्द्रम् अहनिष्यत् । "त्वष्टा के एक तीन सर तथा छः आँखोंवाला पुत्र हुआ जिसके तीन मुख थे इसी लिये उसे विश्वरूप कहा गया । २. उसका एक मुख सोमपायी, दूसरा सुरापायी था और तीसरा अन्य वस्तुओं के भक्षण के लिये था । ३. सोमपायी मुख से कपिञ्जल उत्पन्न हुआ और इसीलिये यह पक्षी भूरा होता है क्योंकि राजा सोम का यही रंग है । ४. सुरापायी से कलविङ्क उत्पन्न हुआ और इसीलिये यह पक्षी उन व्यक्तियों की भाँति रव करता है जिन्होंने सुरापान कर लिया हो । ५. तीसरे मुख से एक तित्तिरि उत्पन्न हुआ, जो फलस्वरूप अनेक प्रकार के रंगों से युक्त होता है क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि इसके पंखों के विभिन्न भागों पर घृत और मधु के बिन्दुओं के छींटे पड़े हैं। क्योंकि इसी मुख से विश्वरूप इस प्रकार के भोजनों को ग्रहण करता था । ६. त्वष्टा क्रुद्ध हुआ और यह कहकर कि 'उसने मेरे पुत्र का वध किया है', उसने इन्द्र को छोड़कर देवों के लिये सोमहवि दिया । ७. इन्द्र को यह पता लग गया कि सोमपान से उन्हें वंचित किया गया है, अतः उन्होंने किसी निर्बल के विरुद्ध किसी बलवान् द्वारा किये गये व्यवहार के ही समान, बिना आमन्त्रण के ही कलश में रक्खे परिष्कृत सोम का पान कर लिया । किन्तु इसका उन पर बुरा प्रभाव हुआ; वह सोम उनके मुख से और शरीर के अन्य बहिर्गामी द्वारों से बाहर निकल पड़ा । ८. त्वष्टा इस प्रकार बिना आमन्त्रण के ही इन्द्र के इस सोमपान पर अत्यन्त क्रुद्ध हुये और उन्होंने स्वयं यज्ञ को भंग कर दिया । उन्होंने बचे हुये सोम को लेकर एक अन्य यज्ञ में यह कह कर के हवि दिया कि 'इन्द्र जिसका शत्रु है उसकी वृद्धि हो' । १०. उसने जब इस आशय को व्यक्त करनेवाले स्वरों से

युक्त शब्दों का प्रयोग किया तब इन्द्र ने उसका वध कर दिया। यदि उसने यह कहा होता कि "इन्द्र के शत्रु, वृद्धि प्राप्त करो" तो इन्द्र के हाथों मारे जाने की अपेक्षा उसी ने इन्द्र का वध कर दिया होता।"

इस कथा का एक दूसरा ग्रन्थ, काठक १२.१ (इण्डिशे स्टूडियन, ३.४६८.) कुछ अन्य विवरण देता है। इन्द्र को भय हुआ कि विश्वरूप सब कुछ बनने जा रहा है (स इन्द्रोऽमन्यत "अयं वाव इदम् भविष्यत्) अतः उन्होंने एक बढ़ई को उसका सर काटने के लिये भेजा। उस बढ़ई ने अपनी कुठार से इस कार्य को सम्पन्न कर दिया (स तक्षाणं तिष्ठन्तम् अब्रवीद् "आधव अस्य इमानि शीर्षाणि छिन्धि"। तस्य तक्षा उपद्रुत्य परशुना शीर्षाण्य् अच्छिनत्)।

तुलना कीजिये शतपथ ब्राह्मण १.६,३,१ और बाद; ५.५,४,१ और बाद; तथा महाभारत, उद्योगपर्व, २२८ और बाद।

मार्कण्डेय पुराण (अध्याय ७७) में त्वष्टा को विश्वकर्मा और प्रजा के साथ समीकृत किया गया है। तुकी० श्लोक १,१०,१५,१६,३४,३६,३८ और ४१। प्रो० वेबर (ओमिना उण्ट पोर्टेण्टा, पृ० ३९१ और बाद) कोशिक सूत्र के अद्भुताध्याय के एक स्थल को उद्धृत करते हैं जहाँ त्वष्टा को सविता और प्रजापति के साथ समीकृत किया गया है।



खण्ड १५

अश्विनद्वय

(१) अश्विनों की प्रकृति, पैतृकता; सूर्य के साथ इनका सम्बन्ध; इनके गुण

अश्विनगण, यहाँ तक कि प्राचीनतम भारतीय भाष्यकारों के लिये भी, एक समस्या हैं। निरुक्त १२.१ में यास्क इनके सम्बन्ध में इस प्रकार उल्लेख करते हैं :

अथ अतो द्युस्थाना: देवता: । तासाम् अश्विनौ प्रथमागामिनौ भवत: । अश्विनौ यद् व्यश्नुवाते सर्वं रसेन अन्यो ज्योतिषा अन्य: । "अश्वैर् अश्विनाव" इत्य् और्णभाव: । तत् काव् अश्विनौ । "द्यावापृथिव्याव्" इत्य् एके । "अहोरात्राव्" इत्य एके । "सूर्याचन्द्रमसाव्" इत्य् एके । "राजानौ पुण्यकृतान्" इत्य् ऐतिहासिका: । तयो: काल: ऊर्द्धम् ऊर्ध्वरात्रात् प्रकाशीभावस्य अनुविष्टम्भम् अनु । तमोभागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग: आदित्य. । ५. तयो: काल: सूर्योदयपर्यन्त: ।

"क्रम से इसके बाद वह द्युस्थानीय देवता आते हैं; इनमें सर्वप्रथम अश्विनद्वय आते हैं। इन्हें इसलिये अश्विनद्वय कहते हैं क्योंकि ये प्रत्येक वस्तु को व्याप्त (व्यश्नुवाते) करते हैं—एक आर्द्रता से और दूसरे प्रकाश से। और्णभाव कहते हैं कि अश्व (अश्वै:, जिन पर ये सवारी करते हैं) से इन्हें अश्विन् कहते हैं। तब ये अश्विनद्वय कौन हैं? कोई कहता है कि ये 'आकाश और पृथिवी[357] हैं,; अन्य के अनुसार ये 'रात्रि और दिन हैं; कोई और इन्हें 'सूर्य और चन्द्रमा' कहते हैं। ऐतिहासिक इन्हें 'यज्ञकर्म करनेवाले दो राजा' कहते हैं। इनका समय मध्यरात्रि के बाद होता है जब प्रकाश का प्रकट होना विलम्बित होता है; [और सूर्यास्त के साथ समाप्त हो जाता है]। इस समय का अन्धकार-अंश मध्यवर्ती देवता (= इन्द्र ?) का द्योतक है और प्रकाश-अंश आदित्य (सूर्य) का।"[358]

प्रो० रॉथ, इस स्थल के आधार पर यह मानते हैं कि यास्क दोनों

---

[357] तुकी० शतब्रा० ४ १,५,१६ ' अथ यद् "अश्विनाव्" इति इमे ह वै द्यावा-पृथिवी प्रत्यक्षम् अश्विन्नौ । इमे हि इदं सर्वम् आश्नुवाताम् ।

[358] देखिये प्रो० गोल्डस्टूकर द्वारा दी गई विभिन्न व्याख्यायें जिन्हे इस खण्ड के अन्त में दिया गया है

अश्विनों को इन्द्र और सूर्य के साथ समीकृत करते हैं (निरुक्त, पृ० १५९)।[३४९]

जर्नल ऑफ जर्मन ओरियण्टल सोसाइटी, ४.४२५, में यही लेखक इन देवों के सम्बन्ध में यह मत व्यक्त करता है : "वेद के प्राचीन भाष्यकारों की ही भाँति यद्यपि हम इनके चरित्र की धारणा के विषय में किसी प्रकार सहमत नहीं हैं, तथापि यह दोनों देवता प्रकाश के वैदिक देवताओं के अन्तर्गत एक अत्यन्त स्पष्ट स्थान रखते हैं। प्रातःकालीन आकाश में ये प्रकाश लाने वाले सर्वप्रथम देवता हैं जो अपने रथों में उषा के पहले ही शीघ्रतापूर्वक आकर उषा का मार्ग प्रशस्त करते हैं।[३५०]

ऋग्वेद के एक स्थल (१०.१७,२) पर अश्विनों को विवस्वत् और सरण्यू के यमज पुत्र कहा गया है। इन्हें ऋग्वेद १.१८२,१; १.१८४,१;[३५१] १०.६१,४ में आकाश के पुत्र (दिवोनपाता) कहा गया है। १.४६,२ में ये 'सिन्धुमातरा' हैं[३५२] ('चाहे यह अन्तरिक्ष समुद्र हो या पार्थिव)।

तैत्तिरीय सं० ७.२,७,२ कहता है कि अश्विनद्वय देवों में सबसे छोटे हैं (अश्विनौ वै देवानाम् अनुजावरौ)।

१.१८०,२ में अश्विनों की बहन का उल्लेख है जिससे, भाष्यकार, स्वभावतः उषा का आशय ग्रहण करता है (स्वसृस्थानीया स्वयंसारिणी वा उषाः)। ७.७१,१ में तथा अन्यत्र भी, उषा को रात्रि की बहन कहा गया है, जबकि १.१२३,५ में इसे भग और वरुण की बहन बताया गया है।

ऋग्वेद के अनेक भागों में अश्विनों को सूर्य की युवती कन्या सूर्या (जिसे

---

[३४९] ऋग्वेद १.१८१,४ को, रॉथ (निरुक्त) के अनुसार यास्क अपने मत की पुष्टि के लिये उद्धृत करते हैं। तुकी रॉथ निरुक्त पृ० १५९।

[३५०] प्रो० मूलर और वेबर के अश्विनो सम्बन्धी कुछ अनुमानों के लिये देखिये प्रथम के लेक्चर्स पृ० ४८९ और बाद, और दूसरे का इण्डिशे स्टूडियन, भाग ५, पृ० २३४।

[३५१] १.१८१,४ में इनमें से एक को ही आकाश का पुत्र कहा गया है।

[३५२] इस पर भाष्यकार यह टिप्पणी करता है कि यद्यपि सूर्य और चन्द्रमा ही समुद्र से उत्पन्न हुये, तथापि यह उपाधि अश्विनो के लिये भी समान रूप से व्यवहृत हो सकती है क्योंकि ये कुछ लोगों के मत से सूर्य और चन्द्रमा के साथ समीकृत हैं (यद्यपि सूर्य-चन्द्रमसाव् एव समुद्रजौ तथाप्य अश्विनो· रेपाश्रित मते तद्रूपत्वात् तथात्वम्)।

एक स्थान, १.११९,२ पर सायण के अनुसार ऊर्जानी कहा गया है : सूर्यस्य दुहिता)[३८३] के साथ सम्बद्ध किया गया गया है, जिसने मित्र प्राप्त करने के उद्देश्य से इन दोनों का दो पतियों के रूप में वरण कर लिया था : १.११९,५ (आ वाम् पतित्वं सख्याय जग्मुषी योषाऽवृणित जेन्या युवाम् पती); ४.४३,६ (तद् रू षु वाम् अजिरं चेति यानं येन पती भवथः सूर्यायाः); ५.६६,३ (वि वं रथो वध्वा यादमानः अन्तान् दिवो बाघते वर्त्तनिभ्याम्); १०.३९,११ (न तं राजानाव् अदिते कुतश् चन न अंहःअश्नोति दुरितं नाकिर् भयम् । यम् अश्विना सुहवा रुद्रवर्त्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह)।[३८४] वह इनके रथ पर चढ़ना चाहती थी : १.३४,५; १.११६,१७; १.११७,१३ (युवो रथं दुहिता सूर्यस्य सह श्रिया नासत्याऽवृणीत); १.११८.५ (आ वां रथं युवतिस् तिष्ठद् अत्र जुष्टवी नरा दुहिता सूर्यस्व); ४.४३,१; ५.७३,५ (आ यद् वां सूर्या रथं तिष्ठत्); ६.६३,५; ७.६८,३; ७.६९,४; ८.८,१०; ८.२२,१; ८.२९,८ ।[३८५]

ऋग्वेद १.११६,१७ इस प्रकार है : आ वां रथं दुहिता सूर्यस्य कार्ष्मे-वातिष्ठद् अर्वता जयन्ती । विश्वे देवाः अन्व् अमन्यन्त हृद्भिः "स श्रिया नासत्या सचेथे ।" "सूर्य की पुत्री तुम्हारे रथ पर खड़ी हुई । उस समय तुम्हारे अश्वों ने तीव्र गति से दौड़कर मानो अपना अभीष्ट प्राप्त किया । तब देवों ने तुम्हारे कार्य का हार्दिक अनुमोदन करते हुये कहा : 'हे नासत्यो ! अपने को सौभाग्य से पूर्ण करो ।" इस स्थल पर सायण इस प्रकार टीका करते हैं : सविता स्व-दुहितरं सूर्याख्याम् सोमाय राज्ञे प्रदातुम् ऐच्छत् । तां सूर्यां सर्व देवाः वरयामासुः । ते अन्योन्यम् ऊचुर् "आदित्यम् अवधिं कृत्वा आजिं धावाम यो अस्माकम् उज्जेष्यति तस्य इयम् भविष्यति" इति । तत्र अश्विनाव् उदजयताम् । सा च सूर्या जितवतस् तयोः रथम् आरुरोह । "अत्र प्रजापतिर् वै सोमाय राज्ञे दुहितरम् प्रायच्छद्" इत्यादिकम् ब्राह्मणम् अनुसन्धेयम् । "सविता अपनी पुत्री सूर्या को राजा सोम की पत्नी बनाना चाहते थे । किन्तु विश्वेदेवों ने उसे प्राप्त करने की इच्छा से यह निश्चय किया कि जो एक दौड़ में सूर्य तक सर्वप्रथम पहुँचेगा वही उसे प्राप्त करेगा । सभी देवता इस पर सहमत हुये । तदनुसार अश्विनों ने इसे जीत लिया और सूर्या अश्विनों के रथ पर बैठ गई ।" सायण इस कथा को एक

---

[३८३] प्रो० रॉथ इस शब्द को 'ऊर्जा' का मूर्तीकरण मानते हैं ।

[३८४] 'पत्न्या सह' शब्द की रचना बहुत स्पष्ट नहीं है क्योंकि इनसे केवल स्तोता की पत्नी ही उद्दिष्ट हो सकती है ।

[३८५] देखिये ऋग्वे० ६.५८,२ भी ।

ब्राह्मण ग्रन्थ से उद्धृत करते हैं। इनकी टीका के शब्द वही हैं जो ऐत० ब्रा० ४.७ में सोम के साथ सूर्या के विवाह की कथा के प्रसङ्ग को आरम्भ करते हैं; किन्तु इस ब्राह्मण में कथा वही नहीं है जिसका सायण अपने भाष्य में सारांश देते हैं।

१०.८५,९ में भी अश्विनों के सन्दर्भ में सूर्या का उल्लेख है, जहाँ, फिर भी, ये उसके पति नहीं हैं—यह एक ऐसा तथ्य है जिसका ऊपर उद्धृत स्थलों के साथ विरोधत्व है। यह स्थल इस प्रकार है: ९. सोमो वधायुर् अभवत् अश्विनाऽस्ताम् उभा वरा। सूर्यां यत् पत्ये शंसन्तीम् मनसा सविताऽददात्। १४. यद् अश्विना पृच्छमानाव् अयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः। विश्वेदेवा अनु तद् वाम् अजानम् पुत्रः पितराव् अवृणीत् पूषा। "सोम सूर्या से विवाह करना चाहते थे। जब सविता ने पतिकामा सूर्या को उसके पति को देना चाहा तब अश्विनद्वय ही उसके पति निश्चित किये गये।[३८६] १४. हे अश्विनो! जब तुम दोनों ने तीन चक्रवाले रथ पर आरोहण किया और सूर्या के विवाह की बात जानकर उससे विवाह किया तब सब देवताओं ने तुम्हारे कार्य का अनुमोदन किया; उस पूषा ने तुम्हें स्वीकार किया।"[३८७]

सूर्य की पुत्री ९.१,६ में सोम के साथ सम्बद्ध है (पुनाति ते परिस्रुतं सोमं सूर्यस्य दुहिता), और ९.११३,३ में यह कहा गया है वर्षा से वृद्धि को प्राप्त होने के बाद वह सोम लाई (पर्जन्यवृद्धम् महिषं तं सूर्यस्य दुहिताऽऽभरत्)।

यदि हम सोम को इसी नाम का एक पौधा मानें तब इसके तथा सूर्या के बीच का सम्बन्ध बहुत स्पष्ट नहीं होता; किन्तु यदि सोम को चन्द्रमा मानें, जैसा कि यह १०.८५,३ में प्रत्यक्षतः प्रतीत होता है (जब वह पौधे को पीसते हैं तब जो उसका पान करता है वह यही समझता है कि उसने सोमपान किया है; किन्तु कोई भी उसका स्वाद नहीं पाता जिसे पुरोहित सोम के रूप में जानते हैं)[३८८] तब दोनों प्रकाशित देवताओं के सम्बन्ध के आधार पर सोम को सूर्य का जमाता माना जाना बहुत अस्वाभाविक नहीं है।

---

[३८६] तुकी० अवे० ११ ८,१।

[३८७] वेबर पूछते हैं (इण्डिशे स्टूडियम ५.१८३,१८७) कि क्या यहाँ पूषा वर, सोम, का द्योतक नहीं है। ६.५८,४ में यह कथन है कि देवों ने सूर्या पूषा को प्रदान की।

[३८८] देखिये सोम के खण्ड के अन्त में और वेबर: इण्डि० स्टू० ५.१७९।

आश्विनों को आकाश में या अवर अन्तरिक्ष में बहुत दूर से आनेवाला कहा गया है। इनसे यह स्तुति की गई है कि ये अन्य किसी उपासक को अपने को रोकने का अवसर न दें : १.२२,२ (दिविस्पृशा); १.४४,५ (आ नो यातं दिवो अच्छ पृथिव्याः मा वाम् अन्ये नि यमन् देवयन्तः); ८.५,३० (तेन नो वाजिनीवसू परावतश् चिद् आगतम्); ८.८,३,४.७ (७. आ नो यातं दिवस् परि अन्तरिक्षात्); ८.९,२; ८.१०,१; ८.२६,१७। अथवा ये विभिन्न और अज्ञात क्षेत्रों से आते हैं, वह चाहे ऊपर हो या नीचे, दूर हो या निकट; १ १८४,१; ५.७३,१ (यद् अद्य स्थः परावति यद् अर्वावति); ५.७४,१० (अश्विना यद् ह कर्हि चित् शुश्रुयातम् इम हवम्); ७ ७०,३; ७.७२,५ (आ पश्चाताद् नासत्या आ पुरस्ताद् आ अश्विना यातम् अधराद् उदक्तात्। आ विश्वतः); ८.१०,५ (यद् अद्य अश्विनाव् अपाग् यत् प्राक् स्थो वाजिनीवसू। यद् द्रुह्यवि अनवि तुर्वशे यदौ हुवे वाम् अथ मा आगतम्); ८ ६२,५। कभी-कभी उपासक इनके स्थान के सम्बन्ध में पूछता है : ५ ७४,२-३; ६.६३,१; ८.६२,४ (कुः स्थः कुह जग्मथुः कुह श्येनेव पेतथुः)। एक स्थान (८.८,२३) पर इनके तीन स्थान बताये गये हैं (त्रीणि पदानि आश्विनोर् आविः सन्ति गुहा परः)। उपयुक्ततः इनके प्रकट होने का समय आरम्भिक उषाकाल है, जब ये अपने रथ में अश्वों को सन्नद्ध करके अपने उपासकों की हवि प्राप्त करने के लिये पृथिवी पर उतरते हैं : १.२२,१ (प्रातर्युजा वि बोधयाश्विनौ); १ १४,१; ४.४५,२; ७.६७,२; ७.६९ ५, ७.७१,१-३; ७.७२,४; ७.७३,१; ८ ५,१-२; ८.९,१७; १०.३९,१२; १० ४०,१ ३; १०.४१,१-२; १०.६१,४। मैं इनमें से कुछ स्थलों को उद्धृत कर रहा हूँ। ७.६७,२ : अशोचि अग्निः समिधानो अस्मे उपो अदृश्रन् तमसश् चिद् अन्ताः। अचेति केतुर् उषसः पुरस्तात् श्रिये दिवो दुहितुर् जायमानः। ३. अभि वां नूनम् अश्विना सुहोता स्तोमैः सिषक्ति नासत्या विवक्वान्। "अग्नि हमारे लिये दीप्ति को धारण करते हैं। तब अन्धकार के सुदूरतम भाग भी दिखाई पड़ते हैं। आकाश की पुत्री उषा के सामने प्रकाश दिखाई पड़ा और सबको प्रकाशित करता हुआ ऊपर उठा। ३. अब अश्विनद्वय, जो ऋत्विज् हैं, स्तोत्रों द्वारा तुम्हारा आवाहन करते हैं," इत्यादि।

८.५,१ : दूराद् इहेव यत् सती अरुणप्सुर् अशिश्वितत्। वि भानुं विश्वधाऽतनत्। २. नृवद् दस्रा मनोयुजा रथेन पृथुपाजसा। सचेथे अश्विना उषसम्। "जब दूर रहते हुये अरुणवर्ण उषा इस प्रकार चमकती है मानों निकट ही हो, तब वह सभी दिशाओं में प्रकाश फैलाती है। २. हे

अद्भुतकर्मा अश्विनद्वय ! मनुष्यों के समान अपने मनोजवा रथ में बैठकर उषा, का अनुसरण करो और दूर तक प्रकाश फैलाओ।"

८.९,१७ : प्र बोधय उषः अश्विना। "हे महान् और दिव्य अश्विनद्वय, उषा उठो!" इत्यादि।

१०.३९,१२ : आ तेन यातं मनसो जवीयसा रथं यं वाम् रिभवश चक्रर् अश्विना। यस्य योगे दुहिता जायते दिव. उभे अहनी सुदिने विवस्वतः। "हे अश्विनीकुमारो! मन से भी वेगवान अपने उस रथ में आओ जिसे ऋभुओं ने तुम्हारे लिये बनाया था, और जिसको सन्नद्ध करने पर आकाशपुत्री उषा का जन्म होता है और दिन तथा रात्रि स्तोता के लिये शुभ हो जाते हैं।"

१०.६१,४ : कृष्णा यद् गोषु अरुणीषु सीदद् दिवो नपाताव् अश्विना हुवे वाम्। "जब अन्धकार अरुण गायों (उषा की रश्मियों) के बीच खड़ा होता है, तब आकाश के पुत्र, अश्विनो! मैं तुम्हारा आवाहन करता हूँ।"

१.३४,१० में यह कहा गया है कि सविता अपने देदीप्यमान रथ को उषा के पूर्व ही गतिमान करें (युवोर् हि पूर्वं सविता उषसो रथम् ऋताय चित्रं घृतवन्तम् इष्यति)।

अन्य स्थलों पर इनके समय की इतनी अच्छी तरह परिभाषा नहीं है। इस प्रकार १.१५७ में यह कथन है : अबोधि अग्निर् ज्मः उदेति सूर्यो वि उषाश् चन्द्रा मही आवो अर्चिषा। अयुक्षाताम् अश्विना यातवे रथम् प्रासावीद् देवः सविता जगत् पृथक्। "अग्नि जाग गये; सूर्य भी पृथिवी से उदित हो रहे हैं; महान और कान्तिमान उषा भी अपने प्रकाश-सहित उदित हो चुकी है; अश्विनों ने जाने के लिए अपना रथ सन्नद्ध कर लिया है; दिव्य सविता ने संसार के हर भाग को चैतन्य कर दिया है"। यहाँ उषा का तथा अश्विनों का प्रगट होना दोनों को ही सूर्योदय के साथ ही साथ बताया गया है। ७.७२,४ में भी स्थिति ऐसी ही : वि च इद् उच्छन्ति अश्विना उषसः प्र वाम् ब्रह्माणि कारवो भरन्ते। ऊर्ध्वम् भानुं सविता देवो आश्रेद् बृहद् अग्नयः समिधा जरन्ते। "उषा और अश्विन प्रगट हुये; कवि स्तुतियाँ समर्पित करते हैं; दिव्य सविता ने अपनी उच्च उज्ज्वलता प्राप्त कर ली है; अग्नि पूर्ण रूप से ईंधन-पूरित हैं।"

५.७६,३ में अश्विनों को भिन्न भिन्न समयों, प्रातःकाल, मध्याह्न, और सूर्यास्त, के समय आने के लिये आमन्त्रित किया गया है (उत आ यातम् संगवे प्रातर् अह्नो मध्यन्दिने उदिता सूर्यस्य)। ८.२२,१४, में इसी

प्रकार यह कहा गया है कि इनका सन्ध्या समय तथा उषाकाल दोनों ही समय आवाहन किया जाता है। फिर भी हमें उपासकों द्वारा अपने विभिन्न कृत्यों के लिये इन्हें विभिन्न समय पर आमन्त्रित करने से आश्चर्यान्वित होकर यह नहीं समझ लेना चाहिये कि प्रगट होने के इनके सामान्य समय के अतिरिक्त भी कुछ अन्य समयों को इनसे संयुक्त किया गया है।

यह बात असमाधानित प्रतीत हो सकती है कि अश्विनों जैसे अल्पपरिभाषित चरित्रवाले देवता, जिनका परिचायत्मक निश्चय तक इतना कठिन है, इतने पूर्व समय में भी ऋग्वेद के इतने अधिक सूक्तों में उपासना के विषय कैसे बन गये! कारण यह रहा हो सकता है कि इन्हें रात्रि के अन्धकार तथा संकटों के बाद लौटनेवाले दिन का पूर्वसूचक माना जाता था। कुछ स्थलों (८.३५,१६ और बाद) पर इन्हें अग्नि की ही भाँति दुष्टात्माओं को भगाने वाला कहा गया है (हतं रक्षांसि); ७.७३,४ (रक्षोहणा)।

अश्विनों को 'युवा' (७.६७,१०), 'प्रत्न' (६.६२,५), 'बभ्रू' (६.६२,५; ५.६३,१), मधुवर्णा (८.२६,६), शुभस्पति (८.२२,१४; १०.९३,६), शुभ्रा (७.६८,१), हिरण्यपेशसा (८.८,२), नृदू (६,६३,५), मनोजवसा (८.२२,१६), 'श्येनस्य चिज् जवसा नूतनेन आगच्छतम्' (५.७८,४), पुरू वर्पांसि अश्विना दधाना (१.११७,९) पुष्करस्रजा (१०.१८४,२, और अवे० ३.२२,४; शत ब्रा० ४.१,५,१६), शक्रा (१०.२४,४), पुरुशाकतमा (६.६२,५), रुद्रा (५.७५,३; १०.९३,७), मायिना अथवा मायाविना (६ ६३,५; १०.२४,४) और गम्भीर चेतसा (८.८,२) कहा गया है। ये मदच्युत होकर दौड़ते हैं (मदच्युता[369]: ८ २२,१६; ८.३५,१९) और एक हिरण्यवर्तनी अथवा रुद्रवर्तनी पथ में चलते हैं (५ ७५,३; ८.५,११; ८.८,१; ८ २२,१.१४; १०.३९,११)।[370]

इनके रथ, उसके हिरण्यवत अथवा सूर्यवत स्वरूप, तथा चक्रादि विभिन्न

---

[369] प्रो० रॉथ इस शब्द का "उत्तेजना से गतिशील होना" अनुवाद करते हैं। देखिये प्रो० मूलर: ऋग्वेद का अनुवाद १, पृ० ११८ भी।

[370] इनके लिये बहुधा प्रयुक्त दो उपाधियाँ 'दस्रा' और 'नासत्या' हैं। सायण के अनुसार प्रथम का अर्थ शत्रुओं का या रोगों का विनाशक (१.३,३) अथवा 'सुन्दर' (८ ७५,१) है। दूसरे, नासत्या शब्द को सायण यास्क की एक व्युत्पत्ति (६.१३) का अनुसरण करते हुये 'सत्या' का समकक्ष मानते हैं। बाद के साहित्य में दस्र और नासत्य दोनों अश्विनों के अलग-अलग नाम बन गये। देखिये मूलर: लेक्चर्स. २. पृ० ४९१।

भागों का विस्तार से उल्लेख है : १.१८०,१ (हिरण्यया: वाम् पवय:); ४.४४,४ ५ (हिरण्ययेन रथेन); ७.७७,३ (हिरण्यत्वक् रथ:); ८.५,२८. २६ ३५ (रथ हिरण्यवन्धुर हिरण्याभीशुम् अश्विना । आ हि स्थाथो दिविस्पृशम् । २९ हिरण्ययी वां रभिर् ईषा अक्षो हिरण्ययः । उभा चक्रा हिरण्यया); ८.८,२ (रथेन सूर्यत्वचा); ८.२२,९ । अपने इस रथ पर ये उसी प्रकार चलते हैं जैसे पक्षियों के पंख पर उड़ रहे हों : १.१८३,१ (येनो-पयाथ: सुकृतो दुरोणं त्रिधातुना पतथो विर् न पर्णै) । रथ को ऋभुओं ने बनाया था (१०.३९,१२) और यह एक मात्र रथ है जिसमें तीन चक्र हैं और कुछ अन्य भाग भी तीन-तीन ही हैं (त्रिवृत् । त्रिवन्धुर् । त्रय: पवय: । त्रय: स्कम्भास· स्कभितास: आरभे)[301] : १.३४,२.९; १.४७,२; १ १८८,१.२; १.१५७,३; ७.७१,४; ८.७४,८; १० ४१,१ ।

इनका यह रथ हल्का चलता है (रघुवर्त्तनि: ८.९,८) और मन से भी वेगवान (मनसो जवीयान् रथ:); १.११७,२; १.११८,१; ५.७७,३; ६.६३,७; १०.३९,१२; अथवा पलक झपकने से भी वेगवान (निमिषश् चिज् जवीयसा रथेन, ८.६२,२) है । यह सहस्रों ध्वजों और अलंकारों से सुसज्जित है (सहस्रकेतु, सहस्रनिर्णिज् ; १.११९,१; ८.८,११-१४), और इसमें सोने की लगाम हैं (८.२२,५) । इसे कभी कभी एकमात्र गदहे द्वारा खींचा जाने वाला कहा गया है, क्योंकि कम से कम एक स्थान (१.३४,९) पर 'रासभ'[302] शब्द की भाष्यकार ने स्पष्ट रूप से

---

[301] 'वन्धुर' शब्द की सायण ने विभिन्न प्रकारों से व्याख्या की है जैसे : 'नीडबन्धनाधारभूतम्' (१.३४,९ पर), 'उन्नतानतरूप-बन्धन-काष्ठम्' (१०.४७.२ पर); 'वेष्टितम् सारथे स्थानम्' (१.११८,१ पर), 'सारथ्या-श्रय स्थानम्' (१.१५७, ३ पर); 'सारथ्यधिष्ठान-स्थानम्' (७.७१.४); और 'त्रिवन्धुर' की 'त्रिफलकासंघटितेन (८ ७४,८ पर) । इस प्रकार इसका अर्थ या तो (१) 'तीन सीधे खड़े लकड़ी के टुकड़े' हो सकता है, अथवा (२) रथी के लिये तीन या त्रिविध खड़े होने का स्थान । १.३४,२ मे यह कहा गया है कि रथ में तीन खम्भे होते थे जिन्हे पकड़ा जाता था (त्रय: स्कम्भास: स्कभितास. आरभे), जिससे रथ के वेग से चलने पर रथी गिर न पड़े । यह बन्धुर के अनुकूल व्याख्या है । १.१८१,३ में इनके रथ को 'सुप्र-वन्धुर:' कहा गया है जो भाष्यकार के अनुसार = 'विस्तीर्ण—पुरोभाग.' है ।

[302] देखिये ऐतरेय ब्राह्मण (पृ० २७०—२७३, डा० हॉग का स०) का आख्यान । यहाँ (४ ७ ९) यह कहा गया है कि सोम और सूर्या के विवाह के समय यह निश्चय करने के लिये कि अश्विनों का शस्त्र किस का हो. देवगण

इसी अर्थ में व्याख्या की है (अश्वस्थानीयस्य गर्दभस्य)[373]: १.३४,९; १.११६,२; ८.७४,७ किन्तु अधिकांशतः इनके रथ को पक्षी, पक्षिवत्, श्येनवत्, हंसवत् अश्व ही खींचते हैं: १.४६,३ (यद् वां रथो विभिष पतत्); १.११७,२ (रथः स्वश्वः); १.११८,४ (आ वां श्येनासो अश्विना वहन्तु रथे युक्तासो अश्वः पतङ्गाः); १.१८०,१, (सुयमासः अश्वाः); १.१८१,२ (आ.वाम् अश्वासः शुचय'.... वहन्तु); ४.४५,४ (हंसासो ये वाम् मधुमन्तो अस्रिधो हिरण्यपर्णाः); ५.७४,९; ५.७५,५ (विभिश् च्यवानम् अश्विना नि याथः); ६.६३,६.७ (आ वां वयः अश्वासो वहिष्ठाः अभि प्रयो नासत्या वहन्तु); ७.६९,७;८.५,७,२२. ३३,३५ (तूयं श्येनेभिर् आशुभिः। यातम् अश्वेभिर् अश्विना। यद् वाम रथो विभिष् पतात्। आ इह वाम् पुरुपितप्सवो वयो वहन्तु पर्णिनः। द्रवत्पाणिभिर् अश्वैः), १०.१४३,५। ये एक मधुमत् कशा रखते हैं (कशा मधुमती, १.१२२,३; १.१५७,४[374]) और इनका रथ भुवनों को पार करता है (७.६८,३ : प्र वां रथो मनोजवाः इयर्त्ति तिरो रजांसि)।

१.३४ और बाद, में अश्विनों से हर कार्य को तीन-तीन बार करने के लिये अत्यन्त कल्पनापूर्ण शब्दों में निवेदन किया गया है, जैसे रात को तीन बार और दिन को तीन बार चलने (मंत्र २), सन्ध्या और प्रातःकाल के समय तीन-तीन बार अन्न देने (मंत्र ३), तीन बार धन देने (मंत्र ५) स्तोताओं की स्तुतियों में तीन बार सहायता करने (वही), तीन बार दिव्य ओषधियाँ देने, और तीन बार पार्थिव ओषधियाँ देने (मंत्र ६), इत्यादि के लिये कहा गया है।

एक दौड़ दौड़े। अश्विनो ने इसे प्राप्त किया यद्यपि कुछ अन्य देवो ने भी कुछ भाग लिया। अग्नि एक ऐसे रथ पर बैठकर दौड़े जिसमे खच्चर योजित थे (अश्वतरी रथेन अग्निर् आजिम् अधावत्)। उषा के रथ में लाल वृषभ थे। (गोभिर् अरुणैर् उषा आजिम् अधावत्)। इन्द्र के रथ मे अश्व थे (अश्व-रथेन इन्द्र आजिम् अधावत्), जब कि अश्विनद्वय गधो के रथ पर बैठकर पुरस्कार जीत ले गये (गर्दभ—रथेन अश्विना उदजयताम्)। तुकी० ऋग्वेद १.११६,२, जहाँ गदहे को विजेता बताया गया है।

[373] प्रो० बेनफे १ ११६,२ पर एक टिप्पणी मे इस आशय से सहमत होते हुये १.५३,५ का सन्दर्भ देते है जिसमें तथा ८.७४,३ मे सायण इस शब्द की एक फुंफकारते या हिनहिनाते अश्व के रूप मे व्याख्या करते हैं।

[374] देखिये नीचे। इन्द्रके पास एक सोने का चाबुक है (८.३३,११)।

अन्यत्र (२.३९,१ और बाद) इनकी विभिन्न युग्म वस्तुओं के साथ तुलना की गई है—वृक्ष पर बैठे दो गृध्रों, सूक्तों का पाठ करते हुये दो ऋत्विजों (मंत्र १), दो चकरों, दो सुन्दर स्त्रियों (मेने इवतन्वा शुम्भमाने) तथा पति और पत्नी के साथ (मंत्र २), दो चक्रवाकों के साथ (मंत्र ३), दो नौकाओं, दो कुत्तों के साथ (मंत्र ४), दो नेत्रों, दो हाथों, और दो पैरों के साथ (मंत्र ५), दो मधुभाषी अधरों, दो दुग्धा स्तनों, दो नासिकाओं और दो कर्णों के साथ (मंत्र ६), दो हंसों, दो श्येनो, दो मृगों, दो भैंसों, तथा एक ही पक्षी के दो डैनों के साथ (साकंयुजा शकुनस्येव पक्षा) तुलना की गई है; देखिये ५.७८,१–३; ८.३५७–९; १० १०६,२ और बाद भी।

ये मन्दतम और पृष्ठतम के तथा अविवाहित वृद्ध और ग्रस्त स्त्री के रक्षक हैं; ये भिषज[२७५] हैं जो अन्धों, लंगड़ों, अपाहिजों और बीमारों, को नेत्र, चलने की शक्ति, स्वास्थ्य, और शक्ति देते हैं : १.३४,६; १.११६,१६; १.१५७,६; ८ ९,६.१५, ८.१८,८; ८.२२,१०; ८ ७५,१; १०.३९,३.५ (अमाजुरश् चिद् भवथो युवम् भगो अनाशोश चिद् अवितारा अपमस्य चित्। अन्धस्य चित नासत्या कृशस्य चिद् युवाम् इद् आहुर् भिषजा रुतस्य चित्), १०.४०,८। देखिये अवे० ७.५३,१ भी जहाँ यह कहा गया है कि अश्विनद्वय देवभिषज् हैं, और स्तोताओं से मृत्यु को दूर भगाते हैं (प्रत्यौहताम् अश्विना मृत्युम् अस्मद् देवानाम् अग्ने भिषजा शचीभिः)।

ये सम्पूर्ण जीवों में गर्भ स्थित करते हैं और अग्नि, जलों तथा वृक्षों को उत्पन्न करते हैं : १.१५७,५ (युव ह गर्भं जगतीषु धत्थो युवं विश्वेष्व् भुवनेषु अन्तः। युवम् अग्नि च वृषणाव् अपश् च वनस्पतीन् अश्विनाव् ऐरयेथाम्)। ये विवाह, प्रजनन, और प्रेम क साथ सम्बद्ध हैं : १०.१८४,२ (=अ० ५.२५,६ : गर्भं ते अश्विनौ देवाव् आ धत्ताम् पुष्करस्रजा); १०.८५,२६ (अश्विना त्वा प्रवहतां रथेन। गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथाऽसः); अवे० २ ३०,२ (स चेन् नयाथो अश्विना स च वक्षथः); ६.१०२,१; १४.१,३५, १४.२,५। देखिये वेबर का इण्डिशे स्टूडियन ५ २१८, २२७,२३४।

(२) अश्विनों द्वारा उपकृत अथवा मुक्त विभिन्न व्यक्तियों के आख्यान

नीचे कुछ उन विधियों का उल्लेख किया जा रहा है जिनके अनुसार विभिन्न

---

[२७५] तैत्तिरीय ब्रा० ३.१,२,११ में अश्विनो को देव-भिषज् कहा गया है। ये लोग हविर्वाहक, जगत के दूत और अमरत्व के रक्षक हैं (यौ देवानाम् भिषजौ हव्यवाहौ विश्वस्य दूताव् अमृतस्य गोपौ)। इसके पहले वाले स्थल पर इन्हें अपने नाम के नक्षत्र (अश्वयुज्) के साथ सम्बद्ध किया गया है।

सूक्तों में अश्विनों की दिव्य शक्ति के प्रगट होने तथा अपने स्तोताओं को मुक्त करने का वर्णन किया गया है।

जब महर्षि च्यवन् वृद्ध और परित्यक्त हो गये तब इन लोगों ने उनके जर्जर शरीर को युवा बनाकर उन्हें दीर्घायुष्य दिया तथा पुनः युवक बना दिया जिससे उनकी पत्नी नें उन्हें ग्रहण कर लिया : १.११६,१० (जुजुरुषो नासत्या उत वव्रिम् प्रामुञ्चतं द्रापिम् इव च्यवानात् । प्रातिरत जहितस्यायुर् दस्रा आद् इत् पतिम् अकृणुत कनीनाम्); १.११७,१३ (युवं च्यवानम् अश्विना जरन्तम् पुनर् युवानं चक्रथुः शचीभिः); १.११८,६; ५.७४,५ (प्र च्यवानाज् जुजुरुषो वव्रिम् अत्कं न मुञ्चथः । युवा यदि कृथः पुनर् आ कामम् ऋण्वे वध्वः); ७.६८,६; ७.७१,५; १०.३९,४ ।

इस कथा का शतपथ ब्राह्मण के एक स्थल पर और विस्तार से वर्णन है, जिसे आगे उद्धृत किया जायगा।

इसी प्रकार, इन लोगों ने वृद्ध हो जाने पर कलि[३७६] को भी युवा बनाया था : १०.३९,८ (युवं विप्रस्य जरणाम् उपेयुषः पुनः कलेर् अकृणुतं युवद् वयः) : तुल० १.११२,१५, जहाँ यह कहा गया है कि कलि का एक स्त्री से विवाह हो जाने के बाद इन लोगों ने उसे अपना मित्र बना लिया (कलिं याभिर् वित्तजानिं दुवस्यथः)।

ये लोग एक रथ पर बैठाकर युवा विमद[३७७] के लिये कमद्यू नामक वधू लाये जो पुरुमित्र की सुन्दर पत्नी रही प्रतीत होती है : १,११२,१९ (याभिर् पत्नीर् विमदाय न्यूहथुः); १.११६,१ (या अर्भगाय विमदाय जायां सेनाजुवा न्यूहतुः); १०.६५,१२ (कमद्युवम् विमदाय ऊहथुः); १.११७,२० (युवं शचीभिर् विमदाय जायां नि ऊहथुः पुरुमित्रस्य योषाम्); १०.३९,७ (युवं रथेन विमदाय शुन्ध्युवं नि ऊहथुः पुरुमित्रस्य योषणाम्)। १.११७,२० पर सायण 'योषाम् = कुमारीम्' टीका करते हैं जिससे उनका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि कामद्यू राजा पुरुमित्र की पुत्री थी, किन्तु 'योषा' अधिकतर पत्नी का द्योतक ही प्रतीत होता है।

इन लोगों ने कृष्ण ऋषि के पुत्र विश्वक को पशु के समान खोये हुये पुत्र विष्णापू से मिला दिया : १.११६,२३ (अवस्यते स्तुवते कृष्णियाय ऋजूयते नासत्या शचीभिः । पशुं न नष्टम् इव दर्शनाय विष्णाप्वं ददथुर् विश्वकाय); १.११७,७; १०.६५,१२ ।

---

[३७६] ८.५५,१५ में कलियों के परिवार का उल्लेख है।

[३७७] इसी नाम के एक ऋषि का ऋग्वेद ८.९,१५; १०.२०,१०; १०.२३,८; में तथा विमदों को १०.२३,६ में उल्लेख है।

विश्वक और विष्णापू, दोनों के ही नाम ऋग्वेद ८.७५,१-३ में भी आते हैं, जो सूक्त अश्विनों को ही सम्बोधित है। यहाँ भी भाष्यकार इनके सन्दर्भ को उपरोल्लिखित आख्यान के साथ ही सम्बद्ध करता है।

अश्विनों के एक जिस अन्य कर्म की चर्चा की गई है वह है तुग्र के पुत्र भुज्यु की ओर से हस्तक्षेप, जिसका एक अस्पष्ट रूप से ही ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में वर्णन है : १.११६,३ और बाद (तुग्रो ह भुज्युम् अश्विना उदमेघे रयिं न कश्चित् ममृवान् अवाहाः। तम् ऊहथुर् नौभिर् आत्मन्वतीभिर् अन्तरिक्षप्रुद्भिर् अपोदकाभिः। ४. तिस्रः क्षपस् त्रिर् अहा अतिव्रजद्भिर् नासत्या भुज्युम् ऊहथुः पतंगैः। समुद्रस्य धन्वन्न् आर्द्रस्य पारे त्रिभिः रथैः शतपद्भिः षळश्वैः। ५. अनारम्भणे तद् अवीरयेथाम् अनास्थाने अग्रभणे समुद्रे। यद् अश्विना ऊहथुर् भुज्युम् अस्तम् शतारित्रां नावम् आतस्थिवांसम्। "तुग्र ने भुज्यु को समुद्र में उसी प्रकार छोड़ दिया जैसे मृतक धन को छोड़ देता है। हे अश्विनौ! तुम उसे अपनी अन्तरिक्षगामिनी नौकाओं द्वारा ले आये। ४. हे असत्य रहित अश्विनद्वय! तुम तीन रात और तीन दिन तक द्रुतगति से चलते हुये रथ द्वारा भुज्यु को समुद्र के पार शुष्क स्थान पर ले आये। ५. अश्विद्वय! तुमने निराधार समुद्र में पड़े भुज्यु को सौ डाँडों वाली नौका सहित घर पहुँचाया। यह तुम्हारा अत्यन्त वीरतापूर्ण कार्य है।" ऋग्वेद १.११७,१४ और बाद : युवम् भुज्युम् अर्णसो निः समुद्राद् विभिर् ऊहथुर् ऋज्रेभिर् अश्वैः। १५. अजोहवीद् अश्विना तौग्र्यो वाम् प्रोळ्हः समुद्रम् अव्यथिर् जगन्वान्। निष्टम् ऊहथु सुयुजा रथेन मनोजवसा वृषणा स्वस्ति। "हे अश्विद्वय! तुम पक्षी की गति से उड़नेवाले अश्वों द्वारा भुज्यु को समुद्र से निकाल कर लाये १५ हे अश्विद्वय! तुग्र पुत्र ने बारम्बार तुम्हारा आवाहन किया। वह समुद्र में बहता हुआ भी पीड़ा से रहित था। उसे अत्यन्त वेगवान रथ से तुम निकाल लाये।" पुनः १.१८२,५ और बाद, में यह कथन है : युवम् एतं चक्रथुः सिन्धुषु प्लवम् आत्मन्वन्तम् पक्षिणं तौग्र्याय कम्। ६. अवविद्धं तौग्र्यम् अप्सु अन्तर् अनारम्भणे तमसि प्रविद्धम्। चतस्रो नावो जठलस्य जुष्टाः उद् अश्विभ्याम् इषिताः पारयन्ति। ७. कः स्विद् वृक्षो निष्ठितो मध्ये अर्णसो य तौग्र्यो नाधितः पर्यषस्वजत। पर्णा मृगस्य पतरोर् इवारभे उद् अश्विना ऊहथुः श्रोमताय कम्। "हे अश्विद्वय! तुमने तुग्र के पुत्र के लिये नौका बनाकर रक्षा की; उस देवताओं के प्रेमी को समुद्र से उबार लिया। ६. जलों में सिर के बल गिरे हुये निराश्रित तुग्र के पुत्र को

अश्विनों की चार नावें[378] प्राप्त हुईं। ७. वह कौन सा वृक्ष था जिससे समुद्र में गिरा हुआ तुग्र का पुत्र चिपट गया। हे अश्विनों! तुमने यश प्राप्ति के लिये उसे बचाया।" ७.६८,७ में यह कहा गया है कि भुज्यु को उसके दुष्ट साथियों ने समुद्र के मध्य में छोड़ दिया था (उत त्यम् अश्विना सखायो मध्ये जहुर् दुरेवासः समुद्रे)। १.११२,६-२०; १.११८,६; १.११९,४; १.१५८,३; ६.६२,६; ७.६९,७; ८.८,२२; १०.३९,४; १०.४०,७; १०.६५,१२; १०.१४३,५ में इसी कथा का उल्लेख है।

पुनः, जब विश्पला का पैर युद्ध में किसी पक्षी के पंख की भांति कट गया तब अश्विनों ने उसे एक लोहे का पैर दे दिया: ऋग्वेद १.११२,१०; १.११६,५ (चरित्रं हि वेर् इवाच्छेदि पर्णम् आजा खेलस्य परितक्म्याम्। सद्यो जंघाम् आयसीं विश्पलायै धने हिते सर्तवे प्रत्य् अधत्तम्); १.११७,११; १.११८,८; १०.३९,८।[379]

इन अश्विनों ने उस ऋज्राश्व को नेत्रदान दिया था जिसे उसके पिता ने एक सौ एक भेड़ों को काट कर एक भेड़िये के भक्षण के लिये दे देने के कारण अन्धा कर दिया था। इस पर उस भेड़िये की स्त्री ने अपने इस अन्धे दाता पर कृपा करने के लिये अश्विनों की स्तुति की थी: १.११६,१६; १.११७,१७ और बाद (शतम् मेषान् वृक्ये मामहानं तमः प्रणीतम् अशिवेन पित्रा। आ अक्षी ऋज्राश्वे अश्विनाव् अधत्तं ज्योतिर् अन्धाय चक्रथुर् विचक्षे। १८. शुनम् अन्धाय भरम् अह्वयत् सा वृकीर् अश्विना "वृषणा नरा" इति। जारः कनीनः इव चक्षदानः ऋज्राश्वः शतम् एकं च मेषान्)। १.१००,१७ में अन्य लोगों के साथ एक ऋज्राश्व का उल्लेख है जो इन्द्र की स्तुति करता है।

इन लोगों ने परावृज् (एक अजाती) को, जो अन्धा और लँगड़ा था, देखने और चलने की शक्ति दी थी; १.११२,८ (याभिः शचीभिर् वृषणा परावृजम् प्र अन्ध श्रोण चक्षसे एतवे कृथः)। २.१३,१२ और २.१५,७ में परावृज् इन्द्र के साथ सम्बद्ध है।

दुष्टों ने रेभ मुनि को बाँध कर एक कूयें में छिपा दिया था जहाँ वह दस रातों और नौ दिनों तक पड़े-पड़े मरणासन्न हो गये थे। अश्विनों ने उन्हें उसी प्रकार ऊपर खींच लिया जैसे सोम-रस स्रुवा से निकाला जाता है: १.११२,५ (याभि. रेभं निवृतं सितम् अद्भ्यः उद् वन्दनम् ऐरयत स्वर् दृशे);

---

[378] 'जठल' का आशय स्पष्ट नहीं है।

[379] तुलना ऋग्वेद १ १८२,१ में 'विश्पलावसु' शब्द।

१.११६,२४ (दश रात्रिर् अशिवेन नव द्यून् अवनद्धं श्नथितम् अप्सु अन्तः । विप्रुतं रेभम् उदनि प्रवृक्तम् उन् निन्यथुः सोमम् इव स्रुवेण । तु० १.११७,१२); १.११७,४ (अश्वं न गूळ्हम् अश्विना दुरेवैर् ऋषिं नरा वृषणा रेभम् अप्सु । तं सं रिणीथो विप्रुतं दंसोभिः); १.११८,६; १.११९,६; १०.३९,९ (युवं ह रेभं वृषणा गुहा हितम् उद् ऐरयतम् ममृवांसम् अश्विना)।

इन लोगों ने वन्दन को भी एक ऐसी विपत्ति से मुक्त कराया था जिसकी प्रकृति अधिकांश स्थलों में अस्पष्ट ही है। इन लोगों ने वन्दन को पुनः सूर्य के प्रकाश में पहुँचा दिया था : १.११२,५; १.११६,११; १.११७,५; १.११८,६। १०.३९,८ में यह कहा गया है कि इन लोगों ने उसे एक गड्ढे से बाहर निकाला था[३८०] (युवं वन्दनम् ऋश्यदाद् उद् ऊपथुः)। १.११९,६ ७ के अनुसार, फिर भी, ऐसा प्रतीत होता है कि वन्दन को इन लोगों ने उसी प्रकार अत्यन्त जर्जरत्व से मुक्त किया था जिस प्रकार एक बढ़ई किसी रथ का पुनर्निर्माण करता है (प्र दीर्घेण वन्दनस् तारि आयुषा । ७. युवं वन्दनं निर्ऋतं जरण्यया रथं न दस्रा करणा समिन्वथः)।

इसी प्रकार अश्विनों ने अपने एक पज्रवंशी उपासक कक्षीवत् को भी बुद्धि प्रदान की थी और वीर्यवान् अश्व के खुर रूपी गड्ढे से जलों की वर्षा की : १.११६,७ (युवं नरा स्तुवते पज्रियाय कक्षीवते अरदतम् पुरन्धिम् । कारोतराच् छफाद् अश्वस्य वृष्णः शतं कुम्भान् असिञ्चतं सुरायाः); १.११७,६ (तद् वां नरा शंस्यम् पज्रियेण कक्षीवता नासत्या परिज्मन् । शफाद् अश्वस्य वाजिनो जनाय शतं कुम्भाँ असिञ्चतम् मधूनाम् ।

जब राक्षसों की माया से एक तप्त गर्त[३८१] में अपने साथियों सहित गिरे अत्रि महर्षि ने अश्विनों का आवाहन किया तब इन लोगों ने शीघ्रता से उपस्थित होकर उस गर्त की तप्तता को शीतलता में बदल दिया और उस दुःखद स्थिति से अत्रि को निकालने के पूर्व उन्हें भोजन आदि देकर स्वस्थ बना दिया : १.११२,७, १.११६,८ (हिमेनाग्निं घ्रंसम् अवारयेथाम् पितुमतीम् ऊर्जम् अस्मै अधत्तम् । ऋबीसे अत्रिम् अश्विनाऽवनीतम् उन् निन्यथुः सर्वगणं स्वस्ति), १.११७,३ (ऋषिं नराव् अंहसः पाञ्चजन्यम् ऋबीसाद् अत्रिम् मुञ्चथो गणेन । मिनन्ता दस्योर् अशिवस्य मायाः);

---

[३८०] बॉटलिङ्क और रॉथ ने 'ऋश्यद' शब्द की व्याख्या मृगों को भगाने के लिये खुदे गड्ढे के रूप में की है।

[३८१] देखिये प्रो० रॉथ की 'ऋबीस' और 'घर्म' शब्दों की व्याख्या उनके निरुक्त ६.३६ में।

१.११८,७; १.११९,६; ५.७८,४–६ (अत्रिर् यद् वाम् अवरोहन्न् ऋबीसम् अजोहवीद् नाधमानेव योषा। श्येनस्य चिज् जवसा नूतनेन आगच्छतम् अश्विना शन्तमेन); ७.७१,५; ८.६२,३.७–९; १०.३९,९ (युवम् ऋबीसम् उत तप्तम् अत्रये ओमन्वन्तं चक्रथुः सप्तवध्रये)। १०.८०,३ में अत्रि को मुक्त कराने का श्रेय अग्नि को दिया गया है (अग्निर् अत्रिं घर्मे उरुष्यद् अन्तः)।

इन लोगों ने बुद्धिमती वध्रिमती का आवाहन सुनकर उसे हिरण्यहस्त नामक पुत्र प्रदान किया। १.११६,१३; १.११७,२४ (हिरण्यहस्तम् अश्विना रराणा पुत्रं नरा वध्रिमत्यै अदत्तम्); ६.६२,७; १०.३९,७)

इन लोगों ने अपने पिता के ही गृह में जरावस्था को प्राप्त हो रही घोषा को एक पति प्रदान किया : १.११७,७ (घोषायै चित् पितृषदे दुरोणे पतिं जुर्यन्त्यै अश्विनाव् अदत्तम्); १०.३९,३.६; १०.४०,५; १.११७,७ पर भाष्यकार के अनुसार इन लोगों ने घोषा को कुष्ठ रोग से भी मुक्त किया। [illegible])

इन लोगों ने शयु की गाय को, जिसने दूध देना बन्द कर दिया था, पुनः दूध देनेवाली बनाया : १.११६,२२; १.११७,२० (अधेनुं दस्रा स्तर्यं विषक्ताम् अपिन्वत शयवे अश्विना गाम्); १.११८,८; १.११९,६; १०.३९,१३।

इन लोगों ने पेदु को एक शक्तिशाली, वेगवान्, श्वेत अश्व दिया जो इन्द्र द्वारा वर्धित और इन्द्र के ही समान अतुलनीय शक्तिवाला था। इस अश्व ने पेदु के सब शत्रुओं को पराजित करके उनके लिये असीम पराक्रम का अर्जन किया : १.११६,६; १.११७,९ (पुरु वर्पांसि अश्विना दधाना नि पेदव ऊहथुर् आशुम् अश्वम्। सहस्रसां वाजिनम् अप्रतीतम् अहिहनं श्रवस्यं तरुत्रम्); १.११८,९ (युवं श्वेतम् पेदवे इन्द्रजूतम् अहिहनम् अश्विनाऽदत्तम् अश्वम्); १.११९,१० (इन्द्रम् इव चर्षणीसहम्); ७.७१,५; १०.३९,१०।

अन्त में अन्यान्य व्यक्तियों की रक्षा करनेवाले अश्विनों ने (१.११२, ११६,११७,११८,११९) अपनी उदारता को केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रक्खा बल्कि एक भेड़िये के मुख से एक पक्षी को भी, जिसने इनका आवाहन किया, मुक्ति दिलाया था : १.११६,१४; १.११७,१६; १.११८,८; १०.३९,१३ (वृकस्य चिद् वर्तिकाम् अन्तर् आस्याद् युवं शचीभिर् ग्रसिताम् अमुञ्चतम्)।

रेभ, वन्दन, परावृज्, भुज्यु, च्यवन् और अन्य की मुक्तियों तथा उद्धारों

की प्रो० बेनफे (डा० कुन और मैक्समूलर का अनुसरण करते हुये) ने सूक्तों के अपने अनुवाद के साथ टीका में व्याख्या की है। आपका कहना है कि ये सभी किसी न किसी भौतिक घटना को व्यक्त करते हैं जिनके साथ सूक्तकार अश्विनों को सम्बद्ध मानते थे। किन्तु व्याख्या की यह काल्पनिक विधि उपयुक्त नहीं प्रतीत होती, क्योंकि यह मानना कठिन है कि घटना को इतने अधिक विविध नामों और स्थितियों के द्वारा भी व्यक्त किया गया हो सकता है। अतः अधिक सम्भाव्य यह प्रतीत होता है कि ऋषियों ने केवल कुछ ऐसे आख्यानों का उल्लेख मात्र किया है जो उल्लिखित नामों के साथ अश्विनों के हस्तक्षेपों के सम्बन्ध में प्रचलित थे। परावृज् शब्द (१.११२,८ में) की, जिसे भाष्यकार एक व्यक्तिवाचक नाम मानता है, और जिसको प्रो० मूलर[२८२] तथा बेनफे ने लौटने के अर्थ में अथवा अस्त होनेवाले सूर्य के अर्थ में व्याख्या की है, प्रो० रॉथ ने अपने कोश (वस्था०) में 'एक जाति-च्युत' के रूप में व्याख्या की है।

(३) अन्य देवताओं के साथ अश्विनों का सम्बन्ध

८.२६,८ में अश्विनों का इन्द्र के साथ आवाहन किया गया है (इन्द्र-नासत्या), जिनके साथ वे १० ७३,४ में भी सम्बद्ध हैं और जिनके रथ पर इन्हें एक स्थान पर आरूढ़ भी बताया गया है। अन्यत्र ये लोग वायु अथवा, ऋभुओं के साथ हैं, अथवा विष्णु के पादप्रक्षेप में भाग लेते हैं: ८.९.१२ (यद् इन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः समोकसा। यद् आदित्येभिर् ऋभुभिर् यद् वा विष्णोर् विक्रमणेषु तिष्ठथः)। १.१८२,२ में यह कहा गया है कि इनमें इन्द्र के सभी गुण (इन्द्रतमा) तथा मरुतों के सभी गुण (मरुत्तमा) अत्यधिक मात्रा में विद्यमान हैं: १०.१३१,४.५ में इन लोगों को असुर नमुचि के साथ इन्द्र के युद्ध में इन्द्र की सहायता करनेवाला कहा गया है। ये वृत्र का वध करने-वाले भी हैं (वृत्रहन्तमा: ८.८,२२)। अन्य देवता इनके आगमन की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा करते हैं: १०.२४,५ (विश्वे देवाः अकृपन्त समी-च्योर् निष्पतन्त्योः)।

(४) स्तोताओं के साथ अश्विनों का सम्बन्ध

अश्विनों की उत्तान हस्त उपासना होती है (६.६३,३; उत्तान-हस्तो युवयुर् ववन्द), और अनेक प्रकार की कामनाओं, जैसे दीर्घायुष्य, और विपत्तियों से मुक्ति आदि के लिये (१.१५७,४: प्रायुस्

[२८२] ऐक्सपर्ट्स ऑन लैंग्वेजेज, २-५१२।

तारिष्टं निः रपांसि मृक्षतम्), सन्तान, धन, विजय, शत्रुओं के विनाश, स्तोता की रक्षा, तथा उसके गृह, और पशुओं की रक्षा के लिये इनकी स्तुति की गई है : ७.६७,६; ८.८,११,१५ १७; ८.९,११.१३; ८.२६,७; ८.३५,१० और बाद। हवि न देनेवाले प्राणियों को पराजित और नष्ट करने तथा इनकी स्तुति करनेवाले बुद्धिमानों के लिये प्रकाश की सृष्टि करने के लिये इनका आवाहन किया गया है : १.१८२,३ (किम् अत्र दस्रा कृणुथः किम् आसाथे जनो यः कश्चिद् अहविर् महीयते। अति क्रमिष्टं जुरतम् पणेर् असुं ज्योतिर् विप्राय कृणुतं वचस्यवे)।

जिसके रथ को ये धारण देते हैं उस व्यक्ति को किसी प्रकार की भी विपत्ति या शंका का स्पर्श नहीं होता : १०.३९,११[383] (न तं राजानाव् अदिते कुतश्चन न अंहो अश्नोति दुरितं नकिर् भयम्। यम् अश्विना सुहवा रुद्रवर्तनी पुरोरथं कृणुथः पत्न्या सह)। ऋषि इन्हें उसी प्रकार सम्बोधित करते हैं जैसे एक पुत्र अपने पिता को ७.६७,१ (सूनुर् न पितरा विवक्मि)। १०.३९,६ में एक स्त्री उपासिका, जो अपने को मित्ररहित और त्यक्त कहती है, इनसे अपने प्रति उसी प्रकार व्यवहार करने की प्रार्थना करती है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों के प्रति करता है, और इनसे अपने को विपत्तियों से बचाने का निवेदन करती है (इयं वाम् अह्वे शृणुतं मे अश्विना पुत्रायेव पितरा मह्यं शिक्षतम्। अनापिर् अज्ञा असजात्या अमतिः पुरा तस्याः अभिशस्तेर् अव स्पृतम्)। एक अन्य स्थान (८.६२,११) पर ऐसा प्रतीत है कि स्तोताओं का आवाहन सुनकर दो वृद्ध व्यक्तियों के समान मन्दगति से आने के लिये इनकी कुछ भर्त्सना-सी की गई है (किम इदं वाम् पुराणवज् जरतोर् इव शस्यते)। ७.७२,२ में ऋषि इनकी कृपा पाने के अपने वंशागत अधिकार की चर्चा करता हुये इनके साथ अपने एक प्राचीन सम्बन्ध[384] का संकेत करता है (युवोर् हि नः सख्या पित्र्याणि समानो बन्धुर् उत तस्य वित्तम्)।

अन्य देवों की ही भाँति अश्विनों को भी सोमप्रेमी कहा गया है (३.५८,७,९; ४.४५,१-३; ८.८,५; ८.३५,७.९) और इन्हें उषा तथा

[383] तुकी० जहाँ इन्द्र से स्तोता के रथ को पीछे से आगे लाने का निवेदन है (८.६९,४ और बाद)।

[384] भाष्यकार यह कहकर व्याख्या करता है कि विवस्वत् और वरुण दोनो ही कश्यप और अदिति के पुत्र थे, तथा विवस्वत् अश्विनो के पिता हुये जब कि वरुण के पुत्र इस सूक्त के ऋषि वसिष्ठ हुये।

सूर्य के साथ आकर सोमपान करने के लिये आमन्त्रित किया गया है (८.३५,१ और बाद)।

(५) शतपथ ब्राह्मण तथा महाभारत के अनुसार च्यवन और अश्विनों का आख्यान

अश्विनों द्वारा च्यवन के उपचार से सम्बद्ध आख्यान का निम्नलिखित रूप शतपथ ब्राह्मण में मिलता है : ४ १,५,१ : यत्र वै भृगवो वा अङ्गिरसो वा स्वर्गं लोकं समाश्नुवत तत् च्यवनो वा भार्गविश् च्यवनो वा अङ्गिरसश् तद् एव जीर्णिः कृत्यारूपो जहे। २. शर्यातो ह वै इदम् मानवो ग्रामेण चचार। स तद् एव प्रतिवेशो निविविशे। तस्य कुमाराः क्रीडन्तः इमं जीर्णि कृत्यारूपम् अनर्थ्यम् मन्यमानाः लोष्टैर् विपिपिषुः। ३. स शार्यातेभ्यश् चुक्रोध। तेभ्योऽसंज्ञां चकार पिता एव पुत्रेण युयुधे भ्राता भ्रात्रा। ४. शर्यातो ह ईक्षाञ्चक्रे यत् "किम् अकरं तस्माद् इदम् आपदि" इति। स गोपालाश्ंच अविपालांश् च संह्वयितवै उवाच। ५. स ह उवाच "को वो अद्य इह किञ्चिद् अद्राक्षीद्" इति। ते ह ऊचुः "पुरुषः एव अय जीर्णिः कृत्यारूपः शेते। तम अनर्थ्यम् मन्यमानाः कुमाराः लोष्टैर् व्यपिक्षन" इति। स विदाञ्चकार "स वै च्यवनः" इति। ६ स रथं युक्त्वा सुकन्यां शार्यातीम् उपाधाय प्रसिष्यन्द। स आजगाम यत्र ऋषिर् आस तत्। ७. स ह उवाच "ऋषे नमस् ते। यन् न अवेदिष तेन अहिंसिषम्। इय सुकन्या। तया ते अपह्नुवे। संज्ञानीताम् मे ग्रामः" इति। तस्य ह तत एव ग्रामः संजज्ञे। स ह ततः एव शर्यातो मानवः उद्युयुजे "न इद् अपरं हिनसानि" इति। ८. अश्विनौ ह वै इदम् भिषज्यन्तौ चेरतुः। तौ सुकन्याम् उपेयतुः। तस्याम् मिथुनम् ईषाते। तन् न जज्ञौ। ९. तौ ह ऊचतुः "सुकन्ये कम् इम जीर्णि कृत्यरूपम् उपशेषे। आवाम् अनुप्रेहि" इति। सा ह उवाच "यस्मै माम् पिता अदाद् न तं जीवन्त हास्यामि" इति। तद् ह अयम् ऋषिर् आजज्ञौ। १०. स ह उवाच "सुकन्ये कि त्वा एतद् अवोचताम्" इति। तस्मै एतद् व्याचचक्षे। स ह व्याख्यातः उवाच "यदि त्वा एतत् पुनर् ब्रूतः मा त्वम् ब्रूताद् 'न वै सुसर्वाविव स्थो न सुसमृद्धाव् इव अथ मे पतिं निन्दथ.' इति। तौ यदि त्वा ब्रूतः 'केन आवम् असर्वौ स्थः केन असमृद्धाव्, इति। सा त्वम् ब्रूतात् 'पतिं नु मे पुनर् युवानं कुरुतम् अथ वां वक्ष्यामि' इति"। ताम पुनर् उपेयतुस् तां ह एतद् एव ऊचतुः। ११. सा ह उवाच "न वै सुसर्वाव् इव स्थो न सुसमृद्धाव् इव अथ मे पतिं निन्दथः" इति। तौ ह ऊचतुः

"केन आवम् असर्वौ स्वः केन समृद्धाव" इति। सा ह उवाच "पतिं नु मे पुनर् युवाणं कुरुतम् अथ वां वक्ष्यामि" इति। १२. तौ ह ऊचतुर् "एत ह्रदम् अभ्यवहर। स येन वयसा कमिष्यते तेन उदैष्यति" इति। तं ह्रदम् अभ्यवजहार। स येन वयसा चकमे तेन उदेयाय। १३. तौ ह ऊचतुः "सुकन्ये केन आवम् असर्वौ स्वः केन असमृद्धाव" इति। तौ ह ऋषिर् एव प्रत्युवाच "कुरुक्षेत्रे अमी देवाः यज्ञं तन्वते। ते वां यज्ञाद् अन्तर्यन्ति। तेन असर्वौ स्थस् तेन असमृद्धाव" इति। तौ ह ततः एव अश्विनौ प्रेयतुः। ताव् आजग्मतुर् देवान् यज्ञं तन्वानान् स्तुते बहिष्पवमाने। १४. तौ ह ऊचतुर् "उप नौ ह्वयध्वम्" इति। ते ह देवाः ऊचुर् "न वाम् उपह्वयिष्यामहे। बहु मनुष्येषु संसृष्टम् अचारिष्टम् भिषज्यन्ताव्" इति। १५. तौ ह ऊचतुर् विशीर्ष्णा वै यज्ञेन यजध्वे" इति। "कथं विशीर्ष्णा" इति। "उप नौ ह्वयध्वम् अथ वो वक्ष्याव." इति। "तथा" इति। ता उपाह्वयन्त ताभ्याम् एतम् आश्विनं ग्रहम् अगृह्णंस् ताव् अध्वर्यू यज्ञस्य अभवताम्। ताव् एतद् यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्।

"जब भृगुगण अथवा अङ्गिरसगण स्वर्गलोक पहुँच गये तब भृगुवंशी च्यवन अथवा अंङ्गिरसवंशी च्यवन, जिन्होंने जीर्ण रूप प्राप्त कर लिया था, त्याग दिये गये। मनुवंशी शर्यात अपनी सेना सहित इस लोक में विचरण करता हुआ आया और च्यवन के निकट ही देश में बस गया। उसके कुमारों ने क्रीडा करते हुये इस जीर्ण शरीर को व्यर्थ समझ कर इस पर ढेले फेंका। च्यवन इस पर शर्यात के पुत्रों पर क्रुद्ध हो उठे। उन्होंने कुमारों के बीच भेद उत्पन्न कर दिया, जिससे पिता पुत्र से और भ्राता भ्राता से युद्ध करने लगे। शर्यात ने विचार किया: 'मैंने क्या किया है जिससे हम लोगों पर यह विपत्ति आ पड़ी है?' उसने गोपालों और अजपालों को बुलाकर कहा: 'तुममें से किसी ने आज यहाँ किसी वस्तु को देखा है?' उन सब ने उत्तर दिया: 'यह जीर्णाकृत शरीर जो वहाँ पड़ा है एक मनुष्य है। उसे व्यर्थ समझ कर कुमारों ने उस पर ढेले फेंके थे।' शर्यात तब यह जान गये कि वह च्यवन हैं। उन्होंने अपना रथ सन्नद्ध कराया और अपनी कन्या, सुकन्या, को लेकर उस स्थान पर आये जहाँ ऋषि पड़े थे। उन्होंने कहा: 'हे महर्षि! मैं आपको प्रणाम करता हूँ। मैंने अनजान में आपको क्षति पहुँचाई है। यह सुकन्या है। इसको साथ लेकर मैं आपको प्रसन्न कर रहा हूँ। मेरे प्रजा में पुनः सहयोग की भावना आ जाय।' फलस्वरूप उसकी प्रजा में फिर शान्ति फैल गई; और मनुवंशी शर्यात वहाँ से यह कह कर विदा हुये कि 'कहीं मुझसे इसका कोई अपराध न हो जाय।' अब, अश्विनद्वय भी उपचार करते हुये इसी लोक

में विचरण कर रहे थे। ये लोग सुकन्या के पास आये और उससे मैथुन की कामना की, किन्तु सुकन्या सहमत नहीं हुई। लोगों ने सुकन्या से कहा : 'हे सुकन्ये! यह जीर्णीकृत शरीर किसका है जिसके पास तुम लेटी हुई हो? हमारे साथ आओ।' सुकन्या ने उत्तर दिया : "मैं उस व्यक्ति को, जिसे मेरे पिता ने मुझे दे दिया है, तब तक नहीं छोडूंगी जब तक वह जीवित है।' ऋषि इस तथ्य से अवगत हुये। उन्होंने कहा : 'सुकन्या! उन लोगों ने तुमसे क्या कहा था?' उसने ऋषि को बताया। सूचना मिलने पर ऋषिने कहा : 'यदि वे तुमसे पुनः कुछ कहें तो तुम उनसे यह कहना : 'तुम लोग न तो पूर्ण हो, न निर्दोष; फिर भी तुम मेरे पति के सम्बन्ध में घृणा व्यक्त करते हो! और यदि वे पूछें कि हम किस दृष्टि से अपूर्ण और दोषयुक्त हैं तब तुम कहना कि मेरे पति को पुनः युवा बना दो तो मैं बताऊँगी।' तदनुसार अश्विनद्वय पुनः सुकन्या के पास आये और फिर वही कहा। उसने उत्तर दिया : 'तुम लोग न तो पूर्ण हो न निर्दोष, और फिर भी मेरे पति के सम्बन्ध में घृणा व्यक्त करते हो!' उन लोगों ने पूछा : 'हम किस दृष्टि से अपूर्ण और दोषयुक्त हैं?' उसने उत्तर दिया : 'मेरे पति को पुनः युवा बना दो तो मैं बताऊँगी।' उन लोगों ने उत्तर दिया : 'अपने पति को उस ह्रद में ले जाओ और वह उसमें स्नान करने के बाद जिस आयु को चाहेंगे उसी आयु के होकर निकलेंगे।' वह ऋषि को उस ह्रद में ले गई और वह अपनी इच्छानुसार आयु पाकर लौट आये। अश्विनोंने तब पूछा : 'सुकन्ये! हम किस दृष्टि से अपूर्ण और दोष युक्त हैं?' इस पर ऋषिने उत्तर दिया : 'अन्य देवता कुरुक्षेत्र में एक यज्ञ कर रहे हैं जिससे तुम लोगों को वंचित रक्खा गया है। इसी दृष्टि से तुम अपूर्ण और दोषयुक्त हो।' तब अश्विद्वय वहाँ से चलकर देवों के पास आये जो बहिष्पवमान[385] मन्त्रों से यज्ञ कर रहे थे। अश्विनों ने कहा : 'हमें भी अपने साथ आने के लिये निमन्त्रित करो'। देवों ने उत्तर दिया। 'हम तुम्हें निमन्त्रित नहीं करेंगे क्योंकि तुम मनुष्यों में बहुत अधिक विचरण कर चुके हो[386] और उनका उपचार करते रहे हो।' अश्विनों ने कहा : 'तुम शीर्षविहीन यज्ञ कर रहे हो।' देवों ने पूछा : 'हम कैसे शीर्षविहीन यज्ञ कर रहे हैं?' अश्विनों ने उत्तर दिया : 'हमें

---

[385] देखिये हॉग: ऐतब्रा० २. पृ० १२०, नोट ११।

[386] महाभारत (शान्तिपर्व, श्लोक ७५८९) में यह कथा है कि अश्विन् देवों में शूद्र हैं, अङ्गिरसगण ब्राह्मण हैं, और आदित्यगण क्षत्रिय हैं, और मरुद्गण वैश्य हैं।

भी अपने साथ आने के लिये निमन्त्रित करो तब हम बतायेंगे। देवों ने तब सहमत होते हुये इन्हें निमन्त्रित किया। उन लोगों ने इस अश्विन-गृह को अश्विनों के रूप में प्राप्त किया जो यज्ञ के दो अध्वर्यु[३८७] पुरोहित बने और यज्ञ के शीर्ष को स्थापित कर दिया।" जहाँ तक यज्ञ के शिरोच्छेदन की कथा का सम्बन्ध है उसके लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का चौथा भाग देखिये।

तैत्तिरीय संहिता ६.४,९, १ में अश्विनों द्वारा यज्ञ के शीर्ष को पुनः स्थापित करने के सम्बन्ध में निम्नलिखित संक्षिप्त विवरण मिलता है, किन्तु इसमें कुछ बातें ऐसी हैं जो शतपथ ब्राह्मण में नहीं हैं।

यज्ञस्य शिरोऽच्छिद्यत। ते देवाः अश्विनाव् अब्रुवन् "भिषजौ वै स्थः। इदं यज्ञस्य शिरः प्रतिधत्तम्" इति। ताव् अब्रूतां "वर वृणावहै ग्रहः एव नाव् अत्रापि गृह्यताम्" इति। ताभ्याम् एतम् आश्विनम् आगृह्णन्। ततो वै तौ यज्ञस्य शिरः प्रत्यधत्ताम्। यदाश्विनो गृह्यते यज्ञस्य निष्कृत्यै तौ देवाः अब्रुवन् "अपूतौ वै इमौ मनुष्यचरौ भिषजाव्" इति। तस्माद् ब्राह्मणेन भेषजं न कार्यम्। अपूतो ह्य् एषोऽमेध्यो यो भिषक्। तौ बहिष्पवमानेन पवयित्वा ताभ्याम् एतम् अश्विनम् अगृह्णन्।

"यज्ञ का सर कटा हुआ था। देवों ने अश्विनों से कहा: 'तुम भिषज् हो; यज्ञ के सर को पुनः स्थापित करो।' अश्विनों ने कहा: 'हमको एक वरदान दो: इसयज्ञ में हमें भी यज्ञभाग मिले।' तदनुसार जब अश्विनों ने यज्ञ के सरको पुनः प्रतिष्ठित कर दिया तब उन्हें भी यज्ञभाग मिला। जब यज्ञ को शुद्ध करने के लिये यह अश्विन हवि दे दी गई तब देवों ने अश्विनों से कहा: 'ये दोनों मनुष्यों के बीच जाने और उनका उपचार करने के कारण अशुद्ध हैं।' अतः किसी ब्राह्मण को भिषज् नहीं होना चाहिये क्योंकि इस प्रकार का कार्य करने वाला अशुद्ध और यज्ञ के लिये अयुक्त होता है। उन लोगों ने अश्विनों को बहिष्पवमान से शुद्ध किया और फिर अश्विन-हवि का विधान किया।" तुकी० ऐत० ब्रा० १.१८, (प्रो० हॉग के संस्करण का पृ० ४१ और बाद)।

कुछ स्थानों पर भिन्न होने के साथ इसी प्रकार की एक कथा महाभारत के वनपर्व (श्लो० १०,१२६ और बाद) में भी मिलती है। इसके मूल अंश को अत्यन्त दीर्घ होने के कारण यहाँ उद्धृत करना उपयुक्त नहीं होगा, किन्तु मैं इस कथा का सारांश नीचे दे रहा हूँ:

---

[३८७] तुकी० शतब्रा० ८.२,१,३।

किसी स्थान पर भीषण तपस्या करते हुये महर्षि च्यवन का शरीर दीमक की मिट्टी से ढँक गया। राजा शर्याति अपनी ४,००० रानियों तथा एकमात्र पुत्री सुकन्या के साथ उसी स्थान पर आये। ऋषि उस कन्या पर मोहित हो गये और उन्होंने उसे प्राप्त करने का प्रयास किया किन्तु सुकन्या ने कोई उत्तर नहीं दिया। फिर भी मिट्टी के ढेर में से चमकती ऋषि की आँखों को देखकर तथा यह न जानते हुये कि वह क्या है, उस राजकुमारी ने एक तीक्ष्ण वस्तु से उन्हें खोद दिया। इस बात से च्यवन अत्यन्त क्रुद्ध हुये और उन्होंने राजा की सेना की मलमूत्र आदि क्रियाओं को रोक दिया। जब राजा को इस अभिशाप का कारण पता चला तब उन्होंने इसके निवारण के लिये ऋषि से प्रार्थना की। ऋषि राजा की पुत्री को प्राप्त करने के बाद ही शाप के विमोचन के लिये तैयार थे। फलस्वरूप राजा ने सुकन्या ऋषि को दे दी। सुकन्या ऋषि के पास उनकी पत्नी के रूप में रहने लगी। एक दिन अश्विनों ने उसे देखकर उसके साथ मैथुन की इच्छा की किन्तु इसका कोई प्रभाव नहीं हुआ। ये लोग जीर्ण ऋषि का त्याग करके अपने साथ सुकन्या को ले जाने में सफल नहीं हो सके। तब अश्विनों ने सुकन्या को बताया कि वे देवभिषज हैं और उसके पति को पुनः युवा तथा सुन्दर बना देंगे और तब वह अपने पति या अश्विनों में से किसी का वरण कर सकती है। च्यवन तथा सुकन्या ने यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। अश्विनों के आदेश से च्यवन ने पास के ही एक सरोवर में अश्विनों के साथ स्नान किया। जब तीनों स्नान करके निकले तो सभी दिव्य सौन्दर्य से युक्त थे। उन लोगों ने तब सुकन्या से किसी का वरण करने के लिये कहा। सुकन्या ने अपने पति को पहचान कर उनका ही वरण किया। आभार मानते हुये तब च्यवन ने अश्विनों को भी सोमयाग में भाग देने के लिये इन्द्र को विवश करने का वचन दिया। उन्होंने राजा शर्याति के लिये यज्ञ करते हुये इस वचन को पूर्ण किया। इस अवसर पर अश्विनों को इस प्रकार का सम्मान देने पर यह कह कर आपत्ति की गई कि ये लोग मनुष्यों के बीच भिषक् कर्म करने के कारण अपवित्र हैं। किन्तु च्यवन ने इस आपत्ति को अस्वीकार कर दिया। इस पर क्रुद्ध होकर जब इन्द्र ने वज्र से अश्विनों पर प्रहार करना चाहा तब च्यवन ने उनकी भुजाओं को स्तम्भित कर दिया तथा एक ऐसे दानव की सृष्टि की जो देवराज का भक्षण करने के लिये उद्यत हुआ। फलस्वरूप इन्द्र ने तत्काल च्यवन के परामर्श को स्वीकार करके अपनी प्राणरक्षा की।[२८८]

---

[२८८] देखिये महाभारत के अनुशासनपर्व में वर्णित च्यवन की शक्ति से सम्बद्ध एक ऐसी ही कथा।

(६) प्रो० गोल्डस्टूकर की अश्विनों पर टिप्पणी

प्रो० गोल्डस्टूकर ने अश्विनों पर मुझे निम्नलिखित टिप्पणी से अनुगृहीत किया है :—

"मेरे विचार से अश्विनों की पुराकथा उस कोटि में आती है जिसमें जो स्पष्ट तत्व, जगद्विषयक और मानवीय अथवा ऐतिहासिक, परस्पर मिश्रित होकर एक हो जाते हैं। अतः यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस पुराकथा को समझने के लिये इन दोनों तत्वों को पृथक् कर दिया जाय। इसके ऐतिहासिक अथवा मानवीय तत्व का, मेरे विचार से, वे आख्यान प्रतिनिधित्व करते हैं जिनमें अश्विनों द्वारा किये गये अद्भुत उपचारों आदि का उल्लेख है; जगद्विषयक तत्व वह है जो इनकी प्रकाशमान प्रकृति को व्यक्त करता है। इन दोनों को सम्बद्ध करनेवाली कड़ी, प्राचीन समय में प्रकाश की घटना की प्रकृति और उपचारात्मक कला की रहस्यवादिता ही प्रतीत होती है। कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध ऐसे अश्वारोही रहे हो सकते हैं जिन्होंने अद्भुत कर्मों तथा अधिक विशेषरूप से अपनी चिकित्सात्मक कला द्वारा अपने समकालीन लोगों को आश्चर्य तथा भय से अभिभूत कर दिया होगा। यास्क द्वारा उल्लिखित कुछ प्राचीन भाष्यकारों का भी ऐसा ही मत प्रतीत होता है, क्योंकि यास्क कहते हैं कि कुछ ऐतिहासिक अश्विनों को पुण्यकार्य करनेवाले दो राजा मानते हैं। यह विचार उस आख्यान द्वारा भी पुष्ट होता है जिसमें यह कहा गया है कि देवों ने अश्विनों को यज्ञ भाग देना इस आधार पर अस्वीकार किया कि ये लोग मनुष्यों से अत्यधिक परिचित थे। तब, ऐसा प्रतीत होता है कि ये अश्विन भी, ऋभुओं की ही भाँति, प्रसिद्ध मनुष्य थे जिन्हें कालान्तर में देवों का सहयोगी बना दिया गया। साथ ही इस बात का अनुसन्धान करना भी आवश्यक है कि इस दृष्टिकोण के अतिरिक्त क्या कुछ भाषावैज्ञानिक या व्याकरणिक आधार भी हैं, जिनसे यह माना जा सके कि इन मानव अश्विनों का वर्णन करनेवाले सूक्त उन सूक्तों से प्राचीन हैं या नहीं जिनमें इसी नाम के देवताओं का उल्लेख है ?

इन देवों की प्रकाशमान प्रकृति पर कदाचित ही सन्देह किया जा सकता है, क्योंकि यास्क द्वारा वर्णित कुछ प्राचीन भाष्यकारों के उस दृष्टिकोण का, जिसके अनुसार इन्हें 'पृथिवी और आकाश' के साथ समीकृत किया गया है, हमें ज्ञात किसी भी स्थल द्वारा प्रतिवाद नहीं किया जा सकता। इनका नाम ही ऐसा है जो इस बात का निर्णय कर देता है, क्योंकि 'अश्व', 'व्याप्त करनेवाला', सदैव ही प्रकाशमान देवों, विशेषतः सूर्य का प्रतीक है। कठिनाई, फिर भी, देवों के बीच इनके स्थान के निर्धारण में तथा इस तथ्य के इनसे

सम्बद्ध अन्य पुराकथाओं के बीच समन्वय में निहित है। फिर भी, मैं यहाँ यह कहूंगा कि, यद्यपि यास्क उन विचारों को अंकित करते हैं जो अश्विनों को सर्वप्रथम 'रात और दिन' तथा 'सूर्य और चन्द्रमा' के साथ समीकृत करते हैं, तथापि रॉथ ने यह सिद्ध करने के लिये कि यास्क ने स्वयं भी अश्विनों को इन्द्र तथा आदित्यों के साथ समीकृत किया है, जिस स्थल का आश्रय लिया है वह इस प्रकार के किसी निष्कर्ष की पुष्टि नहीं करता। क्योंकि सम्बद्ध स्थल का, जैसा मैं समझता हूँ, यह अर्थ है : इनका समय मध्यरात्रि के बाद होता है जब कि प्रकाशित होनेवाले स्थानों का अन्धकार प्रतिरोध करता है; क्योंकि मध्यतम अश्विन (अन्धकार और प्रकाश के बीच) अन्धकारपूर्ण होता है, जबकि दूसरा, जो सौर प्रकृति (आदित्य) से युक्त है, प्रकाश से युक्त होता है।" इनसे सम्बद्ध मन्त्र यह है : 'रात्रियों में'[३८९], इत्यादि। यास्क के टीकाकार, दुर्ग भी, इन मन्त्रों को वह अर्थ प्रदान करते हैं जो प्रो० रॉथ ने किया है। दुर्ग के शब्द, जैसा मैं समझता हूँ, इस प्रकार हैं : "इनका समय रात्रि के उत्तरार्ध में होता है, जब प्रकाशित होनेवाले स्थानों का प्रतिरोध होता है।' तात्पर्य है कि रात्रि के उत्तरार्ध के बाद, अन्धकार पर प्रकाश छाने लगता है किन्तु अन्धकार प्रकाश के विरुद्ध प्रयास करता है, यही अश्विनों का समय है। ...अतः इनमें से मध्यतम की प्रकृति उस अन्धकार के अंश के रूप में होती है जो प्रकाश में प्रवेश करता है; और सौर (आदित्य) भाग उस प्रकृति से सम्बद्ध होता है जो प्रकाश है और अन्धकार में प्रवेश करता है इस प्रकार ये मध्यतम और उच्चतम हैं : यही आचार्य (यास्क) का स्वयं अपना मत भी है, क्योंकि इसकी पुष्टि के लिये वह 'ससातिपु स्म'[३९०] इत्यादि मन्त्र का उदाहरण देते हैं।"

---

[३८९] निरुक्त १२.१ : तयोः कालः ऊर्ध्वम् अर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भम् अनु तमोभागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्यः, तयोर् एषा भवति वसातिषु स्म, इत्यादि।

[३९०] दुर्ग : तयोः काल ऊर्ध्वम् अर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानु विष्टम्भम्। ज्योतिषा व्यतिभिद्यमानम् ऊर्ध्वम् अर्धरात्रात् तमो यदा ज्योतिर् अनु विष्टम्नाति सोऽश्विनोः कालः। ततः प्रभृति सन्धिस्तोत्रं पुरोदयाद् आश्विनम् उदिते शोर्यपि। तत्र यत् तमोऽनुविष्टम् अनुप्रविष्टम् ज्योतिषि तद्भागो मध्यमस्य रूपम्; यत् ज्योतिः तमस्य् अनुविष्टं तद्भागम् तद्रूपम् आदित्यः। ताव् एतौ मध्यमोत्तमाव् इति स्वमतम् आचार्यस्य। अत. तदर्थतोयोदाहरति तयोर् एषा भवति वसातिषु स्मेति।

इसलिये, इन शब्दों के आधार पर निर्णय करते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि यास्क का मत यह था कि अश्विनद्वय अन्धकार से प्रकाश के संक्रमण को व्यक्त करते हैं, जब कि इनका अन्तर्मिश्रण उस अपृथक्करणीय द्वैत को उत्पन्न करता है जिसे इन देवताओं की यमज प्रकृति द्वारा व्यक्त किया गया है। और यह व्याख्या, मेरे विचार से, अश्विनों की दिव्य प्रकृति को स्पष्ट करने के लिते सर्वश्रेष्ठ है। यह उन उपाधियों के अनुकूल है जिनसे इनका आवाहन किया गया है, और उस सम्बन्ध के भी जिसे दोनों के बीच स्थापित किया गया है। ये युवा हैं, फिर भी प्राचीन, सुन्दर, उज्ज्वल, वेगवान् इत्यादि भी। इनकी विपरीत प्रकृति—प्रकाश और अन्धकार के सम्मिलन के परिणाम-स्वरूप—मेरे विचार से, 'दस्र' द्वार तथा इनके यौगिक नाम के दो नकारात्मक अक्षरों (नासत्य = न + अ-सत्य) द्वारा भी व्यक्त है, यद्यपि इनके समर्थक चारित्र को भी पुनः शत्रुओं अथवा व्याधियों को ग्रसित करने के रूप में 'दस्र' और नासत्य (जो असत्य न हो अर्थात सत्य) द्वारा ही व्यक्त किया गया है। ये पूषा (सूर्य) के पिता हैं क्योंकि ये सूर्योदय के पूर्व आते हैं; ये आकाश के पुत्र हैं, और पुनः विवस्वत् तथा सरण्यू के भी पुत्र। मेरे विचार से विवस्वत् से यहाँ प्रगट हो रहे प्रकाश के द्वारा क्षितिज के विस्तृत होने या और दीर्घ हो जाने का तात्पर्य है। और यद्यपि सरण्यू प्रो० मूलर की उन देवियों में से एक है जिन्हें वह अपने उषा-सिद्धान्त की पुष्टि के लिये प्रस्तुत करते हैं, तथापि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि इस शब्द की व्युत्पत्ति तथा इससे सम्बद्ध पुराकथा, दोनों ही गतिशील वायु, अथवा अन्धकारपूर्ण तथा शीतल वायु के उष्ण होने का संकेत करते हैं जो उदित हो रहे सूर्य के कारण गतिशील हो जाती है। अश्विनद्वय सूर्या के पति या सखा भी हैं। सूर्या को मैं सूर्य का क्षीणतम प्राकट्य मानता हूँ, और मेरा विचार है कि सायण उस समय ठीक हैं जब वह अश्विनों की बहन से उषा का तात्पर्य ग्रहण करते हैं। अन्धकार—जो अब पूर्णतया रात्रि नहीं है = और प्रकाश—जो अभी उषा नहीं है—के अन्तर्मिश्रण की रहस्यवादी घटना इन सब धारणाओं के, और दिव्य प्रकृति के और अधिक विवरण के सर्वथा अनुकूल प्रतीत होती है।



खण्ड १६

सोम

इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि अन्तरिक्ष की आक्रामक शक्तियों से युद्ध करने के लिये इन्द्र को उत्साहित करने में इस आह्लादकारी सोमरस का कितना अधिक महत्त्व है, और प्रायः सभी देवता इस रस के पान के लिये सदैव कितने उत्सुक रहते हैं।

सोम एक देवता हैं जो इस रस को सजीव करते हैं। यह रस एक मादक पेय है जो वैदिक युग के यज्ञों में एक प्रमुख भूमिका सम्पन्न करता है। यह पूर्वसमय में भारतीय डायोनिसस अथवा बेकस था। ऋग्वेद के नवें मण्डल के न केवल सम्पूर्ण सूक्त ही, जिनकी संख्या एक सौ चौदह है, तथा अन्यत्र मिलने वाले कुछ सूक्त भी, इस देवता के सम्मान में समर्पित हैं, वरन् अन्य सूक्तों में भी इस सोमरस का नित्य प्रति ही उल्लेख मिलता है। अतः जैसा कि प्रोफेसर ह्विट्ने (जअओसो०, ३.२९९) टिप्पणी करते हैं, यह स्पष्ट है कि इस देवता की उपासना एक समय अत्यधिक लोकप्रिय रही होगी। इस प्रोफेसर ने इस स्थिति की इन शब्दों में व्याख्या की है: "सरल हृदय आर्यों ने जिनका सम्पूर्ण धर्म ही प्रकृति की अद्भुत शक्तियों और घटनाओं की उपासना में निहित था, ज्यों ही यह देखा कि इस पेय में हृदय को आह्लादित करने तथा एक अस्थायी उत्साह उत्पन्न कर देने की ऐसी शक्ति है जिसके प्रभाव से व्यक्ति अपनी सामान्य शक्ति अथवा क्षमताओं से अधिक कार्य कर लेता है त्योंही उन्होंने इसे एक देवता मान लिया जो व्यक्तियों में प्रवेश करते ही उन्हें देवोपम शक्तियों से युक्त कर देता है। जिस पौधे से यह रस निकलता था वह पौधों का सम्राट बन गया और इसे तैयार करने के उपकरण भी पवित्र माने जाने लगे। इसकी उपासना की अत्यधिक प्राचीनता पर्शियन अवेस्ता[211] में इसके सन्दर्भों से भी पुष्ट होती है। फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इसने भारतीय क्षेत्र में एक पुनरुज्जीवन प्राप्त कर लिया।"

(८) यूनानी देवता डायोनिसस के सम्बन्ध में यूरीपाइडिस के उद्धरण

यूनानी सोम, डायोनिसस की प्रकृति को जन्म देने वाली भावनाओं के

[211] देखिये सोमपूजा पर डा० विण्डिशमैन के लेख के कुछ भाग जिन्हें प्रस्तुत ग्रंथ के दूसरे भाग में दिया गया है। हॉग का ऐतरेय ब्राह्मण, प्रस्तावना, पृ० ६२ भी देखिये।

उदाहरण के रूप में मैं यहाँ यूरीपाइडिस के बेकाइ (पृ० २७२ और बाद) से कुछ श्लोकों का उद्धरण दूँगा जिनमें इस दार्शनिक कवि ने टिरेसियस नामक पैगम्बर द्वारा इस देवता को प्रशस्ति में कुछ शब्द कहलवाये हैं। टिरेसियस ने पेन्थियस द्वारा इस देवता के उपहास का विरोध किया है। साथ ही, मैं इसके देवीकरण का औचित्य सिद्ध करने वाले कुछ तर्क तथा इससे सम्बद्ध पुराकथा की तर्कसंगत व्याख्या भी दूँगा।

"मैं इस बात को शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता कि यह नवीन देवता, जिसका तुम उपहास किया करते हो, यूनान में कितना अधिक महत्व अर्जित करनेवाला है। हे युवको! मनुष्यों के लिये दो ही वस्तुयें सर्वप्रधान है, एक देवी डिमीटर जो पृथिवी है और जो मनुष्यों का शुष्क भोजन से पोषण करती है। किन्तु उसने, सेमेली के पुत्र ने, एक विपरीत मार्ग अपनाया। उसने खोजकर मनुष्यों को अंगूर के तरल पेय से परिचित कराया जो दुःखी मानवों के दुःखों का अन्त कर देता है—जब वे मदिरा से पूर्ण होते हैं—और उन्हें दिन के कष्टों से छुटकारा दिलाकर सुख की नींद सुला देता है। हमारे दुःखों का कोई और उपचार नहीं है। उससे जिसने एक देवता के रूप में जन्म लिया है, देवों को हवि दी जाती है जिससे उसके द्वारा मनुष्य देवों की कृपा प्राप्त करें। और तुम इसका यह कहकर उपहास करते हो कि यह ज्यूस की जाँघों में सिला था। किन्तु मैं तुम्हें यह दिखाऊँगा कि यह किस प्रकार तर्कसंगत है। जब ज्यूस ने विद्युत ज्वाला से शिशु की रक्षा की और उसे ओलिम्पस लाये तब हेरा ने उसे स्वर्ग से बहिष्कृत करना चाहा। किन्तु, एक देवता की भाँति, ज्यूस ने उसकी इस इच्छा को विफल किया। पृथिवी को आवृत्त करनेवाले आकाश में से थोड़ा भाग निकाल कर उन्होंने बदले के रूप में हेरा को दिया और इस प्रकार डायोनिसस को उसके क्रोध से बचा लिया। कालान्तर में, यतः यह हेरा से बचाया गया था, अतः मनुष्यों ने—शब्द को बदल कर तथा एक कथा का आविष्कार करके—यह कहना आरम्भ किया कि इसका ज्यूस की जाँघ में पालन हुआ था, और यह देवता एक पैगम्बर है; क्योंकि वैदिक उत्तेजना और उत्साह में एक अत्यधिक पैगम्बरी शक्ति है। जब यह देवता अपनी शक्ति से शरीर में प्रवेश करता है तब मनुष्यों में उत्साह और भविष्य-कथन की शक्ति भर देता है, और इसमें एरिस (मंगल) की प्रकृति का भी समावेश है। क्योंकि युद्ध के लिये सन्नद्ध सेना को कभी-कभी वास्तविक युद्ध के पूर्व ही उत्तेजना भयभीत कर देती है। यह पागलपन भी डायोनिसस से ही निष्कृष्ट है।"[312]

[311] देखिये इसी नाटक के श्लोक २०० और बाद में टिरेसियस का कैडमस से कथन।

(२) प्राचीन सोमपूजा की व्यापकता तथा इसकी उत्साहात्मक प्रकृति

ऐतरेय ब्राह्मण (प्रस्तावना, पृ० ६०) के अपने सम्पादित संस्करण में प्रोफेसर हॉग सोमयज्ञ के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखते हैं: "देवों के बीच इस प्रकार प्राप्त यजमान इस दिव्य पेय, सोम के पान के तथा द्युलोक के राजा सोम में अपना अंश ग्रहण करने के योग्य हो जाता है: सोमरस का पान उसे एक नूतन मनुष्य बना देता है। उसके लिये यद्यपि प्रवर्ग्य यज्ञ में एक नवीन दिव्य शरीर का निर्माण कर दिया गया होता है तथापि इस सोमपेय का पान उसे पुनः रूपान्तरित कर देता है; क्योंकि देवों का यह पेय उसकी धमनियों में सर्वप्रथम प्रवाहित होकर उसे शुद्ध और पवित्र कर देता है।"

वैदिक उपासना के ह्रास, तथा नवीन देवों और कर्मकाण्डों के समावेश के साथ सोम की लोकप्रियता में भी सामान्य ह्रास हो गया, और अब तो बहुत दिनों से समाप्तप्राय है। इसका नाम भी अब केवल उन्हीं कुछ ब्राह्मणों को ज्ञात है जो कुछ स्थानों पर आज भी वैदिक कृत्यों का पालन करते हैं।

सोम को सम्बोधित सूक्तों का उस समय गायन होता था जब मूजवत् पर्वत पर उगनेवाले (ऋग्वेद १०.३४,१: सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः)[३१३] इस पौधे का रस दबाकर निकाला तथा उसे परिष्कृत किया जाता था।[३१४] सूक्तों में इस दिव्य रस के प्रवाहित होने, छनने, और उपासकों पर उसके प्रभाव का अत्यन्त उत्साहपूर्ण गायन हुआ है। इस रस के पान से देवों में उत्पन्न होनेवाले प्रभाव का भी वर्णन किया गया है।[३१५] इस प्रकार, नवें मण्डल के प्रथम सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है: स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया इन्द्राय: पातवे सुतः)। "हे सोम! इन्द्र के पान के लिये बहो, एक अत्यन्त शुद्ध, पवित्र और मधुर धारा में बहो।" ९.४७,१ में इसके रस को मधुर, मधुमय, तीक्ष्ण, सुवासित, और आह्लादकारी कहा गया है। इन्द्र जब इसका पान कर लेते हैं तब कोई भी उनका युद्ध में सामना

---

[३१३] मूजवत् पर्वत' एक पर्वत है (निरुक्त ९.८)। देखिये वासं० ३.६१ और भाष्य।

[३१४] देखिये डा० स्टीवेन्सन का अनुसरण करते हुये डा० विण्डिशमैन का वर्णन जिसे प्रस्तुत कृति के भाग २ में उद्धृत किया गया है।

[३१५] देखिये ऐत०ब्रा० ६.११।

नहीं कर सकता (स्वादुष् किलायम् मधुमान् उतायं तीव्रः किलायं रसवान् उतायम्। उतो नु अस्य पपिवासम् इन्द्रं न कश्चन सहते आहवेषु। अस्यं स्वादुर् इह मदिष्ठः आस)। पान करने पर यह वाणी को उद्दीप्त और सुन्दर भावनाओं को जागृत करता है (वही मंत्र ३)। एक मन्त्र (८.४८,३) में इन्द्र के एक वर्णन में स्तोता यह कहता है : "हमने सोम का पान किया है; हम अमर हो गये हैं; हमने प्रकाश में प्रवेश किया है; हमने देवताओं को जान लिया है। कोई शत्रु अब हमारा क्या कर सकता है, अथवा किसी मनुष्य की शत्रुता, हे अमर देवता, अब तुम्हारा क्या कर सकती है ?"

(३) सोम का पौधा पृथिवी पर कैसे लाया गया

ऐसा कहा गया है कि इस पौधे को एक श्येन लाया : १.८०,२ (सोमः श्येनाभृतः); ३.४३,७ (आ यं ते [इन्द्राय] श्येनः उशते जभार); ८.७१,९; ४.२६,६ (ऋजीपी श्येनो ददमानो अंशुम् परावतः शकुनो मन्द्रम् मदम्। सोमम् भरद् दादृहाणो देववान् दिवो अमुष्णाद् उत्तराद् आदाय), ८.८४,४,३ इसे एक सुपर्ण इन्द्र के पास लाया : ८.८९,८ (दिव सुपर्णो गत्वाय सोमं वज्रिणे आभरत्)। यह एक पर्वत से आया (१.९३,६ अमथ्नाद् अन्यम् सोमम् परि श्येनो अद्रेः) जहाँ इसे वरुण ने स्थापित किया था : ५.८५,२ (दिवि सूर्यम् अदधातु सोमम् अद्रौ)। ३.४८,२; ५.४३,४; ९.१८,१; ९.६२,४; ९.८५,१०; ९.९८,९, में इसे 'गिरिष्ठा' कहा गया है। एक अन्य स्थान (९,११३,३) पर यह कहा गया है कि इसे सूर्या उस स्थल से लाई जहाँ जब गन्धर्व इसे ले गये तब पर्जन्य ने इसका पोषण किया (पर्जन्य-वृद्धम् महिषम् तं सूर्यस्य दुहिताऽभरत्। तं गन्धर्वाः प्रत्य् अगृभ्णन् तं सोमे रसम् आदधुः)। ९.८२,३ में, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, पर्जन्य को सोम का पिता कहा गया है। अथे० १९.६,१६ इस सोम देवता को पुरुष से उत्पन्न बताया गया है (राज्ञः सोमस्य··· जातस्यपुरुषाद् अधि)।

अन्य स्थलों पर एक गन्धर्व को सोम के साथ सम्बद्ध किया गया है जिसका क्षेत्र (पद) इसकी रक्षा करता है और वहाँ इसके सभी रूप उत्पन्न होते हैं : ९,८३,४, ९.८५,१२[३१८] (गन्धर्वः इत्था पदम् अस्य रक्षति। ऊर्ध्वो गन्धर्वो अधि नाके अस्थाद् विश्वा रूपाणि प्रति च क्षाणो अस्य)। ऐतरेय ब्राह्मण में देवों ने गन्धर्वों से जिस प्रकार सोम प्राप्त किया उसके

---

[३१८] देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में "गन्धर्व"।

सम्बन्ध में यह कथा मिलती है। १.२७ : सोमो वै राजा गन्धर्वेष्व् आसीत्। तं देवाश् च ऋषयश् च अभ्यध्यायन् "कथम् अयम् अस्मान् सोमो राजा आगच्छेद" इति। सा वाग् अब्रवीत् "स्त्रीकामा: वै गन्धर्वा: मया एव स्त्रिया भूतया पणध्वम्" इति "न" इति देवा. अब्रुवन् "कथं वयं त्वद् ऋते स्याम" इति। साऽब्रवीत् "क्रीणीत एव। यर्हि वाव वो मया अर्थो भविता तर्हि एव वोऽहम् पुनर् आगन्तास्मि" इति। "तथा" इति। तया महानग्न्या भूतया सोमम् राजानम् अक्रीणम्।[२५७] "राजा सोम गन्धर्वों के बीच थे। इनकी इच्छा करते हुये देवों और ऋषियों ने कहा 'हम इन्हें अपने पास बुलाने के लिये क्या करें?' वाच ने कहा : 'गन्धर्व स्त्री-कामी हैं; मुझे स्त्री के रूप में परिणत करके मेरे बदले में उनसे सोम ले लो।' उन लोगों ने कहा : 'नहीं; तुम्हारे बिना हम कैसे रह सकते हैं?' उसने कहा 'उसे खरीद लो और तुम्हें जब मेरी आवश्यकता होगी, मैं तुम्हारे पास लौट आऊँगी।' वे सहमत हो गये और वाच् को स्त्री में परिणत और पूर्ण नग्न करके सोम को क्रय कर लाये।" देखिये प्रो० हॉग का इस ब्राह्मण का अनुवाद, पृ० ५९, और तुकी० पृ० २०१ और बाद; २९४; और ४००।

शतपथ ब्राह्मण ३.२,४,१ और बाद, में यह कहा गया है कि पहले सोम आकाश में था, जब कि देवगण यहाँ (पृथिवी पर) थे। उन लोगों ने सोम को पाने की इच्छा की जिससे वे यज्ञ में इसका उपयोग कर सकें। गायत्री उनके लिये इसे लाने गई। जब वह इसे ला रही थी तब विश्वावसु गन्धर्व ने इसको उसके पास से हरण कर लिया। देवगण इसे जान गये, और स्त्रियों के प्रति गन्धर्वों के पक्षपात को जानकर (तुकी० ३,९,२-२०; और अवे० ४.३७, ११) उन्होंने वाच को गन्धर्वों के पास इसे लाने भेजा। वाच इसे लाने में सफल हो गई (दिवि वै सोम: आसीत्। अथ इह देवा:। ते देवा: अकामयन्त "आ न: सोमो गच्छेत् तेन आगतेन यजेमहि" इति।...२. तेभ्यो गायत्री सोमम् अच्छ अपतत्। तस्यै आहरन्त्यै गन्धर्वो विश्वावसु: पर्यमुष्णात्। ते देवा: अविदु: "प्रच्युतो वै परस्तात् सोम:। अथ नो न आगच्छति। गन्धर्वा: वै पर्यमोषिषुर्" इति। ते ह ऊचुर् "योषित्-कामा: वै गन्धर्वा:। वाचम् एव एभ्य: प्रहिणवाम। सा न: सह सोमेन आगमिष्यति" इति। तेभ्यो वाचम् प्राहिण्वन् सा एनान् सह सोमेन आगच्छत्)। और ११.७,२,८ में यह कहा गया है : "सोम आकाश में था; गायत्री एक पक्षी

---

[२५७] तैत्तिरीयब्रा० ६,१,६,५ यही कथा कहता है किन्तु इसमें वाच् को एक वर्ष की स्त्री बताया गया है।

बन कर उसे लाई" (दिवि वै सोमः आसीत् तं गायत्री वयो भूत्वाऽऽहरत्)। देखिये शतपथ ब्राह्मण ३.४,१,१२ और १.६,२,२-१८, और ३.९,३,१८ भी, जहाँ गन्धर्वों को "सोमरक्षकाः" कहा गया है; और तैत्ति० सं० ६.१,६,१.५।

(४) सोम की पत्नियाँ

तैत्तिरीय संहिता २ ३,५,१ यह कहता है कि प्रजापति के तैंतीस पुत्रियाँ थीं जिन्हें उसने राजा सोम को दे दीं। फिर भी, सोम केवल रोहिणी के पास ही जाते थे। इससे अन्य पत्नियों में ईर्ष्या उत्पन्न हुई और वे सभी अपने पिता के घर चली आईं। सोम भी उनके पीछे आये और उन सब को लौटने के लिये कहा किन्तु प्रजापति केवल तब उन सब को लौटाने के लिये सहमत हुये जब चन्द्रमा ने सबके साथ समान संसर्ग का वचन दिया। चन्द्रमा सहमत हो गये किन्तु बाद में पुनः पहले जैसा ही व्यवहार करने लगे जिससे उन्हें यक्ष्मा हो गया, इत्यादि (प्रजापतेस् त्रयस्त्रिंशद् दुहितरः आसन् । ताः सोमाय राज्ञेऽददात् । तासां रोहिणीम् उपैत् । ताः ईर्ष्यन्तीः पुनर् अगच्छन् । ता अन्वैत । ताः पुनर् अयाचत । ताः अस्मै न पुनर् अददात् । सोऽब्रवीत् "ऋतम् अमीष्व यथा समावच्छः उपैष्यामि अथ ते पुनर् दास्यामि" इति । स ऋतम् आसीत् । ताः अस्मै पुनर् अददात् । तासां रोहिणीम् एव उपैत् । यक्ष्म आर्च्छत्)। तैत्तिरीय ब्राह्मण २.३,१०,१ और बाद, में सोम के सम्बन्ध में एक अन्य कथा है। प्रजापति ने इनकी सृष्टि की, और इनके बाद तीन वेदों की जिन्हें सोम ने अपने हाथ में ले लिया। अब, सीता, सावित्री, सोम से प्रेम करती थीं, जब कि सोम स्वयं श्रद्धा से प्रेम करते थे। सीता ने अपने पिता प्रजापति, के पास आकर उनका अभिवादन किया। तब प्रजापति ने उसे पास आकर अपनी शिकायत करने के लिये कहा। वह सोम को प्रेम करती है, उसने बताया, जब कि सोम श्रद्धा को प्रेम करता है। प्रजापति ने उसके लिये तब मधुर सुवास से सुवासित एक अनुलेप बनाया और उसे मन्त्रों से अभिमन्त्रित करके सीता के माथे पर लगा दिया। तदुपरान्त वह सोम के पास लौट आई और सोम ने उसे अपने निकट आने के लिये निमन्त्रित किया। उसने सोम से उसे अपने सहवास में रखने का वचन माँगते हुये उससे पूछा कि उसके हाथ में क्या है। प्रजापति ने सब तीनों वेद उसे दे दिया; इसीलिये आलिंगनादि के मूल्य के रूप में स्त्रियाँ सदैव कुछ पुरस्कार माँगती हैं। तदनन्तर यह ब्राह्मण प्रेम और सद्व्यवहार प्राप्त करने के लिये इसी अनुलेप के इसी मन्त्रों के साथ निर्माण और उपयोग की संस्तुति करता है। (प्रजापतिः सोमं राजानम् असृजत । तं त्रयो वेदाः

अन्व् असृज्यन्त। तान् हस्तेऽकुरुत। अथ ह सीता सावित्री सोमं राजानं चकमे। श्रद्धाम् उ स चकमे। सा ह पितरम् प्रजापतिम् उपससार। तं ह उवाच "नमस् ते अस्तु भगवः। उप त्वा अयानि (२) प्र त्वा आपद्ये। सोमं वै राजानं कामये श्रद्धाम् उ स कामयते" इति। तस्यै उ ह स्थागरम् अलंकारं कल्पयित्वा दशहोतारम् पुरस्ताद् व्याख्याय चतुर्होतारं दक्षिणतः पञ्चहोतारम् पश्चात् षड्ढोतारम् उत्तरतः सप्तहोतारम् उपरिष्टात् सम्भारैश् पत्निभिश् च मुखे अलंकृत्य। ३. अस्य अर्धं वव्राज। ता ह उदीक्ष्य उवाच "उप मा वर्त्तस्व" इति। तं ह उवाच "भो गन्तुं (भाष्यकार इसकी इस प्रकार व्याख्या करता है जैसे उसने 'भोगं तु' पढ़ा हो) मे आचक्ष्व। एतन् मे आचक्ष्व यत् ते पाणाव्" इति। तस्यै उ त्रीन् वेदान् प्रददौ। तस्माद् उ ह स्त्रियो भोगम् एव हारयन्ते)।

(५) सोम-रस या इसके अधिष्ठाता देवता के गुण

इस पौधे के रस को एक अमर पेय[३९८] कहा गया है (१.८४,४ : ज्येष्ठम् अमर्त्यम् मदम्) जिसे देवगण अत्यधिक चाहते हैं (९.८५,२ : दक्षो देवानाम् असि हि प्रियो मदः; ९.१०९,१५ : पिबन्ति अस्य विश्वे देवासो गोभिः श्रीतस्य नृभिः सुतस्य)[३९९]। यह रुग्ण व्यक्ति के लिये ओषधि है (८.६१,१७ : तद् आतुरस्य भेषजम्)। सभी देवता इसका पान करते हैं (९.१०९,१५ : पिबन्ति अस्य विश्वे देवासः)। इसके अधिष्ठाता देवता को नग्नों को वस्त्रावेष्टित करनेवाला तथा रुग्णों का उपचार करनेवाला कहा गया है; इसके द्वारा अन्धा देखता और लँगड़ा चलता है (८.७९,२० : अभ्य् ऊर्णोति यन् नग्नम् भिषक्ति विश्वं यत् तुरम्। प्र ईम् अन्धः ख्यत् निः श्रोणो भूत्; १०.२५,११)। यह मनुष्यों के शरीर का रक्षक है और उनके प्रत्येक अङ्ग में वास करता है; ८.४८,९ (त्वं हि नस् तन्वः सोम गोपाः गात्रे गात्रे निषसत्थ नृचक्षाः)।

(६) सोम की दिव्य शक्तियाँ

सोम को अत्यधिक दिव्य गुणों और प्रक्रियाओं से युक्त होने का श्रेय दिया

---

[३९८] सायण के अनुसार इसका अर्थ यह है कि इसका कोई घातक प्रभाव नहीं है (सोमपानजन्यो मदो मदान्तरवत् मारको न भवति इत्य् अर्थः)।

[३९९] तैत्ति० ब्रा० १ ३ ३,२ कहता है कि सोम देवों का सर्वश्रेष्ठ पोषण है और सुरा मनुष्यों का। वहीं ४ में यह कहा गया है कि सोम पुरुष है और सुरा स्त्री और दोनों दम्पत्ति हैं (एतद् वै देवानाम् परमम् अन्नं यत् सोमः एतद् मनुष्याणाम् यत् सुरा। ४. पुमान् वै सोमः स्त्री सुरा। तन् मिथुनम्।

गया है। जैसा कि प्रो० ह्विट्ने ने कहा है इसे "उपासना और प्रशस्ति के उच्चतम विशेषणों द्वारा सम्बोधित किया गया है। यह हर प्रकार की शक्तियों से युक्त है। सभी प्राणी इसे चाहते हैं और इससे हर प्रकार के वरदान देने की प्रार्थना की गई है।" (जजओसो० ३,२९९)। इन्हें असुर (९.७२,१; ९.७४,७) और यज्ञ का आत्मा (९ २,१०; ९.६,८) कहा गया है। यह अमृत है (१.४३,९) और मनुष्यों तथा देवताओं दोनों को अमरत्व प्रदान करता है : १ ९१, १.६.१८; ८.४८,३; ९ १०६,८ (त्वाम् देवासो अमृताय कम् पपु'); ९.१०८,३ (त्व हि अङ्ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तम अमृतत्वाय घोषयः), ९.१०९,३ (एव अमृताय महे क्षयाय स शुक्रो अर्ष दिव्यः पीयूष')।[४००] एक स्थल पर (९.११३,७ और बाद), जहाँ स्वर्ग के सुखों की ऋग्वेद में अधिकांश भागों की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्टता के साथ कल्पना तथा उत्कट अभिलाषा के साथ याचना है, सोम को एक ऐसे देवता के रूप में सम्बोधित किया गया है जिससे भावी समृद्धि के वरदान की आशा की गई है। इस स्थल पर यह कथन है : यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते। यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर् यह्वतीर् आपस् तत्र माम् अमृतं कृधि। "हे पवित्र देवता! हमें उस नित्य और अनश्वर लोक में भेजो जहाँ चिर प्रकाश और वैभव रहता है। हे इन्दु (सोम)! इन्द्र के लिये प्रवाहित होओ। ८. हमें उस संसार में अमर बनाओ जहाँ राजा वैवस्वत (विवस्वत् के पुत्र, यम) रहते हैं, जहाँ आकाश का आन्तरिकतम क्षेत्र स्थित है और जहाँ वह महान् जल प्रवाहित होते हैं।" बाद के तीन श्लोकों को मैं यम के खण्ड के लिये सुरक्षित रख रहा हूँ।

सोम देवता वरुण, मित्र, इन्द्र, विष्णु, मरुद्गण, अन्य देवताओं, वायु, आकाश तथा पृथिवी को आनन्दित करते हैं : ९.९०,५ (मत्सि सोम वरुणम् मत्सि मित्रम् मत्सि इन्द्रम् इन्दो पवमान विष्णुम्। मत्सि शर्धो मारुतम् मत्सि देवान् मत्सि महाम् इन्द्रम् इन्द्रो मदाय); ९ ९७,४२ (मत्सि वायुम् इष्टये राधसे च मत्सि मित्रा-वरुणा पूयमानः। मत्सि शर्धो मारुतम् मत्सि देवान द्यावापृथिवी देव सोम)। मनुष्य और देवता दोनों ही इनकी शरण लेते हैं और यह कहते हैं कि यह रस मधुर है : ८.४८,१ (विश्वे यं देवाः उत मर्त्यासो मधु ब्रुवन्तो अभि सञ्चरन्ति)।

---

[४००] देवों द्वारा अमरत्व प्राप्ति के उपाय के लिये देखिये शतब्रा० ९.५,१,१ और बाद।

इसी से आदित्य शक्तिशाली और पृथिवी विस्तृत है : १० ८५,२ (सोमेन आदित्याः बलिनः सोमेन पृथिवी मही)। यह इन्द्र के सखा, सहायक और आत्मा हैं : ४ २८,१ (त्वा युजा तव तत् सोम सख्ये इन्द्रो अपो मनवे सस्रुतस् कः । २. त्वा युजा निखिदत सूर्यस्य इन्द्रश् चक्रं सहसा सद्यः इन्दो); ९.८५,३ (आत्मा इन्द्रस्य भवसि), १०.२५,९ (इन्द्रस्येन्दो शिवः सखा)। यह इन्द्र की शक्ति को उद्दीप्त करता है (९.७६,२ : इन्द्रस्य शुष्मम् ईरयन्) और वृत्र के साथ युद्ध में उनको पुष्ट करता है (९.६१,२२ : यः इन्द्रम् आविथ वृत्राय हन्तवे)। यह इन्द्र के साथ एक ही रथ में चढ़ते हैं : ९.८७,९; ९ १०३,५)। फिर भी, इनकी अपनी भी पत्नयुक्त अश्वियाँ, तथा वायु की भांति एक दल है : ९.८६,३७ (ईशानः इमा भुवनानि वीयसे युजान. इन्दो हरितः सुपर्ण्यः); ९.८८,३ (वायुर् न यो नियुत्वान् इष्टयामा)। यह रथ के बदले अपने छनने पर चढ़ते हैं और सहस्र नोकों वाली ऋष्टि से सुसज्जित हैं : ९ ८३,५, ९.८६,४० (पवित्र रथः सहस्रम् ऋष्टिः)। इनके आयुध, जिन्हें ये एक योद्धा की भांति अपने हाथों में धारण करते हैं (९.७६,२ : शूरो न धत्ते आयुधा गभस्त्योः), तीक्ष्ण और भयंकर हैं : ९.६१,३० : भीमानि आयुधा तिग्मानि) तथा इनका धनुष वेगवान् है (९.९०,३ : तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा)। यह वृत्रहन् अथवा वृत्रहन्तम (१.९५,५; ९.२४,६; ९.२५,६; ९ २८;३; १०.२५,९) और इन्द्र की ही भांति शत्रुओं के विनाशक और पुरों का भेदन करनेवाले हैं (९ ६१,२; ९.८८,४ : इन्द्रो न यो महा कर्माणि चक्रिर् हन्ता वृत्राणम् असि सोम पूर्भित्)। ९.५,९ में इन्हें 'प्रजापति' उपाधि से विभूषित किया गया है। ये देवों के स्रष्टा और पिता हैं : ९ ४२,४ (क्रन्दन् देवान् अजीजनत); ९.८६,१० (पिता देवानां जनिता विभुवसुः), ९.८७,२ (पिता देवानां जनिता सुदक्षः), ९.१०९,४। ये सूक्तों, द्यौस, पृथिवी, अग्नि, सूर्य, इन्द्र और विष्णु के जनक हैं : ९.९६,५ (सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिता अग्नेर् जनिता सूर्यस्य जनिता इन्द्रस्य जनितोत विष्णोः)। ये अन्धकार को विसर्जित करते हैं (१.९१,२२ : त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ; ९ ६६,२४ : शुक्रं ज्योतिर् अजीजनन्। कृष्णा तमांसि जघनत्), अन्धकारपूर्ण रात्रियों को प्रकाशित करते हैं (६.३९,३ : अयं द्योतयद् अद्युतो वि अक्तून); और इन्होंने ही सम्पूर्ण मानव जाति के लिये महान प्रकाश से युक्त सूर्य की सृष्टि तथा इसे प्रकाश से युक्त किया है (६.४४,२३ : अयं सूर्ये अदधाज् ज्योतिर् अन्तः; ९.६१,१६ : पवमानो अजीजनद् दिवश् चित्रं न तन्यतुम्।

ज्योतिर् वैश्वानरम् बृहत्; ९.९७,४१ : अजनयत् सूर्ये ज्योतिर् इन्दुः; ९.१०७,७ : आ सूर्यं रोहयो दिवि; ९.११०,३ : अजीजनो हि पवमान सूर्यम्)। इन्होंने अन्तरिक्ष को फैलाया (१.९१,२२ : त्वम् आ ततन्थ उरु अन्तरिक्षम्; ९.४७,३ और बाद); और पितरों के साथ आकाश तथा पृथिवी को फैलाया (८.४८,१३ : त्वं सोम पितृभिः संविदानो अनु द्यावा-पृथिवी आ ततन्थ)। ये आकाश को धारण करनेवाले और पृथिवी के पोषक हैं तथा दोनों को पृथक् रखते हैं : ६.४४,२४ (अयं द्यावापृथिवी वि स्कभायत्); ६.४७,५ (अयम् महान् महता स्कम्भेन उद् द्याम् अस्त-भ्नाद् वृषभो मरुत्वान्); ९.८७,२ (विष्टम्भो दिवो धरुणः पृथिव्याः); ९.८९,६; ९.१०१,६। इन्होंने ही यज्ञ में दो दिव्य लोकों को उत्पन्न किया जो मनुष्यों पर कृपा रखते हैं : ९.९८,९ (स वां यज्ञेषु मानवी इन्दुर् जनिष्ट रोदसी देवो देवी)। ये देवों और मनुष्यों के राजा हैं (९.९७,२४ : राजा देवानाम् उत मर्त्यानाम्)। ये ही सूर्य की भांति सम्पूर्ण लोकों (अथवा प्राणियों) के ऊपर स्थित है (९.५४,३ : अयं विश्वानि तिष्ठति पुनानो भुवनोपरि। सोमो देवो न सूर्यः)। सभी प्राणी इन्हीं के अधीन हैं : ९.८९,६ (विश्वाः उत क्षितयो हस्ते अस्य)[401] इनके व्रत भी वरुण के ही समान हैं (१.९१,३; ९.८८,८ : राज्ञो नु ते वरुणस्य व्रतानि), और इन व्रतों के उल्लंघन के लिये इनसे क्षमा माँगते हुये इनसे पितृवत कृपा और मृत्यु से मुक्ति दिलाने की स्तुति की गई है : ८.४८,९ (यत् ते वयम् प्रमिनाम व्रतानि स नो मृळ सुषखा देवस्यः); १०.२५,३ (उत व्रतानि सोम ते प्र अहम् मिनामि पाक्या। अध पितेव सूनवे वि वो मदे मृळ नो अभि चिद् वधाद् विवक्षसे)। ये सहस्रनेत्र (९.६०,१-२) हैं तथा सभी प्राणियों को जानते और देखते हुये नास्तिकों को गर्त में फेंकते है (९.७३,८ : विद्वान् स विश्वा भुवनाऽभि-पश्यति अवअजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्)। ये उसी प्रकार सम्पूर्ण जीवों के जीवन की रक्षा करते हैं जैसे गोपाल गायों की करता है : १०.२५,६ (पशुं न सोम रक्षसि पुरुत्रा विष्ठितं जगत्। समाकृणोषि जीवसे वि वो मदे विश्वा सम्पश्यन् भुवना विवक्षसे)। यह उग्रों में उग्रतम और योद्धाओं में श्रेष्ठतम योद्धा, उदारों में सबसे अधिक दानी, एक योद्धा के रूप में सदैव विजयी हैं :[402] ९.६६,१६ (महान् असि सोम ज्येष्ठः उग्रा-

---

[401] तुकी० प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग में उद्धृत कुछ और स्थल।

[402] ९.९६,१६.१९ मे इनके आयुधों का उल्लेख है। ६.४४,२२ में यह कहा गया है कि इन्होने अपने पिता को आयुधों से रहित करके उनकी माया

णाम् इन्द्रो ओजिष्ठः। युध्वा सन् शश्वद् जिगेथ। १७. यः उग्रेभ्यश् चिद् ओजीयान् शूरेभ्यश् चित् शूरतरः। भूरिदाभ्यश् चिद् मंहीयान्)। यह अपने उपासकों के लिये गायें, रथ, अश्व, सुवर्ण, स्वर्ग, जल—एक सहस्र वाञ्छित वस्तुयें जीतते हैं: ९.७८,४ (गोजिन् नः सोमो रथजिद् हिरण्यजित् स्वर्जिद् अब्जित् पवते सहस्रजित्)। ये सभी कुछ जीतते हैं: ८.६८,१ (विश्वजित्)। यह एक बुद्धिमान ऋषि हैं (८.६८,१: ऋषिर् विप्रः काव्येन) जो शक्तिशाली, कुशल, सर्वज्ञ, प्रचुर और द्युतिमान हैं (१.९१,२: त्वं सोम क्रतुभिः सुक्रतुर् भूस् त्वं दक्षैः सुदक्षो विश्ववेदाः। त्वं वृषा वृषत्वेभिर् महित्वा द्युम्नेभिर् द्युम्नी अभवो नृचक्षाः)। ये देवों के पुरोहित, कवियों के अग्रणी, ऋषियों में महर्षि, वन्यपशुओं में वृषभ, पक्षियों में श्येन, वनों में कुठार हैं (ब्रह्मा देवानाम् पदवीः कवीनाम् ऋषिर् विप्राणाम् महिषो मृगाणाम्। श्येनो गृध्राणां स्वधितिर् वनानाम्)। ये शत्रुओं से दुर्जेय रक्षक हैं: १.९१,२१ (अषाळ्हं युत्सु पृतनासु पप्रिम्); १०.२५.७ (त्वं नः सोम विश्वतो गोपाः अदाभ्यो भव। सेध राजन्न् अप स्रिधः)। ये यदि अपने उपासकों को जीवन दें तो वे मृत्यु नहीं पाते: १.९१,६ (त्वं च सोम नो वशो जीवातुं न मरामहे)। ८.४८,७ में इनसे उसी प्रकार स्तोताओं के जीवन को बढ़ाने की प्रार्थना की गई है जैसे सूर्य दिन को बढ़ाता है (सोम राजन् प्र नः आयूंषि तारीर् अहानीव सूर्यो वासराणि)। १०.५९,४ में इनसे यह निवेदन किया गया है कि ये स्तोता को मृत्यु न प्राप्त होने दें (मो षु नः सोम मृत्यवे परा दाः)। इस प्रकार के देवता के सखा कष्ट नहीं पा सकते: १.९१,८ (न रिष्येत् त्वावतः सखा)। ऐसे देवता के साथ घनिष्ठता और सख्य की उत्सुकतापूर्वक कामना की जाती है: ९.६६,१८ (वृणीमहे सख्याय वृणीमहे युज्याय)। १०.२०,५ में यह कहा गया है कि जलों के संसर्ग में इन्हें उसी प्रकार आनन्द आता है जैसे युवती के

को भी नष्ट कर दिया (जय स्वस्य मिनुर् आयुधानि इन्दुर् अमुष्णाद् अशिवस्य मायाः)। ऐत० ब्रा० १.१४ में कहा गया है कि पूर्वयुग में देवों और असुरों में युद्ध हुआ। इन लोगों ने चारों दिशाओं में युद्ध किया किन्तु सर्वत्र असुर ही विजयी हुये थे। फिर भी उत्तर-पूर्व में देवगण पराजित नहीं हुये क्योंकि यह अविजेय दिशा है (देवासुरा वै एषु लोकेषु समयतन्त। ते एतस्याम् प्राच्यां दिशि अयतन्त। तांस् ततोऽसुराः अजयन्।...ते उदीच्यां प्राच्याम् दिशि अयतन्त। ते ततो न पराजयन्त। सा एषा दिग् अपराजिता।...ते देवाः अब्रुवन् "अराजतया वै नो जयन्ति। राजानं करवामहै" इति। "तथा" इति। ते सोमं राजानम् अकुर्वन्। ते सोमेन सर्वा दिशोऽजयन्)।

संसर्ग में मनुष्य को (याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर् युवतिभिर् न मर्यः)।

(७) सोम का अन्य देवों के साथ सम्बन्ध

सोम को स्तुति के लिये अग्नि के साथ सम्बद्ध किया गया है (१.९३,१ और बाद)। इस सूक्त के ५वें मंत्र में यह कहा गया है कि इन दोनों देवताओं ने आकाश में प्रकाशित ग्रहों को रक्खा है (युवम् एतानि दिवि रोचनानि अग्निश् च सोम सुक्रतू अधत्तम्)। इसी प्रकार, २.४०,१ और बाद में सोम और पूषा को संयुक्त किया गया है, जहाँ दोनों को महान् गुणों और कर्मों से युक्त किया गया है। इस प्रकार, पहले मन्त्र में इन्हें धन का तथा आकाश और पृथिवी का जनक, सम्पूर्ण विश्व के रक्षक के रूप में जन्मा, और देवों द्वारा अमरत्व का केन्द्र बनाया गया कहा गया है (जनना रयीनां जनना दिवो जनना पृथिव्याः। जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवाः अकृण्वन्न् अमृतस्य नाभिम्)। इनमें से एक ने आकाश में अपना निवास बनाया है तथा दूसरे ने पृथिवी पर तथा अन्तरिक्ष में (मंत्र ४)। एक ने सम्पूर्ण लोकों को उत्पन्न किया है और दूसरा सभी वस्तुओं को देखता हुआ विचरण करता है (मंत्र ५) : ४. दिवि अन्यः सदन चक्रे उच्चा पृथिव्याम् अन्यो अधि अन्तरिक्षे। ५. विश्वानि अन्यो भुवना जजान विश्वम् अन्यो अभिचक्षाणः एति)। ६.७२ और ७.१०४ में सोम और इन्द्र की एक साथ स्तुति है। इनमें से प्रथम सूक्त में इन लोगों को अन्धकार विसर्जित करनेवाला, निन्दकों को नष्ट करनेवाला, सूर्य और प्रकाश को लानेवाला, आकाश को ऊपर धारण करनेवाला, और माता पृथिवी को फैलानेवाला कहा गया है (१. युव सूर्यं विविदथुर् युवं स्वर् विश्वा तमांसि अहतं निदश् च। २. वासयथः उषासम् उत् सूर्यम् नयथो ज्योतिषा सह। उप द्यां स्कम्भथुः स्कंम्भनेन अप्रथतम् पृथिवीम् मातरं वि)। ७.१०४ में राक्षसों, यातुधानों, तथा अन्य शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के लिये दोनों का आवाहन किया गया है।

६.७४ सूक्त सोम और रुद्र को सम्मिलित रूप में समर्पित है। इन दोनों की, जो तीक्ष्ण आयुधों से सुसज्जित हैं (तिग्मायुधौ तिग्माहेती), यहाँ मनुष्यों और पशुओं को ओषधियाँ प्रदान करने और पाप से मुक्त करने के लिये स्तुति की गई है (शं नो भूतं द्विपदे शं चतुष्पदे। एतानि अस्मे विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्। अव स्यतम् मुञ्चतम् यन् नो अस्ति तनूषु बद्धम् कृतम् एनो अस्मत्)।

(८) वैदिकोत्तर काल में सोम चन्द्रमा का एक नाम

वैदिकोत्तर काल में सोम का सामान्यतया चन्द्रमा के एक नाम के लिये व्यवहार किया जाने लगा। यहाँ तक कि ऋग्वेद में भी, इस प्रयोग के कुछ चिह्न देखे जा सकते हैं। इस प्रकार, १०.८५,२ और बाद में (जिसे प्रो० रॉथ अपने निरुक्त, पृ० १४७, में अपेक्षतया एक आधुनिक सूक्त मानते हैं) इस शब्द के द्विविध आशय का कुछ संकेत निहित प्रतीत होता है: २. सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणाम् एषाम् उपस्थे सोमः अहितः। ३. सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्ति ओषधिम्। सोम यम् ब्रह्माणो विदुर् न तस्याश्नति कश्चन। ४. आच्छद्विधानैर् गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः। ग्राव्णाम् इति शृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः। ५. यत् त्वाः प्रपिबन्ति ततः आप्यायसे पुनः। वायुः सोमस्य रक्षिता समानाम् मासः आकृतिः। "२. सोम से आदित्य बलवान होते हैं; सोम से ही पृथिवी महान् है; और सोम इन नक्षत्रों के केन्द्र में स्थित है। ३. जब पौधे को दबाया जाता है तब जो उसका पान करता है वह उसे सोम मानता है। जिसे पुरोहित सोम मानते हैं उसे (चन्द्रमा को) कोई पान नहीं करता। ४. जो तुम्हें आश्रय देते हैं उनसे रक्षित होकर, और अपने अभिभावकों द्वारा सुरक्षित[४०३] तुम, हे सोम! दबानेवाले पाषाणों की ध्वनि सुनते हो; किन्तु कोई भी पार्थिव प्राणी तुम्हारा स्वाद नहीं लेता। ५. हे देवता! जब देवगण तुम्हारा पान करते हैं तो तुम पुनः वृद्धि को प्राप्त होते हो। वायु सोम का रक्षक है: मास वर्ष का एक भाग होता है।"[४०४] अथर्ववेद में यह अर्धऋचा आती है: ११.६,७: सोमो मा देवो मुञ्चतु यम् आहुश् चन्द्रमाः इति। "सोम देवता मुझे मुक्ति दें, वह जिन्हें लोग चन्द्रमा कहते हैं।" और शतपथ ब्राह्मण १.६.४,५; ११.१,३,२; ११.१,३,४, और ११.१,४,४, में हमें ये शब्द मिलते हैं: एष वै सोमो राजा देवानाम् अन्नं

[४०३] जिस शब्द का यह अनुवाद है वह 'बार्हतैः' है। बोटलिङ्क और रॉथ के कोश में इसके आशय को सन्दिग्ध बताया गया है। प्रो० वेबर (इण्ड० स्ट० ५, १७८ और बाद) इसका "उच्च" अनुवाद करते हैं। लैंगलोइ इसे 'अधीक्षक' बताते हैं। १८ और १९ वें मन्त्रो मे पुन चन्द्रमा का उल्लेख है। ऋग्वेद ८.७१,८ में प्यालों में चमकने सोम की जलों में चमकते चन्द्रमा से तुलना की गई है। देखिये प्रो० बेनफे की ऋग्वेद १.८४,१५ पर टिप्पणी (ओरियण्ट उण्ट ऑक्सीडेण्ट २ २४६)।

[४०४] वेबर और लैंगलोइ 'मास' को प्रथमा मानते हैं। बॉटलिङ्क और रॉथ 'मास्' के अन्तर्गत इस स्थल को उद्धृत करते हुये इसे षष्ठी मानते हैं।

यत् चन्द्रमाः । "यह राजा सोम, जो चन्द्रमा हैं, देवों के अन्न हैं ।" इसी प्रकार ११ १,३,५ में ये शब्द : चन्द्रमाः वै सोमो देवानाम अन्नम् । "सोम चन्द्रमा है, देवों का अन्न है ।" देखिये १.६,३,२४ भी : सूर्यः एव आग्नेयः । चन्द्रमाः सौम्यः । "सूर्य की प्रकृति आग्नेय है, और चन्द्रमा की सौम्य ।" ५.३,३,१२ और ९.४,३,१६ में सोम को ब्राह्मणों का राजा कहा गया है (सोमोऽस्माकम् ब्राह्मणानां राजा) । विष्णु पुरा (१.२२, पृ० ८५ विलसन संस्करण, भाग २) में सोम की द्विविध प्रकृति को इन शब्दों में व्यक्त किया गया है : "ब्रह्मा ने सोम की नक्षत्रों और ग्रहों के, ब्राह्मणों और ओषधियों के, यज्ञों और तपों के राजा के रूप में नियुक्ति की (नक्षत्र-ग्रह-विप्राणां वीरुधां चाप्य अशेषतः । सोमं राज्ये दधौ ब्रह्मा-यज्ञानं तपसाम् अपि) ।



खण्ड १७

बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति

मैं इस देवता के अपने वर्णन को बॉटलिंक और रॉथ के कोश में दिये गये इसके विवरण के अनुवाद से आरम्भ करूँगा : "बृहस्पति, जो ब्रह्मणस्पति के साथ एकान्तरित होते हैं, एक ही देवता हैं जिनमें देवों के प्रति स्तोताओं के कर्मों का मूर्तीकरण किया गया है। यह हवि देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, अथवा पुरोहित हैं जो मनुष्यों का देवताओं के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं और मनुष्यों की दुष्टों से रक्षा करते हैं। अतः ये पुरोहित और पुरोहितीयतंत्र के प्रतिरूप के रूप में प्रगट होते हैं। इसीलिये इन्हें देवमण्डल का पुरोहित कहा गया है। इस देवता की प्राचीन भारतीय धारणा ब्रह्म और ब्राह्मण[४०४] विषयक प्रो० रॉथ के लेख (जजओसो०, पृ० ६६) में अधिक पूर्णता के साथ व्यक्त हुई है जहाँ लेखक ने इस देवता से सम्बद्ध मौलिक धारणा तथा वेद के अपेक्षतया प्राचीनतर देवताओं की धारणा के बीच इस अनिवार्य अन्तर की ओर निर्देश किया है कि अन्य देवता प्रकृति के विभिन्न विभागों अथवा भौतिक शक्तियों के मूर्तीकरण हैं जब कि बृहस्पति नैतिक विचारों से उत्पन्न हुये हैं और भक्ति की शक्ति के मूर्तीकरण हैं। इस लेख से मैं निम्न-लिखित अंश दे रहा हूँ : "दूसरी ओर, ब्रह्म का एक सर्वथा भिन्न आशय है। इसके मौलिक आशय को, जिसे वैदिक सूक्तों में सरलता से ढूँढ़ा जा सकता है, प्रार्थना है, स्तुति या धन्यवाद नहीं। इससे उन आवाहनों का तात्पर्य है जो देवों पर केन्द्रित उपासकों की उस इच्छाशक्ति को व्यक्त करते हैं जो उन्हें उपासकों की ओर खींच लाते हैं और उन्हें सन्तुष्ट करते हैं। यह उस भक्तिपूर्ण स्तुति को व्यक्त करते हैं जो उस प्राचीन धर्म के लिये स्वाभाविक थी और जो देवों से मनोवाञ्छित वरदान प्राप्त कराती थी।" (पृ० ६७)। "इस क्लीब संज्ञा 'ब्रह्म' से ही सीधे निष्कृष्ट ब्रह्मणस्पति देवता का नाम है जो अनेक दृष्टियों से एक उल्लेखनीय देवता है। इसकी सम्पूर्ण प्रकृति ऐसी है कि वैदिक पुराकथात्मक सृजनों के आरम्भिकतम स्तर का नहीं अपितु एक द्वितीय स्वरूप का संकेत करती है जो धार्मिक चेतना, बिना पूर्ण-तया कार्यान्वित किये हीं, अपनाना चाहती थी। वेद के प्रमुख देवों की

---

४०४ इस लेख के कुछ अंशों का मैंने बहुत पहले ही एक बनारस की पत्रिका के लिये अनुवाद किया था।

सम्पूर्ण शृङ्खला प्राकृतिक प्रतीकवाद के अन्तर्गत आती है जो यहाँ किसी भी अन्य इण्डोजर्मनिक जाति की अपेक्षा अधिक निश्चित, अमिश्रित और पारदर्शी है, किन्तु जो इसी कारण, जीवन के अन्य क्षेत्रों के सन्दर्भों में कम सम्पन्न और एक निश्चित समरूपता की सीमा से बाहर नहीं जा सकी है। किन्तु ब्राह्मणस्पति एक ऐसे दिव्य प्राणी हैं जो भौतिक जीवन की परिधि के तत्काल अन्तर्गत नहीं, बल्कि इससे मानव आत्मा के भौतिक जीवन में संक्रमण का निर्माण करते हैं। इनमें, जो स्तुतियों के अधिपति या रक्षक हैं, उपासना की एक ऐसी शक्ति की सक्रियता को व्यक्त करते हैं जो प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्तीकरण और प्रकृति से सीधे सम्बद्ध है। और इस बात को अब भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है कि इस नवागन्तुक देवता का किस प्रकार पहले से ही स्थापित पुराकथाशास्त्रीय प्राणियों की परिधि में समावेश किया गया, किन्तु जो केवल अन्य देवताओं के साथ बैठने अथवा उनके लिये यज्ञ आदि करने का ही स्थान प्राप्त कर सका।[४०४]

वैदिक धर्म के उच्चतम देवता इन्द्र हैं। ये कम से कम एक ऐसे देवता हैं जिनके कर्मों का मनुष्यों की सुख समृद्धि पर सीधा प्रभाव पड़ता है। ये मध्याह्न के आकाश के मित्रवत् देवता हैं, जो हर प्रकार के अवरोधों के बाद पुनः नवीन रूप से प्रकाशित होते हैं, और जिन पर पृथिवी की उर्वरता तथा मानव अस्तित्व की सुख और शान्ति निर्भर करती है; और जो स्तुति वेद में सर्वाधिक मिलती है और इस इन्द्र को सम्बोधित है, यह है कि ये उस मेघ-दैत्य के प्रयासों को विफल करेंगे जो आकाश के उर्वरक जलों को हरण कर अथवा उन्हें पर्वतों की गुफाओं में छिपा रखने का प्रयास करता है। अतः इन्द्र उस दैत्य का वध कर जलों को मुक्त करके पृथिवी को उर्वरता और मनुष्यों तथा पशुओं को पोषण प्रदान करते हैं। अब, जैसा कि ब्रह्मणस्पति नाम का तात्पर्य है यदि यह ब्रह्मणस्पति देवता स्तुति की विजयी शक्ति को व्यक्त करता है तब हम इसे अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा पुराकथाओं के इसी क्षेत्र में अधिक पायेंगे। और वास्तव में यह देवता इन्द्र के साथ उन्हीं युद्धों में आता है जिसमें इन्द्र मेघ-दानव के विरुद्ध युद्ध करते हैं, और वह भी इस रूप में श्रम का एक ऐसा विभाग ही इसे दे दिया गया है जो अधिकांश अन्य सूक्तों में एकमात्र इन्द्र का ही कार्य है। और अन्ततः कुछ स्थलों पर यह देवता (ब्रह्मणस्पति) अकेले ही बल के गह्वरों को नष्ट करके उर्वरक जलों की निधियों को,

---

४०४ "सभी ऐसे देवताओं को जिनके नाम के आगे 'पति' लगा है, एक बाद के समय का देवता मानना चाहिये, जैसे वाचस्पति, वास्तोष्पति, क्षेत्रस्यपति।'

अथवा प्रयुक्त लाक्षणिक भाषा में प्रचुर दूध सहित गायों को प्रकाशित करते हैं।" (पृ० ७१ और बाद)।

ऋग्वेद २ २४,३ और बाद, का उद्धरण देने के बाद प्रो० रॉथ आगे यह कहते हैं: "अतः यह ब्रह्म अथवा स्तुति ही है जिससे देवता शत्रु के छिपने के स्थानों को नष्ट करता है। स्तुति अपनी इच्छित वस्तु का भेदन करके उसे प्राप्त कर लेती है, और, अब यदि हम उस प्राकृतिक घटना को ढूँढ़ना चाहें, जिसका कि सन्दर्भ है, अर्थात झंझावात या उस शक्ति का जो दानवों के गढ़ों का विध्वंस कर देता है, तो हम देखेंगे कि यह अकेले विद्युत ही है जो इस विजेता देवता का बाह्य प्रतीक हो सकता है। इसलिये ब्रह्मणस्पति को 'द्युतिमान' 'हिरण्यवर्ण' आदि कहा गया है (५ ४३,१२)। ब्रह्मणस्पति का क्षेत्र और अधिक आगे तक जाता है। यह आवाहन की प्रभावकता तक पहुँचता है। यह युद्ध में पुष्टि प्रदान करता है (ऋग्वेद ६.७३,२)।" (पृ० ७४)। और "अन्ततः एक अत्यन्त विस्तृत सृजनात्मक शक्ति को दसवें मण्डल के एक सूक्त के एक उल्लेखनीय मंत्र में इस देवता पर आरोपित किया गया है। इस सूक्त के द्रष्टा अङ्गिरस वंशी अयास्य हैं। (पृ० ७५)।

(१) बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति की प्रशस्ति करनेवाले स्थल

मैं एक सम्पूर्ण सूक्त तथा अन्य के कुछ अंश उद्धृत करूँगा जो ऋग्वेद में ब्रह्मणस्पति की प्रकृति का उदाहरण प्रस्तुत करेंगे और यह भी दिखायेंगे कि किस प्रकार यह नाम एक ही सूक्त के विभिन्न मंत्रों में बृहस्पति के साथ एकान्तरित होता है।

ऋग्वेद २.२३,१ : गणानां त्वा गणपतिं हवामहे कविं कवीनाम् उपमश्रवस्तमम्। ज्येष्ठराजम् ब्रह्मणाम् ब्रह्मणस्पते आ नः शृण्वन्न् ऊतये सीद सदनम्। २. देवाश् चित् ते असुर्य प्रचेतसो बृहस्पते यज्ञियम् भागम् आनशुः। उस्रा: इव सूर्यो ज्योतिषा महो विश्वेषाम् इज् जनिता ब्रह्मणाम् असि। ३. आ विबाध्य परिरपस् तमांसि च ज्योतिष्मन्त रथम् ऋतस्य तिष्ठसि। बृहस्पते भीमम् अमित्रदम्भन रक्षोहणं गोत्रभिदं स्वर्विदम्। ४. सुनीतिभिर् नयसि त्रायसे जनं यस् तुभ्यं दाशाद् न तम् अंहो अश्नवत्। ब्रह्मद्विषस् तपनो मन्युमीर् असि बृहस्पते महि तत् ते महित्वनम्। ५. न तम् अंहो न दुरितं कुतश्चन नारातयस् तितिरुर् न द्वयाविनः। विश्वा: इद् अस्माद् ध्वरसो वि बाधसे यं सुगोपा: रक्षसि ब्रह्मणस्पते। ६. त्वं नो गोपाः पथिकृद् विचक्षणस् तव व्रताय मतिभिर् जरामहे। बृहस्पते यो नो अभि ह्वरो दधे स्वा तम् मर्मर्तु दुच्छुना हरस्वती। ७. उत वा यो नो मर्चयाद् अनागसो अरातीवा

मर्त्तः सानुको वृकः। बृहस्पते अप तं वर्तय पथः सुगं नो अस्यै देववीतये कृधि। ८. त्रातारं त्वा तनूनां हवामहे अवस्पर्तर् अधिवक्तारम् अस्मयुम्। बृहस्पते देवनिदो नि बर्हय मा दुरेवाः उत्तरं सुम्नम् उन नशन्। ९. (=निरुक्त ३.११) त्वया वयम् सुवृधा ब्रह्मणस्पते स्पार्हा वसु मनुष्या आ ददीमहि। याः नो दूरे तळितो याः अरातयो अभि सन्ति जम्भय ताः अनप्नसः। १०. त्वया वयम् उत्तमं धीमहि वयो बृहस्पते पप्रिणा सस्निना युजा। मा नो दुश्शंसो अभिदिप्सुर् ईशत प्र शुशंसाः मतिभिस् तारिषीमहि। ११. अनानुदो वृषभो जग्मिर् आहवं निष्टप्ता शत्रुम् पृतनासु सासहिः। असि सत्य ऋणयाः ब्रह्मणस्पते उग्रस्य चिद् दमिता वीळुहर्षिनः। १२. अदेवेन मनसा यो रिषण्यति शासाम् उग्रो मन्यमानो जिघांसति। बृहस्पते मा प्रणक् तस्य नो वधो नि कर्म मन्युं दुरेवस्य शर्धतः। १३. भरेषु हव्यो नमसोपसद्यो गन्ता वाजेषु सनिता धनम् धनम्। विश्वाः इद् अर्यो अभिदिप्स्वो मृधो बृहस्पतिर् वि ववर्ह रथान इव। १४. तेजिष्ठया तपनी रक्षसस् तप ये त्वा निदे दधिरे दृष्टवीर्यम्। आविस् तत् कृष्व यद् असत् ते उक्थ्यम् बृहस्पते वि परिरपो अर्दय। १५. बृहस्पते अति यद् अर्यो अर्हाद् द्युमद् विभाति क्रतुमज् जनेषु। यद् दीदयत् शवसा ऋतप्रजात तद् अस्मासु द्रविणम् धेहि चित्रम्। १६. मा नः स्तेनेभ्यो ये अभि द्रुहस् पदे निरामिणो रिपवोऽन्नेषु जगृधुः। आ देवानाम् ओहते वि व्रयो हृदि बृहस्पते न परः साम्नो विदुः। १७. विश्वेभ्यो हि त्वा भुवनेभ्यस् परि त्वष्टाऽजनत् साम्नः कविः। स ऋणचिद् ऋणयाः ब्रह्मणस्पतिर् द्रुहो हन्तामहः ऋतस्य धर्तरि। १८. तव श्रिये वि अजिहीत पर्वतो गवां गोत्रम् उदसृजो यद् अंगिरः। इन्द्रेण युजा तमसा परिवृतम् बृहस्पते निर् अपाम् औब्जो अर्णवम्। १९. ब्रह्मणस्पते त्वम् अस्य यन्ता सूक्तस्य बोधि तनयं च जिन्व विश्वं तद् भद्रं यद् अवन्ति देवाः बृहद् वदेम विदथे सुवीराः।

यद्यपि नीचे मैं इस स्थल का जो अनुवाद दे रहा हूं वह बहुत असन्तोषजनक है, और अनेक शब्दों तथा वाक्पदों के आशयों के सम्बन्ध में मुझे सन्देह है, तथापि सामान्य आशय स्पष्ट और असन्दिग्ध है :

"हे ब्रह्मणस्पते! तुम देवताओं में दिव्य और कवियों में श्रेष्ठ हो। तुम्हारा अन्न सबसे उत्तम है। तुम प्रशंसा किये हुओं में सर्वश्रेष्ठ[४०५] और स्तोत्रों के स्वामी हो। तुम हमारी स्तुति से आश्रय देने के लिये यज्ञ-स्थान पर विराजमान होओ। हम तुम्हारा आह्वान करते हैं। २. राक्षसों का वध करनेवाले,

[४०५] तुकी० ५ ५१,१२ में 'सर्वगण' उपाधि।

ज्ञानवान् ब्रह्मणस्पते ! देवताओं ने तुम्हारा यज्ञभाग पाया है। जैसे सूर्य अपनी ज्योति से रश्मियाँ उत्पन्न करते हैं वैसे ही तुम स्तोत्र उत्पन्न करो। ३. हे ब्रह्मणस्पते ! सब ओर से निन्दकों और अन्धकारों को मिटाकर तुम द्युतिमान, विकराल, शत्रुनाशक मेघों को छिन्न-भिन्न करनेवाले दिव्य रथ पर आरूढ़ हुये हो। ४] हे ब्रह्मणस्पते ! तुम हविदाता को उत्तम मार्ग पर ले जाने वाले हो। उसकी पाप से रक्षा करते हो। तुम अपनी महिमा से स्तुति न करनेवालों को दुःख देते हो और क्रोधी का विनाश करते हो। ५. हे ब्रह्मणस्पते ! तुम जिसके रक्षक हो उसे कोई दुःख नहीं दे सकता। उसे पाप नहीं व्यापता। उसे शत्रु नहीं मार सकते, वंचक उसे ठग नहीं सकते। तुम उसके लिये सभी हिंसा करनेवालों को दूर भगा दो। ६. हे ब्रह्मणस्पते ! तुम अद्भुत कर्मवाले. उत्तम मार्ग पर चला कर हमारी रक्षा करते हो ! तुम्हारे प्रति यज्ञ करते हुये हम मंत्रपाठ द्वारा स्तुति करते हैं। हमारे प्रति कुटिलता करनेवाले की मति भ्रष्ट हो और उसे शीघ्र नष्ट कर दे। ७. हे ब्रह्मणस्पते ! जो अहंकारी और शक्तिशाली[४०८] हमारे पास आकर हमको मारना चाहे उसे उत्तम मार्ग से हटा कर, यज्ञ के निमित्त हमारा मार्ग सुगम कर दो। ८. हे ब्रह्मणस्पते ! हमको विघ्नों से रक्षित करो। हमारी सन्तान को पालो। हम पर प्रसन्न होकर मधुर वचन बोलो। देव-निन्दकों को नष्ट करो जिससे मूर्ख व्यक्ति सुखी न हो। हम तुम्हारा आह्वान करते हैं। ९. हे ब्रह्मणस्पति देव ! तुम्हारी वृद्धि होने पर हम धन पावें। जो निकटस्थ या दूरस्थ शत्रु हम पर विजय प्राप्त करना चाहता है उस यज्ञ विहीन शत्रु का नाश करो १०. हे ब्रह्मणस्पते ! तुम पवित्र हो, अभीष्ट पूर्ण करते हो। तुम्हारी सहायता से हम श्रेष्ठ अन्न पायेंगे। हमको हराने की इच्छा वाला दुष्ट शत्रु हमारा स्वामी न बन जाय। हम उत्तम स्तोत्र द्वारा पुनीत हुये अपने को उन्नत बनायें। ११. हे ब्रह्मणस्पति देव ! तुम्हारा दान अनुपम है। तुम इच्छित देते हो। युद्ध में शत्रुओं को दुःख देते और मारते हो। तुम अटूट बलवाले, उग्र एवं अहंकारियों को दबाते हो। १२. हे ब्रह्मणस्पते ! जो देवताओं से रहित मनवाला अहंकारी हमें मारना चाहता है उसका शस्त्र हमारा स्पर्श न कर पावे। हम बलयुक्त हों और शत्रु के क्रोध को नष्ट करने में समर्थ हों। १३. जो बृहस्पति युद्धकाल में नमस्कारपूर्वक आहूत किये जाने के योग्य हैं, वे युद्ध में सहायता और हर प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। वे सब के स्वामी हैं; हिंसक शत्रु की सेना और रथों को नष्ट करने के समान विध्वंस करते हैं। १४. संताप देने-वाले तीक्ष्ण शस्त्र से दैत्यों को पीड़ित करो। इन्होंने तुम्हारे महाबली होने पर

[४०८] तानुर = समुच्छ्रित (सायण)

भी तुम्हारी निन्दा की थी। तुम अपने उसी प्राचीन पराक्रम को प्रगट करके निन्दकों को विनष्ट कर दो। १५. हे यज्ञ में उत्पन्न बृहस्पते! आर्यों द्वारा पूजित, देदीप्यमान यज्ञवाला धन सुशोभित होता है: उसी तेज-युक्त धन को हमें प्रदान करो। १६. विद्रोही, शत्रु, परधनाकांक्षी, देवताओं से विमुख, सामगानों से रहित राक्षसों के लिये हमको मत सौंप देना। १७. हे ब्रह्मणस्पते! तुम सर्वश्रेष्ठ को त्वष्टा ने उत्पन्न किया है, अतः तुम सम्पूर्ण साम का उच्चारण करनेवाले हो। यज्ञकर्म द्वारा तुम ऋण का परिशोध और विद्रोही का संहार करते हो। १८. हे अंगिरावंशी बृहस्पते! पर्वतों ने गायों को छिपा लिया; किन्तु जब यह भेद खुला तब तुमने गायों को निकाला और इन्द्र की सहायता से वृत्रद्वारा रोकी हुई जलराशि को गिराया। १९. हे ब्रह्मणस्पते! तुम विश्व के नियामक हो। हमारे स्तोत्र को जानते हुये हमारी सन्तान को सुखी बनाओ। देवगण जिसकी रक्षा करते हैं वही कल्याण को वहन करनेवाला होता है। हम पुत्र-पौत्र युक्त हुये इस यज्ञ में स्तोत्रों का गायन करेंगे।"

ऋग्वेद २.२४,१ सेमाम् अविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे अया विधेम नवया महा गिरा। यथा नो मीढ्वान् स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम्। २. यो नन्त्वानि अनमद् नि ओजसा उतादर्दर् मन्युना शम्बराणि वि। प्राच्यावयद् अच्युता ब्रह्मणस्पतिर् आ चा विशद् वसुमन्तं वि पर्वतम्। ३. तद् देवानां देवतमाय कर्त्वम् अश्रथ्नन् दृळ्हा अव्रदन्त वीळिता। उद् गाः आजद् अभिनद् ब्रह्मणा वलम् अगूहत् तमो वि अचक्षयत् स्वः। ४. (= निरुक्त १०.१२) अश्मास्यम् अवतम् ब्रह्मणस्पतिर् मधुधारम् अभि यम् ओजसाऽतृणत्। तम् एव विश्वे पपिरे स्वर्दृशो बहु साकं सिसिचुर् उत्सम् उद्रिणम्।...८. ऋतज्येन क्षिप्रेण ब्रह्मणस्पतिर् यत्र वष्टि प्र तद् अश्नोति धन्वना। तस्य साध्वीर् इषवो याभिर् अस्यति नृचक्षसो दृशये कर्णयोनयः।

"१. हे बृहस्पते। तुम विश्व के अधीश्वर हो। हमारी स्तुति को स्वीकार करो। हम इस नवीन स्तोत्र से तुम्हारी पूजा करते हैं। हम तुम्हारे मित्र हैं, हमको इच्छित फल दो। यह स्तोता तुम्हारा स्तवन करता है। २. हे ब्रह्मणस्पति देव! तिरस्कार के योग्य व्यक्तियों को तुमने अपनी महत्ता से तिरस्कृत किया। शम्बर को बींध डाला। रुके हुये जलों को प्रवाहित किया तथा जहाँ गौयें छिपी थीं, उस पर्वत में घुस गये।[४०७] ३. देवों में श्रेष्ठ ब्रह्मणस्पति के परा-

[४०७] इसका प्रो० रॉथ ने अनुवाद किया है जिसे इस खण्ड के आरम्भ में उद्धृत किया जा चुका है

श्रम से पर्वत शिथिल हो गया तथा स्थिर वृक्ष टूट पड़ा। उन्होंने गायों को मुक्त कराया और मन्त्र से बल नामक असुर को हटा दिया। सूर्य को प्रगट कर अन्धकार को दूर किया। ४. पाषाण के समान दृढ़ और मधुर जलों से युक्त जिस मेघ का ब्रह्मणस्पति ने भेदन किया, सूर्य की किरणों ने उससे रस-पान कर जलमय वृष्टि से पृथिवी पर सींचा।......८. ब्रह्मणस्पति बाण फेंकने में कुशल हैं। वह अपना इच्छित अभीष्ट धनुष द्वारा प्राप्त कर लेते हैं। उनका फेंका हुआ बाण कार्य सिद्ध करने में समर्थ होता है। वे दर्शनार्थी बाण कान से प्रकट होते हैं।"

४.५०,१ । यस् तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस् त्रिषधस्थो रवेण। तम् प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्। ४. बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्। सप्तास्यस् तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिर् अधमत् तमांसि। ५. स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण। बृहस्पतिर् उस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीर् उदाजत्। ६. एव पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर् विधेम नमसा हविर्भिः। बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्। ७. स इद् राजा सुभृतम् बिभर्ति वल्गूयति वन्दते पूर्वभाजम्।

"वेद-रक्षक बृहस्पति ने अपने बल से पृथिवी की दसों दिशाओं को अपने वश में किया। वे शब्द द्वारा तीनों लोको में व्याप्त हैं। उन विशिष्ट जिह्वावाले, प्रसन्नता देनेवाले बृहस्पति को प्राचीन ऋषियों ने पुरोहित पद पर स्थापित किया है।......४[१०८] जब वे मन्त्रज्ञ बृहस्पति सूर्यमण्डल में प्रथम बार प्रगट हुये तब मुख से सप्त-छन्दोमय तथा शब्द से युक्त होकर उन गमनशील बृहस्पति ने अपने तेज से अन्धकार को नष्ट किया। ५. उन बृहस्पति ने स्तुति करते हुये अङ्गिराओं के साथ घोर शब्द द्वारा 'बल' नामक असुर का नाश किया। उन्होंने शब्द से ही उत्तम दूध देनेवाली गौओं को गुफा से निकाला। ६ ये बृहस्पति सबके देवता स्वरूप, पालन करनेवाले, और कामनाओं की वर्षा करनेवाले हैं। हम यज्ञ में हवि द्वारा उनकी पूजा करेंगे जिससे हम सन्तान तथा बलयुक्त ऐश्वर्य का स्वामित्व प्राप्त करें। ७. जो राजा बृहस्पति की भली-भाँति रक्षा करता है तथा प्रथम हव्य ग्रहण करनेवाला मानकर उन्हें हवि देकर स्तुति करता है वह राजा शक्ति से शत्रुओं की शक्ति निरर्थक करता हुआ उन्हें पराजित करता है।"

---

[१०८] प्रो० रॉथ ने ४ और पाद के मंत्रो का अनुवाद किया है।

१०.६८,६ : यदा वलस्य पीयतो जसुम् भेद् बृहस्पतिर् अग्नितपोभिर् अर्कैः। दद्भिर् न जिह्वा परिविष्टम् आदद् आविर् निधीन् अकृणोद् उस्रियाणां। ७……आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भम् उद् उस्रियाः पर्वतस्य त्मनाऽऽजत्। ८ (= निरुक्त १०.१२) अश्नापिनद्धम् मधु पर्य् अपश्यद् मत्स्यं न दीने उदनि क्षियन्तम्। निष् टज् जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर् विरवेण विकृत्य। ६. सोषाम् अविन्दत् सः स्वः सो अग्नि सो अर्केण वि बबाधे तमांसि। बृहस्पतिर् गोवपुषो वलस्य निर् मज्जानं न पर्वणो जभार।

"जब बृहस्पति के अग्नि के समान तप्त तथा तेजस्वी आयुध ने वायु के के अस्त्र को काट डाला तब बृहस्पति ने उन गायों को अपने वश में किया— जिस प्रकार दाँतों द्वारा चबाये हुये पदार्थ को जिह्वा खाती है वैसे ही अपहरणकर्ता पणियों का वध करके बृहस्पति ने गायों को प्राप्त किया। ७.……जैसे अण्डे को फोड़कर पक्षी बच्चे को उससे बाहर निकालता है, वैसे ही उन्होंने पर्वत से गायों को बाहर किया। ८. जैसे मत्स्य अल्प जल में प्रसन्न नहीं रहते उसी प्रकार पर्वत की गुफा में बँधी अप्रसन्न गायों को बृहस्पति ने देखा। जैसे वृक्ष के काष्ठ से सोमपात्र निकलते हैं वैसे ही बृहस्पति ने गायों को पर्वत से बाहर निकाला। ९. गायों को देखने के निमित्त बृहस्पति ने उषा को पाया; उन्होंने सूर्य तथा अग्नि को प्राप्त करके अन्धकार को दूर किया। जैसे अस्थि से मज्जा को बाहर निकालते हैं वैसे ही बृहस्पति ने वृषभरूपी बल के पर्वत से गायों को बाहर निकाला।"

१.४०,५ : प्र नूनम् ब्रह्मणस्पतिर् मन्त्रं वदति उक्थ्यम्। यस्मिन्न् इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवाः ओकांसि चक्रिरे। ६. तम् इद् वोचेम विदथेषु शम्भुवम् मन्त्रं देव. अनेहसम्। "ब्रह्मणस्पति अब ऐसे प्रशस्तिसूक्त का उच्चारण करते हैं जिसमें इन्द्र, वरुण, मित्र, देवगण, सबने अपना स्थान ग्रहण किया है। ६. इस निष्कलंक सूक्त का ही, जो हमें श्रेष्ठ सौभाग्य लाता है, हे देवगण! हम भी उत्सवों के अवसर पर उच्चारण करें।[४०१]

१ १६०,१ : अनर्वाणं वृषभम् मन्द्रजिह्वम् बृहस्पतिं वर्धय नव्यम् अर्कैः। गाथान्यः सुरुचो यस्य देवाः आशृण्वन्ति नवमानस्य मर्ताः। २. तम् ऋत्वियाः उप वाचः सचन्ते सर्गो यो न देवयताम् असर्जि। "हे मनुष्यों! द्वेषरहित; स्तुत्य बृहस्पति की स्तोत्रों से पूजा करो। वे स्तोता से वियुक्त नहीं होते। देवों में पूज्य उनके वचनों को देवता और मनुष्य सभी

[४०१] ऊपर के विवेचन मे प्रो० रॉथ कहते हैं कि "गर्जन ब्रह्मणस्पति की वाणी है।"

आदरपूर्वक सुनते हैं। २. भक्तों की एक गमनशील धारा की भाँति स्तुतियाँ बृहस्पति की ओर गमन करती हैं।"

५.४३,१२ : आ वेधसम् नीलपृष्ठम् बृहन्तम् बृहस्पतिं सदने सादयध्वम्। सादद्योनिम् दमे आ दीदिवांसं हिरण्यवर्णम् अरुषं सपेम। "पराक्रमी, बुद्धिमान, और नीलपृष्ठ बृहस्पति की यज्ञस्थान में स्थापना करो। ये घर के मध्य में विराजमान होकर ज्ञान को बढ़ाते हैं। ये सुवर्ण के समान वर्ण वाले तथा तेजस्वी हैं। हम उन महान का उत्तम प्रकार से पूजन करते हैं।"

१०.९८,७ : देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर् वाचम् अस्मै अयच्छत्। "बृहस्पति ने (देवापि की) इच्छा पूर्ण करते हुये उसे एक वर्षा करानेवाला सूक्त दिया जिसे देवों ने सुना।"

(२) इस देवता की पैतृकता तथा इसके गुण

ब्रह्मणस्पति अथवा बृहस्पति को ७.९७,८ में दोनों लोकों की सन्तान कहा गया प्रतीत होता है जिन्होंने अपनी शक्ति से इनका (बृहस्पति) का वर्धन किया (देवी देवस्य रोदसी जनित्री बृहस्पतिं वावृधतुर् महित्वा); जब कि २.२३,१७ में इन्हें त्वष्टा द्वारा उत्पन्न कहा गया है। १०.१४१,३ में इन्हें एक पुरोहित कहा गया है (ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्); ये ऋक्वनों से सम्बद्ध हैं (७.१०,४; १०.१४,३; तुकी० १०.३६,५; १०.६४,४)। इन्हें आंगिरस कहा गया है (४.४०,१; ६.७३,१; १०.४७,६)। ये स्तुतियों के जनक, उद्धारक, अधिपति और प्रेरक हैं (२.२३,१-२; १.४०,५; १०.९०,७), जो स्तुतियों से अपने अभीष्ट को प्राप्त करते हैं (२.२४,३), तथा यज्ञ के द्युतिमान और भयंकर रथ पर आरूढ़ होकर स्तुतियों के तथा देवों के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये जाते हैं (२.२३,३.८)। ये पवित्रात्माओं के निर्देशक, मरक्षक और रक्षक हैं और हर प्रकार के संकटों तथा विपत्तियों से भक्तों को बचाते हैं (वही, मंत्र ४ और बाद)। ये भक्तों को धन और सम्पन्नता प्रदान करते हैं (वही, ९)। इन्हें देवों का पिता (२.२६,० : देवानाम् पितरम्) कहा गया है। ये एक लोहार की भाँति देवों के जन्म को धौंक कर उत्पन्न करते हैं। ये सभी दिव्य गुणों से युक्त, विश्वदेव्य, अथवा विश्वदेव (३.६२,४; ४.५०,६), शुचि (३.६२,५; ७.९७,७), शुन्ध्यु (७.९७,७), विश्वरूप (३.६२,६), विश्ववार (७.१०,४; ७.९७,४), शतपत्र (७.९७,७), हिरण्यपाणि (वही; तुकी० २.२४,८. जहाँ इन्हें एक धनुष तथा बाण से युक्त किया गया है), और इन्द्र के साथ सेनाओं के नेता हैं (१०.१०३,८ : इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर् दक्षिणा)।

ये एक लोहे के परशु से सुसज्जित हैं जिसे त्वष्टा तीक्ष्ण करते हैं (१०.५३,९ : शिशीते नूनम् परशुं स्वायसं येन वृश्चाद् एतशो ब्रह्मणस्पतिः)। ये शुचि-क्रन्द (७.९७,५), दीर्घजीवन देनेवाले (१०.१००,५ : प्रतरीताऽसि आयुषः), सभी वहा (१.१८,२), श्वेत, वसुवित तथा पुष्टिवर्धक (१.१८, २) हैं। ओषधियाँ इनसे ही उत्पन्न होती हैं (१०.९७,१५ : याः ओषधीः··· बृहस्पतिप्रसूताः)। एक स्थान पर यह कहा गया है कि वेगवान अरुण अश्व इनको वहन करते हैं (७.९७,६ : तं शामासो अरुषासो अश्वाः बृहस्पतिम् सहवाहो वहन्ति)।

एक स्थान पर यह कहा गया है जब एक कूप में फेंक दिये जाने के बाद त्रित देवों को पुकार रहा था तब इन्होंने उसके आर्तनाद को सुना और उसे संकट से बचाया : १.१०५,१७ (त्रितः कूपे अवहितो देवान् हवते ऊतये। तत् शुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्न् अंहूरणाद् उरु)।

बल को नष्ट करने, दिव्य गायों को लाने, अथवा आकाश के बन्दी जलों को मुक्त कराने से इनके पराक्रमों की प्रो० रॉथ के लेख से इस खण्ड के आरम्भ में उद्धृत स्थलों द्वारा तथा उपरोद्धृत मूल स्थलों द्वारा पर्याप्त व्याख्या हो जाती है। इन्हें पृथिवी के छोरों को अलग-अलग धारण कर रखनेवाला भी कहा गया है (४.५०,१)।

(३) बृहस्पति और ब्रह्मणस्पति का अग्नि के साथ समीकरण सम्भव है या नहीं

एम० लैङ्गलोइ अपने ऋग्वेद के अनुवाद (भाग १, पृ० २४९, नोट ३६; पृ० २५४, नोट ८३; पृ० ५७८, नोट १; और भाग ४ में शब्दानु-क्रमणिका में इस शब्द के अन्तर्गत) में ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति को अग्नि के नाम मानते हैं।[४१०] प्रो० विलसन (ऋग्वेद का अनुवाद, भाग १, प्रस्तावना पृ० ३७) भी इस प्रकार लिखते हैं : "जैसा कि इन्हें सम्बोधित मंत्रों से हम निष्कर्ष निकाल सकते हैं। ब्रह्मणस्पति का अग्नि के साथ समीकरण सम्भव है। अन्तर केवल इतना है कि इनमें स्तुतियों का अधीश होने का गुण और अधिक है। इस देवता के चारित्रिक गुण वेद के इस भाग में बहुत स्पष्ट रूप से विकसित नहीं हैं" (देखिये इनके पृ० ४१,१११,११२ के नोट भी)। फिर भी, ऋग्वेद के दूसरे भाग (पृ० ९) की, प्रस्तावना में प्रो० विलसन यह कहते हैं कि ऋग्वेद के दूसरे अष्टक में बृहस्पति का जैसा वर्णन किया गया है "उसके आधार पर इनका वर्षा कराने (पृ० १९९) और वज्र धारण करने (पृ० २८४) के कारण इन्द्र के साथ समीकरण सम्भव है। किन्तु इनको

[४१०] एम० लेङ्गलोई 'बृहस्पति' को 'ब्रुहस्पति' लिखते हैं।

प्रायः बिना किसी विभेद के ही ब्रह्मणस्पति, गणों के देवता, देवों के सखा, तथा वैदिक मंत्रों के प्रधान अथवा सर्वश्रेष्ठ अधिपति कहा गया है। इनका यह बाद का गुण बृहस्पति के सर्वथा अनुरूप है (पृ० २९२)। अपने कुछ गुणों, जैसे मेघों को विदीर्ण करने, वर्षा कराने, तथा अपहृत गायों को निकालने आदि की दृष्टि से ब्रह्मणस्पति इन्द्र के समान हैं, यद्यपि कुछ असंगति के साथ इन्हें इन्द्र से भिन्न किन्तु इन्द्र का सखा भी कहा गया है (पृ० २७०)। किन्तु यह भाष्यकार की मिथ्या धारणा भी हो सकती है।" अन्ततः, प्रो० मूलर (ऋग्वेद का अनुवाद १.७७) यह मत व्यक्त करते हैं कि "ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति दोनों ही अग्नि के प्रकार हैं। ये देवों और मनुष्यों के पुरोहित हैं और इस रूप में इनका मरुतों के साथ आवाहन किया गया है।" मैक्समूलर पहले यह भी कह चुके हैं कि ये सभी गुण अग्नि में भी हैं। उनकी यह टिप्पणी जिस मन्त्र के सन्दर्भ में की गई है वह इस प्रकार है: ऋग्वेद १.३८,१३: अच्छ वद तना गिरा जरायै ब्रह्मणस्पतिम् अग्निम् मित्रं न दर्शतम्। इसका प्रो० मूलर इस प्रकार अनुवाद करते हैं: "अपने स्तुतिपूर्ण वचनों से स्तुतियों के अधिपति उस अग्नि की स्तुति करो जो कान्तिमान तथा एक सखा के समान हैं।"

अग्नि के साथ ब्रह्मणस्पति का यह समीकरण, अपने विशुद्ध आशय में कुछ मूल स्थलों द्वारा तो पुष्ट होता है किन्तु कुछ स्थल इसके विरोधी हैं। प्रथम कोटि के अन्तर्गत निम्नलिखित स्थलों को उद्धृत किया जा सकता है:

२.१,३: त्वम् अग्ने इन्द्रो वृषभः सताम् असि त्वं विष्णुर् उरुगायो नमस्यः। त्वम् ब्रह्मा रयिविद् ब्रह्मणस्पते। "हे अग्ने! तुम इन्द्र हो जो देवों में सबसे शक्तिशाली हैं, तुम विस्तृत पाद-प्रक्षेपक और स्तुत्य विष्णु हो; तुम, हे ब्रह्मणस्पते (अथवा स्तुतियों के अधिपति) एक ब्रह्मा, धनों के स्वामी, इत्यादि, हो।" यहाँ यद्यपि अग्नि को भी इन्द्र और विष्णु के साथ समीकृत किया गया है, और जैसा कि अगले मन्त्रों में अन्य देवताओं के साथ भी इन्हें समीकृत किया गया है, तथापि अग्नि और ब्रह्मणस्पति का सम्बन्ध इस तथ्य के द्वारा अधिक घनिष्ठ सिद्ध होता है कि दोनों ही नाम वाले शब्द संबोधन-वाचक हैं। एक दूसरे स्थल पर भी बृहस्पति, तथा मातरिश्वन् को भी, अग्नि की उपाधियाँ माना जा सकता है: ३.२६,२: तं शुभ्रम् अग्निम् अवसे हवामहे वैश्वानरम् मातरिश्वानम् उक्थ्यम्। बृहस्पतिम् मनुषो देवतातये विप्रं होतारम् अतिथिं रघुष्यदम्। "अपनी सहायता के लिये हम सम्पूर्ण मानव जाति के मित्र, शुभ्र अग्नि को बुलाते हैं; उन मातरिश्वन् को जो स्तुति

के योग्य हैं। हम बुद्धिमान आवाहक, अतिथि, वेगवान् बृहस्पति को बुलाते हैं कि वह देवों को मनुष्यों द्वारा पूजा में आये।"

ऊपर उद्धृत मंत्र (५.४३,१२) की भी सायण ने विकल्प के रूप में अग्नि के अर्थ में व्याख्या की है : अथवा इयम् आग्नेयी। बृहतः परिवृधस्य कर्मणः स्वामी इति बृहस्पतिर् अग्निर् उच्यते। तथा नील-वर्ण-धूम-पृष्ठल-सदन-हिरण्यवर्णत्वादि लिङ्गैर् अप्य् अग्निर् एव बृहस्पतिः। "अथवा मंत्र के देवता अग्नि हैं। बृहस्पति से बृहत कर्म के देवता अग्नि का तात्पर्य है। और धूमपृष्ठत्व, सदनस्थ, हिरण्यवर्ण आदि चिह्नों से भी यही प्रतीत होता है कि बृहस्पति अग्नि हैं।" और २.२,७ में अग्नि से यह प्रार्थना की गई है कि वे स्तुति द्वारा (ब्राह्मणा) आकाश और पृथिवी को स्तोता के अनुकूल बनायें (प्राची द्यावापृथिवी ब्रह्मणा कृधि)। और भी, अग्नि को, तथा ब्रह्मणस्पति और बृहस्पति को भी, पुरोहित कहा गया है, और दोनों ही अङ्गिरस् अथवा आङ्गिरस हैं।

फिर भी, दूसरी ओर, बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति का अन्यत्र अग्नि से विभेद किया गया है। इस प्रकार १०.६८,९ में यह कहा गया है कि बृहस्पति ने उषा, आकाश और अग्नि को ढूँढ़ा तथा एक सूक्त द्वारा अन्धकार को दूर भगाया (सः उषाम् अविन्दत् सः स्वः सो अग्निम् सो अर्केण वि बबाधे तमांसि)। ७.१०,४ में अग्नि से निवेदन किया गया है कि वे इन्द्र, रुद्र, अदिति आदि के साथ बृहस्पति को लायें। निम्नलिखित स्थलों पर, जहाँ अनेक देवताओं का एक साथ नामोल्लेख या आवाहन है, अग्नि का बृहस्पति या ब्रह्मणस्पति से पृथक् उल्लेख है : ३.२०,५; ४.४०,१; ५.५१,१२ और बाद; ७.४१,१; ७.४४,१; ९.५,११; १९.३५,११; १०,६५,१; १०.१३०,४; १०.१४१,३।



खण्ड १८

यम और भावी जीवन का सिद्धान्त

(१) ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में अमरत्व के सन्दर्भ

ऋग्वेद के नवें और दसवें मण्डल में ही हमें भावी जीवन के सर्वाधिक स्पष्ट और प्रमुख सन्दर्भ मिलते हैं। यह सत्य है कि अपनी कलाकुशलता के कारण ऋभुओं को कुछ आरम्भिक मण्डलों में अमरत्व तथा दिव्य सम्मान प्राप्त करनेवाला बताया गया है (देखिये ऊपर और ऋग्वेद ४.३५,३, जहाँ यह कहा गया है : अथ ऐत वाजाः अमृतस्य पन्थां गण देवानाम् ऋभवः सुहस्ताः। "तब कुशल वाजस्, ऋभुओ ! तुम अमरत्व के पथ पर जाओ और देवसभा में सम्मिलित होओ" और मन्त्र ८ : ये देवासो अभवत सुकृत्या श्येनाः इव इद् अधि दिवि निषेद। ते रत्नं धात शवसो नपातः सौधन्वनाः अभवत अमृतास'। "तुम लोग अपनी कलाकुशलता से देवता बन गये, और श्येनों की भाँति आकाश में विराजमान हो। हे सुधन्वा के पुत्रों ! तुम अमर हो गये हो। हे बल के पुत्र हमें धन दो।")। फिर भी यह दैवीकरण का एक विशेष दृष्टान्त है और यह सिद्ध नहीं करता कि सामान्य मानवों के सम्बन्ध में यह माना जाता था कि पार्थिव अस्तित्व के बाद भी वे जीवित रह सकते थे। फिर भी, कुछ अन्य स्थल ऐसे हैं जिनको एक भावी सुख की स्थिति में विश्वास का द्योतक मानना होगा। इस प्रकार, १.३१,७ में यह कहा गया है अग्नि मर्त्य को अमर बनाते हैं (त्वं तम् अग्ने अमृतत्वे उत्तमे मर्तं दधासि); और अमरत्व के रक्षक हैं (अदब्धो गोपाः अमृतस्य रक्षिता)। और सोम को भी इसी प्रकार की शक्ति से युक्त किया गया है : १.९१,१ : तव प्रणीती पितरो नः इन्दो देवेषु रत्नम् अभजन्त धीराः। "हे सोम ! तुम्हारे निर्देश से हमारा पूर्व ऋषियों ने देवों के बीच रत्न प्राप्त किये हैं", और पुनः, श्लोक १८ : आप्यायमानो अमृताय सोम दिवि श्रवांसि उत्तमानि धिष्व। "अमरत्व को उत्पन्न करने के लिये प्रचुर हो कर, हे सोम, हमारे लिये श्रेष्ठ धनों को आकाश में स्थित करो।"[४११] इसी आशय के कुछ अन्य स्थल इस प्रकार हैं : १.१२५,५ : नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यो पृणाति स ह देवेसु गच्छति। ६. दक्षिणावताम् इद् इमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः। दक्षिणावन्तो अमृतम् भजन्ते दक्षिणावन्तः

---

[४११] प्रो० बेनफे इसका एक भिन्न रूप से अनुवाद करते हैं।

प्रतिरन्ते आयुः ।[४१२] "दानी का स्वर्ग में भी सत्कार होता है; वह देवताओं में पहुँचता है । ६. दानियों के पास विभिन्न ऐश्वर्य हैं । दानी के लिये आकाश में सूर्य स्थित है । दानी अपने दानरूपी अमृत से ही दीर्घायुष्य प्राप्त करता है ।" १.१५४,५ : तद् अस्य प्रियम् अभि पाथो[४१३] अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति । उरुक्रमस्य स हि बन्धुर् इत्था विष्णोः पदे परमे मध्वः उत्सः । "मैं विष्णु के उस विस्तृत पद का आश्रय चाहता हूँ जहाँ देवताओं का स्वामित्व माननेवाले मनुष्य आश्वासन प्राप्त करते हैं । विष्णु ही बन्धु हैं । उनका परमपद ही मधुरता का केन्द्र है ।" १.१७९,६ : उभौ वर्णाव् ऋषिर् उग्रः पुपोष सत्याः देवेषु आशिषो जगाम । "उस ऐश्वर्यशाली ऋषि ने दोनों ही प्रकारों का अभ्यास किया[४१४] ; उसने देवों के बीच अपने अभीष्ट को प्राप्त किया ।" ५.४,१० में स्तोता यह कहता है : प्रजाभिर् अग्ने अमृतत्वम् अश्याम् । "हे अग्नि ! मैं अपनी हवि से अमरत्व प्राप्त करूँ ।"[४१५] ५.५५,४ में मरुद्गणों से यह स्तुति की गई है कि वे अपने स्तोताओं को अमर करें (उतो अस्मान् अमृतत्वे दधातन) । ५.६३,२ : वृष्टिं वां राधो अमृतत्वम् ईमहे । "हे युगल देवताओं (मित्र वरुण) ! हम वर्षा, धन और अमरत्व की कामना करते हैं ।" ७.५७,६ : ददात नो अमृतस्य प्रजायै । इसकी प्रो० रॉथ (प्रजा, वस्था०) यह व्याख्या करते हैं : "अमरों की संख्या में हमें भी जोड़ दो," अर्थात हमें भी अमर बनाओ । ७.७६,४ : ते इद् देवानां सधमादः आसन्न् ऋतावानः कवयः पूर्व्यासः । "वे प्राचीन पुण्यात्मा ऋषिगण देवों के सखा थे ।" ८.५८,७ : उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहम् इन्द्रश् च गन्वहि । मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे । "जब

[४१२] १०.१०७,२ मे इसी विचार को दोहराया गया है (उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर् ये अश्वदाः सह ते सूर्येण । हिरण्यदाः अमृतत्वम् भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्ते आयुः ।

[४१३] यही 'पाथस्' शब्द १.५५,१० में भी आता है । देखिये १.१६२,२; १०.७०,९-१० भी । १.१६३,१३ में यह कहा गया है कि जिस अश्व को बलि दी जाती है वह श्रेष्ठतम स्वर्ग प्राप्त करता है । २.२३,८ मे 'उत्तरं सुम्नम' और २.२५,५ में देवाना सुम्ने का उल्लेख है; किन्तु यह स्पष्ट नही कि इससे स्वर्ग अभिप्रेत है । १.१५९,२ में यह कहा गया है कि आकाश और पृथिवी इनकी सन्तानो को विशाल अमरत्व देते हैं ।

[४१४] सायण 'उभौ वर्णौ' की 'कामं च तपश् च' व्याख्या करते हैं ।

[४१५] देखिये सायणभाष्य और विलसन का नोट भी (ऋग्वेद का अनुवाद) ।

हम दोनों—इन्द्र और हम—अपने घर, सूर्य के क्षेत्र में जाँय तब अमृतपान करते हुये हम मघवाओं के क्षेत्र में इक्कीस प्राप्त करें।" ऋक्० ८.४८,३ जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है : "हमने सोम का पान कर लिया है; हम अमर हो गये हैं; हमने प्रकाश में प्रवेश किया है; हमने देवों को जान लिया है।"

यह कहा गया है कि वात के पास भी अमरत्व की निधि है (ते गृहे अमृतस्य निधिर् हित्)। किन्तु यह मन्त्र एक बहुत बाद के सूक्त (दसवें मण्डल के १८६ वें) में आता है। ऋग्वेद १०.९५,१८ में देवों ने पुरूरवा को, जो कि इळा का पुत्र था, यह वचन दिया है कि यद्यपि वह मनुष्य है, तथापि जब उसका पुत्र देवों की पूजा करेगा और उन्हें हवि देगा, तब वह (पुरूरवा) स्वर्ग में आनन्द प्राप्त करेगा (इति त्वा देवाः इमे आहुर् ऐल यथेम एतद् भवसि मृत्युबन्धुः। प्रजा ते देवान हविषा यजाति स्वर्गे उ त्वम् अपि मादयासे)।

(२) ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में पितरों, मृत पूर्वजों की आत्माओं के सन्दर्भ

निम्नलिखित स्थलों पर उन मृत पूर्वजों की आत्माओं का सन्दर्भ उपलब्ध होता है जो परलोक में अब भी विद्यमान हैं :

१.३६,१८ : अग्निना तुर्वशं यदुम् परावतः उग्रदेवं हवामहे। "हम अग्नि के द्वारा सुदूर से तुर्वश, यदु, और उग्रदेव को बुलाते हैं।" ३.५५,२ : मो षू णो अत्र जुहुरन्त देवाः मा पूर्वे अग्ने पितरः पदज्ञाः। "देवगण हमारा विनाश न करें; देवत्व प्राप्त पितरगण भी हमको न मारें।" ६.५२,४ : अवन्तु माम् उषसो जायमानाः अवन्तु मा सिन्धवः पिन्वमानाः। अवन्तु मा पर्वतासो ध्रुवासो अवन्तु मा पितरो देवहूतौ। "उषायें, नदियाँ, अचल पर्वत और देव याग में उपस्थित देवता तथा पितर सब मेरे रक्षक हों।" ६.७५,१० : ब्राह्मणासः पितरः सोम्यासः शिवो नो द्यावापृथिवी अनेहसा। पूषा नः पातु दुरितादृ ऋतावृधः। "ब्राह्मण, पितर, सोमपायी हम पर कृपा करें। आकाश और पृथिवी हमारी वृद्धि करें। पवित्र कर्मों के प्रवर्धक पूषा हमारी विपत्तियों से रक्षा करें।" ७.३५,१२ : शं नः सत्यस्य पतयो भवन्तु शं नो अर्वन्तः शम् उ सन्तु गावः। शं नः ऋभवः सुकृतः सुहस्ताः शं नो भवन्तु पितरो हवेषु। "सत्य के देवता हमें शान्ति दें; पशु और अश्व भी हमें लाभ दें; कुशल ऋभुगण, पितर भी हमारे आवाहनों में हमें शान्ति दें।" ८.४८,१३ : त्वं सोम पितृभिः संविदानो अनु द्यावा-

पृथिवी आ ततन्थ । "हे सोम ! तुमने पितरों से मिलकर पृथिवी और आकाश को ताना है।"

यहाँ मैं नवें और दसवें मण्डलों से कुछ फुटकर मन्त्र भी उद्धृत करूँगा : ९.८३,३ : मायाविनो ममिरे अस्य मायया नृचक्षसः पितरो गर्भम् आदधुः । "अपनी मायावी शक्ति से शिल्पी ने निर्माण किया है; मनुष्यों को देखनेवाले पितरों ने गर्भ स्थापित किया है।" १०.६८,११ : अभि श्यावं न कृशनेभिर् अश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्याम् अपिंशन् । "जिस प्रकार एक अश्व को मोतियों से अलंकृत किया जाता है, उसी प्रकार पितरों ने आकाश को नक्षत्रों से अलंकृत किया गया है।" १०.८८,१५ : द्वे स्रुती अशृणवम् पितॄणाम् अहम् देवानाम् उत मर्त्यानाम् । "मर्त्यों के लिये मैंने दो ही मार्गों को सुना है—एक पितरों का मार्ग और दूसरा देवों का मार्ग।"[४१६] १० १०७,१ : महि ज्योतिः पितृभिर् दत्तम् आगात् । "पितरों द्वारा प्रदत्त महान ज्योति आ गई।"

तैत्तिरीय ब्राह्मण तथा पुराणों में पितरों को मनुष्यों से एक सर्वथा भिन्न योनि का व्यक्ति माना गया है, जैसा कि इनकी पृथक् सृष्टि के आधार पर निष्कर्ष निकाला जा सकता है । देखिये प्रस्तुत कृति का पहला भाग ।

(३) यम और पितरों से सम्बद्ध सूक्त

अब मैं नवें और दसवें मण्डलों के स्थलों पर आता हूँ जिनकी पहले चर्चा की जा चुकी है । इन स्थलों में निहित विषयों के अत्यन्त रोचक और महत्वपूर्ण होने के कारण मैं पहले कुछ विस्तार से इनके सर्वाधिक अनिवार्य अंशों को उद्धृत करूँगा और तदनन्तर इनका एक सारांश प्रस्तुत करूँगा ।

मैं ऊपर पहले ही उद्धृत ऋग्वेद १०.१७,१ में दिये गये यम की पैतृकता सम्बन्धी विवरणों तथा १०.१० के यम तथा यमी के संवाद से आरम्भ करूँगा ।

ऋग्वेद १०.१७,१ : "त्वष्टा अपनी पुत्री सरण्यू का विवाह कर रहे हैं। इसमें सम्मिलित होने के लिये विश्व के सब प्राणी उपस्थित हुये हैं । जब यम की माता सरण्यू का पाणिग्रहण हुआ तब विवस्वत की पत्नी कहीं छिप गई। सरण्यू मनुष्यों के पास छिपाई गई और उसके समान रूपवाली एक अन्य स्त्री की रचना करके उसे विवस्वत् को दे दिया गया । तब उसने (सरण्यू ने) अश्विनों को उत्पन्न किया । उसने इन दोनों यमजों को छोड़ दिया ।"[४१७]

---

[४१६] देखिये प्रथम भाग ।

[४१७] इस खण्ड के लिखे जाने के बाद मुझे मूलर के लेक्चर्स की दूसरी सिरीज भी प्राप्त हुई । आपने विवस्वत और सरण्यू के आख्यान की विशद

निम्नलिखित सूक्त में यम तथा उनकी यमज बहन यमी के बीच वार्तालाप है, जिसमें, प्रो० रॉथ के अनुसार, मानव जाति के प्रवर्तन के लिये यमी यम से विवाह का आग्रह करती है। प्रो० रॉथ के विचार से यम और यमी मानव जाति के आदिम माता-पिता हैं।[४१८] ४थे मन्त्र में इन्हें गन्धर्व तथा उसकी पत्नी की सन्तान कहा गया है :

ऋग्वेद १०.१०,१[४१९] : ओ चित् सखायम् सख्या ववृत्यां तिरः पुरु चिद् अर्णवं जगन्वान्। पितुर् नपातम् आ दधीत वेधाः अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः। २ न ते सखा सख्यं वष्टि एतत् सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवति। महस् पुत्रासो असुरस्य वीराः दिवो धर्त्तारः उर्विया परि ख्यन्। ३. उशन्ति घ ते अमृतासः एतद् एकस्य चित् त्यजसम् मर्त्यस्य। नि ते मनो मनसि धायि अस्मे जन्युः पतिस् तन्वम् आ विविश्याः। ४. न यत् पुरा चकृमि कद् ह नूनम् ऋता वदन्तो अनृतं रपेम। गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन् नौ। ५. गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर् देवस् त्वष्टा सविता विश्वरूपः। नकिर् अस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नाव् अस्य पृथिवी उत द्यौः। ६ को अस्य वेद प्रथमस्य अह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्। बृहन् मित्रस्य वरुणस्य धाम कद् उ ब्रवः आहनो वीच्या नॄन्। ७. यमस्य मा यम्यं कामः आगन् समाने योनौ सहशेय्याय। जाया इव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव[४२०] रथ्या इव चक्रा। ८. न तिष्ठन्ति न हि मिषन्ति एते देवानां स्पशः इह ये चरन्ति। (= निरुक्त ५.२) अन्येन मद् आहनो याहि तूय तेन वि वृह रथ्या इव चक्रा। ९. रात्रीभिर् अस्मै अहभिर् दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर् मुहुर् उन मिमीयात्। दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर् यमस्य बिभृयाद् अजामि। १० (= निरुक्त ४.२०) आ घ ता गच्छन्न् उत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्न् अजामि। उप बर्बृहि वृषभाय बाहुम् अन्यम् इच्छस्व सुभगे पतिम् मत्। ११. किम् भ्राता असद् यद् अनाथम् भवाति किम् उ स्वसा यन् निर्ऋतिर् निगच्छात्। काममूता बहु एतद् रपामि तन्वा मे तन्वं सम् पिपृग्धि।

व्याख्या की है। आप विवस्वत् को आकाश का द्योतक मानते हैं और सरण्यू को उषा का, यम मूलतः दिन और यमी रात्रि है।

[४१८] देखिये ज०ओ०सो० ४ ४२६ में यम पर प्रो० रॉथ की टिप्पणी। देखिये अवे० १८ १,१३ भी जिसे आगे उद्धृत किया जायगा।

[४१९] इस सूक्त को अवे० १८.११ और बाद में दोहराया गया है।

[४२०] तुकी० अवे० ६ १०,१; ६.१२७,३।

१२. न वै उ ते तन्वा तन्वं सम् पपृच्याम् पापम् आहुर् यः स्वसारं निगच्छात्। अन्येन मत् प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्टि एतत्। १३. (= निरुक्त ६.२८) बतो बत असि यम नैव ते मनो हृदयं च अविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तम् परि ष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्[221]। १४. (निरुक्त ११.३४) अन्यम् उ षु त्वं यमी अन्य उ त्वाम् परि ष्वजात लिबुजेव वृक्षम्। तस्य वा त्वम् मनः इच्छ स वा तव अध कृणुष्व संविदं सुभद्राम्।

[यमी कहती है] "मैं एक मित्र से मित्रवत् व्यवहार की कामना करती हूँ। एक विशाल समुद्र को पार करने के बाद ऋषि (यम ?) अपने पिता के लिये एक पौत्र प्राप्त करे और पृथिवी की ओर देखे।[222] २. (यम) तुम्हारा मित्र इस घनिष्ठता को अच्छा नहीं समझता जिससे उसकी अपनी सहोदरा एक अन्य बन जाय। वीर, महान् आत्मा के पुत्रगण, आकाश को धारण करनेवाले सब देखते हुये विचरण करते हैं (देखिये मंत्र ८)। ३. (यमी) हे यम ! अमर लोग तुमसे यही आशा करते हैं : वे चाहते हैं कि एकमात्र मर्त्य के द्वारा उन लोगों के लिये एक वंशज प्राप्त हो। तुम्हारी आत्मा मेरे साथ एकीभूत हो। पति के रूप में अपनी पत्नी के शरीर का भेदन करो। ४. (यम) क्या आज हम वह करें जो हमने पहले कभी नहीं किया है ? क्या हम, जो पुण्यों के उपासक हैं, पाप कर्म करें ? (अन्तरिक्षीय) जलों के धारक गन्धर्व और उनकी पत्नी[223] यही हमारे जनक हैं, इतना उच्च हमारा सम्बन्ध है। ५. (यमी) दिव्य त्वष्टा, स्रष्टा, सविता, सर्वरूपों के निर्माता ने ही हमें, जब हम गर्भ[224] में ही थे, पति पत्नी बना दिया था। उनके विधान का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। पृथिवी और आकाश भी हमारे इस जन्म सम्बन्ध को जानते हैं। ६. (यम) प्रथम दिन के आचरण को जाननेवाला कौन है ? किसने उसे देखा है ? कौन उसे कह सकता है ? मित्र और वरुण का साम्राज्य

---

[221] तुकी० अवे० ६ ८,१।

[222] यह मन्त्र कुछ पाठभेद के साथ सामवेद १.३४० में भी आता है। इसका आशय अस्पष्ट है। यदि वेधेत से यम का तात्पर्य है तब इसका पिता विवस्वत् या गन्धर्व होगा और विवस्वत का पौत्र यमी का पुत्र होगा। मन्त्र ३ के प्रथमार्ध की तुलना कीजिये।

[223] तुकी० मूलर: लेक्चर्स २, पृ० ४८३। आर्प गन्धर्व को विवस्वत् मानते हैं और उसकी पत्नी को सरण्यू।

[224] अवे० ६ ७८,३ में इसी प्रकार त्वष्टा के लिये भी कहा गया है। देखिये ८.७२,८ भी।

विशाल है। हे क्रीडाप्रिय स्त्री, तुम अपनी विचारहीनता की स्थिति में (?) मनुष्य से क्या कहोगी? ७. (यमी) मेरे मन में यह विचार आया है कि मैं (यमी) यम के साथ एक ही शय्या पर सोऊँ। एक पत्नी के समान मुझे अपने पति के भार को वहन करने दो। आओ हम रथ के दो चक्रों की भाँति समान कार्य करें। ८. (यम) देवताओं के दूत सदैव संसार में घूमते रहते हैं; वे एक स्थान पर खड़े नहीं रहते; उनके लिये दिन और रात्रि की कोई बाधा नहीं है। अतः, हे क्रीडाप्रिय स्त्री, मुझसे दूर होओ; किसी अन्य मनुष्य के पास जाओ; उसी के साथ रथ-चक्रों की भाँति चक्कर लगाओ। ९. (यमी) यद्यपि उसे रात्रि और दिन सदैव उनकी सेवा करनी चाहिये तथापि फिर भी सूर्य का नेत्र पुनः खुलेगा। स्वर्गलोक और पृथिवी दोनों पर यमज घनिष्ठ रूप से एकीभूत होते हैं। यम यमी से वैसे ही व्यवहार करें मानों वह उनकी बहन नहीं है। १०. (यम) आनेवाले युगों में सम्बन्धी लोग वह कार्य करेंगे जो उनके लिये अशोभनीय है। अपने हाथों को एक पुरुष के नीचे फैलाओ। हे सुमुखि! मेरे अतिरिक्त किसी अन्य पुरुष की कामना करो। ११. (यमी) कोई मनुष्य भ्राता कैसे हो सकता है जब एक स्त्री का कोई अन्य सहायक ही न हो? और वह बहन भी कैसे हो जब उस पर विपत्ति आ पड़ी हो? काम से अभिभूत मैं, इस कारण प्रार्थना करती हूँ। अपने शरीर को मेरे साथ एकीभूत करो। १२. (यम) मैं अपने शरीर को तुम्हारे साथ एकीभूत नहीं करूँगा। तुम किसी अन्य से अपनी इच्छा पूर्ण करो। हे सुन्दरी! तुम्हारा भ्राता ऐसी बात नहीं होने देगा।[८२५] १३. (यमी)[८२६] हे यम! तुम दुर्बल हो। मुझे तुममें कोई हृदय या आत्मा दिखाई नहीं पड़ती। कोई अन्य स्त्री तुम्हारा एक कटि-बन्ध की भाँति, अथवा एक लता के समान आलिङ्गन करेगी। १४. (यम) तुम्हें, हे यमी! किसी अन्य का आलिङ्गन करना चाहिये, जैसे एक लता वृक्ष का आलिङ्गन करती है। वह मनुष्य तुम्हें चाहे और तुम उसकी प्रिय बनो। तुम अपना शुभ सम्बन्ध स्थापित करो।[८२७]

---

[८२५] अथर्व० १८.१,१३-१४ इस मन्त्र को दो भागों में विस्तृत कर देता है।

[८२६] निरुक्त ६.२८ में इस मन्त्र को उद्धृत करके इसकी व्याख्या की गई है।

[८२७] प्रो० आफरेक्ट के कैटलॉग से ऐसा प्रतीत होता है कि नरसिंहपुराण १.१३ में यम और यमी का एक वार्तालाप है। किन्तु डा० हॉल ने मुझे बताया है कि यह स्थल उसी विषय की वार्ता से युक्त नहीं है जो प्रस्तुत सूक्त में मिलता है।

अगला सूक्त, जो मैं अब उद्धृत करूँगा, यम को सम्बोधित है :

ऋग्वेद 10.14,1 (= अवे० 18.1,49; निरुक्त 10.20) : परेयिवांसम् प्रवतो महीर् अनु बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य। [अवे० 18.3,13 : यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोकम् एतम्। वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत][428] 2. यमो नो गातुम् प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिर् अपभर्तवै उ। यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुर् एना जज्ञानाः पथ्याः अनु स्वाः। 3. मातली कव्यैर् यमो अंगिरोभिर् बृहस्पतिर् ऋक्वभिर् ववृधानः। यांश् च देवाः ववृधुर् ये च देवाः स्वाहा अन्ये स्वधया अन्ये मदन्ति। 4. इमं यम प्रस्तरम् आ हि सीद अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ताः वहन्तु एना राजन् हविषा मादयस्व। 5. अङ्गिरोभिर् आगहि यज्ञियेभिर् यम वैरूपैर् इह मादयस्व। विवस्वन्तं हुवे यः पिता ते अस्मिने यज्ञे बर्हिषि आ निषद्य। 6. अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वाः अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः। तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानाम् अपि भद्रे सौमनसे स्याम्। 7. प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर् यत्र नः पूर्वे पितरः परेयुः। उभा राजाना स्वधया मदन्ता यमम् पश्यासि वरुणं च देवम्। 8. सङ्गच्छस्व पितृभिः सं यमेन इष्टापूर्तेन परमे व्योमन्। हित्वाय अवद्यम् पुनर् अस्तम् एहि संगच्छस्व तन्वा सुवर्चाः। 9. अपेत वीत वि च सर्पतातो अस्मै एतम् पितरो लोकम् अक्रन्। अहोभिर् अद्भिर् अक्तुभिर् व्यक्त यमो ददाति अवसानम् अस्मै। 10. अति द्रव सारमेयौ श्वानौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा। अथ पितॄन् सुविदत्रान् उपेहि यमेन ये सधमादम् मदन्ति। 11. यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ। ताभ्याम् एनम् परि देहि राजन् स्वस्ति च अस्मै अनमीवं च धेहि। 12. उरूणसाव् असुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनान् अनु। ताव् अस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर् दाताम् असुम् अद्येह भद्रम्। 13. यमाय सोमम् सुनुत यमाय जुहुत हविः। यम ह यज्ञो गच्छति अग्निदूतो अरंकृतः। 14. यमाय घृतवद् हविर् जुहोत प्र च तिष्ठत। स नो देवेषु आ यमद् दीर्घम् आयुः प्र जीवसे। 15. यमाय मधुमत्तम राज्ञे हव्य जुहोतन। इदं नमः ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः।

"राजा यम की हवि से उपासना करो। यम विवस्वत् के पुत्र और मनुष्यों को

---

[428] तुल० अवे० 6.28,3।

एकत्र करनेवाले महान् देवता हैं जिन्होंने प्रबल जलधाराओं के लिये प्रस्थान[429] और अनेक लोगों के मार्ग को सरल किया। [तुकी० अवे० १८.३,१३ : हवि से उन यम की पूजा करो जो विवस्वत के पुत्र, मनुष्यों को एकत्र करनेवाले, मनुष्यों में सर्वप्रथम मृत्यु को प्राप्त करनेवाले और उस दिव्यलोक के लिये सर्वप्रथम प्रस्थान करनेवाले हैं] २ यम ने ही सर्वप्रथम हमारे लिये मार्ग सुगम किया। हमसे यह घर नहीं लेना चाहिये। अब जो जन्म लेंगे वे अपने मार्ग से उस लोक में जायेंगे जहाँ हमारे प्राचीन पितृगण जा चुके हैं। ३. मातली कव्यों से, यम अङ्गिरसों से, बृहस्पति ऋक्वनों से प्रवृद्ध होते हैं। जो देवताओं की वृद्धि करनेवाले होते हैं अथवा जिसे देवता बढ़ाते हैं, उनमें से कुछ तो स्वाहा से और अन्य स्वधा से हर्ष को प्राप्त होते हैं। ४. हे यम ! तुम इस विस्तृत यज्ञ में अंगिरा नामक पितरों के साथ आओ। ऋत्विजों का आह्वान तुम्हें आकर्षित करे। तुम इस हवि से हर्षित होओ। ५ हे यम ! विभिन्न रूपवाले यज्ञकर्ता अंगिराओं के साथ आओ और हमारे यज्ञ में यजमान को सुख दो। हे यम ! तुम यहाँ विरूप[430] के पुत्रों से अपने को हर्षित करो। इन यज्ञ में कुशों पर बैठकर मैं तुम्हारे पिता, विवस्वत् का आह्वान करता हूँ। ६. (निरुक्त ११.१९) सोम के पात्र अंगिरा, अथर्वा और भृगु नामक हमारे पितरों ने यहाँ आगमन किया। हम उन पितरों की कृपापूर्ण दृष्टि में रहें और इनको प्रसन्न करते हुये सुमार्ग पर चलें। ७. हे पिता, जिस प्राचीन मार्ग से हमारे पूर्वपुरुष आ गये हैं उसी मार्ग से तुम भी गमन करो[431] और वहाँ स्वधा से प्रसन्न हुये राजा यम और वरुण देवता के दर्शन करो। ८ पितरों से मिलो, यम से मिलो[432], तुमने उच्चतम स्वर्गलोक में जो यज्ञ किये हैं[433] उनसे मिलो। पाप को त्याग

---

[429] देखिये रॉथ (निरुक्त पृ० १३८) में रॉथ द्वारा 'प्रवतो महीर् अनु' का अनुवाद। किन्तु अवे० १८.४,७ में, जहाँ यही शब्द आते हैं, इनका अर्थ नदियाँ प्रतीत होता है। तुकी० मूलर के लेक्चर्स, २ ५१५।

[430] विरूप का ऋग्वेद १.४५,३, ८ ६४,६ मे उल्लेख है; और विरूपों का ३ ५३,६ तथा १०.६२,५ में।

[431] इन मन्त्रों का अन्त्येष्टि के समय पाठ किया जाता है।

[432] अवे० १८ २,२१ देखिये।

[433] डा० हॉग ने 'इष्टापूर्त' (ऐत० ब्रा० २, पृ० ४७४) की व्याख्या की है। 'इष्ट' का अर्थ आपके अनुसार 'जिसको बलि दी जाय' है और 'आपूर्त' का "भरा हुआ" है। अवे० १८.२,२० डा० हॉग के विचारों की पुष्टि करता है। अवे० ११.१,३६ में यह कथन है : एतं सुकृतैर् अनु गच्छेम यज्ञं नाके

कर पुनः अपने घर जाओ।[434] किसी शरीर से मिल जाओ और एक तेजस्वी रूप धारण करो।[435] ९. तुम जाओ, तुम प्रस्थान करो, यहाँ से शीघ्र चले जाओ।[436] पितरों ने इस स्थान को उसके लिये बनाया है। राजा यम ने यह स्थान[437] मृतक के लिये निश्चित किया है जो जल, दिवस और रात्रि के द्वारा सुसज्जित है। १०. हे पितः, मनुष्यों द्वारा प्रशंसा करने योग्य, दिव्य मार्ग में रक्षा करनेवाले तथा चार नेत्र और अद्भुत वर्णवाले जो दो कुत्ते हैं तुम उनके पास से शीघ्र निकल जाओ। यम के साथ रहनेवाले पितरों के पास श्रेष्ठमार्ग से पहुँचो (तुकी० अवे० १८.४,१०)। ११. हे यम! इस मृत व्यक्ति को कल्याण का भागी बनाते हुये अपने गृह-रक्षक तथा चार नेत्रवाले कुत्तों से इसकी रक्षा करो।[438] १२. यम के वह दोनों भूरे दूत लम्बी नासिका और महान् बलवाले हैं। ये मनुष्यों के बीच घूमते हैं।[439] ये दोनों हमें आज पुनः शुभ जीवन दें जिससे हम सूर्य का दर्शन कर सकें। १३. यम के लिये हव्य कल्पित करो; इनके लिये सोम अर्पित करो। अग्नि देवता जिस यज्ञ के दूत हैं वह यज्ञ यम की ओर गमन करता है। १४. यम के लिये घृत से पूरित हव्य अर्पित करते हुये उनकी सेवा करो। ये यम हमारे लिये दीर्घ काल तक जीवित रखनेवाली आयु प्रदान करें। १५. पूर्वकाल में जिन ऋत्विजों ने सुन्दर मार्ग बनाया था हम उनको नमस्कार करते हैं। तुम इन यमराज के निमित्त मधुर हव्य प्रदान करो।"

इसी मण्डल का १५ वाँ सूक्त पितरों अथवा मृत पूर्वजों को सम्बोधित है जिनकी, जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, परलोक में एक आनन्दपूर्ण

तिष्ठन्तम् अधि सप्तरश्मौ।' अवे० ६.१२२,४ और ६.१२३,२ भी देखिये। तुकी० अवे० ३.२९,१।

[434] मूलर इसका यह अनुवाद करते हैं. "पाप को वहीं छोड़कर घर लौट आओ और एक रूप ग्रहण करो।" रॉथ (जजओसो० ४४२८) इसके 'पुनः' शब्द को पहले से सम्बद्ध करते हुये यह अनुवाद करते हैं : 'अपने घर मे पुनः प्रवेश करो और अपनी सब अपवित्रताओं को छोड़ दो।

[435] देखिये अवे० १८.२,२४।

[436] प्रो० मूलर के अनुसार ये शब्द दुष्टात्माओं को सम्बोधित हैं।

[437] 'अवसानम्'। तुकी० अवे० १८.२,३७।

[438] देखिये रॉथ जजओसो, ४,४२८; और अवे० ८.२,२०-२२।

[439] अवे० ८.१,९ में यम के दो कुत्तों का उल्लेख है। अवे० ८.२,११; ५.३०,६; ८.८,१० आदि भी देखिये।

जीवन व्यतीत करनेवाले लोगों के रूप में कल्पना की गई है, यद्यपि, जैसा कि हम अभी देखेंगे, कुछ स्थानों इनके अन्य गृहों की भी कल्पना है। मैं इस सूक्त के कुछ मन्त्रों को उद्धृत कर रहा हूं जो इनके आनन्दों, शक्तियों, और अधिकारों को और विस्तार से स्पष्ट करेंगे :—

ऋग्वेद १०.१५,१ : उद् ईरताम् अवरे उत् परासः उद् मध्यमाः पितरः सोमयामः। असुं ये ईयुर् अवृकाः ऋतज्ञास् ते नो अवन्तु पितरो हवेषु। २. इदम् पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वासो ये उपरासः ईयुः। ये पार्थिवे रजसि आ निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु विक्षु। ५. उपहूताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु। ते आ गमन्तु ते इह श्रुवन्तु अधि ब्रुवन्तु ते अवन्तु अस्मान्। ६. आच्य जानु दक्षिणतो निषद्य इम यज्ञम् अभि गृणीत विश्वे। मा हिंसिष्ट पितरः केन चिन नो यद् वः आगः पुरुषता कराम। ७. आसीनासो अरुणीनाम् उपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय। पुत्रेभ्यः पितरस तस्य वस्वः प्र यच्छत ते इहोर्जं दधात। ८. ये नः पूर्वे पितरः सोम्यसो अनूहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः। तेभिर् यमः संरराणो हवींषि उशन्न उशद्भिः प्रतिकामम् अत्तु।...... १०. ये सत्यासो हविरदो हविष्पाः इन्द्रेण देवैः सरथं दधानाः। आ अग्ने याहि सहस्र देववन्दै परैः पूर्वैः पितृभिर् घर्मसद्भिः। ११ अग्निष्वात्ताः पितरः आ इह गच्छत सदः सदः सीदत सुप्रणीतयः। अत्त हवींषि प्रयतानि बर्हिषि अथ रयिं सर्ववीरं दधातन।......१३. ये चेह पितरो ये च नेह यांश् च विद्म यांश् च न प्रविद्म। त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभिर् यज्ञं सुकृत जुषस्व। १४. ये अग्निदग्धाः ये अनग्निदग्धाः मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते। तेभिः स्वराळ असुनीतिम् एतां यथावशं तन्वं कल्पयस्व।

"१ (= वाज० १९.४९; निरुक्त ११.१८) उत्तम, मध्यम और निम्न श्रेणी वाले और सोम समर्पित करनेवाले सब पितर हमारे रक्षक हों। अहिंसक और पुण्यकर्मों में दक्ष हमारे जिन पितरों ने उच्चतर जीवन (असु)[५४०] प्राप्त कर लिया है, हमारे यज्ञ में हमारी रक्षा करें। २. (= वाज० १९.६८) पूर्व काल में या उसके पश्चात् मृत्यु को प्राप्त पितर, अथवा जो पार्थिव क्षेत्र[५४१] में आ गये हैं, अथवा जिन्होंने भाग्यवानों के मध्य जन्म ले लिया है उन सब पितरों को नमस्कार।...५ (= वाज० १९,५७) यह सभी श्रेष्ठ कुशों पर स्थित हैं। सोमरस के साथ इनका सेवन करने के लिये पितरों का आह्वान किया गया

[५४०] तुलनीय० १४ वें मन्त्र में 'असुर' और 'असुनीति' शब्द।

[५४१] तुलनीय० अथर्व० १८ २,४९। देखिये अथर्व० १८ २,५९ भी।

है। वे पितर यहाँ आकर प्रसन्नता प्रगट करते हुये हमारी स्तुतियाँ स्वीकार करें और हमारे रक्षक हों। ६ (=वासं० १९;६२) हे पितरो! हम अल्पज्ञ हैं, अतः हमसे अपराध होना असम्भव नहीं है। हमारे किसी अपराध पर हमको हिंसित न करना। दक्षिण की ओर घुटने टेककर बैठे हुए तुम हमारे इस यज्ञ की प्रशंसा करो। ७ (वासं० १९,६३) हे पितरो! लाल शिखा के समीप स्थित इन दानशील यजमानों को धन प्रदान करो। इनके पितरों को इस यज्ञ के लिये प्रेरित करो। ८ (=वासं० १९,५१) सोमपान के योग्य जिन पितरों ने विधिपूर्वक सोमपान किया था वे भी हव्य की कामना करते हैं। उन पितरों के साथ प्रसन्न होते हुये यमराज हव्य सेवन करके तृप्त होते हैं। १०. हे अग्ने! जो सज्जन स्वभाव वाले पितर देवताओं के साथ आकर हव्य सेवन करते हैं उन देवताओं की उपासना करनेवाले, अनुष्ठानों के कर्ता, प्राचीन और नवीन तथा इन्द्र के साथ ही एक ही रथ पर आरूढ़ होनेवाले पितरों के साथ तुम भी यहाँ आगमन करो। (=वासं० १९,५९) हे अग्निष्वात्त पितरो, यहाँ आओ; हे बुद्धिमान निर्देशक यहाँ आकर पृथक्-पृथक् आसनों पर विराजमान होओ और कुशों पर रखे संस्कृत हव्य[४४२] का सेवन करो। इसके पश्चात् हमें पुत्र-पौत्रादि तथा पशुओं से युक्त ऐश्वर्य प्रदान करो।[४४३]......१३ हे जातवेदस्! यहाँ उपस्थित या अनुपस्थित, हमारे परिचित जो भी पितर हैं तुम उन सबको जानते हो। इस स्वधायुक्त यज्ञ से तृप्ति को प्राप्त होओ। १४ (=वासं० १९,६०) हे स्वदीप्तिमान देवता[४४४]! जिन पितरों का अग्नि-संस्कार हुआ है अथवा जिनका दाह-संस्कार नहीं हुआ, स्वर्गलोक में वे सब स्वधा से तृप्त रहते हैं। हमें यह शक्ति (असुनीति)[४४५] तथा हमारी इच्छानुसार हमें शरीर प्रदान करो।"

---

[४४२] अवे० १८.२,२८ के अनुसार प्रेतात्मायें कभी-कभी पितरो कि साथ चली आती हैं। तको० वासं० २.३० और भाष्य।

[४४३] तुकी० अवे० ६.४१,३। अवे० ८८,१५ भी देखिये। महाभारत, सभापर्व, श्लोक ४६१ कि अनुसार सात पितर होते हैं—चार मूर्तिमन्तः और तीन अशरीरिणः।

[४४४] १०.१६,५ मे अग्नि को इन्हीं कर्मों से सम्बद्ध किया गया है। किन्तु वासं० १९ ६० का भाष्यकार इसे यम मानता है।

[४४५] यह शब्द १६ वे सुक्त में भी आता है। ऋग्वेद १०.५९,५.६ में यह देवता या देवी कि मूर्तीकरण कि लिये प्रयुक्त प्रतीत होता है। फिर भी प्रो० मुलर (जएसो० २. पृ० ४६०, नोट २) यह मानते हैं कि 'असुनीति' को देवी

अग्नि को सम्बोधित एक अन्त्येष्टि-सूक्त (१०.१६) में भी कुछ ऐसे मंत्र हैं जो परलोक जीवन सम्बन्धी कवि के विचारों का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं[४४६] :—

१०.१६,१ : मा एनम् अग्ने वि दहो माऽभि शोचो माऽस्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम् । यदा शृतं कृणवो जातवेदो अथेम् एनम् प्र हिनुतात् पितृभ्यः । २. शृतं यदा करसि जातवेदो अथेम् एनम् परि दत्तात् पितृभ्यः । यदा गच्छाति असुनीतिम् एताम् अथ देवानाम् वशनीर् भवाति । ३. सूर्यं चक्षुर् गच्छतु वातम् आत्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितम् ओषधीषु प्रति तिष्ठ शरीरैः । ४. अजो भागस् तपसा तं तपस्व तं ते शोचिस् तपतु तं ते अर्चिः । यास ते शिवास् तन्वो जातवेदस् ताभिर् वहैनं सुकृताम् उ लोकम् । ५. अव सृज पुनर् अग्ने पितृभ्यो यस् ते आहुतश् चरति स्वधाभिः । आयुर् वसानः उप वेतुः शेषः सङ्गच्छतां तन्वा जातवेदः । ६. यत् ते कृष्ण. शकुनः आतुतोद पिपीलः सर्पः उत वा श्वापदः । अग्निस् तद् विश्वम् अगदं कृणोतु सोमस् च यो ब्राह्मणान् आविवेश ।

१. हे अग्ने ! तुम मृत पुरुष को कष्ट मत देना; इसके देह को छिन्न-भिन्न मत करना[४४७] । जब तुम्हारी ज्वालायें इसे परिपक्व[४४८] कर लें तभी, हे जात-वेदस् ! इसे पितरों के पास पहुँचा देना । २ हे अग्ने ! इस मृतक को जब तुम द्रव करने लगो तभी इसे पितरों को सौंप देना । जब यह पुनः प्राणवान होगा तब यह देवाश्रय में रहेगा । ३. हे मृत पुरुष ! तेरा श्वास वायु में मिले; तेरा नेत्र सूर्य से संगति करे[४४९]; अपने पुण्यकर्मों के फल को प्राप्त करने के लिये तू स्वर्ग, पृथिवी अथवा जल में निवास करे । तेरे शरीर के अंश वनस्पतियों में व्याप्त हों । ४. हे अग्ने ! तुम देहधारी की देह में जो अजन्मा है उसे अपने ताप से तपाओ । तुम अपनी कल्याणमयी विभूतियों के द्वारा इसे पुण्यलोक

मानने का कोई आधार नहीं है । यह यम का एक नाम हो सकता है । अवे० १८ ३,५९ देखिये ।

[४४६] प्रो० मूलर के अनुसार इस सूक्त के कुछ मन्त्रों को सूक्त १४ के बाद दोहराया गया है ।

[४४७] तुल० अवे० १८४,१०–१३ ।

[४४८] तुल० अवे० १८.४,१२ ।

[४४९] अवे० ८.२,३ में मृत या मृतवत् मनुष्य को सम्बोधित किया गया है । तुल० अवे० ५.२४,९; ११.८,३१; १९.४३,२.३ भी ।

प्राप्त कराओ।[४५०] ५. हे अग्ने! तुम यज्ञ में समर्पित हव्य का सेवन करनेवाले अपने रूप को पितरों के पास प्रेषित करो। इसका अवशिष्ट आयु प्राणवान हो। हे अग्ने! यह मृत व्यक्ति पुनर्जीवन को प्राप्त हो। ६. हे मृतक! तुम्हारे देह के जिस अवयव को कौए ने पीड़ित किया है या चींटी अथवा सर्प ने काँट लिया है उस अवयव को अग्निदेव पीड़ारहित करें और जो सोम तुम्हारे देह में रम गया है, वह भी उसे दोषरहित करें।" तुकी० वाजसनेयि संहिता १८.५१ : अग्निम् युनज्मि शवसा घृतेन दिव्य सुपर्णम् वयसा बृहन्तम्। तेन वय गमेम ब्रध्नस्य विष्टपम् स्वो रुहाणाः अधि नाकम् उत्तमम्। ५२. इमौ ते पक्षाव् अजरौ पतत्रिणौ याभ्यां रक्षांसि अपहंसि अग्ने। ताभ्याम् पतेम सुकृताम् उ लोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणाः। "५१. स्वर्ग में उत्पन्न, श्रेष्ठगतिवाले, धूम के द्वारा प्रवृद्ध अग्नि को मैं घृत से और बल से सुसम्पन्न करता हूँ! हम इसके द्वारा आदित्य के लोक को लाँघ और फिर उसके भी ऊपर चढ़ते हुये दुःखों से शून्य नाकलोक को प्राप्त हों। ५२. हे अग्ने! तुम्हारे यह दोनों पंख जरारहित और उड़नशील हैं। अपने इन पंखों के द्वारा तुम राक्षसों को नष्ट करते हो। उन पंखों के द्वारा हम भी पुण्यात्माओं के उप लोक को प्राप्त हों जिस लोक में हमारे पूर्वपुरुष ऋषिगण जा चुके हैं।"

अवे० के विभिन्न भागों में भी अग्नि को इसी प्रकार सम्बोधित किया गया है। इस प्रकार ६.१२०,१ : यद् अन्तरिक्षम् पृथिवीम् उत द्याम् यन् मातरम् पितरं वा जिहिंसिम्। अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निर् उद् इन् नयाति सुकृतस्य लोकम्। "अन्तरिक्ष, पृथिवी, और द्युलोक के प्राणियों की अहितरूप हिंसा, माता-पिता के प्रतिकूल आचरणरूप हिंसा, ये दोनों पाप, जो इससे बन गये हैं उनसे बचाकर गार्हपत्य अग्नि इसे उत्तम गति प्रदान करें।" १२.२.४५ : जीवानाम् आयुः प्र तिर त्वम् अग्ने पितृणां लोकम् अपि गच्छन्तु ये मृताः। "हे अग्ने! तुम जीवित प्राणियों के जीवन की रक्षा करो। जो मृत हो चुके हैं वे पितृलोक जाँय।" १८.३,७१ : आरभस्व जातवेदस् तेजस्वद् हरो अस्तु ते। शरीरम् अस्य सन्दह

---

[४५०] अवे० १८.२,३६ मे अग्नि से यह कहा गया है कि वह मृतक को दयापूर्वक भस्म करें और अपने क्रोध को वनों और पृथिवी पर केन्द्रित करें। देखिये तैत्तिरीय ब्रा० ३.१०,११,१ भी। तैत्तिरीय ब्रा० २.४, २.६ भी देखिये। यही ब्राह्मण एक अन्य स्थान पर (१.५,२,६) यह कहता है कि न क्षत्र ही देवो के गृह हैं।

अथैनं धेहि सुकृताम् उ लोके। "हे अग्नि! उसे प्रसित करो; तुम्हारा ताप शक्तिशाली हो; उसके शरीर को भस्म करो; उसके पश्चात् उसे पुण्यात्माओं का लोक प्राप्त कराओ।" १८ ४,९: पूर्वोऽग्निस् त्वा तपतु शम् पुरस्ताद् शम् पश्चात् तपतु गार्हपत्यः। दक्षिणाग्निस् ते तपतु शर्म वर्म उत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशो दिशो अग्ने परिपाहि घोरात। १०. यूयम् अग्ने शन्तमाभिस् तनूभिर् ईजानम अभि लोकं स्वर्गम्। अश्वाः भूत्वा पृष्टि-वाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादम् मदन्ति। "हे भस्म होते हुये प्रेत! तुझे पूर्व में दमकते हुए अग्नि सुख देते हुए भस्म करें। दक्षिणाग्नि तुझे सुख से भस्म करे। हे अग्ने! तुम उत्तरादि सब दिशाओं से क्रूर और हिंसकों से इस प्रेत की रक्षा करो। १०. हे अग्नि! पृथक्-पृथक् स्थानों को प्राप्त हुये तुम अपने आधानकर्ता आरधिक यजमान को अपने महान् कल्याणकारी साधनों से स्वर्गलोक में पहुचाओ। उस लोक में हम गोत्रवालों सहित देव-ताओं के साथ रहते हुये प्रसन्नता को प्राप्त हों।"

(४) उपरोक्त उद्धरणों में निहित धारणाओं का सारांश

अब मैं उपरोद्धृत स्थलों से ऐसी धारणाओं का सारांश प्रस्तुत करूँगा जो इनमें निहित हैं।

यम विवस्वत् के पुत्र हैं (९.११३,८; १०.१४,१ [=अवे० १८.१,४९]; १०.१४,५; १०.५८१,१; १०.६०,१०)। इनकी माता सरण्यू त्वष्टा की अमर पुत्री है (१०.१७,१–२)। जैसा कि प्रो० रॉथ का विचार है[५४१], इन्हें मानव के प्रथम युग्मजों में से एक (१०.१०,२) तथा अन्तरिक्षीय देवता एक गन्धर्व तथा उसकी पत्नी से उत्पन्न बताया गया है (१०.१०,४)। इसी सूक्त में सर्वत्र ही यह कहा गया है कि इन्होंने अपनी यमज बहन, यमी द्वारा लैंगिक सम्बन्ध तथा उससे मानवजाति के प्रवर्तन के अनुरोध का प्रतिरोध किया।[५४२] ये मृत्यु को प्राप्त होनेवाले प्रथम मनुष्य थे और इन्होंने ही परलोक के मार्ग को खोजा था। ये अन्य मनुष्यों को उस लोक में ले जाते हैं और वहाँ एक गृह में एकत्र करते हैं जो उनके लिये चिरकाल तक सुरक्षित

[५४१] जजओसो० ४४२६; जजओसो० ३.३३५; निरुक्त (रॉथ का), पृ० १३८। देखिये ऋग्वेद ८.६७,२०; अवे० १९ ९,७; १८.३,६२। ऋग्वेद के इन स्थानों को भी देखिये: १.११६,२; ७.३३,९; ९.५८,३ ५; १०.१२,६; १०.१३,२.४, १०.५३,६; १०.६४,३; १०.१२३,६। शत०ब्रा० १४.१,३,४ में यम को सूर्य के साथ समीकृत किया गया है किन्तु १४.२,२,११ में इसी प्रकार वायु के साथ भी।

[५४२] देखिये रॉथ। जजओसो० ६.४४५ और बाद।

रहता है (१०.१४,१–२; अवे० ६.२८,३; १८.१,४९–५०; १८.२,१३)।[८५३] एक स्थान पर इन्हें सुन्दर पत्तों से युक्त एक वृक्ष के नीचे देवताओं के साथ सोमपान करते हुये प्रस्तुत किया गया है (१०.१३५,१ : यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवैः सम्पिबते यमः)। ये राजा हैं और स्वर्गलोक के आन्तरिकतम स्थान के दिव्य प्रकाश में निवास करते हैं (९.११३,७.८, आगे इस स्थल को विस्तार से उद्धृत किया जायगा) जहाँ मृत व्यक्ति इन्हें वरुण के साथ आनन्दपूर्वक निवास करते हुये देखते हैं (१०.१४,७)। ये पुण्यात्माओं को स्वर्गलोक में प्रकाशमान निवास देते हैं (१०.१४,९) और ये पुण्यात्मा इनके साथ आनन्दपूर्वक रहते हैं[८५४] (१०.१४,८.१०)। अवे० १८.२,३२ में इन्हें विवस्वत् से श्रेष्ठ तथा स्वयं अप्रतिम कहा गया है (यमः पुरोऽवरो विवस्वान् ततः परं न अति पश्यामि किञ्चन)।

ऋग्वेद में यम को कहीं भी पापियों को मृत्यु के पश्चात् दण्ड देने के साथ (जैसा कि बाद के पुराकथाशास्त्र में है)[८५५] कभी भी सम्बद्ध नहीं किया गया है। वास्तव में जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इस वेद के सूक्तों में इस प्रकार के दण्डविधान का कोई उल्लेख नहीं है; किन्तु ऐसे स्थलों को आगे उद्धृत किया जायगा जो एक टार्टरस जैसे व्यक्तित्व के अस्तित्व कीमान्यता से युक्त हैं। फिर भी, कुछ सीमा तक यम अब भी एक भयोत्पादक देवता हैं। १०.१४,१०-१२ में यह उल्लेख है कि इनके पास दो ऐसे कुत्ते हैं जो सरलता से सन्तुष्ट नहीं होते; जिनके चार नेत्र और चौड़े नासिका रन्ध्र हैं, जो इनके स्थान के मार्ग की रक्षा करते हैं, और मृतकों को जिनके पास से जल्दी निकल जाने के लिये कहा गया है। ऐसा कहा गया है कि इनके दूत के रूप में ये कुत्ते मनुष्यों के बीच विचरण करते हैं (१०.१४,१२)। इन कुत्तों का कार्य मनुष्यों को अपने देवता, यम, के पास ले जाना है। एक अन्य स्थान (१०.१६५,४) पर यम को मृत्यु के साथ समीकृत किया गया है और यह कहा गया है कि ये एक पक्षी को अपने एक दूत के रूप में भेजते हैं जो मनुष्यों को

---

[८५३] देखिये रॉथ को ऊपर उल्लिखित जर्नल में। जजओसो० ४.४२७ भी देखिये।

[८५४] अवे० १८,४,३ में यह कहा गया है कि आदित्यगण स्वर्ग में मधु का सेवन करते हैं (मधु भक्षयन्ति)।

[८५५] पुराणों के अनुसार यम मृतको के न्यायाधीश हैं। चित्रगुप्त इनके लेखक हैं जो मृतको के कर्मों का हिसाब रखते हैं (विलसन : विष्णुपुराण, पृ० २१६)। चित्रगुप्त का बृहन्नारदीय पुराण में वर्णन है (देखिये प्रो० आफरेख्त का कैटलॉग)।

अमंगल की सूचना देता है (यस्य दूतः प्रहितः एष एतत् तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे; तुकी० अवे० ६.१९,१ और बाद)। और अवे० (१८.२,२७) के एक मंत्र में मृत्यु को यम का वह दूत कहा गया है जो मनुष्यों की आत्माओं को उनके पितरों के लोक में पहुँचाता है। एक अन्य स्थान (ऋग्वेद १०.९७,१६) पर यम तथा, साथ ही साथ, वरुण के पाशों से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है (मुञ्चन्तु मा शपथ्याद् अथो वरुण्याद् उत। अथो यमस्य पड्बीशात्; तुकी० अवे ७.७,२८ भी)। ऋग्वेद १.३८,४ में भी, जहाँ यह कहा गया है कि "तुम्हारा उपासक न तो किसी चरागाह में पशु की भाँति उपेक्षित हो और न यम के मार्ग पर जाय" (मा वो मृगो न यवसे जरिता भूद् अजोष्यः। पथा यमस्य गाद् उप), यम मृत्यु के समकक्ष है। निम्नलिखित अथर्ववेद के एक मंत्र (६.२८,३) में भी यम मृत्यु के साथ समीकृत हैं: "मृत्यु रूपी यम को हम नमस्कार करते हैं जो अनेक लोगों के लिये मार्ग ढूंढते हुये सर्वप्रथम नदी तक पहुँचे, और जो मनुष्यों तथा पशुओं के अधिपति हैं।" (यह मंत्र अंशतः ऋग्वेद १०.१४,१ के समान है) तुकी० अवे० ५.३०,१२; ६.६३,२।

जब मृतक का अवशेष चिता पर रख दिया जाता है और दाहसंस्कार का कार्य आरम्भ हो चुकता है, तब अग्नि देवता से यह स्तुति की जाती है कि वह मृतक के देह को जला कर कष्ट न दें, उसकी त्वचा को विदीर्ण न करें, उसके हाथ-पैर को न तोड़ें, और जब उनकी ज्वालायें उसे भस्म करने का अपना कार्य समाप्त कर लें तब वह उसे, जो उनके लिये हवि के रूप में समर्पित मृतक है, पितरों के लोक में पहुँचा दें। मृतक के नेत्र को सूर्य के पास, उसके प्राण को वायु के पास और उसके विभिन्न अंगों को आकाश, पृथिवी, जल अथवा ओषधियों के पास चले जाने के लिये कहा गया है। उसके अजन्मे (अजो भागः) के सम्बन्ध में अग्नि से यह कहा गया है कि वह उसे अपने ताप तथा ज्वाला से प्रदीप्त कर के तथा अपना एक सर्वाधिक शुभ रूप धारण करके पुण्यात्माओं के लोक में पहुँचा दें (१० : १६,१-५; वाज० १८.५१ और बाद)।[२५६] फिर भी, इस अजन्मे भाग को पृथिवी से स्वर्ग लोक के मार्ग के बीच एक विशाल अन्धकारपूर्ण मार्ग से होकर जाना पड़ता है।[२५७] यह सब

[२५६] शतपथ ब्राह्मण ११.२,१,१ में मनुष्य को त्रिजन्मा बताया गया है।—एक बार पिता और माता से, दूसरी बार यज्ञ से, और तीसरी बार मृत्यु और अन्त्येष्टि के बाद।

[२५७] अवे० १८.४,३। तुकी ऋग्वेद १.५०,१० (= अवे० ७.५३,७)।

कुछ जो पाप तथा अपूर्ण है उसे पृथिवी पर छोड़कर तथा पितरों द्वारा अनुसरित मार्ग से होते हुये (ऋग्वेद १०.१४,७) आत्मा देवतुल्य ज्योति से युक्त होकर (अवे० ११.१,३७ : येन देवाः ज्योतिषा द्याम् उदायन् ब्रह्मौदनम् पक्त्वा सुकृतस्य लोकम् । तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्वर् आरोहन्तो अभि नाकम् उत्तमम्) एक रथ में बैठकर अथवा पादयुक्त होकर (अवे० ४.३४,४) चिरप्रकाशमान लोक में जाता है (९.११,७)। वह इन अनश्वर पंखों पर उस लोक में जाता है जहाँ अग्नि राक्षसों का वध करते हैं (वासं० १८.५२) । उसे मरुद्गण ऊपर ले जाते हैं और मन्द वायु उसे पंखा झलती है तथा वर्षा उसे शीतल करती है (अवे० १८.२,२१ और बाद) । उस लोक में पहुँच कर वह एक दिव्य रूप में अपने प्राचीन रूप को प्राप्त कर लेता है (अवे० १८.२,२४ और बाद[४५८])[४५९] तथा अपने उन पितरों से मिलता है जो यम के साथ आनन्दपूर्वक निवास करते हैं । यम जब उसे अपनों में से एक के रूप में पहचान लेते हैं (अवे० १८.२,३७) तो उसे एक आवास प्रदान करते हैं । (ऋग्वेद १०.१४,८-१०) । वहाँ वह एक अधिक पूर्ण जीवन प्राप्त कर लेता है (ऋग्वेद १० १४,८; १०.१५,१४; १०.१६,२.५) और उसकी सम्पूर्ण आशायें पूर्ण होती हैं (९.११३,९.११) । उसे देवों का दर्शन होता है (१०.१४,४) और अपनी आकांक्षाओं को पूर्ण करता हुआ वह वहाँ निवास करने लगता है (१०.१६,२) ।

(५) स्वर्गलोक और भावी जीवन से सम्बद्ध सूक्तों से और अधिक उद्धरण

अथर्ववेद के निम्नलिखित स्थलों पर यह आशा की गई है कि स्वर्गलोक में भी कौटुम्बिक सम्बन्ध बने रहेंगे :—

१२.३,१७ : स्वर्गं लोकम् अभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम् । "तुम हमें स्वर्ग लोक में ले जाओ । हमें अपने पुत्रों और पत्नियों[४६०] के साथ रखना ।"

देखिये वास० ३१.१८ जहाँ पुरुष को 'आदित्यवर्ण' कहा गया है जो अन्धकार के उस पार रहता है (तमसः परस्तात्) । देखिये मनु० ४.२४२ ।

[४५८] अवे० ९.५,२२-२६ में यह कहा गया है कि जो मनुष्य 'अजपञ्चौदन' देता है वह 'दक्षिणा ज्योति' पाता है । तुकी० अवे० १०.९,६; शतपथ ब्राह्मण १२.९,२,२ ।

[४५९] दिव्य शरीर के लिये देखिये रॉथ : जजओसो० ३, पृ० ३४३ ।

[४६०] बाद की भारतीय रचनाओं में जो स्त्री सती होती है वह स्वर्ग मे पुनः अपने पति से मिल जाती है ।

६.१२०,३ : यत्र सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणाः अंगैर् अह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्। "स्वर्ग में, जहाँ हमारे पुण्यात्मा मित्र अपने शरीरों के रोग आदि को छोड़कर, और लंगड़ेपन अथवा अंगों की विकृतियों से सर्वथा मुक्त होकर निवास कर रहे हैं, हम अपने पितरों और पुत्रों को देखें।" (तुल० अवे० ३.२८,५ और बाद)।

९.५,२७ : या पूर्वम् पतिं वित्त्वा अथान्यं विन्दते पतिम्। पञ्चौदनं च ताव् अजं ददातो न वि योषतः। २८. समान लोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः। योऽजम् पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति। "जो स्त्री वाग्दान द्वारा पति को जानकर अन्य पति को प्राप्त करती है, वे दोनों ही अज पञ्चौदन का दान करने के कारण कभी पृथक् नहीं होते। २८. ऐसी पुनर्विवाहित स्त्री का जो पति होता है वह दक्षिणायुक्त अज पञ्चौदन का दान करने के कारण उसी पुनर्विवाहित के साथ समान लोक में वास करता है।"

१८.२.२३ : स्वान् गच्छतु ते मनः अध पितॄम् उप द्रव। "तेरा मन संस्कार से उत्पन्न नवीन शरीर को प्राप्त हो और फिर तू पितरों के पास पहुँच।"

इस स्वर्गलोक के आनन्दों को ऋग्वेद ९.११३,७ और बाद में, सोम देवता द्वारा प्रदत्त बताया गया है और इनका इस प्रकार वर्णन है :—

७ यत्र ज्योतिर् अजस्रं यस्मिन् लोके स्वर् हितम्। तस्मिन् मां धेहि पवमान अमृते लोके अक्षिते इन्द्रायेन्दो परिस्रव। ८. यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर् यह्वतीर् आपस् तत्र माम् अमृतं कृधिः। ९. यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोकाः यत्र ज्योतिष्मन्तस् तत्र माम् अमृतं कृधि। १०. यत्र कामाः निकामास् च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम्। स्वधा च यत्र तृप्तिस् च तत्र माम् अमृतं कृधि। ११. यत्रानन्दाश् च मोदाश मुदः प्रमुदः आसते। कामस्य यत्राप्ताः कामान् तत्र माम् अमृतं कृधि। "हे सोम! तुम इन्द्र के लिये क्षरित होते हुये मुझे अखण्ड प्रकाशवाले अविनाशी स्वर्ग लोक की प्राप्ति कराओ। ८. जहाँ मन्दाकिनी आदि नदियाँ प्रवाहित हों, जहाँ वैवस्वत राज्य करते हों और जिसे स्वर्ग का द्वार कहते हैं, मुझे उसी स्थान पर रक्खो और इन्द्र के लिये क्षरित होओ। ९. सूर्य की अभिलषणीय[११] रश्मियाँ जिस कार्यलोक में

[११] तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.१२,२,९ देखिये।

हैं, जहाँ के निवासी ज्योतिपुञ्ज के समान तेजस्वी हैं, उसी लोक में मुझे स्थायी निवास दो। १०. जिस लोक में सब कर्मों के आश्रयभूत आदित्य रहते हैं, जहाँ स्वधासहित दिया गया हव्य और तृप्ति है, जहाँ इन्द्रादि सभी अभिलषणीय देवता निवास करते हैं, उसी लोक में मुझे अविनाशी पद दो। ११. आनन्द, आमोद और स्नेह जिस लोक में वर्तमान रहता है और जहाँ सभी कामनायें इच्छा होते ही पूर्ण हो जाती हैं, उसी अमरलोक में मुझे निवास दो।"

यहाँ जिन आनन्दों का उल्लेख किया गया है उनसे सर्वसम्भवतः ऐन्द्रिक आनन्द का भी तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये।[४६२] कम से कम अथर्ववेद ४.३४,२ के निम्नोद्धृत स्थल पर ऐसा ही प्रतीत होता है :[४६३]

अवे० ४.३४,२ : अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिम् अपि यन्ति लोकम्। नैषां शिश्नम् प्रदहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणम् एषाम्। ३. विष्टारिणम् ओदनं ये पचन्ति नैनान् अवर्तिः सचते कदाचन। आस्ते यमे उपयाति देवान् सं गन्धर्वैर् मदते सोम्येभिः। ४. विष्टारिणाम् ओदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः। रथी ह भूत्वा रथयाने ईयते पक्षी ह भूत्वाऽति दिवः समेति। "जो शरीर अस्थियुक्त[४६४] षट् कोशवाले नहीं हैं वे सब यज्ञ के कर्त्ता वायु द्वारा पवित्र हुये उज्ज्वल लोक में जाते हैं; इनकी भोगसाधन इन्द्रिय को अग्नि[४६५] भस्म नहीं करते। वहाँ पुण्य फल के भोगरूप अनेक भोगों का समूह इन्हें प्राप्त होता है।[४६६] ३. जो उपर्युक्त रीतिवाले ओदन को पकाकर ब्राह्मणों को देता है उसे

---

[४६२] रॉथ का एक भिन्न मत है (जअओसो० ३.३४३)। ९.११३ के ११ वें मन्त्र में स्वर्ग के आनन्दों को व्यक्त करनेवाले ये शब्द हैं : आनन्दाः, मोदाः, प्रमुदः। इन्हीं शब्दों का तैत्तिरीय ब्राह्मण २.४,६,५ और बाद में पृथिवी पर लैंगिक सुख को व्यक्त करने के लिये प्रयोग है।

[४६३] तुकी० शतपथ ब्रा० १०.४,४,४।

[४६४] यद्यपि सम्बन्ध केवल शाब्दिक है तथापि देखिये तैत्तिरीय संहिता के ये शब्द . ब्रह्मवादिनो वदन्ति कस्मात् सत्याद् अनस्थिकेन प्रजाः प्रवीयन्तेऽस्थन्वतीर् जायन्ते इति। यद् हिरण्यम् घृतेऽवधाय जुहोति तस्माद् अनस्थिकेन प्रजाः पवीयन्तेऽस्थन्वतीर् जायन्ते। (पृ० १०, इण्डिया ऑफिस पाण्डुलिपि संख्या १७०२)।

[४६५] इससे निःसन्देह चिताग्नि उद्दिष्ट है।

[४६६] तुकी० महाभारत १२ ३६५७, और ३६६७। इसी प्रकार कठ उपनिषद् १.२५ में भी अप्सराओं का उल्लेख है।

दरिद्रता नहीं रहती। वह सब यज्ञ करनेवाला मृत्यु के पश्चात् यमलोक में सुखपूर्वक वास करता है और उसे देवताओं का समीप्य प्राप्त होता है तथा वह सोमपान द्वारा प्रसन्न होता है। ४. जो यजमान उपरोक्त प्रकार से ओदन बनाकर ब्राह्मणों को देते हैं उन्हें यमराज वीर्यहीन नहीं करते। वे पृथिवी में रथ पर चढ़कर विचरण करते हैं और अन्तरिक्ष में पंखयुक्त होकर उच्च लोकों को प्राप्त करते हुये भोगों को भी प्राप्त करते हैं।" उस लोक में दधि, मधु, घृतादि की धारायें मधुर भाव को पुष्ट करती हुई स्वर्ग में मनुष्य को प्राप्त होती हैं, इत्यादि (मन्त्र ६,)[२६७]

वास्तव में, यह स्पष्ट है कि वैदिक युग में स्वयं देवताओं तक को विशुद्धतः आध्यात्मिक प्रकृति से ही युक्त नहीं माना जाता था। ये देवता भी अनेक प्रकार के ऐन्द्रिक भोगों से प्रभावित रहते थे। हम पहले देख चुके हैं कि इन्हें किस प्रकार सोमरस का आनन्द लेते हुये तथा इससे उत्पन्न मदमत्त अवस्था का प्रदर्शन करते हुये दिखाया गया है। यम को देवताओं के साथ सोमपान करते हुये (ऋग्वेद १०.१३५,१), आदित्य को मधु खाते हुये (अवे० १८,४.३) और पितरों को यम के साथ आमोद करते हुये (सधमादम् मदन्ति) बताया गया है (ऋग्वेद १०.१४,१०, तुकी० अवे० १८.४,१०)। ऋग्वेद ३ ५३,६ में इन्द्र को एक सुन्दरी पत्नीवाला तथा अपने घर में आनन्दपूर्वक रहनेवाला कहा गया है। अवे० १४.२,३१ और बाद, के दो मन्त्रों में नववधू से कहा गया है कि वह शय्या पर चढ़े हो, पुत्रों की माता हो क्योंकि देवता लोगों ने ही सर्वप्रथम विवाह करके अपनी पत्नियों के साथ मैथुन किया था (आ रोह तल्पम सुमनस्यमाना इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै। ३२. देवाः अग्रे समपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस् तनूभि')। अवे० ४.३७,११ और बाद, में गन्धर्व, जिन्हें कुत्तों और बन्दरों के समान रोमयुक्त देवों का एक वर्ग कहा गया है, जो पृथिवी की स्त्रियों को मोहित करने के लिये सुन्दर रूप धारण करते हैं। अतः इनसे यह निवेदन किया गया है कि ये अपने इस अशोभनीय कृत्य में प्रवृत्त न हों और मनुष्यों के क्षेत्र में हस्तक्षेप न करें क्योंकि इनके पास स्वयं अपनी पत्नियाँ, अप्सरायें, हैं (प्रियो दृशे इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियम्। तम् इतो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता। १२. जायाः इद् वो अप्सरसः गन्धर्वाः पतयो यूयम्। अप धावत अमर्त्याः मर्त्यान् मा सचध्वम्)। तुकी० इसी सूक्त के मन्त्र २-४ और ७ तथा अवे० १४ २,३५)। यदि इन सूक्तों के कवि देवों तक को इस प्रकार

---

[२६७] देखिये शतपथ ब्राह्मण १४ ७,१,३२ और बाद (=बृहदारण्यक उपनिषद् पृ० ८१० और बाद)।

की कामाचारी प्रकृति से मुक्त मानते थे, तब इस बात को भी स्वीकार करना होगा कि यही कवि, अथवा इनके समकालीन या तात्कालिक पूर्वज, पृथिवी पर एक सच्चरित्रता के जीवन के पुरस्कार स्वरूप सर्वथा आध्यात्मिक स्वर्ग की कल्पना कदाचित ही कर सके होंगे।[४९८]

अवे० ३.२९,३ के एक स्थल पर यह आशा की गई है कि परलोक में कर से मुक्ति का वरदान भी प्राप्त होगा। वहाँ यह कहा गया है कि शितिपाद मेष का दान करनेवाला "स्वर्गलोक में जाता है जहाँ निर्बलों को बलवानों को किसी प्रकार का कर नहीं देना पड़ता" (यो ददाति शितिपादम् अविं लोकेन सम्मितम्। स नाकम् अभ्यारोहति यत्र शुक्लो [शुल्कः ?] न क्रियते अबलेन बलीयसे)। मंत्र ५ में यह आश्वासन है कि ऐसा व्यक्ति "सदैव ही सूर्य और चन्द्रमा में निवास करता है" (प्रदाता उप जीवति सूर्य-मासयोर् अक्षितम्)।

ऋग्वेद के दसवें मण्डल के १५४ वें सूक्त में पुण्यात्माओं के लोक में जाने के लिये जिन पुण्यकर्मों की आवश्यकता है उनका इस प्रकार वर्णन है: १. सोमः एकेभ्यः पवते घृतम् एके उपासते। येभ्यो मधु प्रधावति तांश् चिद् एवापि गच्छतात्। २. तपसा ये अनाधृष्यास् तपसा ये स्वर् ययुः। तपो ये चक्रिरे महस् तांश् चिद्...। ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास् तान्। ४. ये चित् पूर्व ऋतसापः ऋतावानः ऋतावृधः। पितॄन् तपस्वतो यम तान्। ५. सहस्रनीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्। ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजान् अपि गच्छतात्। "१. कोई पितर घृत का सेवन करते हैं और कोई अभिषुत सोम-रस का पान करते हैं। जिन पितरों के लिये मधुर रस का स्रोत प्रवाहित है, हे प्रेत! तुम उनके पास ही गमन करो। २. तप के बल से जो दुर्धर्ष हुये हैं, तप के बल से जो स्वर्ग पहुँचे हैं और जिन्होंने घोर तप किया है, हे प्रेत! तुम उनके पास गमन करो। ३. जो संग्राम भूमि में संग्राम करते हैं, जिन्होंने अपने देह के मोह को त्याग दिया है, अथवा जिन्होंने प्रचुर दक्षिणा दी है, हे प्रेत! तुम उनके पास गमन करो। ४. जो प्राचीनकालीन पुरुष पुण्यकर्मों द्वारा फल के अधिकारी हुये हैं, जो पुण्य के स्रोत को विस्तृत कर चुके हैं और जिन्होंने तपस्या का फल संचय किया है, हे प्रेत! तुम उनके पास गमन करो। ५. जिन मेधावी जनों के सहस्रों कर्मों की विधि निश्चित की है और जो सूर्य

---

[४९८] अवे० १०.८,४३ मे हमे ये शब्द मिलते हैं: पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर् गुणेभिर् आवृतम्। तीनो गुणो का एक साथ अवे० ८.२,१ मे भी उल्लेख है। नाम और रूप का अवे० १०.२,१२ और ११.७,१ मे उल्लेख है।

की सदा रक्षा करते हैं, जिन्होंने तप के प्रभाव से उत्पन्न होकर तप किया है, हे यम! यह प्रेत उन्हीं पितरों के पास निवास करे।"[२६९] (तुकी० अवे० १९.४३,१ और बाद)।

ऋग्वेद १.१२५,५ और १०.१०७,२ भी दान के पुण्यों की घोषणा करते करते हैं। इससे लाभान्वित होनेवाले ब्राह्मणों से यह कहा गया है कि वे इसके लिये आवाहन करें (तुकी० १०.१०७,२ का ८ वाँ मन्त्र भी)।

स्वर्लोक को प्राप्त पितरों को अपने वंशजों द्वारा पूज्य बताया गया है। ऐसे पितरों को उच्च, मध्यम और अवर स्थानीय, अथवा स्वर्गलोक, अन्तरिक्ष तथा पृथिवी पर निवास करनेवालों के अनुसार वर्गीकृत किया गया है (ऋग्वेद १०.१५,१; अवे० १८.२,४९) जब कि अवे० १८.२,४८ में हमें यह बताया गया है कि स्वर्ग तीन हैं जिनमें से पितृगण उच्चतम में निवास करते हैं। इनकी विभिन्न जातियों का अङ्गिरसों, वैरूपों, नवग्वों, अथर्वनों, भृगुओं, वसिष्ठों, इत्यादि नाम से उल्लेख किया गया है (ऋग्वेद १०.१४,४-६. १०.१५,८)। यद्यपि सभी पितर उपासकों को ज्ञात नहीं होते, तथापि अग्नि सब को जानते हैं (१०.१५,१३)। पितरों के वंशज पितरों को पूजा और हवि अर्पित करते हैं (१०.१५,२.९), उनका आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते हैं (१०.१४,६), उनके प्रति किये गये अपराधों के लिये उनके क्रोध का निवारण और उनसे क्षमा चाहते हैं (१०.१५,६)। उनकी स्तुति की जाती है जिससे वे उपासकों की रक्षा करें (१०.१५,५), तथा उपासकों को दीर्घायुष्य, सन्तान तथा सम्पत्ति प्रदान करें (१०.१५,७-११; अवे० १८.२,१४ : परायतः पितरः आ च यात अयं वो यज्ञो मधुना समक्तः। दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च नः सर्ववीरं दधाता; १८.४,६२ : आयुर् अस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश् च पोषैर् अभि नः सचध्वम्)। यह कहा गया है कि पृथिवी पर बनाये गये हव्यों आदि के लिये पितृगण तृषित रहते हैं (१०.१५,९)। पितरों से कहा गया है कि वे यम, उनके पिता विवस्वत् और अग्नि के साथ यज्ञ में पधार कर हविष्पात्रों से अपने को पूर्णतः तृप्त करें (१०.१४,४-५, १०.१५,९)। फलस्वरूप पितृगण सहस्रों की संख्या में इन्द्र तथा अन्य देवताओं के रथों पर बैठकर आते हैं तथा यज्ञस्थान पर यथाक्रम स्थान ग्रहण करते हैं (१०.१५,१०-११)।[२७०] इन्हें अद्भुत शक्तियों से युक्त कहा गया है। अग्नि से यह प्रार्थना की गई है वे दुष्टात्माओं को

---

[२६९] देखिये मूलर को ब्राह्मणों के अन्त्येष्टि कर्म पर, पृ० ११।

[२७०] तुकी० पितरों की हवियों (कोलब्रुक, एसेज, १.१८०)।

भगायें जो मित्रों के वेश में आकर मनुष्य के समाज में सम्मिलित होने का प्रयास करते हैं (अवे० १८.२,२८)। ऋग्वेद १०.६८,११ में यह कथन मिलता है : "पितरों ने नक्षत्रों से आकाश को उसी प्रकार सुसज्जित किया है जिस प्रकार कृष्णवर्ण अश्व को सुवर्ण के आभूषणों से अलंकृत किया जाता है। उन्होंने प्रकाश को दिन के लिये और अन्धकार को रात्रि के लिये नियत किया है (अभि श्यावं न कृशनेभिर् अश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्याम् अपिंशन्)।

इन विचारों के साथ उन विचारों की तुलना कीजिये जो रोमन लोग 'मेन्स' के प्रति रखते थे (देखिये स्मिथ : डिक्शनरी ऑफ ग्रीक और रोमन बायोग्राफी तथा माइथॉलोजी वस्था०)। तुकी० सन्तों के अधिकारों के सम्बन्ध में अपरिष्कृत ईसाई गिरजाओं के विचार भी।

निम्नलिखित स्थल पर दुष्ट के लिये किसी प्रकार के दण्ड का अस्पष्ट उल्लेख है :

ऋग्वेद ४ ५,५ : अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवाः। पापासः सन्तो अनृता असत्याः इदम् पदम् अजन्त गभीरम्। "जैसे पालन करनेवाले भ्राता से द्वेष करनेवाली स्त्री तथा पति से द्वेष करने वाली मिथ्याचारिणी स्त्री दुःख देनेवाली गम्भीर दशा को प्राप्त हो जाती है वैसे ही यज्ञ-विहीन एवं अग्नि से द्वेष करनेवाला सत्यरहित पापाचारी अधः-पतन को प्राप्त होता है।"

ऋग्वेद ७.१०४,३ : इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तर् अनारम्भणे तमसि प्रविध्यतम्। यथा नातः पुनर् एकश्चनोदयद् इत्यादि। १७. प्र या जिगाति खर्गलेव नक्तम् उप द्रुहा तन्वं गूहमाना वव्रान् अनन्तान् अव सा पदीष्ट इत्यादि। "हे इन्द्र और सोम! तुम दुष्कर्म करनेवाले राक्षसों को मारकर फेंक दो। एक भी राक्षस शेष न रहे। १७. रात्रि के समय जो राक्षसी अपने शरीर को उल्लूक के समान छिपाकर चले वह नीचे मुख करके घोर गर्त में गिरे।"

ऋग्वेद ९ ७३,८ : विद्वान् स विश्वा भुवनाऽभि पश्यति अवजुष्टान् विध्यति कर्ते अव्रतान्। "सबको जानता हुआ सोम सम्पूर्ण विश्व को देखता है। वह पापियों और घृणितों को गर्त में फेंक देता है।"

१०.१५२,४ में इन्द्र से यह स्तुति की गई है कि वह उपासकों को क्षति पहुँचाने वाले व्यक्तियों को अवर अन्धकार में फेंक दें (यो अस्मान् अभि दासति अधरं गमया तमः, तुकी० अवे० १.२१,२)। अवे० ८.२,२४ में अधम अन्धकार का वर्णन है (न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्ति अधमं तमः)।

देखिये अवे० ९.२,४.९.१०.१७; १०.३,९, १२ ३,४९; १२.१,३२ जहाँ इसी प्रकार के शब्द आते हैं (एक स्थान, १०,३,९ पर ये 'असूर्त्तम् रजस' के साथ सम्बद्ध हैं)। ऋग्वेद १० १०३,१२ तथा अवे० १८.३,३, में 'अन्धमृतमम्' मिलता है।[४७१] किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इन स्थलों पर ये शब्द किसी दण्ड के स्थान के ही द्योतक हैं। अवे०५.३०,११, में एक रुग्ण व्यक्ति से यह कहा गया है : उदेहि मृत्योर् गम्भीरात् कृष्णाच् चित् तमसस् परि। "गहन मृत्यु से उठो, कृष्णवर्ण अन्धकार से उठो।" अवे० ८.१,१० में 'तमस्' का प्रयोग प्रत्यक्षतः मृतक अवस्था के आशय में प्रयुक्त हुआ है; और अवे० ८.२,२ में 'जीवनाम् ज्योतिः' का उल्लेख है। इसके पहलेवाले मन्त्र में 'रजस' और 'तमस्' संयुक्त हैं : "अन्तरिक्ष और अन्धकार में मत जाओ" (रजस् तमो मोपगाः मा प्र मेष्ठाः)। अवे० १२ ४,३६ में, फिर भी, सामान्य शब्द 'नरकलोक' का विशेषण रूप आता है, और यह कहा गया है कि कुछ प्रकार के पापियों को यही लोक मिलता है (अथाहुर् नारक लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्)।

महाभारत के निम्नलिखित स्थल (१२.६९६९ और बाद) पर 'तमस्' और नरक समीकृत हैं : अनृत तमसो रूपं तमसा नीयते ह्य् अधः। तमोग्रस्ताः न पश्यन्ति प्रकाशं तमसा वृतः। ६९७०. स्वर्गः प्रकाशः इत्य् आहुर् नरक तम. एव च) "असत्य तमोरूप होता है; तमस द्वारा व्यक्ति अधोलोक को प्राप्त होता है। तमसावृत्त व्यक्ति अन्धकाराच्छन्न होने के कारण प्रकाश नहीं देखता। स्वर्ग प्रकाशरूप है और नरक तमस् रूप।[४७२]

ऊपर उद्धृत एक स्थल (१०.१६,४) पर यह कहा गया है कि मनुष्य के अजन्मे भाग को अग्नि "पुण्यात्माओं के लोक में ले जाते हैं।" यह द्रष्टव्य है कि यहाँ व्यवहृत शब्द उस 'आत्मन्' से भिन्न है जिसका बाद के समय में निर्विवाद रूप से सूक्ष्म आत्मा के आशय में प्रयोग हुआ है। इसके पहले वाले मन्त्र में इसी 'आत्मन्' शब्द का प्राणवायु के अर्थ में प्रयोग हुआ है क्योंकि इसे वायु में मिल जाने के लिये कहा गया है। ऋग्वेद के कुछ अन्य स्थलों पर इसे आत्मा के लिये 'मनस्' शब्द का प्रयोग मिलता है, जो मृत्यु के बाद भी विद्यमान् रहता है। इस प्रकार १० ५८,१ में यह कथन है : यत् ते यमं वैवस्वतम् मनो जगाम् दूरकम् । तत् ते आवर्त्तयामसि इह क्षयाय जीवसे। "तुम्हारे उस आत्मा को, जो यम वैवस्वत के पास चला गया है, हम पुनः यहाँ निवास करने के लिये बुलाते हैं।" इसके बादके मंत्रों

---

[४७१] मनु० ८.९४ 'अन्धम् तमस' को नरक से साथ सम्बद्ध करते हैं।
[४७२] तु०की० विष्णुपुराण २.६,४०।

में अनेक स्थानों, जैसे स्वर्ग, पृथिवी, चारों दिशाओं, समुद्र, जलों, नक्षत्रों, सूर्य, उषा, भूत, भविष्य इत्यादि से भी 'आत्मा' को बुलाया गया है। और पुनः १०.६०,१० में भी हमें यही शब्द प्रयुक्त मिलता है : यमाद् अहं वैवस्वतात् सुबन्धोर् मनः आभरम्। जीवातवे न मृत्यवे अथो अरिष्टतातये। "मैं सुबन्धु के आत्मा को इसलिये लौटा लाया हूँ कि यह जीवित रहे, मरे नहीं और सुरक्षित रहे।" तुकी० अवे० ५.३,६.१६; ६.५३,२; ८.१,३; ८.२, ३; और वासं० ३.५३–५६। फिर भी, 'आत्मन्' का ऋग्वेद के कुछ स्थलों पर जीवनी शक्ति के रूप में भी प्रयोग हुआ है, जैसे जहाँ सूर्य को सम्पूर्ण चराचर जगत का 'आत्मा' कहा गया है, अथवा जहाँ सोम को यज्ञ का आत्मा (९.२,१०; ९.६,८) और इन्द्र का आत्मा (९.८५,३) बताया गया है।

(६) भावी जीवन के सम्बन्ध में बाद की कृतियों से उद्धरण

अब मैं बाद के समय की कुछ अन्य भारतीय कृतियों जैसे शतपथ ब्राह्मण, महाकाव्य, और पुराणादि से कुछ स्थलों को उद्धृत करूँगा जिनसे यह पता लगेगा कि भावी जीवन सम्बन्धी इनके विवरण कहाँ तक ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के अनुकूल हैं।

जजओसो० (भाग ९, पृ० २३७ और बाद) में प्रो० वेबर ने शतपथ ब्राह्मण से एक ऐसे स्थल को उद्धृत किया है जिसमें मृत्यु के बाद के दण्ड का उल्लेख है। इस पर टिप्पणी करते हुये आप कहते हैं कि भारतीय साहित्य के विद्यमान ग्रन्थों की अल्पता के कारण हम अभी जन्मजन्मांतर के सिद्धान्त के उत्थान और विकास के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्णय कर सकने की स्थिति में नहीं हैं। फिर भी प्रो० वेबर इस बात को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते कि इस प्रकार के सिद्धान्त का विकास स्वयं भारत में ही हुआ था, और किसी विदेशी प्रभाव से उत्पन्न नहीं कहा जा सकता। (देखिये ओरियण्ट उण्ड ऑक्सिडेण्ड, भाग २, पृ० १६९ और बाद, में प्रोफेसर बेनफे के इसी विषय पर विचार)। प्रो० वेबर आगे कहते हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों में पुनर्जन्म के अथवा वैयक्तिक अस्तित्व के प्रति किसी प्रकार के असन्तोष के कोई चिह्न नहीं मिलते। इसके विपरीत, सूक्त जीवन को आनन्दपूर्वक व्यतीत करने तथा दीर्घायुष्य प्राप्त करने और साथ ही साथ इस जीवन के ही परलोक में बने रहने की भावना व्यक्त करते हैं। प्रो० वेबर आगे यह कहते हैं : "इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी अमरत्व, अथवा कम से कम दीर्घायुष्य उन्हें अवश्य मिलता है जो यज्ञादि को सविधि सम्पन्न करते हैं। जो ऐसा नहीं करते उन्हें अपनी आयु के पूर्व ही मृत्यु

प्राप्त होती है (पुरा ह आयुषः)[४७३]। ऐसे लोगों को परलोक में तौला जाता है (११.२,७,३३)[४७४] और इनके भले बुरे कर्मों के अनुसार अच्छे बुरे फल मिलते हैं। कोई जितना ही अधिक यज्ञ करता है, उसे उतना ही दीर्घ पार्थिव जीवन प्राप्त होता है अथवा जैसा कि ब्राह्मण में कहा गया है (१०.१, ५,४)[४७५] उसे भोजन करने की उतनी ही कम आवश्यकता पड़ती है। पुनः अन्य स्थलों (४.६,१,१; ११.१.८,६; १२.८,३,३१)[४७६] पर यह कहा गया है कि पुण्यात्माओं को अपने सर्वाङ्गों के साथ परलोक में पुनः जन्म लेना इनका सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार होता है। यहाँ वैयक्तिक सत्ता का उच्चतम मूल्यांकन और विशुद्ध व्यक्तिगत अमरत्व का भाव निहित है। प्रत्यक्षतः, इसी दृष्टि से किसी मृत व्यक्ति की अस्थियों का नष्ट हो जाना उसके मित्र अपमानजनक मानते हैं, क्योंकि यह पाप का कठोरतम दण्ड है (११.६,३,११; १४ ६,९, २८)[४७७] क्योंकि सूत्रों द्वारा प्रवर्तित विधान के अनुसार अन्त्येष्टि के बाद अस्थियों का संग्रह कर लेना चाहिये।

[इसी कृति के निम्नलिखित स्थल (१०.४,३,९) की उपरोक्त दृष्टिकोण के साथ सगति नहीं है। कथा के अनुसार देवताओं ने सदेह अमरत्व प्राप्त किया था; और यद्यपि मनुष्य अपने मर्त्य शरीर का परित्याग किये बिना अमर नहीं हो सकते, तथापि मृत्यु के बाद एक दिव्य शरीर प्राप्त कर लेने की सम्भावना वर्जित नहीं है : ९. स मृत्युर् देवान् अब्रवीद् "अथ एव सर्वे मनुष्याः अमृताः भविष्यन्ति अथ को मह्यम् भागो भविष्यति" इति । ते ह ऊचुर् "न अतोऽपरः कश्चन सह शरीरेण अमृतोऽसद् यदा एव

---

[४७३] तुकी० ऋग्वेद १० ३७,६; शत० ब्रा० ११ ८,३,६; १०.४,३,१। ऋग्वेद ८ ५६,२० और अथर्व० ५.३०,१७; १०.२,३०; ११.३,५६, भी। 'पुरा ह आयुषो म्रियते' शतपथ ब्रा० २.१.४,९ में; 'न पुरा आयुषः स्वकामी प्रेयात्' १०.२,६,७ मे; और 'सर्वम् आयुर् एति' १० २,६,१९ मे मिलता है। देखिये तैत्तिरीय संहिता ३ २,१,२ भी। तुकी० साम्स १०२.२५ और जमिया, १७ ११।

[४७४] वेबर ११.२,७,३३ का उल्लेख करते हैं।

[४७५] १०.१,५ ४।

[४७६] ४.६,१.१; ११ १,८,६; १२ ८,३,३१, भी देखिये। अथर्व० ११ ३, ३२.४९ भी देखिये।

[४७७] ११.६,३,११; १४ ६,९,२८ (= बृहदारण्यक उपनिषद् ३.९,२६) भी देखिये। तैत्तिरीय ब्रा० ३.१०,९,३–५ में अत्यंहस् आरुणि और प्लक्ष दय्याम्पाति की कथा देखिये।

त्वम् एतम् भागं हरासै। अथ व्यावृत्य शरीरेण अमृतोऽसद् विद्यया वा कर्मणा वा" इति। यद् वै तद् अब्रुवन् "विद्यया वा कर्मणा वा" इति। एषा ह एव सा विद्या यद् अग्निर् एतद् उ ह एव तत् कर्म यद् अग्निः। १०. ते ये एवं एतद् विदुर् ये वा एतत् कर्म कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति। ते सम्भवतः एव अमृतत्वम् अभिसम्भवन्ति। अथ ये एवं न विदुर् ये वा एतत् कर्म न कुर्वते मृत्वा पुनः सम्भवन्ति ते एतस्य एव अन्नम् पुनः पुनर् भवन्ति।

"मृत्यु देवों से (जो कुछ यज्ञों को सम्पन्न करने के परिणामस्वरूप अमर हो गये हैं) कहता है: 'इसी प्रकार सब मनुष्य भी अमर हो जायँगे। तब मेरे अंश में क्या मिलेगा?' देवों ने उत्तर दिया: 'अब से कोई भी सदेह अमर नहीं हो सकेगा, जब तुम उसके शरीर के किसी भाग को पकड़ रखोगे।[४७८] अब विद्या अथवा कर्म से जो भी अमरत्व प्राप्त करेगा वह अपने पार्थिव शरीर का त्याग करने पर ही अमर हो सकेगा।' उन्होंने जो यह कहा कि 'विद्या अथवा कर्म से' तो इसका अर्थ उस विद्या से है जो अग्नि हैं, और उस कर्म से जो अग्नि हैं। १०. जो ऐसा जानते हैं, अथवा जो यह कर्म करते हैं, वे मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेते हैं; और इस प्रकार जन्म लेकर वे अमरत्व प्राप्त करते हैं। जब कि जो ऐसा नहीं जानते, अथवा जो यह कर्म नहीं करते वे भी वास्तव में मृत्यु के बाद जन्म लेते हैं किन्तु पुनः पुनः मृत्यु के ग्रास बनते हैं।"

प्रो० वेबर आगे यह कहते हैं: "किन्तु जहाँ प्राचीनतम समयों में स्वर्गलोक में (जहाँ मधु और दूध की धारा बहती है: ११.५,६,४)[४७९] अमरत्व को पुण्यकर्म अथवा विद्या का पुरस्कार माना गया है, और जब कि पापी अथवा मूर्ख अल्पायु के बाद ही मृत्यु को प्राप्त करता है, वहीं ब्राह्मणों का सिद्धान्त यह है कि मृत्यु के बाद दूसरे लोक में सब पुनः जन्म लेते हैं और उनके कर्मों के अनुसार उन्हें पुरस्कार या दण्ड मिलता है (६.२,२,२७; १०.६,३,१; ११.७,२,२३)।"[४८०]

[फिर भी, शतपथ ब्राह्मण, एक स्थल (१० ५,४,१५) पर इच्छा और

---

[४७८] तैत्तिरीय स० से यह प्रतीत होता है कि कुछ मनुष्य भी जीते-जी स्वर्ग जा सकते हैं।

[४७९] ११.५,६,३ और बाद। तुकी० शतब्रा० ११.५,७,६ और अथे० ४.३४ ६ ७।

[४८०] ६ २,२,२७; १०.६,३,१ भी देखिये।

सन्तोष से भी एक उच्चतर स्थिति की धारणा को व्यक्त करता है। इस स्थल पर यह कथन है: १५. सोऽस्य एष सर्वस्य अन्तम् एव आत्मा। स एष सर्वासाम् आपाम् मध्ये। स एष सर्वैः कामैः सम्पन्नः। आपो वै सर्वे कामाः। स एष अकामः सर्वकामो न ह्य् एतं कस्यचन कामः। १६. तद् एष श्लोको भवति "विद्यया तद् आरोहन्ति यत्र कामाः परागताः। न तत्र दक्षिणाः यन्ति नाविद्वांसश् तपस्विनः" इति। न ह् एत्र तं लोकं दक्षिणाभिर् न तपसाऽनेवंविद् अश्नुते। एवंविदां ह् एव स लोकः। "यह आत्मा ही इस सब का अन्त है। यह सम्पूर्ण जलों के मध्य स्थित होता है। यह सम्पूर्ण इच्छित वस्तुओं से सम्पन्न होता है। क्योंकि जल ही सम्पूर्ण इच्छाओं के स्रोत हैं।[४८१] यह आत्मा कामरहित किन्तु सर्वकामी है क्योंकि यह किसी की इच्छा नहीं करता। १५. इस विषय पर एक श्लोक है: 'विद्या से मनुष्य उस स्थिति को प्राप्त करते हैं जिसमें सम्पूर्ण इच्छायें समाप्त हो गई होती हैं। वहाँ दक्षिणा नहीं पहुँचती, और न अविद्वान तपस्वी ही।[४८२] जो व्यक्ति इस विद्या से युक्त नहीं होता वह उस लोक को दक्षिणा अथवा तपस्या से नहीं प्राप्त कर सकता। वह उसी को प्राप्त होता है जिनको इस विद्या का ज्ञान होता है।"][४८३]

प्रो० वेबर एक टिप्पणी में यह कहते हैं: "एक अत्यन्त प्राचीन धारणा के अनुसार, शरीर से निकलने के बाद आत्मा वायु के पंखों पर आरूढ़ हो कर पुण्यात्माओं के लोक में चला जाता है और इसके लिये वह स्वयं भी वायुरूप बन जाता है।[४८४] इसी के साथ बाद का यह विचार भी सम्बद्ध है कि मृतक की इन्द्रियाँ अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु और आकाश में विलीन हो जाती हैं[४८५] (१०.३,३,८; १४.६,२,१३)। और इसी से और भी आधुनिक यह धारणा भी उद्भूत है कि शरीर पञ्चभूतों में मिल जाता है। एक स्थान (१.९,३,१०)[४८६] पर मुझे यह विचार मिला है कि सूर्य की रश्मियाँ स्वयं

---

[४८१] तुल्की तैत्तिरीय ब्रा० ३ १२,२,६।

[४८२] इस मन्त्र को शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है।

[४८३] शतपथ ब्रा० ११ २,६,१३ में आत्मयाजिन और देवयाजिन् का विभेद किया गया है। देखिये शतपथ ब्राह्मण १०.१,२,१३ भी।

[४८४] तुल्की० अवे० १८.२,२१ और बाद।

[४८५] १०.३,३,८। तुल्की० ऋग्वेद १०.१६,३; १० १६,३। देखिये शतब्रा० १४.६,२,१३ (=बृह० उप० पृ० ५४२) भी।

[४८६] १.९,३,१०।

'सुकृतस्' होती हैं; और एक अन्य स्थान (६ ५,४,८)[४८७] पर यह कि नक्षत्र ही स्वर्गलोक में जानेवाले पुण्यात्माओं के प्रकाश होते हैं। इसी के साथ इन्द्रलोक गमन की इसी प्रकार की उक्तियों की तुलना की जा सकती है।"

भावी पुरस्कारों से सम्बद्ध ब्राह्मणों के कुछ अन्य स्थल (जिन्हें प्रो० वेबर ने उद्धृत नहीं किया है) इस प्रकार हैं। शतपथ ब्राह्मण ११.६,२,२.३ में यह कथन है : "जो इस प्रकार यज्ञ करता है वह चिर सम्पन्नता तथा यश, और इन दोनों देवताओं (आदित्य और अग्नि) का सान्निध्य[४८८] तथा इन्हीं के क्षेत्र में निवास-स्थान प्राप्त करता है।" इसी ग्रन्थ (२.६,४,८) में यह कहा गया है कि जो कुछ यज्ञ विशेष सम्पन्न करते हैं वह अग्नि, वरुण, अथवा इन्द्र बनते हैं और उन्हीं लोकों को प्राप्त करते हैं जो क्रमशः इन देवताओं से सम्बद्ध हैं (स यद् वैश्वदेवेने यजते अग्निर् एव तर्हि भवत्य् अग्नेर् एव सायुज्य सलोकतां जयति। अथ यद् वरुणप्रघासैर् यजते वरुणः एव तर्हि भवति इत्यादि)। और इसी प्रकार तैत्तिरीय ब्राह्मण (३.१०,११,६ और बाद) में यह कथन है कि कुछ विशेष प्रकार की विद्याओं से युक्त व्यक्ति आदित्य के साथ सायुज्य, तथा अग्नि, वायु, इन्द्र बृहस्पति, प्रजापति, अथवा ब्रह्मा का सायुज्य तथा क्रमशः इन्हीं के लोक प्राप्त करते हैं। इसी ग्रन्थ में (३.१०,९,११) एक ऐसे ऋषि का उल्लेख है जो अपनी विद्या से सुवर्ण हंस बनकर स्वर्गलोक गया और वहाँ पहुँच कर आदित्य के साथ सायुज्य प्राप्त कर लिया (अह्नीनो ह आश्वत्थ्यः सावित्रं विदाञ्चकार। ११. स ह हंसो हिरण्मयो भूत्वा स्वर्गं लोकम् इयाय आदित्यस्य सायुज्यम्)। शतपथ ब्राह्मण (११.४,४,१) भी ब्रह्मा के साथ सायुज्य की चर्चा करता है : षड् वै ब्रह्मणो द्वारः अग्निर् वायुर् आपश् चन्द्रमाः विद्युद् आदित्यः। २१. स यः उपदग्धेन हविषा यजते अग्निना स ह ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्यते। सोऽग्निना ब्रह्मणो द्वारेण प्रतिपद्य ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकतं जयति। "ब्रह्मा के छः द्वार हैं, यथा, अग्नि वायु, जल, चन्द्रमा, विद्युत और आदित्य। २. जो दग्ध हवि से यज्ञ करता है वह अग्नि-द्वार से ब्रह्मा के पास पहुँचता है; और इस प्रकार पहुँचकर ब्रह्मा का सायुज्य प्राप्त करके उन्हीं के लोक में निवास करता है।" अथर्व० १९,७,१, १ में एक ब्रह्मलोक का उल्लेख है

---

[४८७] ६.५.४,८। वेबर ने महाभारत के इन्द्रलोकगमन के जिस स्थल का उल्लेख किया है वह वनपर्व के १७४५ और बाद में आता है।

[४८८] 'सायुज्य' शब्द यहाँ परमात्मा में 'लय' और 'मुक्ति' का मार्ग प्रशस्त करता है।

[ब्रह्मलोक सम्बन्धी पौराणिक विचारों के लिये देखिये विलसन का विष्णुपुराण]।

शतपथ ब्राह्मण ११.५,६,९ में यह कहा गया है कि एक विशेष प्रकार से वेदाध्ययन करनेवाला व्यक्ति "पुनः मृत्यु से मुक्त होकर ब्रह्मा के साथ एकीभूत हो जाता है। यदि वह पर्याप्त शक्ति से अध्ययन नहीं कर सकता तो भी उसे देवों से सम्बद्ध एक ही वाक्य का अध्ययन करना चाहिये।"

निम्नलिखित स्थल ऐतरेय ब्राह्मण से उद्धृत है : ३ ४४ : स वै एष न कदाचन अस्तम् एति न उदेति। तं यद् अस्तम् एति इति मन्यन्ते अह्नः एव तद् अन्तम् इत्वा अथ आत्मानं विपर्यस्यते रात्रीम् एव अवस्तात् कुरुते अहः परस्तात्। अथ यद् एनम् प्रातर् उदेति इति मन्यन्ते रात्रेर् एव तद् अन्तम् इत्वा अथ आत्मानम् विपर्यस्यते अहर् एव अवस्तात् कुरुते रात्रीम् परस्तात्। स वै एष न कदाचन निम्रोचति न ह वै कदाचन निम्रोचति एतस्य ह सायुज्य सरूपता सलोकताम् अश्नुते यः एवं वेद यः एवं वेद।

"सूर्य न तो कभी उदित होता है और न अस्त। जब लोग यह मानते हैं कि वह अस्त होता है, तो वह दिन के अन्त में पहुँच कर केवल अपने को घुमा लेता है और नीचे रात्रि तथा ऊपर दिन कर देता है। फिर जब लोग यह मानते हैं कि वह प्रातःकाल उदित होता है, तब वह रात्रि के अन्त में पहुँच कर अपने को केवल घुमा लेता है और नीचे दिन तथा ऊपर रात कर देता है। वास्तव में वह कभी अस्त नहीं होता। जो इस बात को जानता है कि सूर्य कभी अस्त नहीं होता वह सूर्य के साथ सायुज्य प्राप्त करता हुआ उसी के लोक में निवास करता है।"[४८१]

इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल (२.१७) पर पृथिवी से स्वर्गलोक की दूरी को बताया गया है : सहस्रम् अनूच्यं स्वर्गकामस्य। सहस्राश्विने वै इत. स्वर्गो लोकः। "स्वर्ग की इच्छा करनेवाले को एक सहस्र (मन्त्रों) का जप करना चाहिये क्योंकि स्वर्गलोक यहाँ से अश्व पर बैठकर एक सहस्र दिनों की यात्रा की दूरी पर स्थित है।"

शतपथ ब्राह्मण ६.६,२,४ में यह कहा गया है कि स्वर्गलोक का द्वार उत्तर-पूर्व की ओर स्थित है (यद् उ एव उदङ् प्राङ् तिष्ठन्। एतस्यां ह दिशि स्वर्गस्य लोकस्य द्वारम्), जब कि वह द्वार जिससे पितरों के स्वर्गलोक में प्रवेश किया जाता है, दक्षिण-पूर्व दिशा में स्थित है (प्राची

---

[४८१] देखिये प्रो० हॉग : ऐतरेय ब्राह्मण २ पृ० २४२। तुल० इण्ड० स्ट० ९.२७८। विष्णुपु० २.८ भी देखिये

च दक्षिणां च। एतस्यां ह दिशि पितृलोकस्य द्वारम्; वही० १३.८, १,५)।[४९०]

भावी दण्ड के आख्यान में (जिसे इसी ब्राह्मण, ११.६,१,१ और बाद, से वेबर ने उद्धृत किया है) यह कहा गया है कि वरुण के पुत्र भृगु अपने पिता के आदेश से चारों दिशाओं में गये और वहाँ उन्होंने मनुष्यों को टुकड़ों में काट कर मनुष्यों को ही भक्षण करते देखा। पूछने पर उन मनुष्यों ने बताया कि वे अपने पिछले कर्मों के फलस्वरूप ही इस प्रकार का दण्ड प्राप्त कर रहे हैं। इन भक्षकों को लाक्षणिक रूप से इस ब्राह्मण में उन वृक्षों, पशुओं, और जलों के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिनका यज्ञ में प्रयोग होता है। किन्तु प्रो० वेबर का विचार है कि यह कथा एक प्राचीन प्रचलित आख्यान है जिसके अनुसार पहले के त्रस्त व्यक्ति अपने त्रासकों को स्वयं दण्ड देते थे, और इसे ही पुरोहितों ने ग्रहण करके ब्राह्मण में सम्मिलित कर लिया है।

मैं भावी जीवन से सम्बद्ध प्रो० वेबर के विचारों पर पुनः आता हूँ।

आप कहते हैं कि "ब्राह्मण इन पुरस्कारों और दण्डों की अवधि के सम्बन्ध में बहुत स्पष्ट नहीं हैं, और यहीं हमें पुनर्जन्म के सिद्धान्त की उत्पत्ति को ढूँढ़ना चाहिये। भारत के विनम्र और कल्पनाशील व्यक्तियों को यह प्रतीत होगा कि दण्ड और पुरस्कार चिरस्थायी हैं। वे यह विचार करेंगे कि इस अल्प जीवन के पापों से प्रायश्चित्त और पुण्यकर्मों द्वारा मुक्त होना सम्भव है। इसी प्रकार वे यह भी सोच सके होंगे कि इस छोटे से जीवन में किये गये पुण्यकर्म चिरस्थायी होते हैं। जन्मान्तर का सिद्धान्त इन दोनों मान्यताओं का उत्तर दे देता है; यद्यपि एक अन्य दृष्टि से यह कदाचित ही ऐसा कर सकता है, क्योंकि ऐसी स्थिति में किसी आदि या अन्त को कहाँ ढूँढ़ा जाय? जिज्ञासा की प्रवृत्ति ने व्यवस्थित या नियमित परिष्कारों में इस द्वैधत्व का समाधान ढूँढ़ने का प्रयास किया, किन्तु यह और अधिक उलझ गया, और इससे बचने के लिये उसे पुनः संसार के बन्धन से तथा वैयक्तिक सत्ता से सर्वथा मुक्ति की धारणा का ही आश्रय लेना पड़ा। इस प्रकार जिसे आरम्भिक समयों में सबसे बड़ा दण्ड माना जाता था अब सबसे बड़ा पुरस्कार माना जाने लगा। यह कार्य बुद्ध और बौद्धधर्म ने किया। और इस बात का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण कि ब्राह्मणों का आधारभूत तत्व बौद्धों से पूर्व समय का है, इसी तथ्य में निहित है। इसके अपवाद केवल बृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों के कुछ स्थल ही हैं जिनसे यह प्रतीत होता है

[४९०] देखिये वेबर : जजओमो० ९.२४३,३०८।

कि ये या तो बुद्ध के आविर्भाव के ठीक पूर्व के समय के हैं अथवा उनके ठीक बाद के।"

यहाँ घोषित निष्कर्ष इस बात के साथ सहमत नहीं हैं। शतपथ ब्राह्मण से ऊपर मेरे द्वारा उद्धृत स्थल (११.५,६,९) ब्रह्म के साथ सायुज्य को व्यक्त करता है : जब तक कि ब्रह्म नहीं ब्रह्मा का ही तात्पर्य न हो और 'सात्मता' को भी उनके सार में विलीन हो जाने के ही अर्थ में ग्रहण न किया जाय।

यद्यपि महाभारत तथा पुराणों में इन्द्र, वरुण, तथा अन्य देवताओं को ऐन्द्रिक तथा अनैतिक जीवन व्यतीत करते हुये दिखाया गया है[४११] और यद्यपि अप्सराओं को स्पष्टरूप से गणिकायें[४१२] कहा गया है, तथापि इन ग्रन्थों में स्वर्गलोक का वर्णन इस प्रकार की प्रकृति को सम्पूर्णतः व्यक्त नहीं करता। महाभारत (३.१५४४१ और बाद) में स्वर्गलोक के श्रेष्ठतम आनन्द के वर्णन में किसी भी ऐन्द्रिक सन्तुष्टि का कोई आश्वासन नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि एक ऋषि (श्लोक १५४०७-१५४८७) जिसका नाम मुद्गल था, निर्धनता किन्तु पवित्रता और आत्मसंयम का जीवन व्यतीत करता हुआ अपने सीमित साधनों के अनुसार सहस्रों ब्राह्मणों का आतिथ्य सत्कार उन अन्नों से करता था जिन्हें वह कपोतवृत्ति से एकत्र करता था और जो कभी भी समाप्त नहीं होते थे (व्रीहिद्रोणस्य तद् ह्य् अस्य ददतोऽन्नम् महात्मनः। शिष्टम् मात्सर्यहीनस्य वर्धत्य् अतिथिदर्शनात्)। कुछ समय पश्चात् महर्षि दुर्वासा, जो भारतीय परम्परा में अपने क्रोध के लिये प्रसिद्ध हैं, मुद्गल की सहनशक्ति की परीक्षा लेने के लिये उपस्थित हुये। दुर्वासा ने छ बार अपने यजमान के सम्पूर्ण भोजन का भक्षण कर लिया। यह देखकर कि इस पर भी उस ऋषि का स्वभाव अप्रभावित है, दुर्वासा ने उसके धैर्य की अत्यन्त प्रशंसा की और उसे सदेह स्वर्ग जाने का वरदान दिया।[४१३] दुर्वासा ने ज्योंही ये शब्द कहे त्योंही दिव्य रथ में बैठकर एक देवदूत वहाँ आया और मुद्गल से पूर्णता की अवस्था में प्रवेश करने के लिये कहा। फिर भी, ऋषि मुद्गल ने पहले स्वर्गलोक के जीवन के गुण-दोषों को जानने की इच्छा की जिसे बताते हुये दूत ने उनसे कहा कि जो तप अथवा महान यज्ञ करते हैं वे, तथा सत्यवादी, आस्तिक, पुण्यात्मा, आत्मसंयमी, विनम्र

[४११] देखिये प्रस्तुत कृति का चौथा भाग।

[४१२] वही २९४, और रामायण १.४५,३५।

[४१३] देखिये महाभारत ३.१८२१ और बाद। रामायण, उत्तर काण्ड २६.१६ और बाद।

ज्ञानी और वीर पुरुष ही स्वर्गलोक प्राप्त करते हैं। उसने बताया कि स्वर्गलोक के आवास प्रकाशमान, वैभवशाली और हर प्रकार के सुखों से पूर्ण हैं। वहीं विशाल सुवर्णमय मेरु पर्वत, और पवित्र नन्दनवन इत्यादि भी स्थित हैं। वहाँ भूख, प्यास, थकावट, शीत, ताप, भय आदि अज्ञात हैं। ध्वनियाँ कर्णप्रिय और हृदयग्राही होती हैं। वहाँ कोई दुःख, कोई शोक, कोई क्षय, कोई श्रम, कोई ईर्ष्या, और किसी प्रकार का भ्रम नहीं होता। वहाँ पुण्यात्मा ऐसे दिव्य शरीर को धारण करते हैं जो किसी माता या पिता से नहीं बल्कि स्वयं अपने कर्मों से प्राप्त होता है। उनके पुष्पहार सुगन्धित और अनश्वर होते हैं; वे दिव्य रथों पर सवारी करते हैं। इन क्षेत्रों के ऊपर और श्रेष्ठ लोक भी हैं जहाँ अपने कर्मों से परिष्कृत ऋषिगण जाते हैं। इनसे भी ऊपर वह लोक है जहाँ देवों के देव ऋभुगण निवास करते हैं और जहाँ स्त्रीकृत ताप[४१४] का नाम भी नहीं है। वहाँ रहनेवाले पुण्यात्मा हवियों पर निर्भर नहीं रहते; वे अमृत का भी पान नहीं करते; उनका शरीर स्थूल नहीं बल्कि दिव्य होता है। वे चिरस्थायी देवों के देव सुख की कामना नहीं करते। वे कल्पान्तरों के साथ परिवर्तित भी नहीं होते। फिर वे जरा मरण के अधीन कैसे हो सकते हैं? उन्हें न तो आनन्द का अनुभव होता है और न दुःख या कष्ट का; न तो प्रेम का और न घृणा का। उस दुर्लभ उच्चतम स्थिति की, जो कामियों के लिये अगम्य है (अगम्या काम-गोचरैः), देवता भी इच्छा करते हैं। वही दिव्य लोक, दूत कहता है, अब मुद्गल को भी उनके पुण्यकर्मों के कारण सुलभ है। तदनन्तर दूत स्वर्गलोक के दोषों का भी वर्णन करता है। वह बताता है कि अपने किये हुये कर्मों का जो फल होता है वही स्वर्ग में भोगा जाता है। वहाँ कोई नया कर्म नहीं किया जाता। अपना पुण्यरूप मूलधन गँवाने से ही वहाँ के भोग प्राप्त होते हैं (श्लोक १५४६८ ; कृतस्य कर्मणस् तत्र भुज्यते यत् फलं दिवि । न चान्यत् क्रियते कर्म मूल-च्छेदन भुज्यते)। क्योंकि यह पृथिवी ही कर्मभूमि है और वह स्वर्ग फलभोग की भूमि मानी गई है (श्लोक १५४७५ : कर्मभूमिर् इयं ब्रह्मन् फलभूमिर् असौ मता)। स्वर्ग में सबसे बड़ा दोष यह है कि कर्मों का भोग समाप्त होने पर एक दिन वहाँ से पतन हो जाता है। जिनका मन सुख भोगों में लगा हुआ है उनको सहसा पतन कितना दुःखदायी होता है। स्वर्ग में जो नीचे के स्थान में स्थित हैं उन्हें अपने से ऊपर के लोकों की समुज्ज्वल श्रीसम्पत्ति देखकर असंतोष और सन्ताप होता है। स्वर्गलोक से गिरते समय वहाँ के निवासियों की चेतना लुप्त हो जाती है। रजोगुण के आक्रमण से उनकी बुद्धि

---

[४१४] तुकी० प्लेटो: रिपब्लिक, १.४।

भ्रष्ट हो जाती है। पहले उनके गले की मालाएँ कुम्हला जाती हैं जिससे उनके पतन की सूचना मिल जाती है। तब उनके मन को अत्यन्त संताप होता है। ब्रह्मलोक पर्यन्त जितने लोक हैं उन सब में ये भयंकर दोष देखे जाते हैं। स्वर्गलोक में रहते समय पुण्यात्माओं में सहस्रों गुण होते हैं, किन्तु वहाँ से भ्रष्ट हुये जीवों का भी यह एक अन्य श्रेष्ठ गुण है कि वे अपने शुभ कर्मों के संस्कार से युक्त होने के कारण मनुष्य-योनि में ही जन्म पाते हैं। इस प्रकार स्वर्ग के गुण-दोष का वर्णन करने के बाद दूत मुद्गल को अपने साथ स्वर्ग जाने के लिये आमन्त्रित करता है। फिर भी, कुछ सोचकर मुद्गल ने कहा कि "स्वर्ग अथवा वहाँ का सुख महान् दोष से युक्त है; इसलिये मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। पतन के बाद तो स्वर्गवासी मनुष्यों को अत्यन्त भयकर दुःख तथा अनुताप होता है और वे पुनः इसी लोक में विचरते हैं, अतः मुझे स्वर्ग जाने की इच्छा नहीं है। जहाँ जाकर मनुष्य कभी शोक नहीं करते; व्यथित नहीं होते, तथा जहाँ से विचलित नहीं होते केवल उसी अक्षय धाम का मैं अनुसन्धान करूँगा।" मुद्गल ने इसके बाद दूत से कहा कि वह किसी ऐसे लोक का, यदि ऐसा लोक हो तो, वर्णन करे जो इन दोषों से सर्वथा रहित है। दूत ने बताया कि ब्रह्मा के लोक से ऊपर विष्णु का परमधाम है। वह शुद्ध, सनातन ज्योतिर्मयलोक है। उसे परमब्रह्म कहते हैं। जिनका मन विषयों में रमा रहता है वे वहाँ नहीं जा सकते। दम्भ, लोभ, महाक्रोध, मोह और द्रोह से युक्त मनुष्य भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। जो ममता और अहंकार से रहित, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों से ऊपर उठे हुये, जितेन्द्रिय तथा ध्यानयोग में तत्पर हैं वे ही उस लोक में जा सकते हैं। तदनन्तर मुद्गल ने देवदूत को विदा कर दिया और शिल तथा उञ्छवृत्ति से जीवन निर्वाह करनेवाले वे ऋषि शम दम आदि नियमों का पालन करने लगे। उनकी दृष्टि में निन्दा और स्तुति समान हो गई। वे मिट्टी के ढेले, पत्थर, और सुवर्ण को समान समझने लगे और विशुद्ध ज्ञानयोग के द्वारा नित्य ध्यान में तत्पर रहने लगे। ध्यान से बल प्राप्त कर उन्हें उत्तम बोध प्राप्त हुआ और उसके द्वारा उन्होंने सनातन मोक्षरूपी सिद्धि प्राप्त कर ली (ज्ञानयोगेन शुद्धेन ध्याननित्यो बभूव ह। ध्यानयोगाद् बलं लब्ध्वा प्राप्य बुद्धिम् अनुत्तमाम्। जगाम शाश्वतीं सिद्धिम् परां निर्वाण-लक्षणाम्)।[४३५]

पुण्यकर्मों और ज्ञान के फलों के बीच का अन्तर, जो हिन्दू दर्शन के लिये

---

[४३५] देखिये बोटलिङ्क और रॉथ द्वारा अपने कोश में उद्धृत अन्य ऐसे स्थल जहाँ यह शब्द प्रयुक्त हुआ है।

इतना अधिक सुपरिचित है, महाभारत के इस स्थल पर और भी स्पष्टरूप से व्यक्त हुआ है :

१२.८८१० : कर्मणा बध्यते जन्तुर् विद्यया तु प्रमुच्यते। तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः। ८८११. कर्मणा जायते प्रेत्य मूर्तिमान् षोडशात्मकः। विद्यया जायते नित्यम् अव्यक्तं ह्य् अव्ययात्मकम्। ८८१२. कर्म त्व् एके प्रशंसन्ति स्वल्पबुद्धि-रताः नराः। तेन ते देह-जालानि रमयन्तः उपासते। ८८१३. ये स्म बुद्धिम् पराम् प्राप्ताः धर्म-नैपुण-दर्शिनः। न ते कर्म प्रशंसन्ति कूपं नद्याम् पिबन्न् इव। ८८१४. कर्मणः फलम् आप्नोति सुख-दुःखे भवाभवौ। विद्यया तद् अवाप्नोति यत्र गत्वा न शोचति। ८८१५ यत्र गत्वा न म्रियते यत्र गत्वा न जायते। न पुनर् जायते यत्र यत्र गत्वा न वर्त्तते। ८८१६. यत्र तद् ब्रह्म परमम् अव्यक्तम् अचलं ध्रुवम्। अव्याकृतम् अनायासम् अमृत चावियोगि च।
"सकाम कर्म से मनुष्य बन्धन में पड़ता है और ज्ञान से मुक्त हो जाता है; अतः दूरदर्शी यति कर्म नहीं करते। कर्म करने से मनुष्य मृत्यु के पश्चात् सोलह तत्वों के बने हुये मूर्तिमान् शरीर को धारण करके जन्म लेता है; किन्तु ज्ञान के प्रभाव से जीव नित्य, अव्यक्त, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त होता है। अधूरे ज्ञान में आसक्त अर्थात् इन्द्रियज्ञान को ही ज्ञान माननेवाले कुछ मनुष्य सकामकर्म की प्रशंसा करते हैं, इसलिये वे भोगासक्त होकर बारम्बार विभिन्न शरीरों में आनन्द मानकर उनका सेवन करते हैं। परन्तु जो धर्म के तत्व को भली-भाँति समझकर सर्वोत्तम ज्ञान प्राप्त कर चुके हैं वे कर्म की उसी तरह प्रशंसा नहीं करते है जैसे प्रतिदिन नदी का पानी पीने वाले मनुष्य कूप का आदर नहीं करते। सुख-दुःख और जन्म मृत्यु कर्म के फल हैं। कर्म द्वारा मनुष्य इन्हीं को पाते हैं परन्तु ज्ञान के द्वारा उन्हें परमपद की प्राप्ति होती है : जहाँ जाने से सदा के लिये शोक से मुक्त हो जाता है, जहाँ जाकर पुनः मृत्यु का कष्ट नहीं उठाना पड़ता, जहाँ जाने से फिर जन्म नहीं होता, जहाँ पुनर्जन्म का भय नहीं रहता तथा जहाँ जाकर मनुष्य फिर इस संसार में नहीं लौटता, जहाँ बिना क्लेश के प्राप्त होनेवाले और मिलकर कभी विलग न होनेवाले, अव्यक्त, अचल, नित्य, अनिर्वचनीय तथा विकारशून्य उस परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है।" इत्यादि, इत्यादि।

(७) यम तथा भावी जीवन

मैंने इस विषय से सम्बद्ध कुछ चुने हुये मंत्रों का बिना सन्दर्भ-संकेत के ही अंग्रेजी में पद्यानुवाद किया है जिसे प्रस्तुत ग्रन्थ के अँग्रेजी संस्करण के पृ० ३२७-३२९ पर देखा जा सकता है। इन स्थलों पर यम की स्तुति, चले

गये मार्गों[४१६] तथा अन्त्येष्टि के समय गाये जानेवाले मंत्रों का उल्लेख है।

(८) तैत्तिरीय ब्राह्मण और कठोपनिषद् पर आधारित नचिकेता का आख्यान

जन्मान्तर के विषय पर तथा आत्मा की प्रकृति आदि के विषय पर उपनिषदों के सामान्यतया एक बाद के समय के सिद्धान्त पर प्रो० वेबर की टिप्पणियों के उदाहरणस्वरूप मैं यहाँ नचिकेता की कथा का तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.११,८,१ और बाद तथा कठोपनिषद् में दिये गये वर्णनों के आधार पर एक संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करूँगा। इस उपनिषद् का अँग्रेजी अनुवाद डॉ० रूअर ने किया है जो बिब० इ० के भाग १५ में १८५३ में प्रकाशित हुआ है।

"प्रसिद्ध है कि यज्ञ फल के इच्छुक वाजश्रवा के पुत्र ने अपना सारा धन दे दिया। उसका नचिकेता नामक एक प्रसिद्ध पुत्र था। जिस समय दक्षिणायें ले जायी जा रही थीं उस समय नचिकेता विचार करने लगा। उसने अपने पिता से पूछा 'मुझे किसको देंगे?' उसके पिता ने कहा: 'मैं तुझे मृत्यु को दूँगा'। तब नचिकेता यम के लोक में पहुँचा और वहाँ तीन रात तक बिना भोजन किये रहा। तदनन्तर यम ने उससे कहा कि तीन रात तक बिना भोजन किये उनके घर में रहने के कारण वह उसे तीन वर देंगे।[४१७] नचिकेता ने पहला वर यह माँगा: 'मेरे पिता वाजश्रवस मेरे प्रति प्रसन्नचित्त और क्रोधरहित हो जाँय और आपके भेजने पर मुझे पहचान कर मुझसे बातचीत करें।' नचिकेता ने दूसरे वर के रूप में यम से स्वर्ग के साधनभूत अग्नि का वर्णन करने के लिये कहा। तीसरा वर नचिकेता ने यह माँगा: 'मरे हुये मनुष्य के विषय में जो यह सन्देह है कि कोई तो कहते हैं कि वह रहता है और कोई कहते हैं कि वह नहीं रहता, सो आपसे शिक्षित हुआ मैं इस रहस्य को जानना चाहता हूँ।' यम ने कहा कि पूर्वकाल में इस विषय में देवताओं को भी सन्देह हुआ था क्योंकि यह सूक्ष्म धर्म सुगम्य नहीं है। अतः यम ने नचिकेता से कोई अन्य वर माँगने के लिये कहा। किन्तु नचिकेता जब अपने इसी वर पर अड़ा रहा तब यम ने उसे प्रलोभन देते हुये सौ वर्ष की आयु-

---

[४१६] अन्त्येष्टि के समय मृतकों को इसी प्रकार सम्बोधित किया जाता है।

[४१७] भारतीय भाष्यकारों के अनुसार इसका अर्थ यह है कि जो यजमान एक रात अपने अतिथि को बिना भोजन के छोड़ देता है वह अपने पुत्रों से रहित हो जाता है, दो रातों तक ऐसा करने से पशुरहित, और तीसरी रात भी ऐसा ही करने से परलोक के पुण्यों से भी रहित हो जाता है।

वाली सन्तान, बहुत से पशु, अश्व, गज, सुवर्ण, विशाल भूखण्ड आदि माँगने के लिये कहा। उन्होंने नचिकेता से कहा : 'मनुष्यलोक में जो भी भोग दुर्लभ हैं उन सब भोगों को स्वच्छन्दतापूर्वक माँग ले। यहाँ रथ और बाजों सहित रमणियाँ हैं जिनसे तू अपनी सेवा करा किन्तु मरण सम्बन्धी प्रश्न मत पूछ।' किन्तु नचिकेता ने पुनः अपने इसी वर को माँगते हुये कहा कि भोग अस्थिर होते हैं तथा इन्द्रियों के तेज को जीर्ण कर देते हैं, अतः उसे ये सब कुछ नहीं चाहिये। जब यम भली प्रकार नचिकेता की परीक्षा ले चुके तब उन्होंने अन्ततः उसे मृत्यु और मोक्ष आदि सम्बन्धी उपदेश देते हुये कहा कि मेधावी आत्मा न उत्पन्न होता है और न मृत्यु को प्राप्त होता है। वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, और पुरातन है तथा शरीर के मारे जाने पर भी स्वयं नहीं मरता।[४९८] जिस समय पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ मन के सहित आत्मा में स्थित हो जाती हैं और बुद्धि भी चेष्टा नहीं करती उस अवस्था को परमगति कहते हैं।[४९९]



[४९८] इसकी तथा पिछले श्लोक के विचार भगवद्गीता से गृहीत हैं।

[४९९] इन पंक्तियों में मुझे कुछ वेदान्ती सिद्धान्त की झलक मिलती है।

खण्ड १९

गौण देवता

(१) त्रित आप्त्य, अहिर्बुध्न्य, और अज एकपाद

श्री बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में (वस्था०) त्रित नामक देवता का निम्नलिखित विवरण मिलता है :—

"त्रित एक वैदिक देवता का नाम है जो प्रमुखतः मरुतों, वात अथवा वायु, और इन्द्र के सम्बन्ध में आता है। यह इन देवताओं की ही भांति त्वाष्ट्र, वृत्र, अहि, आदि असुरों से युद्ध करता है। इसे आप्त्य कहते हैं और इसके आवास को सुदूरस्थ तथा गुप्त माना गया है : इसी से यह कहने की प्रथा चल पड़ी है कि पाप इसके पास विसर्जित हों। यह दीर्घायुष्य प्रदान करता है। अनेक स्थल त्रित के सम्बन्ध में यह अवर और निम्नस्तर रूप से बाद का दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं कि यह इन्द्र के संरक्षण और निर्देशन के अन्तर्गत असुरों से युद्ध करता है। इसी दृष्टिकोण ने एक ऋषि त्रित की धारणा को उत्पन्न कर दिया है (निरुक्त ४.६)।"

ऊपर त्रित का सन्दर्भ दिया जा चुका है। प्रो० रॉथ के विचार से यह एक प्राचीन देवता था जिसका इन्द्र ने अतिक्रमण कर लिया। ऋग्वेद १०.८,८ और १०.९९,६ में इसके एक तीन सरवाले दैत्य से युद्ध का उल्लेख है। ऋग्वेद ८.४७,१४ और बाद में उषा की स्तुति करते हुये यह कहा गया है कि अनिद्रा त्रित आप्त्य पर स्थानान्तरित हो जाय।

इस देवता से सम्बद्ध कुछ अन्य स्फुट मन्त्र इस प्रकार हैं : १.५२,५; १.१०५,९; १.१६३,२ और बाद; १.१८७,१; २.११,१९ और बाद, इत्यादि।

बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश (वस्था०) के अनुसार अहिर्बुध्न्य गहनलोक का एक असुर है जिसे मध्य क्षेत्र के देवताओं के अन्तर्गत रक्खा गया है। यह जिस गहनलोक में रहता है वह अन्तरिक्ष समुद्र है।

इसी कोश के अनुसार अज एकपाद (वस्था०) एक पाँववाला, सम्भवतः झंझावात का देवता है। भाष्यकारों के अनुसार यह सूर्य को व्यक्त करता है। देखिये रॉथ (निरुक्त, पृ० १६५)। त्रित की ही भाँति इन दोनों देवताओं का भी कुछ यत्र-तत्र मन्त्रों में ही उल्लेख मिलता है।

खण्ड २०

वैदिक सूक्तों में उल्लिखित देवियाँ

ऋग्वेद में उल्लिखित देवियों में से कुछ, जैसे पृथिवी, आदित्यों की माता अदिति, दिति, निऋति, इन्द्र की पत्नी इन्द्राणी[५००], मरुतों की माता पृश्नि, उषायें, सूर्यपुत्री और अश्विनों अथवा सोम की प्रेमिका सूर्या आदि का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। ऋग्वेद के सूक्तों में अनेक अन्य देवियों, जैसे अग्नायी, वरुणानी, रोदसी, राका, सिनीवाली, श्रद्धा, अरमति, और अप्सराओं, का भी उल्लेख है किन्तु इनके नाम बहुत अधिक नहीं आते। इनके विपरीत देवी सरस्वती तथा इनकी सजातीय देवियों को अपेक्षाकृत अधिक प्रामुख्य दिया गया है।

ऋग्वेद १.२२,११ में योद्धाओं की पत्नियों, देवियों का, जिनके पंख कटे नहीं हैं, उपासक की रक्षा करने के लिये आवाहन किया गया है (अभि नो देवीर् अवसा महः शर्मणा नृपत्नीः। अच्छिन्नपत्राः सचन्ताम्)। शुक्ल० वासं० ११.६१ और शतब्रा० ६.५,४,८।

(१) सरस्वती

सरस्वती एक ऐसी देवी है जिसका ऋग्वेद में यद्यपि बहुत तो नहीं तथापि पर्याप्त महत्व है। जैसा कि यास्क (निरुक्त २.२३) ने कहा है इसकी एक नदी और एक देवी, दोनों ही रूपों में प्रशस्ति की गई है[५०१] (तत्र सरस्वती इत्य् एतस्य नदीवद् देवतावच् च निगमाः भवन्ति)। प्रथम रूप के उदाहरण के रूप में आप ऋग्वेद ६.६१;२ को उद्धृत करते हैं जिसे मैं भी आगे उद्धृत करूँगा। इसमें सन्देह नहीं कि प्रमुखतः यह एक नदी-देवी थी, जैसा कि इसका नाम 'जलवती'[५०२] स्पष्ट व्यक्त करता है और इस रूप में इसकी कुछ पृथक्-

---

[५००] ऋग्वेद १०.८६,९ मे इन्द्राणी यह कहती है : अवीराम् इव माम् अयं शरारुर् अभि मन्यते, । उताहम् अस्मि वीरिणी इन्द्रपत्नी)।

[५०१] देखिये ऋग्वेद १.३,१२ पर सायण (द्विविधा हि सरस्वती विग्रहवद्-देवता नारी-रूपा च)।

[५०२] निरुक्त ९.२६ : सरस्वती सर इत्य् उदक-नाम सर्तेस् तद्वती। देखिये ब्रह्मवैवर्तपुराण २.५ भी। अवे० ६.१००,१ मे तीन सरस्वतियो का उल्लेख

पृथक् स्थलों में प्रख्याति है। सूक्तों तथा साथ ही साथ ब्राह्मणों (ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रम् आसत। इत्यादि। ऐत० ब्रा० २.१९) में भी इस बात का उल्लेख है कि इस तथा इसके समीप की दृषद्वती[५०३] नदी के तट पर अनेक यज्ञ किये गये थे। सरस्वती की तो विशेषरूप से एक पवित्र नदी होने के रूप में प्रसिद्धि प्रतीत होती है। मनुस्मृति के एक सुप्रसिद्ध स्थल (२.१७ और बाद) पर सम्पूर्ण ब्रह्मावर्त को सरस्वती और दृषद्वती नदियों के बीच स्थित बताया गया है, तथा ये दोनों ही नदियाँ स्वयं यमुना के पश्चिम में स्थित हैं। इस प्रकार आरम्भिक भारतीयों के लिये सरस्वती का वही महत्व रहा प्रतीत होता है जो गङ्गा (जिसका ऋग्वेद में केवल दो बार ही उल्लेख है) का इनके वंशजों के लिये हो गया।[५०४] ऋग्वेद १.३,१० (जहाँ, इसे सम्भवतः यज्ञ की एक देवी माना गया प्रतीत होता है) में इसे पावक कहा गया है (पावका नः सारस्वती) ऋग्वेद १०.१७,१० (=वासं० ४.२; अवे० ६.५१,२) में ७-९ में सरस्वती के उल्लेख के बाद जलों की इस प्रकार प्रशस्ति मिलती है : आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु। विश्वं हि रिप्रम् प्रवहन्ति देवीर् उद् इद् आभ्यः शुचिर् आ पूतः एमि। "माता के समान पोषक जल हमें पवित्र करें। घृतरूपी जल हमारे मल का शोधन करें। जल देवता हमारे पापों को बहा लें। जल के द्वारा पवित्र हुये हम अस्वच्छ न रहें।" जब नदी ने एक बार दिव्य प्रकृति अर्जित कर ली तब उसे उसके तट पर किये गये यज्ञों की संरक्षिका मान लेना सर्वथा स्वाभाविक ही था और इसीलिये यज्ञ की सफलता के लिये उसके निर्देशन और आशीर्वाद का आवाहन किया गया है। उस सम्बन्ध ने, जो इसका इस प्रकार यज्ञ के साथ स्थापित कर दिया गया था, एक पग और आगे बढ़कर इस कल्पना को भी उत्पन्न कर दिया जिसके अनुसार इसे सूक्तों की रचना को प्रभावित करनेवाली देवी भी माना जाने लगा और इसे वाच् (वाग्देवी) के साथ समीकृत कर दिया गया। कम से कम में इसकी इस द्विविध प्रकृति तथा समीकरण की और कोई व्याख्या नहीं दी जा सकती।

अनेक अन्य देवियों जैसे इला, भारती, मही, होत्रा, वरूत्री, धिषणा आदि के साथ सरस्वती को अक्सर ही यज्ञ में पधारने के लिये आमन्त्रित किया गया है (१.१३,९; १.१४२,९; १.१८८,८; ३.४,८; ५.५,८, ९.५,८; १०.११०,८)। ये अन्य देवियाँ, इसकी भाँति कभी नदी देवियाँ नहीं बल्कि धार्मिक पूजा अथवा पवित्र कर्मों के किसी न किसी विभाग की मूर्तीकरण थीं। सरस्वती

[५०३] ऋग्वेद ३.२३,४; (तुकी० १.२९,४ भी)।
[५०४] इसे इस कृति के दूसरे भाग में उद्धृत किया गया है।

का अक्सर अन्य देवताओं के साथ की आवहन किया गया है (२.३०,८; ४.५४,१३; ५.४२,१२; ७.३५,११; ८.३९.१०; ९.८१,४; १०.६५,१.१३; १०.१४१,५) ।

अनेक ऐसे स्थलों[505] पर जहाँ सरस्वती की प्रशस्ति है, इसकी मूल प्रकृति को, जैसा कि मैं सूचित कर चुका हूँ, स्पष्ट रूप से सुरक्षित रक्खा गया है । इस प्रकार इसका दो स्थानों पर जलों अथवा उर्वक जलों के साथ उल्लेख है : ६.५२,६ (सरस्वती सिन्धुभिः पिन्वमाना); १०.३०,१२ (आपो रेवतीः क्षयथ हि वस्वः क्रतुं च भद्रम् बिभृथामृत च । रायश् च स्थ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद् गृणते वयो धात)। ऋग्वेद १०.६४,९; १०.७५,५ और बाद में अन्य सुविख्यात नदियों जैसे सिन्धु, सरयु, गङ्गा, यमुना, शुतुद्रि, इत्यादि के साथ इसका भी उल्लेख है । ७.९६,२ और ८.२१,१८ में इसके तट पर निवास करनेवाले राजाओं और जातियों का उल्लेख है (चित्रः इद् राजा राजकाः इद् अन्यके यके सरस्वतीम् अनु) । ६.६१,१० और ७.३६,६ में इसे सात बहनोंवाली, सात नदियों में से एक, और नदियों की माता कहा गया है (सप्तस्वसा । सरस्वती सप्तथी सिन्धुमाता) । एक अन्य स्थान पर इससे अपना उर्वर जल गिराने, अन्य सब नदियों से श्रेष्ठ होने, तथा पर्वतों से समुद्र तक बहने के लिये कहा गया है : ७.९५,१ (प्र क्षोदसा धायसा सस्रे एषा सरस्वती धरुणम् आयसी पूः । प्रबाबधाना रथ्येव याति विश्वाः अपो महिना सिन्धुर् अन्याः । २. एका अचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर् यती गिरिभ्यः आसमुद्रात । रायश् चेतन्ती भुवनस्य भूरेर् घृतम् पयो दुदुहे नाहुषाय) । ६.६१,२ और ८ में इससे एक खोदनेवाले की भाँति पौधों की जड़ों को और अपने तटवर्ती पर्वतों के किनारों को अपनी वेगवान् और प्रतिध्वनित होनेवाली धारा से तोड़ते हुये बहने के लिये कहा गया है (इयं शुष्मेभिर् बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिर् ऊर्मिभिः । ८. यस्याः अनन्तो अह्रुतस् त्वेषश् चरिष्णुर् अर्णवः । अमश् चरति रोरुवत्) । २.४१,१६ में माताओं, नदियों और देवियों में सर्वश्रेष्ठ कहा गया है (अम्बितमे, नदीतमे देवीतमे) ।

७.९६,४-६ में एक नदी देवता, सरस्वत् को सरस्वती का पति कहा गया है जो अपने उर्वरा जलों को गिराता है । इसका उपासक पत्नी, सन्तान

[505] सायण १.३,१२ को नदी के अर्थ में ग्रहण करते हैं । रॉथ (निरुक्त ११.२६) इसका यह अनुवाद करते हैं : "विशाल नदी सरस्वती, अपने प्रकाश से सम्पूर्ण पवित्रात्माओं की बुद्धि को प्रकाशित करती है ।

और समृद्धि तथा सुरक्षा प्रदान करने के लिये आवाहन करते हैं (जनीयन्तो नु अग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः । सरस्वन्तं हवामहे । ४. ये ते सरस्व ऊर्मयः मधुमन्तो घृतश्चुतः । तेभिर् नो अविता भव । ६. पीपिवांसं सरस्वतः स्तनं यो विश्वदर्शतः । भक्षीमहि प्रजाम् इषम् ।

५.४३,११ में सरस्वती से कहा गया है कि वह आकाश से उतरे, महान् पर्वत[५०६] से उतरे, और यज्ञ में पधारे (आ नो दिवो बृहतः पर्वताद् आ सरस्वती यजता गन्तु यज्ञम्) । ६,४९,७ में जहाँ इसे विद्युत की पुत्री (पावीरवी कन्या)[५०७] और वीरपत्नी[५०८] कहा गया है, इससे यह निवेदन किया गया है कि पत्नियों के साथ संयुक्त होकर स्तोता को सुरक्षा प्रदान करे (ग्नाभिर् अच्छिद्रं शरणम् सजोषाः दुराधर्षं गृणते शर्म यंसत्) । इन दो स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इस नदी को विद्युत और वर्षा की सन्तान बताकर इसकी एक दिव्य उत्पत्ति बताना चाहता है ।

६.६१,११ और बाद में ऐसा कहा गया है कि यह पार्थिव क्षेत्रों और वायु को परिपूर्ण करती है (आपप्रुषी पार्थिवानि उरु रजो अन्तरिक्षम्), और 'त्रिषधस्था' तथा 'सप्तधातु' है ।

एक नदी-देवी मानने पर सरस्वती को एक लौह-प्राचीर और धारक (६.९५,१), धन, स्वास्थ्य और उर्वरता देनेवाली (७.९५,२) कहा गया है और इसमें अपने स्तोताओं द्वारा यज्ञों में उच्चरित स्तुतियों को सुनने का निवेदन किया गया है (वही ४ : उत स्या नः सरस्वती जुषाणा उपश्रवत् सुभगा यज्ञे अस्मिन्) । इससे स्तोताओं की स्तुतियों को सुनने, और एक वृक्ष की भाँति उनको आश्रय देने के लिये कहा गया है (वही ५ : प्रति स्तोमं सरस्वति जुषस्व । तव शर्मन् प्रियतमे दधानाः उप स्थेयाम शरणं न वृक्षम्) । इससे अप्रसिद्धों को प्रसिद्धि प्रदान करने के लिये कहा गया है (२.४१,१६ : अप्रशस्ताः इव स्मसि प्रशस्तिम् अम्ब नस् कृधि) । ६.६१,१४ में ऋषि यह प्रार्थना करता है कि यह उसके क्षेत्र से अन्यत्र अपरिचित क्षेत्र में चली जाय (मा त्वत् क्षेत्राणि अरणानि गन्म) ।

६.६१,१ में यह कहा गया है कि इसने वध्र्यश्व को दिवोदास नामक पुत्र प्रदान किया जिसने अदानशील पणि का शोषण किया (इयम् अददाद् रभसम् ऋणच्युतं दिवोदासं वध्र्यश्वाय दाशुषे) ।

---

[५०६] सायण कहते हैं कि माध्यमिक वाक् यहाँ उद्दिष्ट है ।

[५०७] देखिये रॉथ (व्याख्या०) और तुकी० १०.६५,१३ ।

[५०८] सायण कहते हैं कि इसके पति प्रजापति हैं ।

यह कह सकना कठिन है कि जिन स्थलों पर सरस्वती का आवाहन किया गया है, यहाँ तक कि उनमें भी जहाँ यह यज्ञों आदि की संरक्षिका के रूप में आती है, इसकी एक नदी देवी की प्रकृति को दृष्टि से सर्वथा ओझल रक्खा गया है। ऋग्वेद १०.१७,८ में यह कहा गया है कि यह स्वधाओं और पितरों के ही रथ में बैठकर यज्ञभूमि पर आती है (सरस्वती या सरथं ययाथ स्वधाभिर् देवि पितृभिर् मदन्ती) तथा एक उपास्य देवी है। किन्तु अगले ही (१०वें) मंत्र में जलों के आवाहन से ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ देवी को जलों से ही सम्बद्ध माना गया है। अन्यत्र इसे घृत के समान चिकनी, तथा स्तोताओं की पूजा को प्रेरित, निर्देशित और सम्पन्न करनेवाली कहा गया है : १.३,१०.११; २.३,८; ६.६१,४ (चोदयन्ती सुनृतानाम् चेतन्ती सुमतीना यज्ञं दधे सरस्वती। सरस्वती साधयन्ती धियं नः। प्र णो देवी सरस्वती…धीनाम् अवित्री अवतु)। यह रक्षा प्रदान करती है, शत्रुओं को विजित करती है (६.४९,७) और देवद्रोहियों को नष्ट करती है (६.६१,३)। यह भयंकर है, एक सुवर्ण मार्ग से चलती है[५०९] और वृत्र विनाशक है (६.६१,७ : घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी)। इसके पीवर स्तनों से उपासक हर प्रकार की सम्पन्नता तथा धनों को प्राप्त करना चाहता है[५१०] : १.८९,३; १.१६४,४९ (यस् ते स्तनः शशयो यो मयोभूर् येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि। यो रत्नधाः वसुविद् यः सुदत्रः सरस्वति तम् इह धातवे कः); ८.२१, १७; १०.१७,८.९; ९.६७,३२। यह जीवन की सम्पूर्ण शक्तियों को धारण करनेवाली और सन्तानदायिनी है : २.४१,१७ (त्वे विश्वा सरस्वति श्रिता आयूंषि देव्याम्।…प्रजां देवि दिदिड्ढि नः)। १०.१८४,२ में इसे उन देवताओं के साथ सम्बद्ध किया गया है जो गर्भदाता हैं (गर्भं धेहि सरस्वति)। २.१,११ में अग्नि को तथा अनेक अन्य देवियों को इसके साथ समीकृत किया गया है।

ऋग्वेद १०.१३१,५ (= वासं० १०.३४) में, जहाँ यह कहा गया है कि अश्विनों ने युद्ध में इन्द्र का साथ दिया, वहीं सरस्वती को भी इन्द्र का

[५०९] 'हिरण्यवर्तिनी'। सायण 'वर्त्तनि' की 'रथ' व्याख्या करते हैं। यही शब्द ८.२६,१८ में आता है जहाँ यह एक नदी के लिये व्यवहृत है। 'रुद्र-वर्त्तनि' और 'घृत-वर्त्तनि' भी ऋग्वेद में विभिन्न देवों के लिये प्रयुक्त हैं। ८.२३,१९ मे 'कृष्ण-वर्त्तनि' अग्नि की उपाधि है। 'वर्त्तनि ७.१८,१६ में और 'वृजिन-वर्त्तनि १.३१,६ में आता है।

[५१०] तुकी० ऐत० ब्रा० ४.१।

सहायक कहा गया है। वासं० १९.१२ में यह कथन है : "देवताओं ने इन्द्र के औषधि-रूप सौत्रामणि यज्ञ को विस्तृत किया। भिषक्-रूप अश्विनद्वय ने और सरस्वती ने तीन वेदोंवाली वाणी से इन्द्र में ओज-बल की स्थापना की।" अश्विनों और सरस्वती को वास० १९.१२,१५,१८,३४, ८०-८२,८८-९०,९३-९५; २०.५६-६९,७३-७६,९० में भी परस्पर सम्बद्ध किया गया है। १९.९४ में यह कहा गया है कि "अश्विनों की पत्नी, सरस्वती, अपनी कोख में एक सुन्दर अंगोंवाला गर्भ धारण करती हैं। जलों के देवता वरुण जलों के सार-भूत रस द्वारा और साम के द्वारा ऐश्वर्य के निमित्त इन्द्र का पोषण करते हैं (सरस्वती योन्यां गर्भम् अन्तर अश्विभ्याम् पत्नी सुकृतम् बिभर्ति। अपार सेन वरुणो न साम्ना इन्द्रं श्रियै जनयन्न अप्सु राजा)।

ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ऋग्वेद में सरस्वती को वाच् के साथ समीकृत किया गया है। इस देवी की प्रशस्ति करनेवाले कुछ स्थलों को मैंने प्रस्तुत कृति के तीसरे भाग में उद्धृत किया है और कुछ को प्रस्तुत भाग के अगले खण्डों में उद्धृत कर रहा हूँ।

बाद के पुराकथाशास्त्र में, जैसा कि सुज्ञात है, सरस्वती वाच् के साथ समीकृत हो गई और विभिन्न नामों से ब्रह्मा की पत्नी, विद्या और वाणी की देवी बन गई तथा इसका 'म्यूज़' की ही भाँति आवाहन किया जाने लगा। महाभारत में इसे वेदमाता (शान्तिपर्व, श्लोक १२९२०), तथा तैत्तिरीय ब्रा० २.८,८,५[511] में वाच् को वेदमाता कहा गया है। इस ब्राह्मण में इसे इन्द्र की पत्नी, सम्पूर्ण लोकों को अपने अन्दर धारण करनेवाली, तथा वैदिक सूक्तों के रचयिता ऋषियों (ऋषयो मन्त्र-कृतः) की उपास्य देवी कहा गया है। देवता भी तपस्या द्वारा इसको प्राप्त करते हैं।

शान्तिपर्व के श्लोक ६८११ में यह कहा गया है कि जब सृष्टि के पूर्व ब्रह्मर्षिगण तपस्या कर रहे थे तब "ब्रह्मा से निष्कृष्ट एक वाणी ने उनके कानों में प्रवेश किया; तब दिव्य सरस्वती का आकाश से आविर्भाव हुआ।"[512]

---

[511] शत० ब्रा० ७.५,२,५२ में यह कहा गया है कि "मन ही समुद्र है; मनरूपी समुद्र से देवों ने वाक्-रूपी उपकरण से त्रिवेद को निकाला।" महाभारत के भीष्मपर्व, श्लोक ३०१९ में यह कहा गया है कि अच्युत (कृष्ण) ने अपने मन से सरस्वती और वेदों की रचना की। वनपर्व, १३४३२ में गायत्री को वेदमाता कहा गया है।

[512] तुल० ब्रह्मसूत्र पर शङ्कर द्वारा उद्धृत मन्त्र, जिसे इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में दिया गया है।

(२) आपस्, जल, नदियाँ

ऊपर एक मंत्र (१०.१७,१०) को पहले ही उद्धृत किया जा चुका है जिसमें जलों के परिष्कारक गुणों की प्रशंसा की गई है। एक अन्य स्थल (१.२३,२२ = १०.९,८) भी ऐसा है जिसमें हिंसा, शाप और मिथ्याभाषण आदि के पापों से उपासकों को पवित्र करने की शक्ति जलों में निहित बताई गई है (इदम् आपः प्र वहत यत् किञ्च दुरितम् मयि। यद् वा अहम् अभिदुद्रोह यद् वा शेपे उतानृतम्)। दो स्थलों पर यह कहा गया है कि जलों ने ही अग्नि को जन्म दिया। कुछ पृथक सूक्त, ७.४७; ७.४९; १०.९ जलों को समर्पित हैं; और अनेक स्फुट मन्त्रों में इनका अन्य देवताओं के साथ आवाहन किया गया है। मैं एक सूक्त उद्धृत करता हूँ जिसमें सिन्धु तथा अन्य नदियों की प्रशस्ति है :—

ऋग्वेद १०.७५,१ : प्र सु व. आपो महिमानम् उत्तमं कारुर् वोचाति सदने विवस्वतः। प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणाम् अति सिन्धुर् ओजसा। २. प्र तेऽरदद् वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद् वाजान् अभि अद्रवस् त्वम्। भूम्याः अधि प्रवता याति सानुना यद् एषाम् अग्रं जगताम् इरज्यसि। ३. दिवि स्वनो यतते भूम्या उपरि अनन्त शुष्मम् उद् इयर्ति भानुना। अभ्राद् इव प्रस्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर् यद् एति वृषभो न रोरुवत्। ४. अभि त्वा सिन्धो शिशुम् इन् न मातरः वाश्राः अर्षन्ति पयसेव धेनवः। राजेव युध्वा नयसि त्वम् इत् सिचौ यद् आसाम् अग्रम् प्रवताम् इन क्षसि। ५. (= निरुक्त ९.२६) इमम् मे गङ्गे यमुने सरस्वती शुतुद्रि स्तोयं सचत परुष्णि आ। असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तया आर्जीकीये शृणुहि आ सुषोमया। ६. तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या। त्वं सिन्धो कुभया गोमतीम् क्रुमुम् मेहत्न्वा सरथं याभिर् ईयसे। ७. ऋजीती एनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि। अदब्धा सिन्धुर् अपसाम् अपस्तमा अश्वा न चित्रा वपुषी इव दर्शता। ८. स्वश्वा सिन्धुः सुरथा सुवासाः हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती। उर्णावती युवतिः सीलमावती उताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्। ९ (= निरुक्त ७.७) सुखं रथं युयुजे सिन्धुर् अश्विनम् तेनवाजं सनिषद् अस्मिन्न् आजौ। महान् हि अस्य महिमा पनस्यते अदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः)।

"हे जल ! उपासना करनेवाला यजमान के घर में मैं तुम्हारी श्रेष्ठ महिमा का गायन करता हूँ। सात-सात के रूप में नदियाँ तीन प्रकार से गमनशील हुईं। उनमें सिन्धु नाम की नदी अत्यन्त प्रवाहवाली है। २. हे सिन्धुनदी !

जब तुम हरे-भरे प्रदेश की ओर गमन करनेवाली हुई उस समय वरुण ने तुम्हारे प्रवाहित होने के लिये मार्ग को विस्तीर्ण किया। तुम सब नदियों में श्रेष्ठ हो और पृथिवी पर उत्कृष्ट मार्ग से गमन करती हो। ३. सिन्धु नदी का निनाद पृथिवी से उठकर आकाश को गुञ्जित करता है। यह नदी प्रचण्ड लहरों और अत्यन्त वेग के साथ गमन करती है। जब यह वृषभ के समान घोर शब्द करती है तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे गर्जनशील मेघ जल की वर्षा कर रहे हैं। ४. माता जैसे बालक के पास जाती है और पयस्विनी गायें अपने बछड़ों की ओर गमन करती हैं, वैसे ही प्रवाहित होती हुई सब नदियाँ सिन्धु की ओर गमन करती हैं। जैसे युद्ध में प्रवृत्त राजा अपनी सेना को संग्रामभूमि में ले जाता है वैसे ही तुम अपने साथ चलनेवाली दो नदियों को आगे-आगे लेकर चलती हो। ५. हे गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलज, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता, सुषोमा, आर्जीकीया, आदि नदियो! तुम मेरे स्तोत्र को अपने-अपने भाग में विभाजित कर मेरी याचना सुनो। ६. हे सिन्धु नदी! तुम पहले तृष्टामा के साथ चलीं। फिर सुसर्तु, रसा और श्वेत्या के साथ हुई। तुमने ही क्रुमु और गोमती को कुभा तथा मेहत्नू से सुसंगत किया। तुम इन सब नदियों में मिलकर प्रवाहित होती हो। ७. श्वेत वर्णवाली सिन्धु नदी सरलता से गमन करनेवाली है। उसका वेगवान् जल सब ओर पहुँचता है, क्योंकि सिन्धु नदी सबसे अधिक वेगवाली है। यह स्थूल नारी के समान दर्शनीय और अश्व के समान सुन्दर है। ८. सिन्धुनदी सुन्दर, रथ, अश्व, वस्त्र, सुवर्ण और अन्नादि[113] से सम्पन्न है। इसके प्रदेश में तृण भी उत्पन्न होते हैं। यह मधुरता की वृद्धि करनेवाले पुष्पों से परिपूर्ण है। ९. यह नदी कल्याणकारी अश्वोंवाले रथ को योजित करती है। अपने उस रथ के द्वारा अन्न प्रदान करे। सिन्धु नदी के इस रथ की यज्ञ में प्रशंसा की जाती है। यह रथ कभी हिंसित न होनेवाला, महान् और यशस्वी है।"

एक स्थान (१.५०,७) पर जलों को उपचारक और सम्पूर्ण चराचर की मातायें कहा गया है (यूयं हि स्थ भिषजो मातृतमाः विश्वस्य स्थातुर् जगतो जनित्रीः)।

---

[113] 'सीलमावती' के लिये मैं १०.७५,८ पर सायण की टीका से कुछ देता हूँ : सीलमावत्यो गिराणि यवोपघ्नारज्जुभूतया बध्यन्ते (बध्यन्ते ?) सा सीलमेति निगद्यते कृषीवलैः। तादृशीभ्यश्चैषा उतापि च सुभगा सिन्धुर् मधुवृधम् मधुवर्धकम् निर्गुण्ड्यादि अधिवस्ते आच्छादयति तस्यास् तीरे निर्गुण्ड्यादीनि बहूनि सन्ति।

(३) अप्सरायें

यम के खण्ड में इन देवियों का पहले ही उल्लेख किया जा चुका है, और नीचे इनका पुनः वर्णन किया जायगा।

ऋग्वेद ७.३३,१० और बाद, में यह कहा गया है कि ऋषि वसिष्ठ एक उर्वशी नामक अप्सरा से उत्पन्न हुये थे। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में अप्सराओं को ऐसी स्त्रियाँ कहा गया है जो अन्तरिक्ष में निवास करती हैं। ये गन्धर्वों की पत्नियाँ, स्वेच्छया रूप धारण करनेवाली, द्यूतक्रीड़ा में आसक्ति रखनेवाली, और सौभाग्यदायिनी हैं। अथर्ववेद के अनुसार अन्य प्रेतात्माओं की भाँति अप्सराओं से भी भयभीत होना चाहिये, अतः इनके विरुद्ध अनेक अभिचारों का प्रयोग किया गया है। ये विशेषतः विक्षिप्ति उत्पन्न करती हैं।

प्रो० गोल्डस्टूकर (यथा०) यह कहते हैं : "मूलतः ये देवियाँ उन वाष्पों की मूर्तीकरण रही प्रतीत होती हैं जो सूर्य द्वारा निर्मित होकर कुहरे या मेघ का निर्माण करता है।"

(४) अग्नायी, वरुणानी, इत्यादि

पृथिवी, अदिति, और उषाओं को छोड़कर ऋग्वेद में उल्लिखित अधिकांश अन्य देवियों को बहुत कम महत्त्व दिया गया है। अग्नायी, वरुणानी, अश्विनी और रोदसी[५१४], क्रमशः अग्नि, वरुण, अश्विद्वय, और रुद्र की पत्नियाँ हैं (निरुक्त ९.३३ और बाद; ११.५०; १२.४६ (ऋग्वेद के इन कुछ स्थलों पर ही आती हैं : १.२२,१२; २.३२,८; ५.४६,८; ६.५०,५; ६.६६,६; ७.३४,२२। इनको किसी स्पष्ट कार्य से संयुक्त नहीं किया गया है और ये किसी प्रकार अपने पतियों (जिनके साथ वास्तव में ये कभी भी सम्बद्ध नहीं हैं, के पद के समान कोई भी स्थान नहीं रखतीं। इन देवियों का इतना कम महत्त्व, बाद के पुराकथाशास्त्र में शिव और विष्णु की और विशेषतः शिव की पत्नी पार्वती को प्रदत्त प्रमुख स्थानों की तुलना में एक उल्लेखनीय अन्तर को व्यक्त करता है। निर्ऋति विनाश की देवी है।

(५) अरण्यानी

अरण्यानी (निरुक्त ९.२९,३०) वनों की देवी है। इसकी ऋग्वेद १०.१४६ में प्रशस्ति है जिसका मैं एक अगले खण्ड में अनुवाद करूँगा।

(६) राका, सिनीवाली, और गुङ्गू

राका, सिनीवाली और गुङ्गू (जिसे सायण २.३२,८ पर कुहू के साथ

---

[५१४] सायण (१.१६७, ५ पर) के अनुसार रोदसी 'मरुत्-पत्नी विद्युद्वा' है।

समीकृत करते हैं) तीन अन्य देवियाँ हैं जिनका ऋग्वेद में उल्लेख है। प्रथम का २.३२,४,५,८; ५.४२,१२; में द्वितीय का २.३२,६ और बाद; १०.१८४,२ में; और तृतीय का २.३२.८ में। सायण (२.३२,४ पर) यह कहते हैं कि राका पूर्ण चन्द्रमा[५१५] है। फिर भी, यह प्रसव से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, क्योंकि इससे "एक त्रुटिन करनेवाली सूई से कृति को सीने (प्रत्यक्षतः गर्भ के निर्माण करने के लिये और बहुधनयुक्त पुत्र देने के लिये" कहा गया है (२.३२,४ : सीव्यत्व् अपः सूच्या अच्छिद्यमानया ददातु वीर शतदायम् उक्थ्यम्)। सिनीवाली और कुहू (जैसा कि यास्क निरुक्त ११.३१ में सूचित करते हैं) नैरुक्तों के अनुसार देवों की पत्नियाँ और याज्ञिकों के अनुसार अमावस्या की दो रात्रियाँ—जिनमें सिनीवाली प्रथम और कुहू बाद की रात्रि है। सिनीवाली को भी प्रसव से सम्बद्ध करते हुये 'पृथुष्टुका', 'बहुसूवरी', 'स्वगुरि' कहा गया है। इसकी संतान के लिये स्तुति की गई है : २.३२,६.७ (प्रजां देवि दिदिड्ढि नः); १०.१८४,२ (गर्भं धेहि सिनीवालि); अथ० ५.२५,३; ६ ११,३। यास्क कुहू से सम्बद्ध एक तैत्तिरीय ब्राह्मण के स्थल (३.३,११) का उद्धरण देते हैं। इसका नाम ऋग्वेद में नहीं मिलता। बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में (वस्था०) अनुमति का विवरण भी देखिये।

(७) श्रद्धा

अमूर्त विचारों का मूर्तीकरण भी ऋग्वेद में अज्ञात नहीं है। ऐसे सूक्तों में से ही एक (१०.१५१) श्रद्धा अथवा धार्मिक आस्था को समर्पित है। ऐसा कहा गया है कि इसके द्वारा (मंत्र १ = निरुक्त ९.३१) यज्ञाग्नि प्रज्वलित होती है और इसी के द्वारा हवि भी समर्पित की जाती है (श्रद्धयाऽग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः)। इससे देवों के दानी उपासक को समृद्ध करने (मंत्र २ और ३) तथा उसे श्रद्धा प्रदान करने का निवेदन किया गया है। इसकी प्रातः, मध्याह्न और सायं, तीनों समय उपासना की जाती है (मंत्र ५)। वाज० सं० १०.३० में यह गया है कि दक्षिणा से श्रद्धा और श्रद्धा से सत्य प्राप्त होता है (दक्षिणा श्रद्धाम् आप्नोति श्रद्धया सत्यम् आप्यते)। इसी कृति के १९.७७ में यह कहा गया है कि "प्रजापति ने देखते हुये सत्य और मिथ्यात्व के विविध रूपों का विभेद किया और अश्रद्धा को मिथ्यात्व के साथ तथा श्रद्धा को सत्य के साथ सम्बद्ध किया (दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धाम् अनृतेऽदधात् श्रद्धां सत्ये प्रजापतिः)। यह कथन, कि सत्य ही श्रद्धा की वस्तु है, उससे

---

[५१५] इन देवियों के लिये देखिये वेबरः इण्डि० स्टू० ५.२८८ और बाद, ३१७।

कहीं अधिक गहन आशय से युक्त है जो यह प्राचीन लेखक इसके साथ संयुक्त कर सकता था। इसका आशय यह है कि केवल परमार्थ सत्य ही, न कि किसी धारणा की तथाकथित आस्तिकता ही एकमात्र श्रद्धा की वस्तु है।

श्रद्धा की तैत्तिरीय ब्राह्मण १.८,८,६ और बाद में भी प्रशस्ति मिलती है जहाँ ऋग्वेद के उपरोक्त सूक्त को दोहराया गया है साथ ही कहा गया है कि यह देवों में निवास करती है और सम्पूर्ण विश्व (श्रद्धा देवान् अधिवस्ते श्रद्धा विश्वम् इदं जगत्) तथा काम की माता है। तैत्तिरीय ब्रा० ३ १२,३१ में यह बताया गया है कि श्रद्धा के द्वारा देवता अपनी दिव्य प्रकृति प्राप्त करते हैं और दिव्य श्रद्धा ही संसार को धारण करती है। इसमें अपने बछड़े के लिये काम (इच्छा की पूर्ति) है और अपने दूध के रूप में अमरत्व देती है। यही सर्वप्रथम यज्ञ से उत्पन्न होती है और सम्पूर्ण विश्व को धारण करती है। सम्पूर्ण जगत की अधिष्ठात्री है और इससे उपासकों को अमरत्व प्रदान करने के लिये कहा गया है (श्रद्धया देवो देवत्वम् अश्नुते। श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी। ...कामवत्सा अमृतं दुहाना। श्रद्धा देवी प्रथमजा ऋतस्य। विश्वस्य भर्त्री जगतः प्रतिष्ठा। ता श्रद्धां हविषा यजामहे। सा नो लोकम् अमृतं दधातु ईशाना देवी भुवनस्याधिपत्नी)। शतपथ ब्राह्मण १२.७,३,११ में इसे सूर्य की पुत्री कहा गया है।[५१६] इसी को महाभारत (शान्तिपर्व, श्लोक ९.४४९)[५१७] में भी दोहराया गया है जहाँ इसे विवस्वत् की पुत्री (श्रद्धा वैवस्वती) तथा साथ ही साथ सूर्य और सवितृ की पुत्री कहा गया है (सूर्यस्य दुहिता और सावित्री)। देखिये बॉटलिङ्क और रॉथ के कोश में अरमति (व्या०) की परिभाषा भी।

(८) लक्ष्मी और श्री

लक्ष्मी उस आशय में ऋग्वेद में नहीं मिलती जिसमें इसका बाद के पुराकथाशास्त्र में प्रयोग मिलता है; अर्थात् यह ऋग्वेद में सौभाग्य की देवी नहीं है। फिर भी यह शब्द १०.७१,२[५१८] में प्रायः इसी से मिलते-जुलते आशय में प्रयुक्त हुआ है। फिर भी, अथर्ववेद में हमें निम्नलिखित सूक्त

[५१६] देखिये अश्विनों के सन्दर्भ में ऊपर जो कुछ सूर्या के लिये कहा गया है।

[५१७] इस स्थल पर श्रद्धा के लिये बहुत कुछ कहा गया है। देखिये मनु ४.२२४ और बाद। इसी प्रकार का भाव महाभारत, ३.१३४६१ और बाद में भी व्यक्त किया गया है।

[५१८] 'भद्रा एषाम् लक्ष्मी निहिता अधि-वाचि।'

मिलता है जो अनेक लक्ष्मियों, कुछ अच्छी और कुछ बुरी का उल्लेख करता है : ७.११५,१ : प्र पतेतः पापि लक्ष्मि नश्येतः प्रामुतः पत । अयस्मयेन अंकेन द्विषते त्वा सजामसि । २. या मा लक्ष्मीः पतयालूर् अजुष्टा अभिचस्कन्दे वन्दनेव वृक्षम् । अन्यत्रास्मत् सवितस् ताम् इतो धाः हिरण्यहस्तो वसु नो रराणः । ३. एक शतं लक्ष्म्यो मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः । तासाम् पापिष्ठाः निर् इतः प्र हिण्मः शिवाः अस्मभ्य जातवेदो नि यच्छ । ४. एताः एना व्याकरं खिले गाः निष्ठिताः इव । रमन्ताम् पुण्याः लक्ष्मीर् याः पापीस् ताः अनीनशम् । "हे पापदेवि ! इस प्रदेश से प्रस्थान कर सुदूर देश में जा। हम तुझ सुदूर जाती हुई को लौह-शूल सहित शत्रु से मिलाते हैं। २. जो पापदेवी मुझ पर उसी प्रकार चढ़ी हुई है जैसे लता[५१९] वृक्ष पर चढ़ती है, उस अलक्ष्मी को यहाँ से दूर भेजते हुये, हे सूर्य ! अपने हाथ में सुवर्ण लेकर हमको प्रदान करो। ३. मनुष्य के जन्म के साथ एक सौ एक लक्ष्मी उत्पन्न होती हैं। उनमें से जो पापपूर्ण हैं उन्हें हम दूर करते हैं। हे अग्ने ! कल्याणमयी लक्ष्मियों को हममें स्थापित करो। ४. जैसे गायों के स्वामी गोष्ठ में स्थित गायों को विभक्त कर लेते हैं वैसे ही मैं उन एक सौ एक लक्ष्मियों को दो भागों में विभक्त करता हूँ। इनमें से कल्याण करनेवाली लक्ष्मियाँ मेरे पास रहें और पापयुक्त नष्ट हो जायँ। ('पुण्यालक्ष्मी') शब्द अथर्ववेद १२.५,६ में भी आता है)।

वाजसं० ३१.२२ (श्रीश् च ते लक्ष्मीश् च पत्न्यौ) में श्री और लक्ष्मी को भाष्यकार के अनुसार आदित्य की दो पत्नियाँ कहा गया है। शतपथ ब्रा० ११.४,३,१ में श्री की प्रजापति से उस समय उत्पत्ति हुई बताई गई है जब वह प्राणियों के सृजन के लिये घोर तप कर रहे थे। तब इसे प्रकाशमान और काँपते हुये देखकर[५२०], देवों ने इसके प्रति ईर्ष्या करते हुये प्रजापति से इसका वध कर देने की तथा इसकी सम्पत्तियाँ स्वयं ले लेने की अनुमति माँगा। प्रजापति ने उत्तर दिया कि यह एक स्त्री है और पुरुष सामान्यतया स्त्रियों का वध नहीं करते। अतः वे इसका वध किये बिना ही इसके उपहारों को ले सकते हैं। फलस्वरूप अग्नि ने इससे अन्न, सोम ने राज्याधिकार, वरुण ने सम्राटत्व, मित्र ने युद्धात्मक शक्ति, इन्द्र ने बल, बृहस्पति ने पुरोहितीय वैभव, सवितृ ने राष्ट्र, पूषा ने वैभव, सरस्वती ने पुष्टि और त्वष्टा ने रूपों

---

[५१९] वन्दना। यह विलसन के कोश में नहीं मिलता।

[५२०] लेलायन्ती। इसके आशय के सम्बन्ध में प्रो० आफरेख्त मुझे शत० ब्रा० पृ० ११६; बृहदारण्यक उप० पृ० ७३७ और मुण्डक उप० पृ० २७४, २७६; तथा श्वेताश्वतर उप० पृ० ३३२ देखने का परामर्श देते हैं।

को ले लिया। तब श्री ने प्रजापति से शिकायत की कि देवताओं ने उससे ये सभी वस्तुयें ले ली हैं। उससे प्रजापति ने कहा कि यज्ञ द्वारा वह ये सब वस्तुयें वापस ले सकती है (प्रजापति वै प्रजाः सृजमानोऽतप्यत। तस्मात् श्रान्तात् तेपानात् श्रीर् उदक्रामत्। सा दीप्यमाना भ्राजमाना लेलायन्ती अतिष्ठत। तां दीप्यमानाम् भ्राजमानां लेलायन्तीम् देवाः अभ्यध्यायन्। २. ते प्रजापतिम् अब्रुवन् "हनाम् इमाम् आ इदम् अस्याः ददामहै" इति। स ह उवाच "स्त्री वै एषा यत् श्रीः। न वै स्त्रियं घ्नन्ति उत त्वा अस्याः जीवन्त्याः एव आददत" इति। ३. तस्याः अग्निर् अन्नाद्यम् आदत्त सोमो राज्यं वरुणः साम्राज्यम् मित्रः क्षत्रम् इन्द्रो बलम् बृहस्पतिर् ब्रह्मवर्चसम् सविता राष्ट्रम् पूषा भगं सरस्वती पुष्टिं त्वष्टा रूपाणि। ४. सा प्रजापतिम् अब्रवीत "आ वै मे इदम् अदिषत" इति। स ह उवाच "यज्ञेन एनान् पुनर् याचस्व" इति)।



खण्ड २१

देवता की अमूर्त धारणाओं की ओर वैदिक धर्म की प्रगति[521]

एक स्थल पर, जिसे मैं प्रस्तुत ग्रन्थ के आरम्भिक पृष्ठों में उद्धृत कर चुका हूँ, निरुक्तकार यास्क हमें सूचित करते हैं (७.५) कि नैरुक्तों ने वेदों में उल्लिखित देवताओं की संख्या कम करके तीन कर दी, यथा : "अग्नि, जिनका स्थान पृथिवी है; वायु अथवा इन्द्र, जिनका स्थान अन्तरिक्ष है; और सूर्य, जिनका स्थान द्युलोक है;" और आगे यह कहा कि "ये देवता पृथक्-पृथक् अपनी महानता के अथवा अपने कर्मों की विविधता के कारण अनेक उपाधियाँ प्राप्त करते हैं, जैसे अलग-अलग यज्ञकर्म करने से एक ही व्यक्ति को होतृ, अध्वर्यु, ब्रह्मन् और उद्गातृ कहते हैं।" इसके पहले के खण्ड (निरुक्त ७.४) में यास्क ने यह भी कहा है कि वास्तव में "देवता की महानता के कारण एक आत्मा की ही इस प्रकार प्रशस्ति होती है जैसे वह अनेक हो। विभिन्न देवता एक ही परमात्मा के पृथक्-पृथक् अवयव हैं; और कुछ का कहना है कि ऋषिगण अपनी स्तुतियों को दिव्य सत्ताओं की प्रकृति की विविधता के अनुसार सम्बोधित करते हैं; और अपनी प्रकृति की सार्वभौमिकता की दृष्टि से देवगण परस्पर एक दूसरे से उत्पन्न होते हैं और एक दूसरे की प्रकृति से युक्त होते हैं (देखिये ऋग्वेद १०.७,४ और बाद, और निरुक्त ११.२३)। ये देवता कार्यों से उत्पन्न होते हैं, और आत्मा से उत्पन्न होते हैं। आत्मा ही इनका रथ, आत्मा ही इनके अश्व, आत्मा ही इनका आयुध, आत्मा ही इनके बाण, आत्मा ही देवता का सब कुछ होता है"[522] (महात्म्याद् देवतायाः एकः आत्मा बहुधा स्तूयते। एकस्य आत्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति। अपि च सत्त्वानाम् प्रकृति-भूमभिर् ऋषयः स्तुवन्ति इत्य् आहुः। प्रकृति सार्वनाम्नाच् च इतरेतर-जन्मानो भवन्ति इतरेतर-प्रकृतयः कर्मजन्मानः आत्मजन्मानः। आत्मा एव एषां रथो भवत्य् आत्मा अश्वाः आत्मा आयुधम् आत्मा इषवः आत्मा सर्वं देवस्य)। फिर भी ये उन मनुष्यों के

---

[521] इस खण्ड के स्थलों के अनुवाद में प्रो० आफरेक्ट ने मुझे बहुमूल्य सहायता दी है।

[522] यह स्थल इस ग्रन्थ के चौथे भाग में विस्तार से उद्धृत है।

विचार हैं जो ब्राह्मणों के संकलन के बाद एक ऐसे काल में हुये थे जब सूक्तों का दार्शनिक विवेचन बहुत पहले से आरम्भ हो चुका था और यह विवेचनात्मक कल्पना पर्याप्त प्रगति कर चुकी थी। स्वयं सूक्तों के प्राचीनतम अंशों में हमें देवता की इस प्रकार की अमूर्त धारणा का कदाचित ही कोई चिह्न मिलता है। सूक्त तो धार्मिक विश्वास के एक कहीं अधिक पूर्वग स्तर को प्रतिबिम्बित करते हैं। जैसा कि मैं पहले ही कह चुका हूँ, ये ऐसे सरल लोगों की रचनायें हैं जिन्होंने प्रकृति की सर्वाधिक प्रभावशाली घटनाओं के प्रभाव में सर्वत्र एक दिव्य शक्ति की उपस्थिति को देखा था। उन लोगों ने यह कल्पना की कि जगत का प्रत्येक महान क्षेत्र स्वयं अपने देवता द्वारा निर्देशन और चैतन्य प्राप्त करता है। ये लोग अभी सब वस्तुओं के ही सर्वश्रेष्ठ स्रष्टा के स्पष्ट विचार तक नहीं पहुँच सके थे। यह न केवल किसी देवता पर आरोपित विशेष कार्यों से ही स्पष्ट होता है वरन् अनेक दशाओं में देवताओं को दिये गये नामों तक से भी स्पष्ट हो जाता है। इस प्रकार, प्राचीन ऋषियों के विश्वास के अनुसार अग्नि एक ऐसे दिव्य प्राणी हैं जो अग्नि में निवास करते हुये उसका संचालन करते हैं; सूर्य वह देवता हैं जो आकाश के सूर्य में निवास करते हुये प्रकाशित होते हैं; और इन्द्र अन्तरिक्ष के अभिमानी देवता हैं जो अपने वज्र से मेघों को विदीर्ण करके वर्षा कराते हैं। फिर भी, जहाँ ऋग्वेद के अधिकांश भागों में जहाँ अग्नि, इन्द्र, और सूर्य जैसे देवताओं को एक दूसरे से भिन्न माना गया है, वहीं अनेक अन्य देवताओं को, जो न्यूनाधिक मात्रा में इन्हीं के समान हैं किन्तु जिन्हें इनसे कुछ भिन्न कर्म सम्पन्न करनेवाला माना गया है (जैसे पर्जन्य, विष्णु, सविता, पूषा इत्यादि) इन देवताओं के साथ-साथ विद्यमान माना गया है। फिर, भी कुछ ऐसे सूक्त भी हैं जिनमें समीकरण की प्रवृत्ति लक्षित होती है और एक सार्वभौमिक शक्ति की कल्पना के चिह्न मिलते हैं जिसे दिव्य शक्तियों के विभिन्न प्रकटीकरणों में अन्तर्निहित माना गया है। इस प्रकार ऊपर के खण्ड में उद्धृत एक स्थल पर अग्नि की त्रिविध सत्ता मानी गई है। इससे प्रथमतः, इनका पृथिवी पर का परिचित स्वरूप अभिप्रेत हो सकता है; द्वितीयतः इन्हें अन्तरिक्ष का विद्युत, और तृतीयतः आकाश का सूर्य माना गया है। एक अन्य स्थान पर जहाँ इसी देवता को विष्णु, वरुण, मित्र इत्यादि के साथ समीकृत किया गया है यह स्पष्ट नहीं है कि यह समीकरण अग्नि की महानता में वृद्धि करने के लिये किया गया है अथवा समीकृत देवताओं के साथ इनकी अनिवार्य एकता के कारण (देखिये ऋग्वेद १.१४१,९; ५.३,१ और बाद; ५.१३,६)। एक अन्य सूक्त (४.४२,३) में भी, जहाँ इन्द्र को वरुण के

साथ समीकृत किया गया है (अहम् इन्द्रो वरुणः), कवि का उद्देश्य इन्द्र को वरुण के समकक्ष रखना रहा हो सकता है। फिर भी, ऋग्वेद के आरम्भिक मण्डलों में अन्य ऐसे स्थल भी हैं जो यह दिखाने के लिये पर्याप्त हैं कि कवि-गण देवताओं को, प्रकृति के विभिन्न क्षेत्रों के प्रतिनिधि मानने की अपेक्षा उन्हें इससे कुछ अधिक मानने लगे थे। जैसा कि मैं ऊपर दिखा चुका हूँ, वरुण, इन्द्र, सूर्य, सविता और अग्नि को अलग-अलग आकाश और पृथिवी का निर्माता और धारणकर्ता, तथा विश्व का शासक कहा गया है।[५२३] अथर्ववेद (४.१६) में सुरक्षित उल्लेखनीय वर्णन के अनुसार (यद्यपि यह सूक्त कुछ बाद के समय रचित प्रतीत होता है) वरुण को विशेषतः सर्वज्ञता सर्वव्याप-कता की दिव्य उपाधियों से विभूषित किया गया है। यद्यपि इन सब देवताओं के मान्य महत्अस्तित्व की इस मान्यता के साथ असंगति है कि इनके उपा-सकों को देवों के एकत्व का बोध हो चुका था, और यद्यपि सार्वभौमिक साम्राज्य विषयक उपाधियाँ जो बारी-बारी से इन सभी देवताओं पर आरोपित की गई हैं, कभी-कभी केवल प्रशंसात्मक ही हो सकती हैं, तथापि ये वर्णन निःसन्देह दिव्यशक्ति की एक दीर्घ और उदात्त भावना के द्योतक हैं और एक सार्वभौमिक देवता के विचार की ओर प्रगति को सूचित करते हैं। जब एक बार किसी देवता की धारणा उक्त रूप में विस्तृत होकर उसी देवता में समस्त दिव्य गुणों को आरोपित कर देती है तब अगला स्तर विश्वकर्मा और प्रजापति जैसे नवीन नामों के द्वारा देवता को व्यक्त करना होगा क्योंकि ये नाम प्रकृति के किसी एक क्षेत्र से सम्बद्ध कार्य तक सीमित नहीं रहते हैं बल्कि अपेक्षाकृत अधिक सामान्य और अमूर्त धारणा को व्यक्त करते हुये ऐसी दिव्यशक्ति की कल्पना करते हैं जो विश्व के सृजन और शासन में सक्रिय हो सकती है।

सम्भवतः ऐसे ही नामों में हम बहुदेववाद से एक देववाद की ओर संक्रमण की प्रक्रिया को ढूँढ सकते हैं। ये दोनों ही नाम, जो अन्ततः स्रष्टा माने जानेवाले देवता के द्योतक बन गये, मूलतः ऋग्वेद के इन स्थलों पर इन्द्र और सविता की उपाधियों के रूप में प्रयुक्त हुये थे : ४.५३,२ : "सविता जो आकाश को धारण करनेवाले और भुवन के प्रजापति हैं" (दिवो धर्त्ता भुवनस्य प्रजापतिः)[५२४]। ८.८७,२ : "हे इन्द्र ! तुम सर्वशक्तिमान हो, तुमने सूर्य को प्रकाशित किया। तुम महान् हो, तुम विश्वकर्मा हो, और

---

[५२३] विष्णु और रुद्र को भी इन्हीं कर्मों से सम्बद्ध किया गया है। चौथा भाग देखिये।

[५२४] इसी प्रकार सोम को भी 'प्रजापति' कहा गया है (ऋग्वेद ९.५,९)।

सम्पूर्ण देववत् गुणों से युक्त हो" (त्वम् इन्द्र अभिभूर् असि त्वं सूर्यम् अरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महान् असि)।[५२५]

(१) अधिक निश्चित रूप से एकेश्वरवादी अथवा विश्वदेवैक्यवादी स्थल

अब मैं ऋग्वेद के ऐसे स्थलों को प्रस्तुत करूँगा जिनमें एकेश्वरवादी अथवा विश्वदेवैक्यवादी प्रवृत्ति सर्वाधिक स्पष्टरूप से प्रगट हुई है। इन स्थलों में से कुछ का मैं केवल सारांश दूँगा क्योंकि पहले अन्यत्र मैं इनका विस्तार से विवेचन कर चुका हूँ।

एक लम्बे, दुरूह तथा रहस्यवादी सूक्त (१.१६४) से, जिसे यास्क (निरुक्त ७.१८) अग्नि को, किन्तु कात्यायन तथा सायण यास्क के मत को उद्धृत करते हुये भी सूर्य को सम्बोधित मानते हैं, मैं एक मंत्र (१.१६४, ४६) दे रहा हूँ जो इस अधिक सामान्यतर विचार को व्यक्त करता है कि सभी देवता, जिनको यद्यपि अलग-अलग नामों से व्यक्त किया गया है, वास्तव में एक हैं : "लोग इन्हें इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, आदि कहते हैं; और वह दिव्य, सुवर्ण गरुत्मान् है। ऋषि उसे विविध रूप से व्यक्त करते हैं, जो वास्तव में एक ही है : वे उसे अग्नि, यम, मातरिश्वन् कहते हैं।[५२६] (देखिये कोलब्रुक : एसे, १.२६ और बाद; वेबर का इण्डिशे स्टूडियन, ५, पृ० ४)।

ऋग्वेद १.८९,१०, दूसरी ओर, एक विश्वदेवैक्यवादी आशय सूचित करता है, क्योंकि यह वस्तुओं को एक ही सर्वव्यापी तत्त्व के विविध रूप मानता है : 'अदिति आकाश है; अदिति वायु है; अदिति माता, पिता और और पुत्र है। अदिति विश्वेदेव और पञ्चजन है। अदिति ही वह सब है जिसने जन्म लिया है। अदिति ही वह सब है जो जन्म लेगा।"[५२७] उस सूक्त का आगे पुनः सन्दर्भ दिया जायगा जिसमें अदिति को सृष्टि की एक महान शक्ति कहा गया है।

---

[५२५] इसी प्रकार ऋग्वेद १०.१७०,४ में सूर्य को 'विश्वकर्मन्' और विश्वदेव्यवत् कहा गया है। ५.८२,७ में सविता को विश्वदेव कहा गया है। ऋग्वेद १०.८३,४ मे 'स्वयम्भू' मन्यु की उपाधि है।

[५२६] ऋग्वेद १०.११४,५ में भी इसी प्रकार का एक स्थल आता है। देखिये अवे० १३ ३,१३। १३ ४,१ और बाद में सविता को अन्य देवो के साथ समीकृत किया गया है। ऋग्वेद ७.४०,५ की सायण की व्याख्या देखिये। ऋग्वेद २.३५,८ सभी प्राणियो को अपानपात् की शाखायें कहा गया है।

[५२७] तुकी एचिलीस, फ्रैग्मेण्ट्स ४४३।

आकाश और पृथिवी का निर्माण करनेवाले दिव्य शिल्पी त्वष्टा के प्रस्तुतीकरण और चरित्र में भी हमें विश्व के सर्वोच्च स्रष्टा का विचार लक्षित होता है।

बाद के ऋग्वेद के कवियों ने जिस प्रकार परमात्मा तथा जगत के साथ उसके सम्बन्धों की कल्पना की है उसमें पर्याप्त विविधता है। निम्नलिखित विवरणों से यह स्पष्ट हो जायगा :—

(२) विश्वकर्मा

ऋग्वेद के ८१ वें और ८२ वें सूक्त विश्वकर्मा की प्रशस्ति में इस प्रकार समर्पित हैं कि यह शब्द, जो पहले इन्द्र की एक उपाधि था, अब एक देवता का नाम बन गया है। इन सूक्तों में विश्वकर्मा को एक सर्वदर्शी देवता के रूप में प्रस्तुत किया गया है जिसके चारों ओर नेत्र, मुख, बाहु और पैर हैं। वह आकाश और पृथिवी का निर्माण करते समय उनका अपने हाथों और पंखों से धमन करता है। वह पिता, स्रष्टा और सम्पूर्ण लोकों को जाननेवाला है। वह देवताओं को उनका नाम प्रदान करता है और मनुष्यों की समझ के बाहर की वस्तु है।[५२८] ८१ वें सूक्त के चौथे मन्त्र में कवि पूछता है: "वह वन क्या था, वह वृक्ष क्या था जिससे उन्होंने आकाश और पृथिवी का निर्माण किया? हे ऋषियों! अपने मन से पूछो कि वह क्या था जिस पर खड़े होकर उसने लोक को धारण किया?" इस मन्त्र को तैत्तिरीय ब्राह्मण २ ८,९,६ में तथा ऋग्वेद १० १२९ के ठीक बाद में दोहराया गया है। ब्राह्मणकार इस प्रश्न का उत्तर भी देता है जिसे पहले कवि ने प्रश्न ही रहने दिया था: "ब्रह्म ही वह वन था, ब्रह्म ही वह वृक्ष था जिससे उन्होंने आकाश और पृथिवी को बनाया। ऋषियो! मैं अपनी बुद्धि से तुम्हें बताता हूँ कि लोक को धारण करते समय वह ब्रह्म पर ही खड़ा हुआ था।" (देखिये ऊपर नोट ५७)।

(३) हिरण्यगर्भ

एक अन्य नाम, जिसके अन्तर्गत ऋग्वेद में देवता की सर्वश्रेष्ठता के गुणों के साथ प्रशंसित है, हिरण्यगर्भ है। दसवें मण्डल के १२१वें सूक्त इस देवता को सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न (समवर्तत) बताया गया है, जो सर्वभूतों का अधिपति था, जो पृथिवी और आकाश को धारण करता है, जो जीवन और प्राण प्रदान करता है, जिसके आदेश को देवता तक मानते हैं, जो सब देवताओं

---

[५२८] इस सूक्ति को ऋग्वेद १०.७२ में दोहराया गया है और इसे ऋग्वेद ४ २,१७ से ही लिया गया होगा।

का देवता और उनको चैतन्य प्रदान करनेवाला है। (प्रस्तुत कृति का चौथा भाग भी देखिये)।

(४) ब्रह्मणस्पति, दक्ष, और अदिति

एक अन्य सूक्त (ऋग्वेद १०.७२) में देवों की सृष्टि का श्रेय उस ब्रह्मणस्पति को दिया गया है जिसने एक लोहार की भाँति उनका धमन किया;[५२९] जबकि पृथिवी को एक उत्तानपद् नामक प्राणी से उत्पन्न बताया गया है। दक्ष और अदिति एक दूसरे के परस्पर प्रजनन से उत्पन्न हुये हैं। यह कहा गया है कि ब्रह्मणस्पति द्वारा निर्मित होने पर भी देवगण अदिति के बाद ही अस्तित्व में आये, किन्तु जगत के निर्माण और विकास में इन लोगों ने भी कुछ योगदान दिया था।

इस सूक्त की प्रकृति सर्वथा पुराकथाशास्त्रीय है इसमें दार्शनिकता का केवल इतना ही प्रयास है कि यह असत् से सत् की सृष्टि बताता है। सृष्टि-क्रम की व्याख्या के लिये विभिन्न नामों को प्रस्तुत करने और इन नामों को विभिन्न माध्यमों के साथ संयुक्त करने का कवि ने जो प्रयास किया है वह निम्नलिखित रचना (ऋग्वेद १०.१२९)[५३०] की उदात्त अस्पष्टता और रहस्यवादिता के विरुद्ध एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करता है।

(५) असत् , सत् , और एक
(ऋग्वेद १०.१२९)

१. न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीं नासीद् रजो नो व्योम परो यत्। किम् आवरिवः कुह कस्य शर्मन्न् अम्भः किम् आसीद् गहनं गभीरम्। २. न मृत्युर् असीद् अमृत न तर्हि न राज्या' अह्न' आसीत् प्रकेतः। आनीद् अवातं स्वधया तद् एकं तस्माद् ह अन्यद् न परः किञ्चनास। ३. तमः आसीत् तमसा गूळहम् अग्रे अप्रकेत सलिलं सर्वम् आ इदम्। तुच्छयेन आभु अपिहित यद् आसीत् तपसस् तद् महिनाऽजायतैकम्। ४. कामस् तद् अग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यद् आसीत्। सतो बन्धुम् असति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्य कवयो मनीषा। ५. (= वासं० ३३.७४) तिरश्चीनो विततो रश्मिर् एषाम् अधः स्विद् आसीद् उपरि स्विद् आसीत्। रेतोधाः आसन् महिमानः आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्। ६. को अद्धा वेद कः इह प्रवोचत् कुतः आजाता कुतः इयं विसृष्टिः। अर्वाग् देवाः अस्य विसर्जनेन अथ

---

[५२९] देखिये ऊपर।

[५३०] इस सूक्त का कोलब्रुक और मूलर ने भी अनुवाद किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के चौथे भाग में भी इसका अनुवाद देखा जा सकता है।

को वेद यतः आबभूव । ७. इयं विसृष्टिर् यतः आबभूव यदि व दधे वा न । यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद[531] ।

"न तो असत् था और न सत् था; न तो अन्तरिक्ष था और न उसके ऊपर आकाश । क्या सब को आवृत्त किये था ? तब कौन किसमें था ? क्या गम्भीर जल ही सर्वत्र था ? तब मृत्यु नहीं थी, अमरत्व भी नहीं था : दिन और रात का अन्तर भी नहीं था । वायु से शून्य और आत्मा के अवलम्ब से श्वास लेने वाला एक ब्रह्म मात्र ही था । उसके अतिरिक्त कुछ नहीं था । इसके ऊपर कुछ नहीं था ३. आरम्भ में अन्धकार से आवृत्त अन्धकार था । सब कुछ अविभेदनीय जल ही जल था ।[532] वह सर्वव्याप्त ब्रह्म भी अविद्यमान पदार्थ से ढका था : वही एक तत्त्व तप के प्रभाव से विद्यमान था । ४. सर्वप्रथम उसमें काम का उदय हुआ जो मन का प्रथम बीज था । मेधावी जनों ने अपनी बुद्धि के द्वारा विचार कर के अप्रगट से प्रगट की कल्पना की । ५. वह रश्मि (या रज्जु)[533] जो इन लोकों के आर-पार फैली थी वह नीचे थी या ऊपर थी ? उस समय गर्भित करनेवाली शक्तियाँ और महान् शक्तियाँ थीं; नीचे एक स्वधा और ऊपर प्रमति का स्थान हुआ ।[534] कौन जानता है, यहाँ कौन बता सकता है, यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, कहाँ से उत्पन्न हुई ? देवगण भी इन सृष्टियों के पश्चात ही उत्पन्न हुये; तब कौन जानता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई ? ७. यह सृष्टि किससे उत्पन्न हुई, इसे किसने रचा या नहीं रचा—जो उच्चतम दिव्य लोक में निवास करता है, वही इसका शासक है, वही इसे जानता है, अथवा वह भी नहीं जानता ।"

मेरे पास इस सूक्त पर सायण का भाष्य नहीं है, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण (तैत्तिरीय अरण्यक के भाष्य में इसके ४थे मन्त्र व्याख्या भी देखिये) जिसमें इस सूक्त को दोहराया गया है (२.८,९,३ और बाद), का भाष्यकार इसकी एक बाद के युग में प्रचलित दार्शनिक विचारों की दृष्टि से व्याख्या करता है इस प्रकार के स्रोतों से हमें प्राचीन वैदिक कवियों के वास्तविक अर्थ पर विशेष प्रकाश पड़ने की आशा नहीं करनी चाहिये । यह भाष्यकार, जो

---

[531] तुकी० ऋग्वेद १.१६,४,६ । वालखिल्य १० २ में यह कथन है : एक एवाग्निर् बहुधा समिद्ध एक सूर्यो विश्वम् अनु प्रभूत. । एकैवोषाः सर्वम् इदं विभाति एकं वा इदम् वि बभूव सर्वम् ।

[532] महाभारत, १२.६८१२ देखिये ।

[533] प्रो० आफरेक्ट के विचार से 'रश्मि' शब्द यहाँ 'धागे' या 'तन्तु' का द्योतक है रश्मियों का नहीं ।

[534] क्या ऋग्वेद १.१५९,२ से इस पर कोई प्रकाश पड़ता है ?

वेद के शब्दों में ऐसे अर्थ को देखता है जिन्हें वह स्वयं अपने युग के दार्शनिक विचारों के अनुकूल पाता है, इसके वास्तविक आशय की व्याख्या से बहुत दूर नहीं हैं : यदा पूर्वसृष्टिः प्रलीना उत्तरसृष्टिश् च न उत्पन्ना तदानीं सदसती द्वे अपि नाभूताम् । नामरूपविशिष्टत्वेन स्पष्टप्रतीयमानं जगत् "सत्-" शब्देन उच्यते नरविषाणादिसमानं शून्यम् "असद्" इत्य् उच्यते । तदुभय नासीत् । किन्तु काचिद् अव्यक्तावस्था आसीत् । सा च विस्पष्टाभवाद् न सती जगदुत्पादकत्वेन सद्भावाद् नाप्य् असती । "पूर्वसृष्टि के विलीन होने और उत्तरसृष्टि की रचना के बीच के समय में न तो सत् था न असत् । जगत् जब 'नाम' और 'रूप'[५३६] दोनों के साथ स्पष्ट रूप से प्रतीयमान होता है तब उसे 'सत्' कहते हैं, जब कि शून्य की मनुष्य की सींग के समान अनुपस्थित होने के साथ तुलना की जा सकती है और इसे ही असत् कहते हैं । इनमें से कोई भी स्थिति तब नहीं थीं; किन्तु उस समय एक अस्पष्ट स्थिति थी जो स्पष्टता के अभाव के कारण सत् नहीं थी; और वह जगत् की उत्पत्ति का कारण होने के कारण 'असत्' भी नहीं थ' ।"

इस मन्त्र पर एक कहीं अधिक प्राचीनतर, सम्भवतः प्राचीनतम, उपलब्ध टीका शतपथ ब्राह्मण के इस स्थल पर मिलती है : १०.५,३,१ : न इव वै इदम् अग्रे असद् आसीद् न इव सद् आसीत् । आसीद् इव च इदम् अग्रे न इव आसीत् । तद् ह तद् मनः एव आस । २. तस्माद् एतद् ऋषिणाऽभ्यनूक्तं "न असद् आसीद् नो सद् आसीत् तदानीम्" इति । न इव हि सद् मनो न इव असत् । ३. तद् इदम् मनः सृष्टम् आविरबुभूषद् निरुक्ततरम् मूर्ततरम् । तद् आत्मानम् अन्वैच्छत् । तत् तपोऽतप्यत् । तत् प्रामूर्च्छत् । तत् षट्त्रिंशतं सहस्राण्य् अपश्यद् आत्मनोऽग्नीन् अर्कान् मनोमयान् मनश्चितः इत्यादि । "आरम्भ में न तो यह [जगत्] असत् था और सत् ही था । आरम्भ में यह जगत् था भी और नहीं भी था । तब यह केवल वह मन था । इसीलिये ऋषि कहता है कि 'तब न असत् था और न सत् था', क्योंकि मन न तो सत् था और न तो असत् । ३. तब इस मन ने, विकसित होकर, प्रगट होने, अधिक अविभूर्त होने, अधिक मूर्त होने की इच्छा की । इसने अपनी इच्छा की; इसने तप किया । यह मूर्छित हुआ । इसने मन से निर्मित, मन में स्थित ३६,००० अग्नियों, सूर्यों को देखा", इत्यादि । तदनन्तर मन वाणी

---

[५३५] तुकी० १०.७२,२,३, जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है ।

[५३६] ये वेदान्ती शब्द 'नाम' और 'रूप' अवे० १०,२,१२ में आते हैं । देखिये शतब्रा० ११.२,३,१ और बाद भी ।

की रचना करता है; वाणी प्राण की, प्राण नेत्र की, नेत्र कान की, कान कर्म की, और कर्म अग्नि की सृष्टि करते हैं।

असत्[५३७] और सत् के ये विचार बाद के वैदिक कवियों को भी परिचित रहे प्रतीत होते हैं क्योंकि ऋग्वेद १०.७२ (जिसका ऊपर अदिति के खण्ड में अनुवाद किया जा चुका है) में हमें यह कथन मिलता है (मन्त्र २,३) कि आरम्भ में असत् से सत् उत्पन्न हुआ: "देवों के आरम्भिकतम युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ।" अथर्ववेद १०.७,१० (जिसे आगे स्कम्भ के खण्ड में उद्धृत किया जायगा) में यह कहा गया है कि असत् और सत्[५३८] दोनों ही स्कम्भ देवता में निहित होते हैं, और इसी सूक्त के २५ वें मन्त्र में यह कथन है: "वे देवता सचमुच ही शक्तिशाली हैं जो असत् से उत्पन्न हुये। मनुष्य कहते हैं कि असत् एक स्कम्भ का उच्चतम अवयव है।"[५३९] तैत्तिरीय उपनिषद् भी इसी आशय का एक मन्त्र उद्धृत करता है: "आरम्भ में यह सब असत् था। इससे ही सत् उत्पन्न हुआ।" (असद् वै इदम् अग्रे आसीत। ततो वै सद् अजायत)।

छान्दोग्य उपनिषद् (६.२,१ और बाद) का लेखक भी ये शब्द कहता हुआ इन्हीं में से कुछ मन्त्रों का संकेत करता है: सद् एव सोम्य इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम। तद्ध ह एके आहुर् "असद् एव अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीय तस्माद् असतः सज् जायेत।" २. कुतस् तु खलु सोम्य एव स्याद् इति ह उवाच कथम् असत सज् जायेत इति। सत् त्व् एव सोम्य इदम् अग्रे आसीद् एकम् एव अद्वितीयम्। तद् ऐक्षत बहु स्याम् प्रजायेय इति। "हे प्रियदर्शन! यह जगत आरम्भ में द्वितीय रहित, एक, सत् स्वरूप ही था। कोई आचार्य कहते हैं कि पहले यह द्वितीयहीन एक असत् ही था और उससे ही यह सत् जगत् उत्पन्न हुआ। २. किन्तु हे प्रियदर्शन! ऐसा कैसे हो सकता है? असत् से कैसे यह सत नामरूपात्मक जगत् उत्पन्न हो सकता है? स्पष्ट कहा गया है कि यह तो, हे प्रियदर्शन, निश्चित रूप से पहले अद्वितीय एक

---

[५३७] तैत्तिरीय आरण्यक १.११,१. असत. सद् ये ततक्षुर् ऋषयः सप्त अत्रिश् च यत्। सर्वे अत्रयो अगस्त्यश् च)।

[५३८] देखिये अथर्ववेद १७.१,१९ भी।

[५३९] ऋग्वेद १०.५,७ में यही शब्द अग्नि के लिये भी प्रयुक्त है। अथर्व० ११.७,३ में उच्छिष्ट 'सत्' और 'असत्' दोनों है।

सत् ही था। उस सत् ने ऐसी इच्छा की कि मैं बहुत रूप हो जाऊँ, प्रजा को उत्पन्न करूँ।"[५४०]

ऋग्वेद १०.१२९,१ के इस कथन में कि "न तो असत् था और न सत् था" तथा छान्दोग्य उपनिषद् के सिद्धान्त में कोई असंगति नहीं है क्योंकि सूक्त के दूसरे मन्त्र में भी 'एक' नामक एक तत्व की विद्यमानता को स्वीकार किया गया है जिसे ही उपनिषद् का आदि सत् माना जा सकता है; जब कि पहले मन्त्र में कथित किसी भी वस्तु के अनस्तित्व से, चाहे वह असत् हो या सत्, केवल यह आशय हो सकता है कि, जैसा कि तैत्तिरीय ब्राह्मण का भाष्यकार भी व्याख्या करता है, अभी उस एक का कोई स्पष्ट प्राकट्य नहीं हुआ था। इसी प्रकार अथर्ववेद १०.७,१०,१५ (ऊपर उद्धृत) भी असत् की सर्वथा प्राथमिकता का प्रतिपादन नहीं करता; बल्कि यह कहता है कि यह (असत्) भी स्कम्भ नामक एक देवता में निहित था या इसका एक अवयव था। फिर भी, छान्दोग्य उपनिषद् अपने ही ३.१९,१ (असद् एवेदम् अग्रे आसीत् तत् सद् आसीत्) से और तैत्तिरीय उपनिषद् से विचलन प्रदर्शित करता है। यह ऋग्वेद १०.७२,२.३ से भी भिन्न है जो यह कहता है कि सत् असत् से उत्पन्न हुआ। यदि इन मन्त्रों के शब्दार्थ को सर्वथा ग्रहण करना है तो हमें यह मानना होगा कि कवि ने विभिन्न सृष्टिकारक माध्यमों की, जिन्हें वह ब्रह्मणस्पति, उत्तानपाद, दक्ष, अदिति, आदि कहता है, या तो शून्य से, अथवा एक दूसरे से, अथवा असत् से प्रथम उत्पन्न सत्ता से उत्पन्न हुये होने के रूप में ही कल्पना की होगी। किन्तु यदि हम भाष्यकारों के साथ 'असत्' को केवल एक अविकसित अवस्था का द्योतक मान लें तो कोई विरोधत्व नहीं होगा।

जैसी कि ऋग्वेद १०.१२९ में कल्पना की गई है, सृष्टि की दिशा में प्रथम गति यह हुई: एक जो आरम्भ में शान्तिपूर्वक श्वास ले रहा था, और स्वयं में ही निहित था, स्वयं अपने ताप के तप से (जैसा कि प्रो० मूलर ऐ० सं० लिट०, पृ० ५६१ में व्याख्या करते हैं) अथवा कठिन और तीव्र निष्कर्षण से (जैसा कि प्रो० रॉथ मानते हैं; इनका कोश देखिये) विकसित हुआ।[५४१] इस विकास ने काम को उत्पन्न किया जिसने तत्काल ही उस एक

[५४०] देखिये अंग्रेज़ी अनुवाद पृ० १०१, जिसका मैंने अनुसरण नहीं किया है।

[५४१] अवे० १० ७ ३८ द्वारा रॉथ की व्याख्या पुष्ट होती है: देखिये शत० ब्रा० ११.५ ८ १; १३.७,१,१। तुकी० तैत्तिरीय उप० २.६ जहाँ यह कहा गया है: "स तयोऽतप्यत। स तपस् तप्त्वा इदं सर्वम् असृजत यद् इदं किञ्च।"

पर अधिकार कर लिया और जिसे मन का प्रथम बीज, तथा असत् और सत् के बीच की प्रथम कड़ी[५८७] कहा गया है। तदनन्तर कवि गर्भित करनेवाली शक्तियों, महान् शक्तियों, धारण करनेवाली क्षमताओं, और सक्रिय शक्तियों की चर्चा करता है; किन्तु, फिर भी, सृष्टि कैसे हुई इसे बताने में अपने को असमर्थ पाता है। सृष्टि के बाद ही उत्पन्न होने के कारण देवगण भी अपने उपासकों को इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में बता सकने में असमर्थ थे क्योंकि उन्होंने उत्पत्ति को देखा ही नहीं था। जब स्वयं देवता ही असमर्थ थे तब इस पृथिवी का कोई अन्य व्यक्ति कैसे बता सकता है कि सृष्टि कैसे हुई और इसका कोई स्रष्टा भी था या नहीं। यहाँ तक कि उच्चतम दिव्य लोक में विराजमान इस जगत् का शासक भी सृष्टि का रहस्योद्घाटन नहीं कर सकता।

फिर भी, वैदिक ऋषि द्वारा अज्ञानता की इस आत्मस्वीकृति को वह लोग वास्तविक अथवा शाब्दिक आशय में नहीं ग्रहण कर सकते थे जो वेद को अपौरुषेय मानते थे। इसलिये तैत्तिरीय ब्राह्मण का भाष्यकार इसकी इन शब्दों में व्याख्या करने के लिये बाध्य था :—

अत्र केचिद् आगमम् उपेक्ष्य स्व-स्व-बुद्धि-बलाद् अन्यथाऽन्यथा उत्प्रेक्षन्ते। तथा हि परमाणवो मूलकारणम् इति कणाद-गौतमादयो मन्यन्ते। स्वतन्त्रम् अचेतनम् प्रधान जगतो मूलकारणम इति कपिल-प्रभृतय.। शून्यादितो जगद्-उत्पत्तिर् इति माध्यमिकाः। जगतो कारणम् एव नास्ति स्वभावातः एव अवतिष्ठते इति लोकायतिकाः। ते सर्वेऽपि भ्रान्ताः एव। "को अद्धा वेद" जगत्कारणं को नाम पुरुषः साक्षाद् अवगच्छति। अनवगत्य च "कः इह प्रवोचत्" स्वयम् अदृष्ट्वा को नाम जगत्-कारणम् ईदृग् इति वक्तुं शक्नोति। कोऽयम् अत्र वक्तव्यांशः इति चेत्। उच्यते। इयं विविधा सृष्टिः "कुतः आजाता" त(क?)स्माद् उपादान-कारणात् सर्वतः उत्पन्ना पुनरपि कुतो निमित्ताद् उत्पन्ना इति तद् इदम् उपादानं निमित्तं च वक्तव्यं तच् च वक्तुम् अशक्यम्। कुतोऽशक्तिर् इति चेत्। उच्यते। किं देवाः एतद् ब्रयुः कुतोऽन्यः कश्चिद् मनुष्यः। न तावद् देवाः वक्तुं शक्ताः ते हि अस्य जगतो विविधसृष्टेर् "अर्वाग" एव विद्यन्ते न तु सृष्टेः पूर्वं ते सन्ति। यदा देवानाम् अपि ईदृशी गतिस् तदानीं "यतः" जगद् "आबभूव" तत् कारणं वक्तुम्

तुल० भागवतपुराण २.९,६,७.१९.२३, और ३.१०,४ और बाद। ऋवे० १० १.२९ में 'तपम्' शब्द कि ताप का द्योतक है। अवे० ११.८,२ में 'तपस्' का कर्मन् के साथ उल्लेख है।

[५८८] देखिये तैत्तिरीय ब्रा० २.८,९,५ पर भाष्य।

अन्यः "को" वा "वेद"। देवाश् च मनुष्यश् च सृष्टेः प्राग अनवस्थानाद् न तावत् प्रत्यक्षेण पश्यन्ति तदानीं स्वयम् एव अभावाद् नाप्य् अनुमातुं शक्तास् तद् योग्योर हेतुदृष्टान्तयोर् अभावात्। तस्माद् अतिगम्भीरम् इदम् परमार्थ-तत्त्वं वैदिक-समधिगम्यम् इत्य अभिप्रायः। "इयं दृश्यमाना भूत-भौतिक-रूपा-विविधा सृष्टिर् यतः उपादानकारणाद् "आवभूव" सर्वतः उत्पन्ना तद् उपादानकारणं यदि वा किञ्चित् स्वरूपं दत्त्वाऽवतिष्ठते यदि वा तस्य स्वरूपम् एव नास्ति तम् इमं निर्णयं यः परमेश्वरोऽस्य जगतो "ऽध्यक्षः" स्वामी "सो अग वेद" स एव वेद यदि वा सोऽपि न वेद। ईशित्रीशितव्यादि-लौकिक-व्यवहार-दृष्ट्या "सो अंग वेद" इत्य् उक्तम्। यत्र त्व अस्य सर्वम् आत्मा एव अभूत् केन कम् पश्येद् इत्यादि-सर्व-व्यवहारातीत-परमार्थ-दृष्ट्या "यदि वा न वेद" इत्य् उक्तम्। अतो मनुष्यादिषु तद्-वेदना-शंकाऽपि दूरापेता।

"कुछ लोग ऐसे हैं जो आगम की उपेक्षा करते हैं और अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सृष्टि-विषयक भिन्न-भिन्न सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं। इस प्रकार कणाद और गौतम इत्यादि के अनुयायी परमाणु को जगत का कारण मानते हैं। कपिल आदि यह कहते हैं कि एक अचेतन और स्वतन्त्र प्रधान ही जगत् का कारण है। माध्यमिक यह कहते हैं कि जगत् शून्य से उत्पन्न हुआ, इत्यादि। लोकायतों का कहना है कि जगत् कारणरहित और स्वयं अपने स्वभाव से विद्यमान है। ये सभी विचारक भ्रान्त हैं। हमारा सूक्त यह पूछता है कि कौन व्यक्ति जगत् को उसका वास्तविक द्रष्टा होने के रूप में जानता है? और अदृष्ट प्रमाण के आधार पर कोई कैसे कह सकता है कि यह ऐसा या वैसा था? जिन्हें बताना आवश्यक है वह हैं जगत् के उपादान कारण और निमित्त कारण और इन्हें बताया नहीं जा सकता। इस असम्भाव्यता को आगे बताया गया है। क्या देवगण आवश्यक सूचना दे सकते हैं? और यदि नहीं तो फिर कोई मनुष्य कैसे ऐसा कर करता है? देवगण इसलिये नहीं बता सकते कि वे भी सृष्टि के बाद उत्पन्न हुये थे पहले नहीं। जब देवों की ऐसी सन्दिग्ध स्थिति है तब और कौन जान सकता है? आशय यह है कि—यतः सृष्टि के पूर्व न तो देवता थे और न मनुष्य, अतः इन लोगों ने उसे देखा नहीं हो सकता। और यतः ये किसी पर्याप्त कारण अथवा उदाहरण के अभाव के कारण सृष्टि के सम्बन्ध में निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हैं, अतः इस महान रहस्य को वही समझ सकता है जो वेद में पारंगत है। ···सूक्त का अन्तिम मन्त्र यह कहा है कि जगत् का शासक जानता है, अथवा वह भी नहीं जानता कि किस उपादान कारण से यह दृश्यमान जगत् उत्पन्न हुआ

और वह उपादान कारण किसी निश्चित रूप में विद्यमान है या नहीं। अर्थात् यह कथन कि 'वह जानता है' उस प्रचलित धारणा पर आधारित है जो जगत् के शासक और उन प्राणियों में विभेद करता है जिन पर वह शासन करता है। जब कि यह कथन कि 'वह नहीं जानता' इस बात पर आधारित है कि उच्चतम सिद्धान्त, जो हर प्रकार की प्रचलित धारणाओं से अतीत है, सब वस्तुओं का उस परमात्मा के साथ समीकरण है जो अन्य अस्तित्वों को अपने से भिन्न नहीं देख सकता। [इस अन्तिम वाक्य का आशय यह है कि परमात्मा किसी भी ऐसी वस्तु को नहीं जानता जिसकी सृष्टि उससे बाहर हुई हो, क्योंकि ऐसी किसी वस्तु का अस्तित्व है ही नहीं], अतः यह मान्यता कि मनुष्य आदि प्राणी इसे जानते हैं, वर्जित है।"

फिर भी, यह कल्पना करना निरर्थक है कि इस सूक्त का सरल लेखक इस प्रकार की अनुभवातीत धारणायें भी रखता रहा होगा। वह भ्रान्ति से रहित होने की बात को छिपाता नहीं और निष्ठा के साथ उस जटिलता को स्वीकार कर लेता है जिसका उसने जगत् की उत्पत्ति के विषय में कल्पना करते हुये अनुभव किया था।[573]

जगत् की सृष्टि के विषय पर भारतीयों के अधिक प्राचीन और अर्वाचीन विचारों के उदाहरण के रूप में तथा उस स्थिति के रूप में जिसमें पहले शान्त परमात्मा क्रियाशील हुआ, मैं तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२,९,१ से एक स्थल तथा उसके भाष्यकार की कुछ टिप्पणियाँ उद्धृत कर रहा हूँ। ब्राह्मण का मूल इस प्रकार है :[574] "आरम्भ में यह जगत् कुछ नहीं था। न तो आकाश था, न पृथिवी थी, और न अन्तरिक्ष था। तब उस असत् ने निश्चय किया : "मैं होऊँ"। वह तप्त हुआ (अर्थात् उसने तपस्या की)। उस तप से धूम उत्पन्न हुआ। वह पुनः तप्त हुआ। उस तप से अग्नि उत्पन्न हुआ। वह पुनः तप्त हुआ। उस तप से प्रकाश उत्पन्न हुआ"। और इसी प्रकार—ज्वाला, रश्मियाँ आदि भी इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति से उत्पन्न हुये। (यहाँ यह माना जा सकता है कि इस स्थल पर 'तपस्' शब्द का जिस प्रकार प्रयोग हुआ है वह ऋग्वेद १०.१२९,३ के इस विचार के अनुकूल है कि यह तप की अपेक्षा ताप का द्योतक है)।

वही २.२,९,१०। असतोऽधि मनोऽसृज्यते। मनः प्रजापतिम् असृजत। प्रजापतिः प्रजाः असृजत। "असत् से मनस् की सृष्टि हुई। मनस् ने प्रजापति की सृष्टि की। प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि की।"

---

573 सूक्तों के ऋषियों ने अन्य विषयों पर तक बालसुलभ जटिलता व्यक्त की है।

574 मूल प्रस्तुत ग्रन्थ के पहले भाग में देखा जा सकता है।

उक्त स्थलों में से प्रथम की भाष्यकार की व्याख्या का सारांश इस प्रकार है : "सृष्टि के पूर्व इस दृश्य जगत् के किसी भी अंश का अस्तित्व नहीं था। अनस्तित्व की ऐसी स्थिति हम मान लेते हैं। उसने विचार किया : 'मैं अस्तित्ववान् होऊँ'। फलस्वरूप उपनिषदों में वस्तुस्थिति का इस प्रकार उल्लेख है : 'यह मूलतः असत् था; उसमे सत् उत्पन्न हुआ'। यहाँ 'असत्' से ऐसी शून्यता अभिप्रेत नहीं है जैसे 'खरहे की सींग', बल्कि एक ऐसी अवस्था जिसमें नाम और रूप प्रकट नहीं थे। अतः वाजसनेयि इस श्रुति को दोहराते हैं : 'तब यह अविकसित था, इसका नाम और रूप में विकास हो।' पृथिवी, जल इत्यादि 'नाम' हैं। 'कठोरता', 'तरलता' आदि रूप हैं।" तदनन्तर 'अविकसित' और 'विकसित' शब्दों की परिभाषा देते हुये प्रमाणस्वरूप मनु १.५ को उद्धृत किया गया है। इस मान्यता का कि प्रस्तुत स्थल से एक शून्य अभिप्रेत है, छान्दोग्य उपनिषद् के एक स्थल द्वारा विरोध होता है जहाँ इस सिद्धान्त को आपत्तिजनक कहा गया है। "ऐतरेय उपानिद् में यह कहा गया है कि 'आरम्भ में केवल आत्मा ही अकेले था। कुछ और क्रियाशील नहीं था' अतः श्रुति की इस अस्वीकृति से कि 'मूलतः कुछ नहीं था', परमात्मा से आवृत्त नाम-रूपमय जगत का तात्पर्य है। इमे 'असत्' शब्द से इसलिये व्यक्त किया गया है क्योंकि नाम-रूप से रहित होते हुये भी सत् ने, जिसे परमात्मा कहते हैं, अपने में निहित प्राणियों के रजस्तत्व से प्रेरित होकर कल्पना की कि 'मैं नाम और रूप से युक्त होकर प्रगट होऊँ।' जिस प्रकार गहन निद्रा से मनुष्य इसलिये उठता है कि वह अपने कर्मों का भोग करे, उसी प्रकार परमात्मा में भी सम्पूर्ण जीवित प्राणियों को कर्मों का फल भोगने देने का विचार उत्पन्न हुआ। इस प्रकार का विचार आने पर उस परमात्मा ने नाम और रूप की सृष्टि के लिये तप किया। यहाँ 'तप' शब्द से 'कृच्छ्र' अथवा 'चान्द्रायण' आदि व्रतों का तात्पर्य नहीं है। यह उन विशेष वस्तुओं का विचार है जिनकी सृष्टि होनी थी। इसीलिये अथर्वन् सम्प्रदाय के लेखक इस श्रुति को उद्धृत करते हैं : 'वह जो सर्वज्ञ है, सर्वविद् है, जिसका तप ज्ञान है'। इस तथ्य के आधार पर कि यह तप किसी प्रकार के प्रायश्चित्त आदि का द्योतक नहीं है, इसे एक ऐसे आत्मा का विचार कहना चाहिये जो अशरीरी किन्तु सर्व-शक्तिमान है" इत्यादि। "परमेश्वर से, जैसा कि उसके संकल्प के आधार पर उसका वर्णन किया गया है, एक धूम उत्पन्न हुआ," इत्यादि।

(यद् इदं स्थावर-जंगम-रूपं भूलोकादिरूपं च जगद् इदानीं दृश्यते तत् किमपि सृष्टेः पूर्वं नैव आसीत्। तत् तादृशम् असद्-रूपम् एव वर्त्तमानां स्यात्। सद्-रूपताम् प्राप्नुयाम् इत्य् एतादृशम् मनोऽकुरुत।

तथा च उपनिषदि पूर्वम् असद्-रूपम् पश्चात सद्रूपतोत्पत्तिश् च विस्पष्टम् आम्नायते "असद् वै इदम् अग्रे आसीत् ततो वै सद् अजायत" इति । अत्र "असत्"-शब्देन न शश-विषाणादि समानं शून्यत्वं विवक्षित किं तर्हि अनभिव्यक्त-नाम-रूपत्वम् । अतः एव वाजसनेयिनः समामनन्ति "तद् ह इदं तर्हि अव्याकृतम् आसीत् । तद् नाम-रूपाभ्याम एव व्याक्रियेत" इति । भूमिर् आपः इत्यादिकं नाम काठिन्य-द्रवादिक रूपम् ।···ऐतरेयिनस् तु अधीयते "आत्मा वै इदम् एक एव अग्रे आसीद् न अन्यत किञ्चन मिषद्" इति । तस्माद् "नैव किञ्चन आसीद्" इत्य् अय निषेध. परमात्म-निर्मित-नाम-रूपात्मक-जगद्-विषयो न तु कृत्स्न विषयः । नाम-रूप-रहितत्वेन "असत"-शब्द-वाच्यं सद् एव अवस्थितम् परमात्मा-तत्त्व स्वात्मन्य् अन्तर्हित-प्राणि-कर्मप्रेरितम् सद् नाम रूपाकारेण आविर्भवेयम् इति पर्यालोचनं-रूपम् मनोऽकुरुत । यथा गाढनिद्राम् प्राप्तस्य पुरुषस्य कर्म-फल-भोगाय प्रबोधः उत्पद्यते तथा सर्वान् प्राणिन स्व-स्व-कर्म-फलम् भोजयितुम् ईदृशो विचारः परमात्मनः प्रादुरभूत । तथाविध-विचार-युक्त तत् परमात्मा-तत्त्व रूपं नाम-रूप-सृष्टि-साधन-रूपं तपोऽकुरुत । न अत्र तपः कृच्छ्र चान्द्रायणादि-रूपम् । किन्तु स्रष्टव्य-पदार्थ-विशेष-विषयम् पर्यालोचनम् । अतः एव आथर्वणिकाः आमनन्ति "यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप" इति । कृच्छ्रादि-रूपत्वाभावाद् अशरीरस्य अपि सर्व-शक्ति-युक्तस्य पर्यालोचनम उपपन्नम ।...तादृशात् तस्मात परमेश्वरात् स्व-संकल्पानुसारेण कश्चिद् धूमः उदपद्यत ।)

(६) पुरुष

ऋग्वेद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण किन्तु अनेक स्थलों पर अस्पष्ट सूक्त, जिसमें देवता के एकत्व को यद्यपि एक विश्वदेववादी रूप से ही स्वीकार किया गया है, दसवें मण्डल का ९० वाँ सूक्त है जो पुरुषसूक्त[५८५] के नाम से विख्यात और इस प्रकार है :

१. सहस्रशीर्षाः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात । स भूमिं विश्वतो वृत्वा अत्य् अतिष्ठद् दशाङ्गुलम । २. पुरुषः एवेदं सर्वं यद् भूत यच् च भव्यम् । उतामृतत्वस्येशानो यद् अन्नेनातिरोहति । ३. एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश् च पुरुषः । पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपाद्

[५८५] इस सूक्त (जो कुछ भेद के साथ वाज० ३१.१-१६ और अथ० १९,६ और ७५,४ में भी आता है) का अनुवाद कोलब्रुक के एसेज, १.१६७ में देखा जा सकता है ।

अस्यामृतं दिवि। ४. त्रिपाद् ऊर्ध्वः उद् ऐत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः। ततो विश्वं व्यक्रामत् साशनानशने अभि। ५. तस्माद् विराळ अजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्य् अरिच्यत पश्चाद्भूमिम् अथो पुरः। ६. यत् पुरुषेण हविषा देवाः यज्ञम् अतन्वत। वसन्तो अस्यासीद् आज्यं ग्रीष्मः इध्मः शरद् हविः। ७. तं यज्ञम् बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातम् अग्रतः। तेन देवाः अयजन्त साध्याः ऋषयश् च ये। ८. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः सम्भृतम् पृषदाज्यम्। पशूंस् तांश् चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्याश् चे ये। ९. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस् तस्माद् अजायत। १०. तस्माद् अश्वाः अजायन्त ये के च उभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज् जाताः अजावयः। ११. यत् पुरुष वि अदधुः कतिधा वि अकल्पयन्। मुख किम् अस्य कौ बाहू का ऊरू पादौ उच्येते। १२. ब्राह्मणोऽस्य मुखम् आसीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तद् अस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत। १३. चन्द्रमाः मनसो जातश् चक्षोः सूर्यो अजायत। मुखाद् इन्द्रश् च अग्निश् च प्राणाद् वायुर् अजायत। १४. नाभ्याः आसीद् अन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत। पद्भ्याम् भूमिर् दिसः श्रोत्रात् तथा लोकान अकल्पयन्। १५. सप्तस्यासन् परिधयस् त्रिः सप्तसमिधः कृताः। देवाः यद् अज्ञं तन्वानाः अबध्नन् पुरुषम् पशुम्। १६. यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त देवास् तानि धर्माणि प्रथमानि आसन्। ते ह नाकम् महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे शाध्याः सन्ति देवाः।

"पुरुष के सहस्रशीर्ष (अथर्ववेद : सहस्रबाहु), सहस्र नेत्र, और सहस्र-पाद हैं। वह पृथिवी को सब ओर से व्याप्त करके और दस अंगुलियों के बराबर बढ़कर अवस्थित है। २. पुरुष स्वयं यह सब जगत है[546]; जो था, और जो होगा वह सब पुरुष ही है। वह अमरत्व का भी अधिपति हैं, क्योंकि अन्न से वह वर्द्धित होता है।[547] ३. उसकी महानता ऐसी ही है; और वह इससे भी श्रेष्ठ है। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड उसका एक पग मात्र है,[548] और वह जो आकाश में अमर है, उसका तीन पग है। ४. अपने तीन पगों से पुरुष ऊपर की ओर उठता है। उनका एक पग यहाँ पृथिवी पर रहा। तब वह भक्षण करनेवाले और न करनेवाले प्राणियों में अनेक रूपों से व्याप्त हुआ।

---

[546] तुकी० शत० ब्रा० ४.२,२,१।

[547] अन्तिम पद का आशय अस्पष्ट है।

[548] तुकी० अवे० १०.८.७.१३।

५. उससे ही विराज् की उत्पत्ति हुई, और विराज् से पुरुष।[549] जन्म लेते ही वह पृथिवी से बाहर पीछे और आगे दोनों ओर फैल गया।[550] ६. जब देवताओं ने पुरुष से यज्ञ किया तब घृत वसन्त हुआ, ग्रीष्म उसका काष्ठ हुआ, और शरद् हव्य हुआ। ७. सबसे पहले उत्पन्न इस पुरुष की उन लोगों ने यज्ञीय कुशों पर बलि दी; अपनी हवि के रूप में उसे लेकर देवों, साध्यों और ऋषियों ने यज्ञ किया। ८. उस सार्वभौमिक हवि से दधि और घृत उत्पन्न हुये। उससे (पुरुष से) वायवीय जीव और पशु—वन्य और पालतू दोनों, उत्पन्न हुये। ९ उस सर्वात्मिक यज्ञ से ऋचाओं, सामनों, छन्दों और यजुषों की उत्पत्ति हुई। १०. उसी से अश्व, तथा दाँतों की दो पंक्तियों वाले प्राणी, गायें, बकरे, और भेड़ उत्पन्न हुये। जब इन लोगों ने पुरुष को विभक्त किया तब उसे कितने भागों में वितरित किया? उसका मुख क्या था? उसके बाहु क्या थे? उसके ऊरू और पाद क्या थे? १२ ब्राह्मण उसका मुख था;[551] राजन्य उसके बाहु हुये; वैश्य उसके ऊरु थे; शूद्र उसके पाँव से उत्पन्न हुये। १३. चन्द्रमा उसके मन से उत्पन्न हुआ, सूर्य नेत्र से उत्पन्न हुआ; इन्द्र और अग्नि मुख से, तथा वायु उसके श्वास से उत्पन्न हुये। १४. उसकी नाभि से अन्तरिक्ष सर से आकाश, पाँव से पृथिवी, और कान से चारों दिशायें उत्पन्न हुईं: इस प्रकार उन्होंने लोकों का निर्माण किया। १५ जब देवताओं ने अपने यज्ञ में पुरुष को बलि के लिये बाँधा तब उसके लिये अग्नि के चारों ओर लकड़ी के सात टुकड़े रक्खे गये और इक्कीस लकड़ी के टुकड़ों का ईंधन के रूप में प्रयोग हुआ। १६. यज्ञ से देवों ने यज्ञ का पूजन किया। ये ही प्रथम धारणकर्ता धर्म थे। इन महान् लोगों ने उस स्वर्ग को प्राप्त किया जहाँ देवता तथा प्राचीन साध्यगण निवास करते हैं।"[552]

पुरुषसूक्त के अतिरिक्त ऋग्वेद में दो अन्य सूक्त भी हैं जिनमें परमेश्वर या देवता को यज्ञ का माध्यम, विषय या वस्तु माना गया है। १०.८१,५ में कहा गया है कि विश्वकर्मा ने अपने लिये अथवा अपने प्रति यज्ञ किया, और

---

[549] देखिये वाज० का भाष्य। देखिये मनु० १.८–११ भी। तुकी० अथ० १३.४,१९ और बाद।

[550] भागवतपुराण २.६,१५ और बाद।

[551] पौंगोदि ब्राह्मण उपनिषद् २९ देखिये।

[552] यह मन्त्र १.१६४,५० है जिसपर सायण भाष्य तथा वाज० ३१ १६ पर महीधरभाष्य भी देखिये। तुकी० निरुक्त १२.४१।

९वें मन्त्र में यह कहा गया है कि वह आकाश और पृथिवी समर्पित करते हैं। १०,१२० (जिसके दूसरे मन्त्र में पुमान् पुरुष के समकक्ष हो सकता है) में या तो देवों ने परमेश्वर के लिये यज्ञ किया अथवा उसकी यज्ञ में हवि दी।[५५३]

निरुक्त १०.२६[५५४] में ऋग्वेद १०.८१ के सन्दर्भ में एक इस आशय की कथा उद्धृत है कि भुवन् के पुत्र विश्वकर्मा ने एक सर्वमेध में सर्वप्रथम सम्पूर्ण लोकों की हवि दी और अपनी हवि के साथ यज्ञ समाप्त किया। और शतपथ ब्राह्मण १३.७,१,१ में यही बात स्वयं ब्रह्म के लिये कही गई है जिसने, यह अनुभव करने पर कि तप से वह असीमत्व नहीं प्राप्त कर सकता, अपने को सृष्ट वस्तुओं में समर्पित किया और सृष्ट वस्तुओं को अपने में, तथा ऐसा करने के बाद उसने प्रमुखता, आत्मप्रचुरता, और सार्वभौमिक राज्य, प्राप्त कर लिया। यह स्पष्ट है कि इस स्थल का लेखक स्वसत्तावान प्राणी की उस आत्मनिर्भरता और सर्वशक्तिमत्ता की स्पष्ट धारणा को प्राप्त नहीं कर सका है जिसे बाद के भारतीय लेखकों ने अर्जित कर लिया था।[५५५]

प्रस्तुत सूक्त में (मन्त्र ६, और १५) यह स्पष्ट कहा गया है कि देवों ने स्वयं पुरुष की यज्ञ में बलि दी। और भागवत पुराण २.६,२१ २६[५५६] में, जो इसी सूक्त का एक गद्य रूप है, ब्रह्मा से यह कहलवाया गया है कि उसने यज्ञ की सामग्री को पुरुष के अवयवों से प्राप्त किया और उस स्वयं अपने अधिपति की ही बलि दी।

इस अद्वितीय पुरुषसूक्त के अन्तिम अंशों में व्यक्त विचारों के ठीक-ठीक आशय को पकड़ पाना बहुत सरल नहीं है। इसकी रचना प्रत्यक्षतः उस समय हुई थी जब यज्ञ के कृत्य बहुत विकसित हो चुके थे, जब यज्ञ को सविधि सम्पन्न करने से बहुत अधिक पुण्य प्राप्त होना माना जाता था, और जब कि यज्ञसंस्कार की विभिन्न सामग्रियों और उपकरणों को, तथा बलि-प्राणी के विभिन्न अवयवों को एक अत्यन्त रहस्यवादी आशय से युक्त कर

---

[५५३] इस स्थल का अनुवाद 'यज्' को प्रदत्त शुद्ध आशय पर निर्भर करता है।

[५५४] भाग ४ देखिये। महाभारत १२.२४१ भी देखिये। शत० ब्रा० ११.१,८,२ में यह कहा गया है कि "प्रजापति ने अपने को देवो को समर्पित कर दिया।" इत्यादि।

[५५५] 'स्वयम्भू' शब्द सदैव स्वसत्तावान का ही द्योतक नहीं है। अथ० १९.५३,१० में कश्यप को स्वयम्भू कहा गया है।

[५५६] देखिये प्रस्तुत कृति का चौथा भाग।

दिया गया था। संस्कारों की पवित्रता और प्रभावकता में विश्वास रखनेवाले और उनके सभी सूक्ष्म विवरणों से परिचित महान् कवि ने, जो सूक्त का द्रष्टा भी था, स्वयं परम् पुरुष को बलिप्राणी मानने की बात की अभिव्यक्ति को अश्लील नहीं माना। अतः इस पुरुष की देवों द्वारा बलि ने अपनी अनुभवातीत शक्ति द्वारा नामरूपात्मक जगत को उत्पन्न किया।"[५५७]

वाजसनेयि संहिता के निम्नलिखित मन्त्र भी पुरुष का सन्दर्भ देते हैं: ३१.१८ (= श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.८): वेदाहम् एतम् पुरुषम् महान्तम् आदित्य-वर्णं तमसः परस्तात्। तम एव विदित्वाऽति मृत्युम् एति नान्यः पन्थाः विद्यते अयनाय। "मैं इस आदित्यवर्ण और अन्धकार से श्रेष्ठ महान् पुरुष को जानता हूँ। इसको जानने से ही मनुष्य मृत्यु से बचता है। जाने के लिये अन्य कोई पन्थ नहीं है।"[५५८] (पुरुषसूक्त इसी अध्याय के १-१६ मन्त्रों में आता है जिसमें प्रस्तुत मन्त्र मिलता है)।

३२.२: सर्वे निमेषाः जज्ञिरे विद्युतः पुरुषाद् अधि। नैनम् ऊर्ध्वं न तिर्यञ्चम् न मध्ये परिजग्रभत्। "सभी निमेष उस देदीप्यमान पुरुष से उत्पन्न हुये हैं। किसी ने उसका ऊपर या नीचे या मध्य में आलिङ्गन नहीं किया है।"[५५९]

अथर्ववेद में पुरुष के विषय पर एक लम्बा सूक्त (१०.२) मिलता है जो यद्यपि पुरुष की प्रकृति पर तो विशेष प्रकाश नहीं डालता, तथापि अनेक कौतूहलवर्धक विचारों से युक्त अवश्य है। इस सूक्त में देवता को पुरुष—यह उस सक्रिय शक्ति का एक प्रारूप और मूर्तीकरण है जिसके मनुष्य पृथिवी पर एक क्षीण प्रतिनिधि मात्र हैं— कहा गया है कवि ने अपने उपास्य के एक हीन रूप की जो मानवों के समान अङ्गों और अवयवों वाला है, कल्पना की है। तदनन्तर वह उस माध्यम की कल्पना करता है जिसके द्वारा पुरुष के शरीर के विभिन्न भागों की रचना हुई हो सकती है। साथ ही वह उस स्रोत की भी कल्पना करता है जिससे पुरुष ने उन विभिन्न गुणों को अर्जित किया जिससे उसने विश्व का निर्माण करके उसके विभिन्न भागों के कर्मों का विधान किया। पुरुष के अवयवों से सम्बद्ध सूक्ष्म प्रश्न, जिनसे यह सूक्त आरम्भ होता है, कवि के मन में मनुष्य की शरीर-रचना के निरीक्षण द्वारा ही आये होंगे। सूक्त में आद्योपान्त पुरुष को एक आत्मनिर्भर अथवा स्व-अस्तित्ववान

---

५५७ हॉ० हॉग (ऐत० ब्रा० पृ० ७३) देखिये।

५५८ तुलि० अथ० ७.५३,७। तुकी० ऋग्वेद १ ५०,१० भी।

५५९ निरुक्त २.३ का श्लोक श्वेताश्वतर उपनिषद् ३.९ में भी आता है।

नहीं बल्कि अपने गुणों और शक्तियों के लिये अन्य देवों पर निर्भर बताया गया है। विस्तार कुछ स्थानों पर अत्यन्त जटिल तथा कहीं-कहीं अत्यन्त अस्पष्ट हैं; अतः मैं उन्हें पूर्णरूपेण यहाँ प्रस्तुत नहीं कर सकता। फिर भी, मैं अधिक महत्वपूर्ण तथा कम जटिल भागों को यहाँ उद्धृत करूँगा। सूक्त इस प्रकार आरम्भ होता है :—

१. केन पार्ष्णी आभृते पुरुषस्य केन मांसं सम्भृतं केन गुल्फौ। केनाङ्गुली पेशनीः केन खानि। ···२. कस्मान् नु गुल्फाव् अधराव् अकृण्वन्न् अष्ठीवन्ताव् उत्तरौ पुरुषस्य। ···४. कति देवाः कतमे ते आसन् ये उरो ग्रीवाश् चिक्युः पुरुषस्य। कति स्तनौ व्यदधु कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीर् अचिन्वन्। ६. कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाव् इमौ नासिके चक्षणी मुखम्। ···६. प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं सम्बाध तन्द्रयः। आनन्दान् उग्रो नन्दांश् च कस्माद् वहति पुरुषः। आर्तिर् अवर्तिर् निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः। राधिः समृद्धिः। ···१२. को अस्मिन रूपम् अदधात् को मह्मानं च नाम च। गातुं को अस्मिन् को केतुं कश् चरित्राणि पूरुषे। १३. को अस्मिन् प्राणम् अवयत् को अपानं व्यानम् उ। समानम् अस्मिन् को देवो अधि शिश्राय पूरुषे। १४. को अस्मिन् यज्ञम अदधाद् एको देवो अधि पूरुषे। को अस्मिन् सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम्। १५. को अस्मै वासः पर्यधात् को अस्यायुर् अकल्पयत्। बल को अस्मै प्रायच्छत् को अस्याकल्पयज् जवम्। १६. केनापो अन्वतनुत केनाहर अकरोद् रुचे। उषसं केन अन्वैन्ध केन सायम्भवं दधे। १७. को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुर् आतायताम् इति। मेधां को अस्मिन्न् अध्यौहत्··। १८. केन इमाम् भूमिम् और्णोत् केन पर्यभवद् दिवम्। केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः। २४. केनेयम् भूमिर् विहिता केन द्यौर् उत्तरा हिता। केनेदम् ऊर्ध्वं तिर्यक् च अन्तरिक्षं व्यचो हितम्। २५. ब्रह्मणा भूमिर् विहिता ब्रह्म द्यौर् उत्तरा हिता। ब्रह्मेदम् ऊर्ध्वं तिर्यक् च अन्तरिक्षं व्यचो हितम्। ···२८. ऊर्ध्वो नु सृष्टास् तिर्यङ् नु सृष्टाः सर्वाः दिशः पुरुषः आ बभूव। पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुषः उच्यते। २९. यो वै ताम् ब्रह्मणो वेद अमृतेनावृताम् पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश् च चक्षुः प्राणम् प्रजां ददुः। ३०. न वै तं चक्षुर् जहाति न प्राणो जरसः पुरा। पुरं यो ब्राह्मणो वेद यस्याः पुरुषे उच्यते। ३१. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानाम् पूर् अयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गः ज्योतिषावृतः। ३२. तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षम्

आत्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। ३३. प्रभ्राजमानां हरिणीम् यशसा सम्परीवृताम्। पुरं हिरण्ययीम् ब्रह्म आविवेशापराजिताम्।

"१. पुरुष की एड़ियों को किसने उत्पन्न किया? उसके मांस को किसने एकसाथ सुगठित किया? किसने उसके टखनों, अँगुलियों और उसकी मांसपेशियों का पोषण किया? शंखों को मध्य में किसने प्रतिष्ठित किया?... २. नीचे के टखनों को देवताओं ने किससे बनाया? ऊरू तथा पाँव की मध्यस्थ ओँवों को किससे बनाया? इत्यादि।...४. जो पुरुष के कण्ठ और हृदय को जानते हैं वे देवता कितने हैं? तथा कितने प्रकार के हैं? स्तनों को, कफोडों को, स्कन्धों को, कितने-कितने देवताओं ने बनाया और कितने देवताओं ने पृष्ठियों की कल्पना की।...६. पुरुष के मस्तक में दो कान, दो नथुने, दो नेत्र, एक मुख—इन सात छिद्रों का किस देवता ने निर्माण किया?... ९. इस पुरुष के स्वप्न को, प्रिय और अप्रिय वाणी को, संबाधन इन्द्रियों को, और आनन्दों को कौन सा देवता धारण करनेवाला है। इस पुरुष में पाप, आजीविका विरोधी तत्व, सन्ताप आदि कहाँ से प्राप्त होते हैं? ऋद्धि, सिद्धि, समृद्धि, बुद्धि, और उदिति को यह पुरुष कहाँ से प्राप्त करता है।...१२. इस पुरुष में रूप, महिमा, ज्ञान, चरित्र, नाम, और गति की किस देवता ने स्थापना की? और किसने इसमें प्राण, अपान, व्यान, समान वायु को स्थापित किया। १४. यज्ञरूप कर्म को किस प्रधान देवता ने इसमें स्थापित किया? मरण, अमरण, सत्य और मिथ्या को इस पुरुष में किसने प्रतिष्ठित किया? १५. जिस चर्म से देह ढका है उसे इसमें किसने लगाया? इसमें, बल, वेग और आयु की कल्पना किसने की? १६ किस देवता ने इसमें जल को प्रवृत्त किया? किसके द्वारा इसके लिये प्रकाशयुक्त दिन बनाया गया? किसके द्वारा उषा उज्ज्वल की गई और किसके द्वारा सायंकाल की रचना की गई? १७. प्रजाओं के विस्तारार्थ वीर्य की स्थापना किसने की? किसने इसमें बुद्धि प्रतिष्ठित की और वाणी को किसने स्थापित किया? १८. किस प्रभाव से इसने भूमि को आवृत किया? किस प्रभाव से यह स्वर्ग पर चढ़ता है? किस प्रभाव से पर्वतादि पर चढ़ता तथा कर्मों को करता है? २४. इस भूमि का प्रतिष्ठाता कौन है? उसने द्यौ, ऊपर के भाग, और तिर्यक् भाग की स्थापना किसने की? इस अनेक प्राणियों के गमन योग्य अन्तरिक्ष की रचना किसने की? २५. ब्रह्म ने ही पृथिवी, द्यौ, ऊपर के भाग, तिर्यक भाग, और गमन योग्य अन्तरिक्ष की रचना की है। २८. पुरुष जिस ब्रह्म का कहा जाता है उसकी पुरी

[४०] तुलो० तैत्तिरीय ब्राह्मण २.२,७,१। देखिये यही ब्राह्मण ३.१०,५,१ और ३.१२,७,५ को।

को जानता हुआ वह ऊर्ध्व, तिर्यक आदि समस्त दिशाओं को प्रकट हो जाता है और अपने प्रभाव को भी उत्पन्न करता है (यही कुछ विभेद के साथ तैत्ति० आर० १ २७.३ में भी उद्धृत है)। २९. जो पुरुष ब्रह्म की उस अमरणतत्व से सम्पन्न पुरी को जानता है उसे ब्रह्म और मन्त्रयुक्त कर्म नेत्र, प्राण, और सतति प्रदान करते हैं। ३०. ब्रह्म की जिस पुरी में शयन करने के कारण पुरुष जिसका कहा जाता है, उसे जो जानता है उस पुरुष का साथ प्राण और नेत्र वृद्धावस्था के पूर्व नहीं छोड़ते। ३१. आठ चक्र (तुकी० अवे० ११.३,२२) तथा नौ द्वार वाली देवताओं का नगरी है। उसमें स्वर्ग को देनेवाला हिरण्यमय ज्योति से पूरी तरह ढका हुआ है (तुकी० पुरम् देवनाम् अमृतम् हिरण्यम्; अवे० ५.२८,११, और महाभारत १४ ९८७ और वाद)। ३२. उस हिरण्यमय कोश में पूजन के योग्य आत्मा का जो स्थान है उसे ब्रह्म के जाननेवाले भली प्रकार से जानते हैं।[७४१] ३३. पाप का नाश करनेवाले यशस्वी होने के कारण दमकते हुये, कभी भी पराजित न हुये हिरण्यमय पुर में ब्रह्म प्रविष्ट होता है।"

शतपथ ब्राह्मण (१३ ६,१,१) में 'नारायण' शब्द 'पुरुष' के साथ संयुक्त है, और यह कहा गया है कि इसने उन सभी जीवों से श्रेष्ठ बनने की इच्छा की और स्वयं यह सम्पूर्ण विश्व बन गया। इसने पुरुषमेध यज्ञ करके अपने अभीष्ट को प्राप्त किया। पुरुष नारायण का, पुनः, इसी ब्राह्मण (१२ ३,४,१) में प्रजापति से उपदेश लेते हुये वर्णन किया गया है: पुरुषं ह नारायणम् प्रजापतिर् उवाच "यजस्व यजस्व" इति। स ह उवाच "यजस्व-यजस्व" इति वाव त्वम् माम् आत्थ। त्रिर् अयक्षि। वसव प्रातः-सवनेन अगुः रुद्राः माध्यन्दिनेन सवनेन आदित्यास् तृतीय-सवनेन अथ मम यज्ञ-वास्त्व् एव यज्ञ वास्ताव् एव अहम् आस" इति। स ह उवाच" यजस्व एव। अह वै ते तद् वक्ष्यामि यथा ते उक्थानि मणिर् इव सूत्रे ओतानि भविष्यन्ति सूत्रम् इव वा मणाव् इति। "प्रजापति ने पुरुष नारायण से कहा: 'यज्ञ करो, यज्ञ करो।' उसने उत्तर दिया: 'तुम मुझसे कहते हो कि 'यज्ञ करो, यज्ञ करो'। मैंने तीन बार यज्ञ किया है। प्रातःसवन से वसुगण आये, माध्यन्दिन सवन से रुद्रगण आये, और तृतीय-प सवन से आदित्यगण मेरे पास यज्ञस्थल पर आये।' प्रजापति ने कहा: 'यज्ञ करो; मैं तुम्हें बताऊँगा कि सूक्तों को कैसे धागे में मणि की भाँति गूँथा जाय।"

---

[७४१] अवे० १० ८,४३ की एक पक्ति इस मन्त्र की एक पंक्ति के समान है। देखिये छान्दोग्य उप० ८ १,१ भी।

(७) स्कम्भ और ब्रह्म

अथर्ववेद के निम्नलिखित सूक्त (१० ७) में परमेश्वर की 'स्कम्भ'[५४२] नाम के अन्तर्गत स्तुति की गई प्रतीत होती है। यद्यपि यह सूक्त कुछ कठिन है, तथापि मैं इसका प्रायः पूरा-पूरा अनुवाद करूँगा क्योंकि सत्य के इन प्राचीन अनुमानों में, निःसन्देह, इन्हीं विषयों पर बाद की दार्शनिक कल्पना के बीज निहित हैं। सूक्त के प्रथम भाग (मन्त्र ०-६, १०-१२) में स्कम्भ को (पुरुष की ही भांति, जिसके साथ यह समीकृत प्रतीत होता है, मंत्र १५) विशाल तथा व्यापक प्राणी माना गया है जिसका विश्व के साथ ही सहविस्तार है। इसके अनेक अवयवों में न केवल मूर्त जगत् के ही विभिन्न भाग वरन् अनेक प्रकार की अमूर्त धारणायें, जैसे तप, श्रद्धा, सत्य, कालविभाजन, आदि भी निहित है। यह प्रजापति से भिन्न और श्रेष्ठ है (मंत्र ७,८,१७)। तैंतीस देवों की इसी में कल्पना की गई है (मंत्र १३,२२,१७)। सत् और असत् लोक, कोश और जल भी इसी में निहित हैं (मंत्र १०.२५)। देवता, जो उसी प्रकार इसके आश्रित हैं जैसे शाखायें वृक्ष की, इसकी सेवा करते हैं (मंत्र ३८,३९)। इसे इन्द्र के साथ समीकृत किया गया है (मंत्र २९, ३०)। सम्भवतः यह परम् ब्रह्म के साथ भी समीकृत है जिसका मंत्र ३२-३४,३६ में तथा १० ८,१ में उल्लेख है। फिर भी, मंत्र ३६ में, इस ब्रह्म को तपस्या के श्रम से उत्पन्न कहा गया है, जब कि १०.८,१ में इसे परमात्मा के गुणों से युक्त किया गया है। फिर भी, इस प्राचीन युग की रचनाओं में हमें बहुत शुद्ध और यथातथ्य अथवा सर्वथा संगत विचारों की ही आशा नहीं करनी चाहिये :—

अवे० १० ७,१ : कस्मिन्न् अङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन् अङ्ग ऋतम् अस्य अध्य् आहितम्। क्व व्रत क्व श्रद्धाऽस्य तिष्ठति कस्मिन्न् अङ्गे सत्यम् अस्य प्रतिष्ठितम्। २. कस्माद् अङ्गाद् दीप्यते अग्निर् अस्य कस्माद् अङ्गात् पवते मातरिश्वा। अङ्गाद् वि मिमतेऽधि चन्द्रमाः मह: स्कम्भस्य मिमाना अङ्गम्। ३. कस्मिन्न अङ्गे तिष्ठति भूमिर् अस्य कस्मिन्न् अङ्गे तिष्ठति अन्तरिक्षम्। कस्मिन्न् अङ्गे तिष्ठति आहिता द्यौः कस्मिन् अङ्गे तिष्ठति उत्तरं दिवः। ४. क्व प्रेप्सन् दीप्यते ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा। यत्र प्रेप्सन्तीर् अभियन्ति आवृतः स्कम्भं तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः। ५. क्व अर्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः। यत्र यन्ति ऋतवो यत्र आर्तवाः स्कम्भम् तम् ब्रूहि··· । ६. क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।

[५४२] यह शब्द ऋग्वेद ८.४१,१० में भी आता है।

यत्र प्रेप्सन्तीर् अभियन्ति आपः स्कम्भम्। ७. यस्मिन् स्तब्ध्वा प्रजापतिर् लोकान् सर्वान् अधारयत्। स्कम्भम्। ८. यत् परमम् अवमं यच् च मध्यमम् प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन् न प्राविशत् कियत् तद् बभूव। ९. कियता स्कम्भः प्रविवेश भूतं कियद् भविष्यद् अनु आशयेऽस्य। एकं यद् अङ्गम् अकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भ प्रविवेश तत्र। १०. यत्र लोकांश् च कोशांश् च अपो ब्रह्म जनाः विदुः। असच् च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव सः। ११. यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्य् उत्तरम्। ऋतं च यत्र श्रद्धा च आपो ब्रह्म समाहिता स्कम्भम्... । १२. यस्मिन् भूमिर् अन्तरिक्षं द्यौर यस्मिन्न् अध्याहिता। यत्राग्निश् चन्द्रमाः सूर्यो वातस् तिष्ठन्ति आर्पिता स्कम्भम्। १३. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अंगे सर्वे समाहिताः। स्कम्भम्... । १४. यत्र ऋषयः प्रथमजाः ऋचः साम यजुर् मही। एकर्षिर् यस्मिन्न् आर्पितः स्कम्भम्... । १५. यत्रामृतं च मृत्युश् च पुरुषेऽधि- समाहिते। समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिता स्कम्भम्। १६. यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस् तिष्ठन्ति प्रथमाः। यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भम्। १७. ये पुरुषे ब्रह्म विदुस् ते विदुः परमेष्ठिनम्। यो वेद परमेष्ठिनां यश् च वेद प्रजापतिम्। ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस् ते स्कम्भम अनु संविदुः। १८. यस्य शिरो वैश्वानरश् चक्षुर् अङ्गिरसोऽभवन्। अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भम्। १९. यस्य ब्रह्म मुखम् आहुर् जिह्वाम् मधुकशाम् उत। विराजम् ऊधो यस्याहुः स्कम्भम्। २०. यस्माद् ऋचो अपातक्षन् यजुर् यस्माद् अपाक्षन्। सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्। स्कम्भम्। २१. असच्छाखाम् प्रतिष्ठन्तीम् परमम् इव जनाः विदुः। उतो सन् मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखाम् उपासते। २२. यत्रादित्याश् च रुद्राश् च वसवश् च समाहिता। भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः। स्कम्भम्। २३. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः निधिं रक्षन्ति सर्वदा। निधि तम् अद्य को वेद यं देवाः अभिरक्षथ। २४. यत्र देवाः ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठम् उपासते। यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्। २५. बृहन्तो नाम ते देवाः येऽसतः परिजज्ञिरे। एकं तद् अङ्गं स्कम्भस्य असद् आहुः परो जनाः। २६. यत्र स्कम्भः प्रजनयम पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तद् अंगं स्कम्भस्य पुराणम् अनु संविदुः। २७. यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवाः अङ्गे गात्रा वि भेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवान् एके ब्रह्मविदो विदुः। २८. हिरण्यगर्भम् परमम् अनत्युद्यं जनाः विदुः। स्कम्भस् तद् अग्रे प्रासिञ्चद्

हिरण्यं लोके अन्तरा। २९. स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्य् ऋतम् आहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षम् इन्द्रे सर्वं समाहितम्। ३० इन्द्रे लोकाः इन्द्रे तपः इन्द्रेऽध्य् ऋतम् आहितम्। इन्द्रम् (इन्द्र ?) त्वा वेद प्रत्यक्ष स्कम्भे सर्वम् प्रतिष्ठितम्। ३१. नाम्ना नाम जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः। यद् अजः प्रथमं सम्बभूव स हतत् स्वराज्यम् इयाय यस्मान् नान्यत् परम् अस्ति भूतम्। ३२. यस्य भूमिः प्रमा अन्तरिक्षम् उतोदरम्। दिव यश् चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। ३३. यस्य सूर्यश् चक्षुश् चन्द्रमाश् च पुनर् नवः। अग्नि यश् चक्रे आस्य तस्मै। ३४. यस्य वातः प्राणापानम् चक्षुर् अङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश् चक्रे प्रज्ञानीस् तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। ३५. स्कम्भो दधार द्यावा-पृथिवी उभे इमे स्कम्भो दधार उर्व् अन्तरिक्षम्। स्कम्भो दधारा प्रदिशः षड् उर्वीः स्कम्भः इदं विश्वम् भुवनम् आ विवेश। ३६. यः श्रमात् तपसो जातो लोकान् सर्वान् समानशे। सोमं यश् चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। ३७. कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः। किम आपः सत्यम् प्रेप्सन्तीर् नेलयन्ति कदाचन। ३८. महद् यक्षम् भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् श्रयन्ते ये उ के च देवाः वृक्षस्य स्कन्धः परितः इव शाखाः। ३९ यस्मै हस्ताभ्याम् पादाभ्याम् वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा। यस्मै देवाः सदा बलिम् प्रयच्छन्ति विमितेऽमितम्। स्कम्भं तम् ब्रूहि कतमः स्विद् एव स। ४०. अप तस्य हत तमो व्यावृत्तः स पाप्मना। सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ। ४१. यो वेतस हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः।

"१. इसके किस अङ्ग में तप, किस अङ्ग में ऋत, किस अङ्ग में श्रद्धा, किस अङ्ग में सत्य और किस अंग में व्रत रहता है ? २. इसके किस अंग से वायु चलता है, किस अंग से अग्नि प्रज्वलित होती है, और चन्द्रमा इसके किस अंग द्वारा मान करता है ? ३. इसके किस अंग में भूमि, किस अंग में अन्तरिक्ष और किस अंग में द्युलोक का निवास है ? द्युलोक से भी श्रेष्ठ स्थान इसके किस अंग में स्थित है। ४. ऊपर उठता हुआ अग्नि कहाँ जाने की इच्छा करता है ? वायु कहाँ जाने की इच्छा करता हुआ चलता है ? आवागमन के चक्कर में पड़े प्राणी कहाँ जाने की इच्छा करते हुये किस स्कम्भ के सामने चलते हैं ? इसे बताओ। ५. संवत्सर से सहगति रखनेवाले पक्ष और मास कहाँ जाते हैं; ऋतुयें और मास जहाँ जाते हैं उस स्कम्भ को बताओ। ६. रात्रि और दिन अनेक रूपों को धारण करनेवाले हैं; ये मिलने और वियुक्त होनेवाले हैं; ये

दौड़ते हुये कहाँ जाते हैं ? जहाँ प्राप्ति की इच्छावाले जल जा रहे हैं उस स्कम्भ को बताओ। ७. प्रजापति जिसमें स्तम्भित होकर सब लोकों को धारण किये हुये हैं उस स्कम्भ को बताओ। ८. जो परम, अवम और मध्यम हैं, जिन सब रूपों को प्रजापति ने बनाया है, उनमें कितने अंश से स्कम्भ प्रविष्ट हुआ है ? जिससे प्रविष्ट नहीं हुआ वह अंश कितना है ? ९. कितने अंश से स्कम्भ भूत में प्रविष्ट है ? भविष्य में कितने अंश से सो रहा है ? जो अपने अंग को सहस्र प्रकार का बना लेता है, वह उसमें कितने अंश से प्रविष्ट होता है ? १०. लोक, कोश, और जल जिसमें निहित माने जाते हैं; जिसमें सत् और असत् भी है, उस स्कम्भ को बताओ। ११. जिस स्थान में तप और व्रत द्वारा तेजस्वी हुआ पुरुष बैठता है, जहाँ श्रद्धा, ऋत, जल और ब्रह्म भी प्रतिष्ठित हैं, उस स्कम्भ को कहो। १२. जिसमें अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु पृथिवी, अन्तरिक्ष, और दिव्य लोक हैं, उस स्कम्भ को हमसे कहो। १३. जिसके शरीर में तैंतीस देवताओं का निवास है उस स्कम्भ को हमें बताओ।[५९३] १४. जिसमें आरम्भ काल में उत्पन्न हुये ऋषि, पृथिवी, ऋक, साम और यजुर्वेद हैं, उस स्कम्भ को हमसे कहो। १५. जिसमें मरण, अमरण भली प्रकार निहित हैं, समुद्र जिसकी नाड़ी है, वह स्कम्भ कौन सा है ? १६ चारों दिशा रूप जिसकी मुख्य नाड़ी हैं, जिसमें यज्ञ जाता है, उस स्कम्भ का वर्णन करो। १७. जो पुरुष में ब्रह्म को जाननेवाले हैं वे परमेष्ठी[५९४], प्रजापति और अग्रज ब्राह्मण[५९५] को जानते हैं; वही स्कम्भ के ज्ञाता भी हैं। १८. जिसका शिर वैश्वानर, जिसके नेत्र अङ्गिरावंशी ऋषि, जिसके अंग यातु हैं, वह स्कम्भ कौन सा है ? १९. जिसकी जिह्वा को मधुकशा[५९६] और मुख को ब्रह्म कहते हैं, जिसका ऐन विराट् कहलाता है, उस स्कम्भ को बताओ। २०. जिससे यजुर्वेद के मन्त्र और ऋचायें प्रकट हुईं, अथर्व जिसका मुख है, और साम जिसके लोम हैं उस स्कम्भ के विषय में कहो।[५९७] २१.

[५९३] देखिये डा० हॉग का पारसियो की भाषा के विषय पर लेख, पृ० २३३।

[५९४] शतपथ ब्रा० ११ १ ६,१४.१६ के अनुसार प्रजापति का पुत्र। प्रजापति को यज्ञ देता है : तैत्तिरीय सं० १.६,९,२।

[५९५] देखिये अवे० १०.८,२०.३६.३७।

[५९६] इस शब्द की व्याख्या के लिये मैं प्रो० आफरेक्त का ऋणी हूं। ऋग्वेद १.२२,३ और १.१५७,४ में यह कहा गया है कि अश्विनो के पास 'मधुमत् कशा' है। देखिये ऋग्वेद १.३७,३; १.११६,१२; १.११७,२२ अश्विनो की कशा के लिये। तुकी० वासं० ७.११ पर महीधर।

[५९७] तुकी० अवे० ९.६,१।

यदि अप्रकट शाखा[५८८] प्रकट हो जाय तो वह श्रेष्ठ मानी जाती है। अन्य व्यक्ति जिसकी स्तुति करें वह व्यक्ति भी श्रेष्ठ माना जाता है। २१. जिसमें सूर्य, रुद्र, वसु, भूत, भव्य और सब लोक निहित हैं उस स्कम्भ को बताओ। २२. तैंतीस देवता जिसकी निधि की रक्षा करते हैं उस निधि का ज्ञाता कौन है? २३. ब्रह्म के जाननेवाले देवता जहाँ महान् ब्रह्म की स्तुति करते हैं, जो उन्हें जानता है, वही ब्रह्म को जान सकता है। २५. असत् से उत्पन्न हुये बृहत् नाम देवता स्कम्भ के ही अंग हैं; वे असत् कहलाते हैं। २६. स्कम्भ ने पुराण को व्यवर्तित किया, वह स्कम्भ का अंग पुराण कहा जाता है। २७ तैंतीस देवता जिसके शरीर में सुशोभित हैं, उन्हें ब्रह्म के जाननेवाले विज्ञ जानते हैं। २८. वह हिरण्यगर्भ[५८९] वर्णन करने में जो न आ सके, ऐसा है। उसे स्कम्भ ने ही इस लोक में प्रथम बार सींचा था। २९. स्कम्भ में लोक, तप और ऋत निहित हैं। हे स्कम्भ! इन्द्र ने तुझे प्रत्यक्ष देखा है: तू इन्द्र में ही निहित है। ३०. इन्द्र में ही लोक, तप और ऋत् हैं। हे इन्द्र! मैं तुम्हें जानता हूँ। सब स्कम्भ में निहित हैं। ३१. जो पहले अजन्मा था, जिससे परे कोई भूत नहीं है, उसे वह आत्मा प्राप्त हो जाता है। वह सूर्य और उषा से पूर्व नाम-रूपात्मक संसार को नाम से पुकारता है।[५९०] ३२. पृथिवी जिसकी, प्रभा, अन्तरिक्ष, उदर, और द्युलोक शिररूप है, उस ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ। ३३. चन्द्र और सूर्य जिसके नेत्र, और अग्नि जिसका मुख रूप है, उस ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ। ३४. जिसके प्राणापान वायु, अंगिरा नेत्र, और दिशायें प्रज्ञानी हैं, उस ब्रह्म को नमस्कार करता हूँ।[५९१] ३५. स्कम्भ ने आकाश, पृथिवी, अन्तरिक्ष, प्रदिशा और छः उर्वियों को धारण किया है, तथा वही स्कम्भ इस लोक में व्याप्त है। ३६. जो सर्व लोकों का भोग करनेवाला तथा तपस्या द्वारा प्रकट होता है तथा जिसने सोम को बनाया है, उस ब्रह्म को प्रणाम।[५९२] ३७. किस सत्य की इच्छा से जल अचेष्ट रहते हैं, वायु, प्रेरणा नहीं करता, और मन नहीं रमता? ३८. लोक में एक अत्यन्त पूजनीय व्यक्तित्व है; वह सलिलपृष्ठ पर विराजमान है; उसे तप द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। जैसे वृक्ष की शाखायें वृक्ष की आश्रिता हैं, वैसे ही सब देवता

---

५८८ इस मन्त्र का आशय अस्पष्ट है।

५८९ देखिये ऊपर।

५९० प्रो० आफरेक्त कहते हैं कि इसका अर्थ यह है कि इन्द्र का आवाहन करने से स्तोता वस्तुतः स्कम्भ की ही पूजा करता है।

५९१ तुल० बॉटलिङ्क और रॉथ, 'पर्जन्य' (व्या०)

५९२ लुडविग के अनुसार यही आशय है। देखिये 'फ़िवल' (व्या०)।

उसके आश्रित हैं। ३९. हाथ, पाँव, वाणी, नेत्रादि के द्वारा देवता जिसकी सेवा करते हैं, जो विमित देह में अमित रूप से विराजमान है, उस स्कम्भ को बताओ।[५७३] ४०. स्कम्भ के ज्ञाता का अज्ञान मिट जाता है; वह पापरहित होता है; प्रजापति में जो तीन ज्योतियाँ हैं वे उसमें प्रतिष्ठित हो जाती हैं। ४१. प्रजापति वही है जो जल में वेंत को जाननेवाला है।"

अवे० १०.७ पर मैंने प्रो० गोल्डस्टूकर से मंत्र २१ के आशय तथा स्कम्भ शब्द द्वारा व्यक्त विचार के सम्बन्ध में परामर्श किया था। उन्होंने मुझे इस विषय पर निम्नलिखित टिप्पणी से अनुगृहीत किया है :—

"मेरे विचार से, 'स्कम्भ' का आशय वही है जो आपने अपने मूलसंस्कृत उद्धरण के चौथे भाग में दिया है। 'स्कम्भ्' और 'स्तम्भ्' एक ही धातु के केवल ध्वनिशास्त्रीय प्रकार हैं—और 'स्कम्भ', इसलिये वही है जो 'स्तम्भ' है। यह एक आलम्ब है और अथर्ववेद के १०.७ और ८ सूक्तों में यह सम्पूर्ण विश्व का उसके भौतिक, धार्मिक, तथा अन्य पक्षों की दृष्टि से, 'आलम्बन' है। इस सूक्त का उद्देश्य यह पूछना है कि यह आलम्ब क्या है। विभिन्न प्रश्नों के जो उत्तर दिये गये हैं उनसे यह प्रतीत होता है कि इसकी यहाँ एक पूर्वंग देवता के रूप में अथवा एक पूर्वंग वेद के रूप में कल्पना की गई है : क्लीव में ब्रह्म शब्द दोनों का ही द्योतक है। इस पूर्वंग वेद से, जिसका दृश्य तो नहीं किन्तु सत् अस्तित्व है, न केवल देवताओं, लोकों, धार्मिक कर्मों इत्यादि की ही (मंत्र १,२,१९ और बाद) उत्पत्ति हुई वरन् विद्यमान तीन वेद (मंत्र १४), तथा अथर्व वेद का भी निर्माण हुआ (मंत्र २०)। इसलिये, स्कम्भ 'ज्येष्ठम् ब्रह्म' (मंत्र २४,३२,३३,३४,३६–८) भी है और इसी का एक समकक्ष 'ज्येष्ठम् ब्राह्मणम्' (मंत्र १७) भी है। अतः जो इस सत्य वेद को जानता है वह ब्रह्मा का भी ज्ञाता है। जो ब्रह्मा और प्रजापति को भी जानता है; जो पूर्वंग ब्राह्मण अंशों का ज्ञान रखता है, वह इस प्रकार के ज्ञान से स्कम्भ का अथवा इस पूर्वंग वेद का भी ज्ञान प्राप्त कर लेता है (मंत्र १७)। यह पूर्वंग वेद एक निधि है जिसकी केवल देवगण रक्षा करते हैं (मंत्र २३); अतः अथर्ववेद पुरोहित (ब्रह्मा), जो उस पूर्वंग वेद रक्षक देवताओं का ज्ञाता है, वही सच्चा अथर्ववेद पुरोहित है (मंत्र २४)। इससे, तब, यह भी निष्कर्ष निकलता है कि विद्यमान तीनों वेद केवल उसी पूर्वंग वेद के अंश हैं जिससे ये निकले हैं, अथवा जिसके ये उसी

---

[५७३] तुकी० १०.८,१५।

[५७४] ऋग्वेद १०.९५.४.५ (तुकी० निरुक्त ३.२१) और शतब्रा० ११.५,-१,१ में 'वैतस' शब्द का अर्थ 'वेंत' है। ऋग्वेद ४.५८,५ मे 'वेतसो हिरण्यः' आता है।

प्रकार आश्रित हैं जिस प्रकार शाखायें वृक्ष की आश्रिता होती हैं (तुकी० मंत्र २८)। साथ ही, जहाँ स्कम्भ एक यथार्थ है, ये शाखावेद यथार्थ नहीं हैं, यद्यपि जो स्कम्भ को नहीं जानते वे इन्हें ऐसा मान सकते हैं (मंत्र २१)। कुछ लोगों का विचार है कि विद्यमान शाखा (अर्थात् विद्यमान वेद—तुकी० मंत्र २०), जो यथार्थ नहीं हैं (असत् हैं), परम वेद हैं। दूसरी ओर, जो प्रथम से हीन हैं, वे लोग यह मानते हैं कि यह सत् है, इसी शाखा (अर्थात् इन बाद के वेदों) की पूजा करते हैं। यहाँ, मेरे विचार से 'इव' शब्द का तात्पर्य यह है कि मंत्र के पूर्वार्ध के 'जनाः' के मन में सन्देह है अतः वे पूर्वंग और विद्यमान वेदों को समीकृत नहीं करते; जब कि, वे लोग जिन्हें 'उतो' (उत + उ) से व्यक्त किया गया है, इस प्रकार के समीकरण को निश्चित मान लेने के कारण अधिक अनभिज्ञ हैं और इसीलिये इन्हीं वेदों की पूजा करते हैं।"

मैं अब अगले सूक्त के कुछ मन्त्रों को उद्धृत करूँगा :—

अथर्ववेद १० ८,१ : यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश् चाधितिष्ठति। स्वर् यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः। २. स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश् च भूमिश् च तिष्ठतः। स्कम्भः इदं सर्वम् आत्मन्वद् यत् प्राणाद् निमिषच् च यत्... । ११. यद् एजति पतति यच् च तिष्ठति प्राणाद् अप्राणद् निमिषच् च यद् भुवत्। तद् दधार पृथिवीम् विश्वरूपं तत् सम्भूय भवत्य् एकम् एव। १२. अनन्तं विततम् पुरुत्रा अनन्तम् अन्तवच् च आ समन्ते। ते नाकपालश् चरति विचिन्वम् विद्वान् भूतम् उत भव्यम् अस्य। १३. प्रजापतिश् चरति गर्भे अन्तर् अदृश्यमानो बहुधा वि जायते। अर्धेन विश्वम् भुवनं जजान यद् अस्य अर्धं कतमः स केतु... । १६. यतः सूर्यः उदेति अस्तं यत्र च गच्छति। तद् एव मन्येऽहं ज्येष्ठं तद् उ नात्येति किञ्चन...। २० यो वै ते विद्याद् अरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु। स विद्वान् ज्येष्ठम् मन्येते स विद्याद् ब्राह्मणम् महत्...। ३४. यत्र देवाश्च मनुष्याश्च अराः नाभाव् इव श्रिताः। अपां त्वा पुष्पम् पृच्छामि यत्र तन् मायया हितम्...। ३७. यो विद्यात सूत्रं विततं यस्मिन्न् ओताः प्रजाः इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणम् महत्। ३८. वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्न् ओताः प्रजाः इमाः। सूत्रं सूत्रस्याहं वेद अथो यद् ब्राह्मणं महत्...। ४३. पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर् गुणेभिर् आवृतम्। तस्मिन् यद् यक्षम् आत्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः। ४४. अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भूः रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः। तम् एव विद्वान् न बिभाय मृत्योर् आत्मानं धीरम् अजरं युवानम्।

"१. जो भूत, भविष्य और सब में व्यापक है, जो दिव्य लोक का भी अधिष्ठाता है, उस ब्रह्म को प्रणाम है। २. यह पृथिवी और आकाश स्कम्भ द्वारा ही स्थान पर स्थित हैं। श्वास लेनेवाले और पलक मारनेवाले यह आत्म-रूप स्कम्भ ही हैं।...११. जो सचेष्ट है, स्थित है, प्राण-क्रिया करता तथा नहीं भी करता, जो निमिषत् के समान है, उसी ने इस भूमि को धारण किया है। वह सब रूपों में होता हुआ एक रूप को ही प्राप्त होता है। १२ वह अनन्त है; अन्तयुक्त भी प्रतीत होता है। वह अनेक स्थानों में विस्तृत है। स्वर्ग सुख को पुष्ट करनेवाला प्राणी भी उसे खोजता है। भूत, भविष्य भी उसी के कर्म हैं। वह सब को जाननेवाला है। १३. गर्भ में अदृश्य रहता हुआ प्रजापति विचरण करता और अनेक रूपों में उत्पन्न होता है। उसके अर्द्ध भाग से जगत् उत्पन्न हुआ, और उसका अर्धभाग कौन सा है? १६. जिसके द्वारा सूर्य उदय और अस्त होता है, वही ब्रह्म है। उसका अतिक्रमण करने में कोई भी समर्थ नहीं है।...२०. जो विद्वान धनमंथन करनेवाली अरणियों का ज्ञाता है वही उस महान् ब्रह्म का भी ज्ञाता है।...३४. नाभि में अर्पित अरों के समान जिसमें देवगण अर्पित हैं उसी नारायण को मैं पूछता हूँ। वह अपनी माया द्वारा कहाँ स्थित है?...३७. जिसमें ये प्रजायें स्थित हैं, उस विस्तृत सूत्र और कारण के भी कारण को जो जानता है वही उस महद्ब्रह्म का ज्ञाता हो सकता है। ३८ ये प्रजायें जिसमें स्थित हैं उस विस्तृत सूत्र का मैं ज्ञाता हूँ। उसके कारण को भी जानता हूँ। वही महद्ब्रह्म है।... ४३. नौ द्वार युक्त पुण्डरीक त्रिगुणात्मक[७७५] है। उसमें स्थित पूजनीय आत्मा के स्थान को ब्रह्मज्ञानी जानते हैं। ४४. कामना से रहित, धैर्यवान, स्वयंभू ब्रह्म अपने ही रस से स्वयं तृप्त रहते हैं; वह किसी भी विषय में असमर्थ नहीं है; उस सतत युवा आत्मा के ज्ञाता को मृत्यु से भय नहीं लगता।"

दो गत सूक्तों के कुछ मन्त्र उच्चतम अथवा महद्ब्रह्म की चर्चा करते हैं यद्यपि इसके अर्थ को चाहे जिस भी प्रकार ग्रहण किया जाय।

मैं यह कह सकने में असमर्थ हूँ कि परमात्मा के अर्थ में ब्रह्म अथर्ववेद में अन्यत्र भी आता है, जब तक कि निम्नलिखित स्थल (११.८,३० और बाद) पर इसे न मान लिया जाय: ३०. याः आपो यास् च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह। शरीरम् ब्रह्म प्राविशत् शरीरेऽधि प्रजापतिः। ३१. सूर्यश् चक्षुर् वातः प्राणम् पुरुषस्य वि भेजिरे। अथास्येतरम् आत्मानं देवाः प्रायच्छन्न् अग्नये। ३२. तस्माद् वै विद्वान् पुरुषम् इदम् ब्रह्मेति मन्यते।

[७७५] देखिये नोट ५६१।

सर्वाः हि अस्मिन् देवताः गावो गोष्ठ इवासते।"पूर्वोक्त जल, इन्द्राभिमानी देवता, विराट् संज्ञक देवता, ब्रह्मतेज वाले देवता शरीर में प्रविष्ट हुये। फिर संसार के कारणभूत ब्रह्म भी अलक्षित रूप से प्रविष्ट हुये। उस शरीर में पुत्रादि का उत्पादक जीव स्थित रहता है। सूर्य ने नेत्रेन्द्रिय को स्वीकार किया, वायु ने प्राणेन्द्रिय को ग्रहण किया और इसके छः कोशवाले शरीर को सब देवता अग्नि को भागरूप प्रदान करते हैं। ३२. इसलिये ज्ञानी पुरुष शरीर को भीतर बाहर होकर ब्रह्म ही मानता है; क्योंकि गौओं के गोष्ठ में रहने के समान सब देवता इस शरीर में रहते हैं।"

वाजसनेयि संहिता २३.४७ में हमें ये शब्द मिलते हैं : किं स्वित् सूर्यसमं ज्योतिः किं समुद्र-समं सरः।...४८. ब्रह्म सूर्य-समं ज्योतिर् द्यौः समुद्र-समं सरः। "कौन सी ज्योति सूर्य के समान है? कौन सा सरोवर समुद्र के समान है?" अगला मन्त्र इसका उत्तर देता है : "ब्रह्म ही वह ज्योति है जो सूर्य के समान है। आकाश ही वह सरोवर है जो समुद्र के समान है।" इस स्थल पर भाष्यकार ब्रह्म की या तो तीनों वेदों के अथवा परमब्रह्म के द्योतक होने के रूप में व्याख्या करता है।

शतपथ ब्राह्मण १०.६,५,९ में आचार्यों के एक वंशक्रम में यह कहा गया है कि "तुर कावषेय प्रजापति से उत्पन्न हुये, और प्रजापति ब्रह्म से जो स्वयंभू है।" (तुरः कावषेयः प्रजापतेः प्रजापतिर् ब्रह्मणः। ब्रह्म स्वयम्भू)। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल (१३.७,१,१) पर ब्रह्म (क्लीब में) का, जो स्वयंभू है, तपस्या करनेवाले और स्वयं की बलि देनेवाले के रूप में वर्णन है। वहीं १०.४,१९ में एक किसी सूक्त से उद्धृत मन्त्र इन शब्दों से आरम्भ होता है : "मैं एक अक्षर महद्ब्रह्म की प्रशस्ति करता हूँ जो भूत है और भविष्यत् है।" (भूतम् भविष्यत् प्रस्तौमि महद् ब्रह्मैकम् अक्षरम्)।

पुनः, इसी कृति में (११ ३,३,१) यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी को छोड़कर यह ब्रह्म अन्य प्राणियों को मृत्यु देता है (ब्रह्म वै मृत्यवे प्रजाः प्रायच्छत्। तस्मै ब्रह्मचारिणम् एव न प्रायच्छत्)। और ११.२,३,१ और बाद, में एक अन्य श्लोक है जो ब्रह्म की न केवल चर्चा ही करता है वरन् सम्पूर्ण घटनात्मक विश्व को धारण करनेवाले के रूप में 'नाम' और 'रूप' का भी उल्लेख करता है। इस प्रकार का उल्लेख करनेवाला यह सम्भवतः प्राचीनतम विद्यमान स्थल है। जैसा कि सुज्ञात है, ये दोनों ही शब्द एक बाद के समय में वेदान्त दर्शन के पारिभाषिक शब्द बन गये। यह स्थल इस प्रकार है :—

शतपथ ब्रा० ११,२,३,१ : ब्रह्म वै इदम् अग्रे आसीत्। तद् देवान्

असृजत। तद् देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहयद् अस्मिन्न् एव लोके अग्निं वायुम् अन्तरिक्षे दिव्य् एव सूर्यम्। २. अथ ये अतः ऊर्ध्वाः लोकाश् तद् याः अतः ऊर्ध्वाः देवतास् तेषु ताः देवताः व्यारोहयत् सः। यथा ह एव इमे आविर्लोकाः इमाश् च देवताः एवम् उह एव ते आविर्लोकास् ताश्च देवताः येषु ताः देवताः व्यारोहयत्। ३. अथ ब्रह्म एव परार्धम् अगच्छत्। तत् परार्धं गत्वा ऐक्षत "कथं न्व् इमान् लोकान् प्रत्यवेयाम्" इति। तद् द्वाभ्याम् एव प्रत्यविद् रूपेण चैव नाम्ना च सः। यस्य कस्य च नाम अस्ति तन् नाम। यस्य अपि नाम नास्ति यद् वेद रूपेण "इदम् रूपम्" इति तद् रूपम्। एतावद् वै इदं यावद् रूपं चैव नाम च। ४. ते ह एते ब्रह्मणो महती अभ्वे। स यो ह एते ब्रह्मणो महती अभ्वे वेद महद् ह एव अभ्वम् भवति। ५. ते ह एते ब्रह्मणो महती यक्षे। स यो ह एते ब्रह्मणो महती यक्षे वेद महद् ह एव यक्षम् भवति। तयोर् अन्यतरज् ज्यायो रूपम् एव। यद् ह्य अपि नाम रूपम् एव तत्। स यो ह्य एतयोर् ज्यायो वेद ज्यायान् ह तस्माद् भवति यस्माज् ज्यायान् बुभूषति। मर्त्याः ह वै अग्रे देवाः आसुः। स यदा एव ते ब्रह्मणा आयुर् अथ अमृताः आसुः। स यम् मनसः आधारयति। मनो वै रूपम्। मनसा हि वेद "इदं रूपम्" इति। तेन रूपम् आप्नोति। अथ यं वाचः आधारयति। वाग् वै नाम। वाचा हि नाम गृणाति। तेन उ नाम आप्नोति। एतावद् वै इदं सर्वं यावद् रूपं चैव नाम च। तत् सर्वम् आप्नोति। सर्वं वै अक्षय्यम्। एतेन उ ह अस्य अक्षय्यं सुकृतम् भवत्य् अक्षय्यो लोकः।

"आरम्भ में यह ब्रह्म ही यह (जगत्) था। उसने देवों का सृजन किया। देवों की सृष्टि करके उसने उन्हें इन लोकों में स्थित किया, अर्थात् अग्नि को इस लोक में, वायु को अन्तरिक्ष में, और सूर्य को आकाश में। २ जो लोक और भी ऊपर थे उनमें उसने और उच्चतर देवों को स्थित किया। ये दृश्य जगत और ये देवता ऐसे ही हैं—यहाँ तक कि वे उच्चलोक भी ऐसे ही थे जिनमें उसने उन उच्चतर देवों को स्थित किया, और ऐसे ही स्वयं वे देवता भी थे। ३. तदनन्तर ब्रह्म उच्चतर क्षेत्र (परार्द्ध—जिसकी भाष्यकार ने सत्यलोक के रूप में व्याख्या की है और जो सर्वश्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण लोकों की सीमा है) में गया। उस परार्द्ध लोक में जाकर उसने विचार किया: "मैं इन सभी लोकों को कैसे व्याप्त कर सकता हूँ?" तब उसने उन्हें दो बातों से व्याप्त किया—नाम से और रूप से। जिसका भी कोई नाम है वह एक नाम है। और जिसका कोई नाम नहीं है—

जिसे वह उसके रूप से जानता है कि 'उसका रूप ऐसा है—वह रूप है। यह जगत उतना ही है जितना उसका रूप और नाम है। ४. ये ब्रह्म के दो महान् परिमाण हैं। जो ब्रह्म के इन दो महान परिमाणों को जानता है वह स्वयं महान् परिमाणवाला हो जाता है। ५. ये ही ब्रह्म के दो महान् प्रकटीकरण हैं। जो ब्रह्म के इन दो महान प्रकटीकरणों को जानता है वह स्वयं एक महान् प्रकटीकरण हो जाता है। इन दोनों में से एक, अर्थात् रूप, महानतर है; क्योंकि जिसका नाम है उसका एक रूप भी होता है। जो इन दोनों में से महानता को जानता है स्वयं भी उससे महानतर हो जाता है जिससे महान वह बनना चाहता है। ६. देवगण मूलतः मर्त्य थे, किन्तु जब ब्रह्म ने उन्हें व्याप्त किया तब वे अमर हो गये। वह अपने मनस् से जो भेजता है (मनस् ही रूप है; क्योंकि मन से ही वह जानता है कि 'यह रूप है') उसी से वह रूप प्राप्त करता है। और वह जो अपनी वाणी से भेजता है (वाणी नाम है; क्योंकि वह वाणी से ही नाम को ग्रहण करता है) उसी से वह अपना नाम प्राप्त करता है। यह जगत इतना ही रूप और नाम है। वह इतना ही प्राप्त करता है। अब यह सब अक्षय है। अतः वह अक्षय सुकृति और अक्षय लोक प्राप्त करता है।"

इसके साथ बृहदारण्यक उपनिषद् के उस स्थल की जो डा० रूअर के अनुवाद (बिब० इ० भाग २, खण्ड ३) के पृ० ७५ और बाद तथा १९५ और बाद पर आता है तथा मुण्डक उपनिषद् ३.२ ८, की तुलना कीजिये।

तैत्ति० ब्रा० २.८,८,९ के इस स्थल पर भी ब्रह्म का उल्लेख है:—
ब्रह्म देवान् अजनयत। ब्रह्म विश्वम् इदं जगत्। ब्रह्मणः क्षत्र निर्मितम्। ब्रह्म ब्राह्मण: आत्मना। अन्तर् अस्मिन्न् इमे लोकाः। १०. अन्तर विश्वम् इदं जगत्। ब्रह्मैव भूतानां ज्येष्ठम्। तेन कोऽर्हति स्पर्द्धितुम। ब्रह्म देवाम् त्रयस्त्रिंशत्। ब्रह्मन् इन्द्र-प्रजापती। ब्रह्मम् ह विश्वा भूतानि। नावीवान्तः समाहिता। "ब्रह्म ने देवों को उत्पन्न किया। ब्रह्म ने इस सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न किया। "ब्रह्म"[१८] से ही क्षत्रिय निर्मित होता है। ब्रह्म ही अपने सारभूत रूप में ब्राह्मण[१९] है। उसी में ये सब लोक स्थित हैं। १०. उसी में यह सब जगत स्थित है। ब्रह्म ही सब भूतों में महानतम है। कौन उसकी बराबरी कर सकता है? ब्रह्म में ही तैंतीस देवता, ब्रह्म में ही इन्द्र

---

[१८] यहां 'ब्रह्म' का एक भिन्न आशय है।

[१९] भाष्यकार कहता कि 'ब्रह्म के शरीर में परम् ब्रह्म प्रगट होता है।

तथा प्रजापति, ब्रह्म में ही समस्त जीव, उसी प्रकार स्थित हैं मानों एक नौका में स्थित हों।"

पुनः यह कहा गया है : ३.१२,३,१ : "हम उस प्रथमज देव की हवियों से पूजा करें जिससे ही यह सम्पूर्ण विद्यमान जगत आवृत्त है। यह ब्रह्म स्वयंभू है, परमतप है। यही पुत्र है, यही पिता है, यही माता है। तप ही सबसे पहले उत्पन्न हुआ।" ब्रह्म का ३.१२,९,७ में भी उल्लेख है (जहाँ, फिर भी, इसके अस्तित्व में आने का वर्णन है) : विश्वसृजः प्रथमाः सत्रम् आसत। सहस्र समम् प्रसूते नयन्तः। ततो ह यज्ञे भुवनस्य गोपाः। हिरण्मयः शकुनिर् ब्रह्म नाम। येन सूर्यस् तपति तेजसेद्धः···। न अवेदविद् मनुते-तम् बृहतम्। जगत के आरम्भिकतम स्रष्टा सहस्र वर्ष का एक यज्ञ सत्र सम्पन्न कर रहे थे···उससे विश्व का रक्षक उत्पन्न हुआ। वह सुवर्ण पक्षी था जिसे ब्रह्म कहते हैं। उसी से सूर्य प्रकाशित होता है, वह तेज से युक्त है।··· कोई भी वेद से अनभिज्ञ व्यक्ति उस बृहन्त को नहीं जानता।" तुकी० तैत्ति० ब्रा० २.८,९,६, जिसमें ब्रह्म को ही वह वन और वह वृक्ष कहा गया है जिनसे विश्व की रचना हुई। इस विश्व को धारण करते समय स्रष्टा ने इसी को अपना आधार बनाया था।

(८) प्रजापति

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ 'प्रजापति' शब्द का मूलतः सविता और सोम, तथा हिरण्यगर्भ (ऋग्वेद ५.१२१,१०) की एक उपाधि के रूप में व्यवहार होता था। फिर भी, बाद में यह एक पृथक् देवता का द्योतक बन गया जो ऋग्वेद के तीन स्थानों पर आता है : १०.८५,४३ (आ नः प्रजां जनयतु प्रजापतिः); १०.१६९,४; १०.१८४,१ (आ सिञ्चतु प्रजापतिः)। इन तीनों स्थानों पर यह सन्तान और पशु प्रदान करनेवाला है। इस देवता का वाजसनेयि संहिता (३१.१९) के एक मन्त्र में भी उल्लेख है। यह मन्त्र एक ऐसे मन्त्र के बाद आता है जिसमें पुरुष की प्रख्याति है। यह मन्त्र इस प्रकार है : प्रजापतिश् चरति गर्भे अन्तर् अजायमानो बहुधा विजायते। तस्य योनिम् परिपश्यन्ति धीरास् तस्मिन् ह तस्थुर् भुवनानि विश्वा। "प्रजापति गर्भ में विचरण करता है। यद्यपि यह जायमान नहीं होता तथापि यह अनेक रूपों में जन्म लेता है। बुद्धिमान इसके योनि को देखता है। इसी में सम्पूर्ण भुवन स्थित है।"[५७८] इसका उल्लेख करनेवाला वासं० का दूसरा मन्त्र इस प्रकार है (३२ ५) : यस्माज् जातं न पुरा किञ्चनैव यः आब-

[५७८] इस मंत्र का प्रथमार्ध अवे० १०.८,१३ मे थोड़े पाठभेद के साथ आता है।

भूव भुवनानि विश्वा। प्रजापतिः प्रजया संरराणस् त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी। "इस प्रजापति के पहले किसी ने जन्म नहीं लिया। यह सम्पूर्ण लोकों को व्याप्त करता हुआ अपनी प्रजाओं के साथ आनन्द मनाता है। यह सोलह कलात्मक प्रजापति तीनों ज्योतियों का सेवन करता है।"

अथर्ववेद में प्रजापति का अक्सर ही उल्लेख है। इनमें से अनेक स्थलों को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। जैसे ११.७,७,१७,४०-४१; १०.८,१३। कुछ अन्य जो मुझे मिले हैं, वे ये हैं: ११.३,५२ यह कहा गया है कि इसने ओदन से तैंतीस लोकों का निर्माण किया (एतस्माद् वै ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः)। ११.४,१२ इसे 'प्राण' से समीकृत किया गया है (प्राणम् आहुः प्रजापतिम्)। ११.५,७ में इसे परमेष्ठी के साथ ब्रह्मचारी द्वारा उत्पन्न कहा गया है। ११.७,३ में इसे उच्छिष्ट में स्थित बताया गया है। १९.५३,८-१० में इसे काल द्वारा उत्पन्न बताया गया है। इनमें से अधिकांश स्थलों को आगे विस्तार से उद्धृत किया जायगा। यह देखा जायगा कि इस वेद में इसे सामान्यरूप से परम अथवा आदि देवता नहीं माना गया है।

प्रजापति के विषय पर मैंने अन्यत्र (प्रस्तुत कृति के भाग ३ और ४) शतपथ ब्राह्मण के अनेक स्थलों को एक साथ एकत्र किया है जिनका यहाँ मैं केवल सारांश ही दूँगा। प्रजापति को कभी-कभी जगत के साथ समीकृत किया गया है और (ब्रह्म की ही भांति) आरम्भ में एकमात्र ऐसे स्रोत के रूप में विद्यमान बताया गया है जिससे ही सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई; शतपथ ब्रा० २.२,४,१; ७.५,२,६;[५७९] ११.५,८,१; (देखिये प्रस्तुत कृति के भाग १;३ और ४ भी)। प्रो० वेबर द्वारा उल्लिखित (इण्डिशे स्टूडियन, १ ४७७ और बाद) कुछ स्थलों पर भी स्थिति ऐसी ही है जहाँ, फिर भी, वाच को प्रजापति के साथ ऐसे सखा के रूप में सम्बद्ध किया गया है जिसके साथ और जिसके द्वारा यह अपना सृष्टिकार्य पूर्ण करता है।[५८०] इस प्रकार, काठक १२.५ (और २७,१) में यह कथन है: प्रजापतिर् वै इदम् आसीत्। तस्य वाग् द्वितीया आसीत्। ताम् मिथुन समभवत्। सा गर्भम् अधत्त सा अस्माद् अपाक्रामत्। सा इमाः प्रजाः असृजत। सा प्रजापतिम् एव पुनः प्राविशत्। "प्रजापति यह जगत था। वाच उसका द्वितीय था। उसने इसके साथ मैथुन किया; वह (वाच) गर्भित हुई; वह उसके पास से चली गई;

---

[५७९] शतब्रा० ७.५,२,६ देखिये।

[५८०] प्रो० वेबर यहाँ 'आप', 'असत्', और 'ब्रह्म' सभी को आदि पदार्थ का द्योतक मानते हैं।

उसने (वाच ने) इन प्राणियों को उत्पन्न किया; उसने पुनः प्रजापति में प्रवेश किया।" पुनः, पञ्चविंश ब्रा० २०.१४,२ में हमें यह बताया गया है : "प्रजापतिर् वै इदम् एकः आसीत्। तस्य वाग् एव स्वम् आसीद् वाग द्वितीया। स ऐक्षत "इमाम् एव वाचं विसृजै। इयं वै इदम् सर्वम् विभवन्ती एष्यति" इति। स वाचं व्यसृजत। सा इदं सर्वं विभवन्ती ऐत्। सा ऊर्ध्वा उदातनोद् यथा अपां धारा सन्तता एवम्। "एक प्रजापति ही यह सब जगत् था। वाच् भी उसका था, उसके द्वितीया के समान। उसने विचार किया, मैं इस वाच् को भेजूँ, यह सबको व्याप्त करेगी'। उसने उसे भेजा : उसने सबको व्याप्त किया : उसने एक जलधारा की भाँति ऊपर विस्तृत किया।" फिर भी, शतपथ ब्रा० के एक अन्य स्थल पर प्रजापति को सृष्टि का उद्गम नहीं बल्कि देवताओं द्वारा सृष्ट एक गौण माध्यम (६.१,१,५) अथवा आदि जल से उत्पन्न अण्ड से उत्पन्न कहा गया है (११.१,६,१ और बाद)। अन्यत्र यह कहा गया है कि इसने सृष्टि के लिये यज्ञ किया (२.४,४,१) और यह स्वयं आधा मर्त्य और आधा अमर्त्य था (१०.१,३,२; १०.१,४,१) जिसमें इसका शरीर मर्त्य था किन्तु इसका श्वास अमर था। इसने पापों से मुक्ति के लिये एक सहस्र वर्ष तक तपस्या की (१०.४,४,१)।

इस प्रकार, प्रजापति को दो चरित्रों से युक्त कहना चाहिये, जिन्हें यद्यपि, ब्राह्मण में स्पष्ट सुरक्षित नहीं रखा गया है। एक ओर तो यह देवता की धारणा को अमूर्त रूप से व्यक्त करने के भारतीय बुद्धि के प्रयास का परिणाम है जिसके द्वारा सम्पूर्ण वस्तुओं के प्रथम कारण की व्याख्या का प्रयास किया गया है, जब कि, दूसरी ओर इसे कभी-कभी केवल एक गौण अधीनस्थ देवता कहते हुये इसे तैंतीस देवताओं में से एक तक कहा गया है (जैसा कि शत० ब्रा० ११.६,३,५ और बॉटलिङ्क तथा रॉथ के कोश, में प्रजापति वस्था० है)। स्वयं ब्राह्मण में (१४.१,२,१८) हमें यह स्थल मिलता है जो इस देवता को इसके दो भिन्न रूपों में व्यक्त करता है, यद्यपि ये दोनों ही मेरे द्वारा ऊपर उल्लिखित दो चरित्रों के समान नहीं हैं : प्रजापतिर् वै एषो यज्ञो भवति। उभयं वै एतत् प्रजापतिर् निरुक्तश् च अनिरुक्तश्च परिमितश् च अपरिमितश् च। तद् यद् यजुषा करोति यद् एव अस्य निरुक्तम् परिमितं रूपं तद् अस्य तेन संस्करोति। अथ यत् तूष्णीं यद् एव अस्य अनिरुक्तम् अपरिमितं रूपम् तद् अस्य तेन संस्करोति। "प्रजापति यह यज्ञ है। प्रजापति यह दोनों ही, निरुक्त और अनिरुक्त, परिमित और अपरिमित, है। वह यजुर्वेद से जो कुछ करता है उससे वह (पुरो-

हित) प्रजापति के उस रूप की धारणा करता है जो निरुक्त और परिमित है। और जो कुछ वह शान्तिपूर्वक करता है उससे वह प्रजापति के उस रूप की धारणा करता है जो अनिरुक्त और अपरिमित है।" तुकी मैत्री उप० ६.३ : द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च अमूर्तं च। यन मूर्तं तद् असत्यम्। यद् अमूर्तं तत् सत्यम्। "ब्रह्म के दो रूप हैं, एक मूर्त और दूसरा अमूर्त। जो मूर्त है वह असत्य है, जो अमूर्त है वही सत्य है।"

(९) प्राण

अत्यन्त मिश्रित प्रकृत के अनेक प्रकार के अन्य देवताओं की भी अथर्ववेद में दिव्य शक्ति से युक्त होने के रूप में प्रख्याति मिलती है। यद्यपि इन्हें देवता की अमूर्त धारणा कदाचित ही माना जा सकता है तथापि इन देवों के प्रस्तुतीकरण को प्रचुर और बहुरूपीय वैदिक पुराकथाशास्त्र तथा कल्पना के एक बाद के स्तर का उदाहरण माना जा सकता है। इन्हीं देवताओं में से एक प्राण है जिसे एक सूक्त (११.४) समर्पित किया गया। इसको नीचे उद्धृत किया जा रहा है। इसके कुछ मन्त्रों में प्राण को पर्जन्य के साथ समीकृत किया गया प्रतीत होता है :—

११.४,१ : प्राणाय नमो यस्य सर्वम् इदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वम् प्रतिष्ठितम्। २. नमस् ते प्राण क्रन्दाय नमस् ते स्तनयित्नवे। नमस् ते प्राण विद्युते नमस् ते प्राण वर्षते। ३. यत् प्राण. स्तनयित्नुना अभिक्रन्दति ओषधीः (तुकी० ऋवे० ८७,२१)। प्रवीयन्ते गर्भान् दधते अथो बह्वीर् वि जायन्ते। ४. यत् प्राणः ऋताव् आगते अधिक्रन्दति ओषधीः। सर्वं तदा प्रमोदते यत् किञ्च भूम्याम् अधि। ५. यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीम् महीम्। पशवस् तत् प्र मोदन्ते "महो वै नो भविष्यति"। ६. अभिवृष्टाः ओषधयः प्राणेन समवादिरन्। "आयुर् वै नः प्रातीतरः सर्वाः नः सुरभीर् अकः"। ७. नमस् ते अस्तु आयते नमोऽस्तु परायते। नमस् ते प्राण तिष्ठते आसीनायोत ते नमः। ९. या ते प्राण प्रिया तनूर् याते प्राण प्रेयसी। अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे। १०. प्राणः प्रजाः अनु वस्ते पिता पुत्रम् इव प्रियम्। प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच् च प्राणति यच् च नः। ११. प्राणो मृत्युः प्राणम् तक्मा प्राणं देवाः उपासते। प्राणो ह सत्यवादिनम् उत्तमे लोके आ दधत्। १२. प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्वे उपासते। प्राणो ह सूर्यश् चन्द्रमाः प्राणम् आहुः प्रजापतिम्।···१५. प्राणम् आहुर् मातरिश्वानं वातो ह प्राणः उच्यते। प्राणे ह भूतम् भव्यं च प्राणे सर्वम् प्रतिष्ठितम्। १६. आथर्वणीर् आङ्गिरसीर् दैवीर् मनुष्यजाः उत। ओषधयः

प्रजायन्ते यदा त्वम् प्राण जिन्वसि।···१८. यस् ते प्राण इदं वेद यस्मिंश् चासि प्रतिष्ठितः। सर्वे तस्मै बलि हरान् अमुष्मिन् लोके उत्तमे। १९. यथा प्राण बलिहृतस् तुभ्यं सर्वाः प्रजाः इमाः। एव तस्मै बलिं हरान् यस् त्वा शृणवत् सुश्रवः। "सम्पूर्ण प्राणियों के शरीरों में व्याप्त सचेष्ट प्राण को प्रणाम है, जिसके वश में यह संसार रहता है। वह भूत से अविच्छिन्न है। वह प्राणियों का ईश्वर है; उसमें सब संसार प्रतिष्ठित है। ऐसे उस प्राण के लिये नमस्कार। २. हे प्राण! तुम ध्वनि करते हो; तुम मेघजल में प्रविष्ट एवं गर्जनशील हो, तुमको प्रणाम। तुम विद्युतरूप में चमकते हो; वर्षा करनेवाले हो, तुमको नमस्कार। ३. सूर्यात्मक मेघ ध्वनि से जब प्राण ओषधि आदि को अभिलक्षित करता हुआ गर्जन करता है तब वे ओषधियाँ आदि गर्भ धारण में समर्थ होती हैं। ४. वर्षा ऋतु की प्राप्ति पर जब प्राण ओषधियों के प्रति गर्जन करता है तब सब हर्षित होते हैं। पृथिवी के सभी प्राणी आनन्द से भर जाते हैं। ५ जब प्राण विस्तृत पृथिवी को वर्षा द्वारा सब ओर से सींचता है तब गवादि पशु प्रसन्न होते हैं। ६. प्राण द्वारा सींची गई ओषधियाँ उससे कहती हैं कि 'हे प्राण, तू हमको सुन्दर गन्धवाली बना और हमारी वृद्धि कर।' ७. हे प्राण! तुम सम्मुख आते और फिर कर जाते हुये को नमस्कार। तू जहाँ कहीं स्थित हो, वहीं स्थित को नमस्कार। ९. यह शरीर तुम्हारा प्रिय है। तुम्हारी अग्नी-षोमात्मक प्रेयसि और अमरत्व से युक्त जो ओषधियाँ हैं उन सब के पास से अमृतदायक अंजन को प्रदान कर। १०. जैसे पिता अपने पुत्र को ढकता है वैसे ही प्राण मनुष्यादि को ढँकता है। जो जंगमात्मक वस्तुयें प्राणन व्यवहारी हैं और जो स्थावर वस्तुयें इससे रहित हैं, प्राण उनमें निरुद्धगति से वास करता है। इन सब का स्वामी प्राण ही है। ११. प्राण ही शरीर से निकल कर मृत्यु लाता है। प्राण ही जीवन को दुःख देनेवाला ज्वरादि रूप है। देह में वर्तमान उसी प्राण की इन्द्रियाँ आराधना करती हैं। वही प्राण सत्याचरणवाले को श्रेष्ठ लोक में स्थित करता है। १२. प्राण ही विराट् है, वही देष्ट्री है; ऐसे प्राण की सभी सेवा करते हैं। वही सब को प्रेरणा देने वाला सूर्य है; वही सोम है; ज्ञानीजन उसी प्राण को प्रजापति कहते हैं। ···१५. मातरिश्वा वायु को प्राण कहते हैं। संसार का आधारभूत वायु ही प्राण है। संसार के आधारभूत प्राण में भूत और भव्य संसार का आश्रय है। सम्पूर्ण विश्व ही इस प्राण में प्रतिष्ठित है। १६. हे प्राण! जब तुम वर्षा द्वारा तृप्त करते हो तो अथर्वा-अङ्गिरा गोत्र-वालों और देवताओं द्वारा रचित तथा मनुष्यों द्वारा प्रकट की जानेवाली सब ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं।' १८. हे प्राण! तू जिस विद्वान में प्रविष्ट होता है, और जो तेरी उक्त महिमा को जानता है, सब देवता उस विद्वान को श्रेष्ठ

स्वर्ग में अमरत्व प्रदान करते हैं। १९. देवता, मनुष्य आदि जैसे तुम्हारे उपभोग-योग्य अन्न लाते हैं वैसे ही तुम्हारी महिमा जाननेवाले विद्वान के लिये भी वे लावें।"

(१०) रोहित

रोहित, जो कि सम्भवतः अग्नि अथवा सूर्य का एक रूप है (यद्यपि नीचे उद्धृत सूक्त में इसका इन दोनों देवताओं से विभेद भी किया गया है) एक अन्य ऐसा देवता है जिसकी अथर्ववेद में प्रख्याति है। इस वेद का एक सूक्त (१३.१) और कुछ अन्य के अंश इसको समर्पित हैं। नीचे कुछ मन्त्र उद्धृत हैं जिनमें इसकी शक्ति का वर्णन है :—

अवे० १३.१,६ : रोहितो द्यावा-पृथिवी जजान तत्र तन्तुम् परमेष्ठी-ततान। तत्र शिश्रिये अजः एकपादो अदृंहद् द्यावा-पृथिवी बलेन। ७. रोहितो द्यावा-पृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः। तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवाः अमृतत्वम् अविन्दन्। १३. रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि। रोहितं देवाः यन्ति सुमनस्यमानाः।...१४. रोहितो यज्ञं व्यदधाद् विश्वकर्मणे तस्मात् तेजांसि उपमा इमान्य् आगुः। २५. यो रोहितो वृषभस् तिग्मशृङ्गः परि अग्निम् सूर्यम् बभूव। यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद् देवा अधि सृष्टिः सृजन्ते। २६. रोहितो दिवम् आरुहद् महतः परि अर्णवात्। सर्वाः रुरोह रोहितो रुहः। ३७. रोहिते द्यावा-पृथिवी अधिश्रिते वसुजिति गोजिति। ५५. स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत। तस्माद् ह जज्ञे इदं सर्वं यत् किञ्च इदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाऽऽभृतम्।

"६. रोहित ने आकाश-पृथिवी को प्रकट किया; परमेष्ठी ने उसमें तन्तु को बढ़ाया। वहाँ एकपाद् अज ने आश्रय लेकर आकाश पृथिवी को बलयुक्त किया। ७. रोहित ने आकाश-पृथिवी को दृढ़ किया; उसने दुःखरहित स्वर्ग को दृढ़ किया; उसी ने अन्तरिक्ष तथा अन्य सब लोकों को बनाया और देवताओं ने उसी से अमृतत्व प्राप्त किया।...१३. रोहित यज्ञ को प्रकट करनेवाला और यज्ञ का मुखरूप है; वाणी, श्रोत्र और मन से मैं उस रोहित के लिये आहुति देता हूँ। प्रसन्न होते हुये सब देवता रोहित के समीप जाते हैं। १४. रोहित ने विश्वकर्मा के लिये यज्ञ का पोषण किया। उस यज्ञ के द्वारा यह तेज मुझे प्राप्त हो रहा है।...२५. ये रोहित अभीष्टवर्षक हैं; तीक्ष्ण रश्मियों से युक्त हैं। जो अग्निदेव और सूर्य की ओर रहते हैं और पृथिवी-आकाश को स्थिर करते हैं उन्हीं के बल से देवता सृष्टि की रचना करते हैं।

२६. रोहित ने समुद्र से आकाश पर आरोहण किया; वह सभी रोहणशील वस्तुओं पर भी आरोहण करता है।[५८१] ३०. वसुजित्, गोजित, संधनजित रोहित में आकाश-पृथिवी आश्रित हैं।···५५. यज्ञ पहले भूत और भविष्य के रूप में प्रकट हुआ। जो कुछ रोचमान है वह सब उसी से प्रकट हुआ, और रोहित ने ही उसे पुष्ट किया।"

इसी अध्याय के २९ वें सूक्त में; जिसमें सूर्य की प्रशस्ति है, रोहित का निम्नलिखित मन्त्रों में उल्लेख है :—

अवे० १३.२,३९ : रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः। रोहितो यज्ञानाम् मुखं रोहितः स्वर् आभरत्। ४०. रोहितो लोको अभवद् रोहितोऽत्यतपद् दिवम्। रोहितो रश्मिभिर् भूमि समुद्रम् अनु सं चरत्। ४१. सर्वाः दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर् दिवं समुद्रम् आद् भूमि सर्वम् भूत वि रक्षति। "३९. रोहित काल हुआ; रोहित ही पहले प्रजापति हुआ। रोहित यज्ञ का मुख है। रोहित ने आकाश को उत्पन्न किया। ४१. रोहित लोक हुआ; रोहित आकाश के ऊपर प्रकाशित हुआ। रोहित ने अपनी रश्मियों से पृथिवी और समुद्र पर विचरण किया। ४१. रोहित ने सम्पूर्ण दिशाओं में विचरण किया। रोहित आकाश का अधिपति है। वह आकाश, समुद्र, और पृथिवी की, उस सब की जो विद्यमान है, रक्षा करता है।"

फिर भी यह कहा गया है कि देवों ने रोहित को उत्पन्न किया : अवे० १३.३,२५ : यद् रोहितम् अजनयन्त देवाः।

(११) उच्छिष्ट

जो सूक्त दिव्य शक्ति का अनुसरण करता है उसे उच्छिष्ट का परिणाम बताया गया है :—

अवे० ११.७,१ : उच्छिष्टे नाम रूपं च उच्छिष्टे लोकः आहितः। उच्छिष्ट इन्द्रश् च अग्निश् च विश्वम् अन्तः समाहितम्। २. उच्छिष्टे द्यावा-पृथिवी विश्वम् भूतं समाहितम्। आपः समुद्रः उच्छिष्टे चन्द्रमाः वातः आहिताः। ३. सन्न् उच्छिष्टे असंश् चोभौ मृत्युर् वाजः प्रजापतिः।···४.··· ब्रह्म विश्वसृजो दश। नाभिम् इव सर्वतश् चक्रम् उच्छिष्टे देवताः श्रिताः।···१४. नव भूमीः समुद्राः उच्छिष्टेऽधि श्रिताः दिवः। आ सूर्यो भाति उच्छिष्टे अहोरात्रे अपि तन् मयि। १५. उपहव्यं विषूवन्तम् ये च यज्ञाः गुहा हिताः। बिभर्त्ति भर्ता विश्वस्य उच्छिष्टो

[५८१] यहाँ रोहित का 'रुः' धातु के साथ सम्बन्ध है।

जनितुः पिता । १६. पिता जनितुर् उच्छिष्टो असोः पौत्रः पितामहः । स क्षियति विश्वस्य ईशानो वृषा भूम्याम् अतिघ्न्यः । १७. ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश् च कर्म च । भूतम् भविष्यद् उच्छिष्टे वीर्यम् लक्ष्मीर् बलम् बले । ...२०. अर्धमासाश् च मासाश्च आर्तवाः ऋतुभिः सह । उच्छिष्टे घोषणीर् आपः स्तनयित्नुः श्रुतिर् मही । शर्कराः सिकताः अश्मानः ओषधयो वीरुधस् तृणा । २१. अभ्राणि विद्युत वर्षम् उच्छिष्टे संश्रिता श्रिता । ...२३. यच् च प्राणति प्राणेन यच्च च पश्यति चक्षुषा । उच्छिष्टाज् जज्ञिरे सर्वे दिवि देवाः दिविश्रिताः । २४. ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाज् । २५. प्राणा-पानौ चक्षुः श्रोत्रम् अक्षितिश् च क्षितिश् च या । उच्छिष्टाज्— । २६. आनन्दाः मोदाः प्रमुदो अभीमोद-मुदश् च ये । उच्छिष्टाज्— । २७. देवाः पितरो मनुष्याः गन्धर्वाप्सरसश् च ये । उच्छिष्टाज् ।

"उच्छिष्ट में ही नाम, रूप[५८२], लोक, इन्द्र और अग्नि, विश्व, समाहित हैं । २. पृथिवी, आकाश, सम्पूर्ण भूत, जल, समुद्र, चन्द्रमा, और वायु समाहित हैं । ३. उच्छिष्ट में ही सत् और असत, मृत्यु, वाज, प्रजापति हैं । ....४. सप्त, दस विश्वस्रष्टा[५८३], देवगण, सभी उच्छिष्ट के चारों ओर उसी प्रकार स्थित हैं जैसे नाभि के चारों ओर अरे स्थित होते हैं ।" इसी प्रकार मन्त्र ५–१२ में ऋक् सामन्, यजुष, सूक्त, विभिन्न प्रकार के यज्ञ, कर्म, आदि भी इसी में स्थित हैं ।....."१४. नौ पृथिवियाँ, समुद्र, आकाश, उच्छिष्ट में निहित हैं । सूर्य उच्छिष्ट में प्रकाशित होता है और मुझमें उच्छिष्ट दिन और रात हैं । १५. जगत को धारण करनेवाला, जनकों का पिता उच्छिष्ट उपहव्य, विषूवत, तथा गुह्य यज्ञों को धारण करता है । १६. जनकों का पिता, आत्मा का पौत्र, पूर्वग् पिता, विश्व का अधिपति, वृषभ, उच्छिष्ट पृथिवी पर विजेता (?) के रूप में वास करता है । १७. ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, धर्म, और कर्म, भूत, भविष्य, बल, सम्पन्नता, वीर्य उच्छिष्ट में ही निवास करते हैं जो स्वयं बल है (तुल० ऊपर १०.७,१) । २०. घोष करनेवाले जल, विद्युत, महान् श्रुति, पत्थर, बालू, ओषधि, तृण (२१) मेघ, विद्युत, वर्षा सब उच्छिष्ट में ही निहित हैं । २३. उच्छिष्ट में ही, वह सब उत्पन्न हुआ जो श्वास लेता और देखता है; सभी देवता (२४) ऋचायें, सामन्, छन्द, पुराण, यजुर्वेद, प्राण और अपान, चक्षु, कर्ण, नश्वर, अनश्वर,

[५८२] देखिये अथर्व० १०.२ का १२ वाँ मंत्र ।

[५८३] क्या यही दस ऋषि हैं जिनका मनु १.३४ में उल्लेख किया है ? अथर्व० ११.१.१,३ में सप्तर्षियों का उल्लेख है । देखिये अथर्व० १२.१,३९ भी ।

(२६) मोद, प्रमोद, (२७) पिता, माता, गन्धर्व, अप्सरायें, उत्पन्न हुये।"
(तुकी० अवे० ११.३,२१)।

(१२) यज्ञीय उपकरण, इत्यादि

विभिन्न यज्ञीय उपकरणों को भी इसी प्रकार की दिव्य शक्तियों से युक्त किया गया है। अवे० १८.४,५ : "जुहू ने आकाश की स्थापना की; उपभृत् ने अन्तरिक्ष की, और ध्रुवा ने स्थिर पृथिवी की (जुहूर् दधार द्याम् उपभृद् अन्तरिक्षम् ध्रुवा दधार पृथिवीम् प्रतिष्ठाम्)। ऋग्वेद ६.५१,८ में नमस्कार के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि इसने आकाश और पृथिवी को धारण किया; और देवों पर शासन करता है (नमो दधार पृथिवीम् उत द्याम्। नमो देवोभ्यो नमः ईशे एषाम्)। देखिये अवे० ४.३५, ३–६ भी, जहाँ यह कहा गया है कि ओदन पृथिवी और आकाश को धारण करता है, इत्यादि। अवे० १९.३२,९ में इसी प्रकार की शक्ति से कुशों को सम्पन्न बताया गया है। अवे० १०.१०,४ २६.३०,३४ में 'वशा' के अद्भुत गुणों का उल्लेख है।

(१३) अनुमति

एक सूक्त में अनुमति (प्रो० रॉथ के अनुसार सद्भावना और प्रजनन की देवी) को सम्पूर्ण वस्तुओं के साथ इस प्रकार समीकृत किया गया है : अवे० ७.२०,६ : "अनुमति वह सब कुछ था जो कुछ खड़ा होता अथवा चलता है, और जो कुछ भी गतिमान होता है। हे देवी! हम तुम्हारी उदारता से आनन्दित हों, क्योंकि हे अनुमति! तुमने हम पर कृपा की है" (अनुमतिः सर्वम् इदम् बभूव यत् तिष्ठति चरति यद् उ च विश्वम् एजति। तस्यास् ते देवि सुमतौ स्याम् अनुमते अनु हि मंससे नः)।

(१४) अनड्वान

अवे० ४ ११, में 'अनड्वान' को दिव्य शक्ति से युक्त किया गया है, जिसको प्रो० ऑफरेख्त के विचार से एक लाक्षणिक अनड्वान ही माना जा सकता है क्योंकि इसके एक थन है (मंत्र ४) और यह दूध देता है। आपका विचार है कि इसमें घर्मः का तात्पर्य हो सकता है। यतः इस पात्र का यज्ञ के लिये दूध और अन्य वस्तुयें पकाने के लिये प्रयोग होता है, अतः इस सूक्त में दूध का उल्लेख बोधगम्य हो सकता है; और चार पैरोंवाले घर्म ने अपने रूप के कारण अनड्वान को ससूचित किया हो सकता है।

अवे० ४.११,१ : अनड्वान दधार पृथिवीम् उत द्याम् अनड्वान् दधार उरु अन्तरिक्षम्। अनड्वान् दधार प्रदिशः षड् उर्वीर् अनड्वान् विश्वम् भुवनम् आ विवेश। २. अनड्वान् इन्द्रो स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयान्

शक्रो वि मिमीते अध्वनः। भूतम् भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि। ३. इन्द्रो जातो मनुष्येषु अन्तर् घर्मस् तप्तश् चरति शोशुचानः।...५. यस्य नेशे यज्ञपतिर् न यज्ञो न अस्य दाता ईशे न प्रतिग्रहीता। यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत कतमश् चतुष्पात्। "अनड्वान् ने पृथिवी और आकाश को धारण किया। अनड्वान् विस्तृत अन्तरिक्ष का पोषक है; अनड्वान ने छः विशाल दिशाओं को धारण किया; अनड्वान ने इस सम्पूर्ण जगत को व्याप्त किया। अनड्वान ही इन्द्र है। वह पशुओं का पालन करता है। शक्र के रूप में यह त्रिविध पथों को नापता है। संसार का पोषण करता हुआ वह भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों काल में वस्तुओं को उत्पन्न करता हुआ देवों के कर्मों को पूर्ण करता है। ३. मनुष्यों में वह इन्द्र के समान है। वह तप्त और प्रकाशमान घर्म विचरण करता है।...५. यजमान इस अनड्वान के स्वामी नहीं है; यज्ञ-क्रिया, दाता और प्रतिगृहीता भी इसके स्वामी नहीं हैं। यह सम्पूर्ण विश्व को जीतनेवाला, वायुरूप विश्व का भरण-पोषणकर्त्ता है। संसार के सभी कर्म इसके हैं। यह चार पैरोंवाला घर्म हमको सूर्य की प्रेरणा देता है। यह चतुष्पाद क्या है, हमें बताओ।"

(१५) ब्रह्मचारी

आगे जिस सूक्त को उद्धृत किया जायगा वह ब्रह्मचारी को अत्यन्त आश्चर्यजनक शक्तियों से युक्त बताता है। इसके कुछ अंश अस्पष्ट हैं, किन्तु मैं जो अनुवाद दे रहा हूँ वह असंतोषजनक होते हुये भी इसके सम्बन्ध में कुछ विचार सूचित करेगा :—

अवे० ११.५,१। ब्रह्मचारी इष्णंश् चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्ति। स दधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्त्ति। २. ब्रह्मचारिणम् पितरो देवजनाः पृथग् देवाः अनुसंयन्ति सर्वे। गन्धर्वाः एनम् अन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः। सर्वान् स देवान् तपसा पिपर्ति। ३. आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भं अन्तः। तं रात्रीस् तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुम् अभिसंयन्ति देवाः। ४. इयं समित् पृथिवी द्यौर् द्वितीया उतान्तरिक्षं समिधा पृणाति। ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकान् तपसा पिपर्ति। ५. पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस् तपसोदतिष्ठत्। तस्माज् जातम् ब्राह्मणम् ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश् च सर्वे अमृतेन साकम्। ६. ब्रह्मचारी एति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः। स सद्यः एति पूर्वस्माद् उत्तरं समुद्रं लोकान् संगृभ्य मुहुर् आचरिक्रत्। ७. ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्म अपो

लोकम् प्रजापतिम् परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वा अमृतस्य योनाव् इन्द्रो ह भूत्वा असुरांस् ततर्द । ८. आचार्यस् ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवम् च । ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्ति । ९. इमाम् भूमिम् पृथिवीम् ब्रह्मचारी भिक्षाम् आ जभार प्रथमो दिवं च । ते कृत्वा समिधाव् उपास्ते तयोर् आर्पिता भुवनानि विश्वा । १०. अर्वाग् अन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ ब्राह्मणस्य । तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् । १६. आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः । प्रजापतिर् वि राजति विराड् इन्द्रोऽभवद् वशी । १७. ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणम् इच्छते । १८. ब्रह्मचर्येण कन्या युवान विन्दते पतिम् । अनड्वान् ब्रह्मचर्येण अश्वो घासं जिगीषति । १९. ब्रह्मचर्येण तपसा देवाः मृत्युम् अपाघ्नत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वर् आभरत् । २०. ओषधयो भूतभव्यम् अहोरात्रे वनस्पति' । संवत्सरः सह ऋतुभिस् ते जाताः ब्रह्मचारिणः । २१. पार्थिवाः दिव्याः पशवः आरण्याः ग्राम्याश् च ये । अपक्षाः पक्षिणाश् च ये ते जाताः ब्रह्मचारिणः । २२. पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणान् आत्मसु बिभ्रति । तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिणि आभृतम् । "२६. तानि कल्पयद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।

"१. आकाश-पृथ्वी दोनों लोकों को तप से व्याप्त करनेवाले ब्रह्मचारी को सब देवता समान मनवाले होते हैं । वह अपने तप से आकाश का पोषण करता और अपने आचार्य का भी पोषण करता है । २. ब्रह्मचारी के रक्षणार्थ पितर, देवता और इन्द्रादि उसके अनुगत होते हैं । विश्वावसु आदि भी इसके पीछे चलते हैं । तैंतीस देवता, इनकी विभूति रूप तीन सौ तीन देवता, और छः सहस्र देवता, इन सब का ब्रह्मचारी अपने तप द्वारा पोषण करता है । ३. उपनयन करनेवाला आचार्य, विद्यामय शरीर के गर्भ में उसे स्थापित करता हुआ, तीन रात तक ब्रह्मचारी को अपने उदर में रखता है, और चौथे दिन देवगण उस विद्या-देह से उत्पन्न ब्रह्मचारी के सम्मुख आते हैं । ४. पृथिवी इस ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा है और आकाश द्वितीय समिधा है । आकाश-पृथिवी के मध्य अग्नि में स्थापित समिधा से ब्रह्मचारी संसार को सन्तुष्ट करता है ।"[५८४] इस प्रकार, समिधा, मेखला, मौञ्जी, श्रम, इन्द्रिय-निग्रहात्मक खेद और देह को सन्ताप देनेवाले अन्य नियमों का पालन करता

[५८४] देखिये आश्वलायन गृह्यसूत्र । ऋग्वेद १०.१०९,५ में भी ब्रह्मचारी का उल्लेख है ।

हुआ पृथिव्यादि लोकों का पोषण करता है। ५. ब्रह्मचारी ब्रह्म से भी पहले प्रकट हुआ; वह तेजोमय रूप धारण करके तप से युक्त हुआ। उस ब्रह्मचारी रूप से तप्त हुये ब्रह्म द्वारा श्रेष्ठ ब्रह्म[५८५] प्रकट हुआ और उसके द्वारा प्रतिपादित अग्नि आदि देवता भी अपने अमृत्व आदि गुणों के सहित प्रकट हुये। ६. प्रातः-सायं अग्नि में रखी समिधा और उससे उत्पन्न तेज से तेजस्वी, मृगचर्मधारी ब्रह्मचारी भिक्षादि नियमों का पालन करता है। वह शीघ्र ही पूर्व-समुद्र से उत्तर-समुद्र पर पहुँचता है और सब लोकों को अपने समक्ष करता है। ७. ब्रह्मचर्य से महिमायुक्त ब्रह्मचारी ब्राह्मण जाति को उत्पन्न करता है। वही गंगा आदि नदियों को प्रकट करता है; स्वर्ग, प्रजापति, परमेष्ठी, और विराट् को उत्पन्न करता है। वह अमरणशील ब्रह्म की सत्, रज, तम गुण से युक्त प्रकृति में गर्भरूप होकर सत्य वर्णन किये हुये प्राणियों को प्रकट करता और इन्द्र होकर राक्षसों का नाश करता है। ८. वह आकाश और पृथिवी से विशाल है। इन पृथिवी और आकाश के उत्पादक आचार्य की भी ब्रह्मचारी रक्षा करता है। सब देवता ऐसे ब्रह्मचारी पर कृपा करते हैं। ९. पृथिवी और आकाश को ब्रह्मचारी ने भिक्षा रूप में ग्रहण किया; फिर उसने इन आकाश और पृथिवी को समिधा बनाकर अग्नि की आराधना की। संसार के सब प्राणी इन्हीं आकाश-पृथिवी के आश्रय में रहते हैं। १० पृथिवी लोक में आचार्य के हृदयरूपी गुहा में एक निधि है। दूसरी देवात्मक निधि उपरिस्थान में है। ब्रह्मचारी इन निधियों की अपने तप से रक्षा करता है। विद्वान ब्राह्मण शब्द और उसके अर्थ से सम्बन्धित दोनों निधियों को ब्रह्मरूप करता है।...१६. विद्या का उपदेश देकर आचार्य ब्रह्मचारी रूप से प्रकट हुये हैं। वही तप से महिमावान् हुये प्रजापति बने। प्रजापति से विराट् होते हुये वही विश्व के स्रष्टा परमात्मा हो गये। १७. वेद को ब्रह्म कहते हैं। वेदाध्ययन के लिये आचरणीय कर्म ब्रह्मचर्य है। उसी ब्रह्मचर्य के तप से राजा अपने राज्य को पुष्ट करता है और आचार्य भी ब्रह्मचर्य से ही ब्रह्मचारी को अपना शिष्य बनाने की इच्छा करता है। १८. जिसका विवाह नहीं हुआ है ऐसी स्त्री ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ पति प्राप्त करती है। अनड्वान् आदि भी ब्रह्मचर्य से ही श्रेष्ठ स्वामी प्राप्त करते हैं। अश्व ब्रह्मचर्य से ही भक्षण योग्य तृणों की इच्छा करता है। १९. अग्नि आदि देवताओं ने ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को दूर किया। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र ने देवताओं को स्वर्ग प्राप्त कराया। २०. चाँदि, जौ आदि ओषधियाँ वनौषधियाँ, हिम राशि, चराचरात्मक विश्व, षट्ऋतु और द्वादश मासवाला

---

[५८५] ऋग्० १०७,२२ और १०८,१ में 'ब्रह्म ज्येष्ठम्' किसी व्यक्ति का द्योतक है।

वर्ष ब्रह्मचर्य की महिमा से ही गतिमान हैं। २१. आकाश के प्राणी, पृथिवी के देहधारी आदि, पंखवाले और पंखविहीन सभी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही उत्पन्न हुये हैं। २२. प्रजापति के बनाये हुये देवता, मनुष्य, आदि, सब प्राणों को धारण-पोषण करते हैं। आचार्य के मुख से निकला ब्रह्म ही ब्रह्मचारी में स्थित होता हुआ सब प्राणियों की रक्षा करता है। ···२६. इन वस्तुओं का ब्रह्मचारी ने निर्माण किया। समुद्र में जलों पर खड़े होकर उसने तपस्या[५८४] की।

तैत्तिरीय ब्रा० ३.१०,११,३ ब्रह्मचर्य के महान गुणों के उदाहरणस्वरूप एक कथा कहता है :—

भारद्वाजो ह त्रिभिर् आयुभिर् ब्रह्मचर्यम् उवास। तं ह जीर्णि स्थविरं शयानम् इन्द्रः उपव्रज्य उवाच "भरद्वाज यत् ते चतुर्थम् आयुर् दद्यां किम् एतेन कुर्याः" इति। "ब्रह्मचर्यम् एव एनने चरेयम्" इति ह उवाच। तं ह गिरिरूपान् अविज्ञातान् इव दर्शयाञ्चकार। तेषां ह एकैकस्माद् मुष्टिम् आददे। स ह उवाच "भरद्वाज" इत्य् आमन्त्रय "वेदाः वै एते। अनन्ताः वै वेदाः। एतद् वै एतैस् त्रिभिर् आयुभिर् अन्वबोचथाः। अथ ते इतरद् अननूक्तम् एव। एहि इमं विद्धि। अयं वै सर्वविद्या" इति।

"भारद्वाज ने तीन जन्मों तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। जब वे जीर्ण और वृद्ध होकर पड़े थे तब इन्द्र ने उनके पास आकर कहा: 'भारद्वाज! यदि मैं तुम्हें चौथा जीवन दूँ तो तुम उसका क्या करोगे?' उन्होंने उत्तर दिया: 'मैं उसका भी ब्रह्मचर्य व्रत के पालन के लिये ही उपयोग करूँगा।' उन्होंने तीन पर्वतवत् तीन वस्तुयें दिखाई जो अज्ञात थीं। इनमें से प्रत्येक में से उन्होंने एक-एक मुट्ठी भर वस्तुयें निकाल लीं। उन्होंने भरद्वाज को सम्बोधित करते हुये कहा: 'हे भरद्वाज! ये वेद हैं; वेद अनन्त हैं। तुमने अपने तीनों जीवन में इतने का ही पाठ किया है। किन्तु अन्य बातें तुम्हारे द्वारा अनुक्त ही हैं। अब इसको जानो (अग्नि सावित्र) यही सर्वविद्या है।"

(१६) काम

हम ऊपर देख चुके हैं कि ऋग्वेद १०.१२९,४ में यह कहा गया है कि पुरुष में, जब उसने तप किया, सर्वप्रथम काम उत्पन्न हुआ। यह काम किसी प्रकार की लैंगिक इच्छा नहीं बल्कि सामान्य रूप से श्रेष्ठत्व की इच्छा है और इसी की अथर्ववेद के इस कौतूहलवर्धक सूक्त (९.२) में प्रशस्ति है। यहाँ इसे सभी देवों से श्रेष्ठ कहा गया है। शत्रुओं से मुक्ति के लिये इसकी स्तुति

[५८४] तुकी० अवे० १०.७,३८।

की गई है। पूर्णता की ओर अग्रसर प्रथम पग के रूप में काम को यहाँ सफल इच्छा का ही समरूप माना गया है। अथवा यह अपने स्तोताओं की इच्छाओं का प्रेरक और पूर्णकर्ता भी हो सकता है[५८७] :—

अवे० ९.२,१ : सपत्न-हनम् ऋषभम् घृतेन कामं शिक्षामि हविषा आज्येन। नीचैः सपत्नान् मम पादय त्वम् अभिष्टुतो महता वीर्येण। २. यद् मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन् मे बभस्ति[५८८] नाभिनन्दति। तद् दुःष्वप्न्यम् प्रतिमुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वा उद् अहम् भिदेयम्। ३. दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च काम अप्रजस्ताम् अस्वगताम् अवर्तिम्। उग्रः ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यम् अंहूरणा चिकित्सात्। ४. नुदस्व काम प्रणुदस्व काम अवर्तिम् यन्तु मम ये सपत्नाः। तेषां नुत्तानाम् अधमा तमांसि अग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्। ५. सा ते काम दुहिता धेनुर् उच्यते याम् आहुर् वाचं कवयो विराजम्। तया सपत्नान् परि वृङ्धि ये मम परि एनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु। ...७. विश्वे देवाः मम नाथम् भवन्तु सर्वे देवाः हवम् आ यन्तु मे इमम्। ८. इदम् आज्यम् घृतवज् जुषाणाः काम-ज्येष्ठाः इह मादयध्वम्। कृण्वन्तो मह्यम् असपत्नम् एव। ९. इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मम पादयाथः। तेषाम् पन्नानाम् अधमा तमांसि अग्ने वास्तूनि अनु निर्दह त्वम्। १०. जहि त्वं काम मम ये सपत्नाः अन्धा तमांसि अव पादयैनान्। निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच् चनाहः। ११. अवधीत् कामो मम ये सपत्नाः उरुं लोकम् अकरद् मह्यम् एधतुम्। मह्यं नमन्ताम् प्रदिशश् चतस्रो मह्यं षड् उर्वीर् घृतम् आ वहन्तु। १२. ते अधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौर् इव बन्धनात्। न सायक-प्रणुत्तानाम् पुनर् अस्ति निवर्तनम्। ...१६. यत् ते काम शर्म त्रिवरूथम् उद्भु ब्रह्म वर्म विततम् अनतिव्याध्यं कृतम्। तेन सपत्नान—। १७. येन देवाः असुरान् प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यून् अधमं तमो निनाय। तेन त्वं कामो मम ये सपत्नास् तान् अस्मात् लोकात्

[५८७] अवे० ३.२९,७ से इस बात पर कुछ प्रकाश पड़ता है कि काम किस प्रकार देवता बन गया। देखिये तैत्ति० ब्रा० २.२,५,५; अवे० ३.२१,४ भी। मावे० २.१०.६० (= अवे० ६.३६,२; वाजं० १२ ११७) में भी अग्नि और काम का वर्णन है। काम का अन्य स्थलों पर भी उल्लेख है : ऋग्वेद १०.१६, ४, ऋवे० १८४,१० (तुल० वाजं० १६ २)।

[५८८] तुल० बोटलिङ्क और रॉथ का कोश, 'भस्' (व्याख्या०)

प्र णुदस्व दूरम् १६. कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवाः आयुः पितरो न मर्त्याः । ततस् त्वम् असि ज्यायान् विश्वहा महांस् तस्मै ते काम नमः इत् कृणोमि । २०. यावती द्यावा-पृथिवी वरिम्णा यावद् आपः सिष्यदुर् यावद् अग्निः । तत.—। २१. यावतीर् दिशः प्रदिशो विषूचीर् यावतीर् आशाः अभिचक्षणाः दिवः । ततः—। २२. यावतीर् भृङ्गाः जत्वः कुरूरवो यावतीर् वघाः वृक्षसर्प्यो बभूवुः । ततः । २३. ज्यायान् निमिषतोऽपि तिष्ठतो ज्यायान् समुद्राद् असिकाम मन्यो । २४. न वै वातश् चन कामम् आप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः । ततः । २५. यास ते शिवास् तन्वः काम भद्राः याभिः सत्यम् भवति यद् वृणीषे । ताभिस् त्वम् अस्मान् अभिसंविशस्व अन्यत्र पापीर् अप वेशय धियः ।

"१. शत्रु का नाश करनेवाले काम[५८९] वृषभ को मैं हवि देता हुआ कहता हूँ : हे वृषभ ! हमारी स्तुति सुनकर मेरे शत्रुओं का पतन करो । २. जो दुःस्वप्न मेरे मन और नेत्र को अच्छा नहीं लगता, जो मुझे प्रसन्न नहीं करता, जो मुझे भक्षण करता हुआ सा प्रतीत होता है, उस दुःस्वप्न को मैं कामदेव की स्तुति करता हुआ, शत्रु की ओर छोड़कर उसे बाँधता हूँ । ३. हे काम ! तुम उग्र हो; तुम स्वामी हो; तुम अपने दुःस्वप्न को, निर्धनता को, प्रजाहीनता और दरिद्रता को उस पर भेजो जो हमको पराजय के रूप में विपत्ति डालने की चेष्टा करता है । ४. हे कामदेव ! मुझसे दरिद्रता को पृथक् करो; मेरे शत्रु ही दरिद्रता प्राप्त करें । तुम मेरे शत्रुओं की ओर इसे शीघ्रता से भेजो । हे अग्ने ! उनके घर की वस्तुओं को भस्म करो । वे घोर अन्धकार में भर जायँ । ५. जिसे कवि ओजपूर्ण वाणी में कहते हैं, वह तुम्हारी पुत्री है । उसके द्वारा मेरे शत्रुओं का नाश करो । प्राण, पशु आयु इन शत्रुओं के पास न रहें ।...७. सब देवता मेरे यज्ञ में आवें और मेरे स्वामी बनें । ८. हे काम की प्रमुखता में रहनेवाले देवगण ! इस घृतादि की हवि को घृत के समान ही सेवन करते हुये सुखी होओ और मुझे शत्रुओं से रहित करो । ९. हे काम ! हे इन्द्राग्ने ! तुम रथ पर चढ़कर शत्रुओं का पतन करो । हे अग्ने ! उनके लिये घोर अन्धकार प्रकट कर उनके घर को और सब सम्पत्तियों को जला डालो । १० हे काम ! मेरे शत्रुओं का संहार करो । वे घोर अन्धकार में पड़े । वे सब शक्तिहीन और निर्वीर्य होते हुये मृत्यु को प्राप्त हों । ११. काम ने मेरे शत्रुओं का हनन कर डाला; मुझे बढ़ाने के लिये महान् लोक प्रदान किया । सब दिशाओं के प्राणी मुझे नमस्कार करें और छः उर्वियें मुझे घृत दें । १२. बन्धन

[५८९] तैत्तिरीय ब्रा० २.८,८,८ में श्रद्धा को काम की माता कहा गया है ।

टूटने पर नौका जैसे नीचे की ओर बहती है, वैसे ही मेरे शत्रु नीचे की ओर बहते जाँय; क्योंकि बाण द्वारा प्रेरित किये हुये पुनः नहीं लौट सकते।'''
१६. हे कामदेव! तुम अपने ब्रह्ममय, विशाल कवच द्वारा मेरे शत्रुओं का संहार करो। यह शत्रु प्राण, आयु और पशु सब से हीन हो जाँय। १७ हे कामदेव! जिस शक्ति से इन्द्र के राक्षसों को मृत्यु रूपी घोर अन्धकार में डाल दिया था और जिस शक्ति से दैत्यों को देवताओं ने भगा दिया था, उसी शक्ति के द्वारा इस लोक से मेरे शत्रुओं को दूर फेंक दो।"१८'''१९. कामदेव प्रथम उत्पन्न हुये; देवता और पितर भी इनकी समता नहीं कर पाये। हे कामदेव! तुम सब प्राणियों को प्राप्त होते हो इसलिये महान हो। मैं नमस्कारपूर्वक तुम्हें हवि प्रदान करता हूँ। २०. हे काम! तुम आकाश-पृथिवी, अग्नि और जल, इन सबके विस्तार से भी विस्तृत हो। तुम सब प्राणियों में व्याप्त होने से महान् हो। मैं तुम्हारे'''। २१. जितने विस्तार में दिशा-उपदिशायें हैं और स्वर्ग से जितनी दिशायें कही गई हैं उन सब में तुम बड़े हो और सब में गमनशील तथा महान् हो। मै तुम्हें'''। २२. हे काम! भृङ्ग, जतु, कुरूरु, वृषसर्पि, और वघा जितने परिमाण में होती हैं तुम उससे भी बड़े और महान् हो। मैं तुम्हें'''। २३. हे काम! हे मन्यो! तुम समुद्र से भी विशाल हो; पलक मारनेवाले प्राणियों में तथा बैठे हुओं से भी बड़े हो। सब में गमनशील होने से महान् हो। मै तुम्हें'''। २४. सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि भी कामदेव की समानता नहीं कर सकते। इसलिये हे काम! तुम बड़े महान् हो। मै तुम्हें''। २५. हे काम! तुम्हारे जो कल्याणकारी शरीर हैं उनके द्वारा तुम जिसे वरण करते हो वही सत्य है। तुम अपने उन देह रूप बुद्धियों द्वारा हमारे देह में प्रविष्ट होओ और अपनी पाप बुद्धियों को हमसे दूर करके शत्रुओं में प्रविष्ट करो।"

अथर्व० १९.५२ एक दूसरा सूक्त है जो काम को समर्पित है।

यह सुविज्ञात है कि यूनानी पुराकथाशास्त्र प्रेम के देवता इरॉस को जगत् की सृष्टि से कुछ उसी प्रकार सम्बद्ध करता है जैसे काम को ऋग्वेद १०.१२९,४ में सम्बद्ध किया गया है। इस प्रकार, प्लेटो अपने सिम्पोसियम (खण्ड ६) में यह कहते हैं: "इरॉस के न तो माता-पिता हैं और न किसी [illegible] या कवि ने ही इसके माता-पिता होने की चर्चा की है। किन्तु हेसि-ओड कहता है कि सबसे पहले अन्धकार उत्पन्न हुआ, और उसके विस्तृत वक्षो-

''' [illegible] ८९ [illegible] ८८,५ और बाद को।

वाली और सब वस्तुओं की दृढ़ आवास पृथिवी; और फिर इरॉस उत्पन्न हुआ। वह कहता है कि अन्धकार के बाद ये दो वस्तुयें—पृथिवी और इरॉस—उत्पन्न हुये। पर्मेनाइडिस भी सृष्टि के सम्बन्ध में यह कहता है : 'उसने देवों में प्रथम इरॉस की सृष्टि की।' और एक्यूसिलॉस भी हेसियड से सहमत है। इतने लोगों ने इरॉस को ही प्राचीनतम देवता माना है।" (देखिये ग्रीक ऐण्ड रोमन बायोग्रॉफी की डिक्शनरी में डॉ० स्मिथ द्वारा इरॉस पर लेख और इसमें वर्णित प्रमाण)।

अवे० के एक अन्य सूक्त (३.२५) में यूनानियों के इरॉस, तथा लैटिनों के क्यूपिड की ही भाँति काम को लैङ्गिक प्रेम का देवता कहा गया है। इस सूक्त का आरम्भ इस प्रकार है :

उत्तुदस् त्वा उत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे। इषु. कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि। २. आधीपर्णाम् काम-शल्याम् इषु संकल्प-कुल्मलाम्। तां सुसन्नतां कृत्वा कामेविध्यतु त्वा हृदि। ३. या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसन्नता।···तया विध्यामि त्वा हृदि।

"१. हे स्त्री! उत्तुद नामक देवता अत्यन्त व्यथित करनेवाले हैं। वे तुझे कामार्त करें। तू काम के बाणों से सुइयों के समान व्याकुल हुई पलङ्ग पर सोना पसन्द न कर। मैं तुझ पर काम का भयप्रद बाण चलता हूँ। २. रमण करने की अभिलाषा जिसका फल और मन का संताप जिसका पर्ण है, भोगात्मक संकल्प काष्ठ और फल को मिश्रित करनेवाले मसाले के समान है, उस बाण को चढ़ा कर ही कामदेव तेरे हृदय को बींधते हैं। ३. कामदेव द्वारा भले प्रकार खींचा गया बाण प्राण के आश्रयरूप प्लीहा को शुष्क करे। सरल फलवाले तथा अनेक प्रकार से संतप्त करनेवाले बाण से मैं तेरे हृदय को आक्रान्त करता हूँ।"[५९१]

(१७) काल

अगले दो उल्लेखनीय सूक्तों में हमें एक सर्वथा नवीन मत मिलता है क्योंकि इनमें काल को सब का स्रोत और शासक कहा गया है :—

अवे० १९.५३[५९२], १ : कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। तम् आ रोहन्ति कवयो विपश्चितस् तस्य चक्रा भुवनानि

[५९१] प्रो० वेबर (इण्ड० स्ट्र० ५.२२४) ने इस सूक्त का अनुवाद किया है जिससे मैंने भी कुछ सहायता ली है।

[५९२] महाभारत, १२.८१०६, ८११२, ८१२५८, १३९-८१४४, ८७५८, ९८७७, १००६०, आदि में 'काल' के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा गया है।

विश्वा । २ सप्त चक्रा वहति कालः एष सप्तास्य नाभीर् अमृतं नु अक्षः । स इमा विश्वा भुवनानि अर्वाङ् कालः स ईयते प्रथमो नु देवः । ३. पूर्णः कुम्भो अधिकाले आहितस् त वै पश्यामो बहुधा नु सन्तम् । स इमा विश्वा-भुवनानि प्रत्यङ् कालं तम् आहुः परमे व्योमन् । ४. स एव सम् भुव-नानि आभरत् स एव सम् भुवनानि पर्यैत । पिता सन्न् अभवत् पुत्रः एषां तस्माद् वै नान्यत् परम् अस्ति तेजः । ५. कालोऽमुम् दिवम् अजनयत् कालः इमाः पृथिवीर् उत । कालेन भूतम् भव्यं च इषितं ह वि तिष्ठते । ६. कालो भूमिम् असृजत काले तपति सूर्यः । काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर् वि पश्यति । ७. काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम् । कालेन सर्वाः नन्दन्ति आगतेन प्रजाः इमाः । ८. काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम् । कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पिता-ऽऽसीत् प्रजापतेः । ९. तेनेषितं तेन जातं तद् उ तस्मिन् प्रतिष्ठितम् । कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम् । १० कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् । स्वयम्भूः कश्यपः कालात् तपः कालाद् अजायत ।

"१. वस्तुओं को व्याप्त कर लेनेवाले यह कालरूप अश्व सप्तरश्मि वाले, सहस्र नेत्रवाले, नित्य युवा, भूरि वीर्ययुक्त हैं। उस अश्वरूप पर बुद्धिमान ही आरूढ़ होते हैं। उस अश्व के चक्र समस्त लोक हैं। २. यह काल सात चक्रों को वहन करता है। यह चक्र इसके नाभिरूप हैं। अमृत अक्ष है। यही काल-ब्रह्म चराचरात्मक विश्व की सृष्टि करता है और यही उसका नाश करता हुआ स्थिर रहता है। ३. संसार के कारणभूत परमेश्वर काल से कुम्भ के समान पूर्णतया व्याप्त हैं। हम साधु पुरुष उस काल को अनेक भेद से देखते हुये उसे व्योम के समान निर्लेप बताते हैं। ४. यही काल प्राणियों को उत्पन्न करता है; यही भुवनरूप से स्थित है; यही इनके पिता होते हुये भी पुत्र हो जाते हैं। इस काल से श्रेष्ठ अन्य कोई तेज नहीं है। ५. द्युलोक और प्राणियों को आश्रय देनेवाली पृथिवी को काल ने ही प्रकट किया। भूत, भविष्य और वर्तमान भी इस काल के ही आश्रित हैं। ६. इस संसार की रचना इसी काल ने की है। काल की प्रेरणा से ही सूर्य इस विश्व को प्रकाश देता है। सब प्राणी काल के ही आश्रित हैं। इन्द्रियों का अधिष्ठाता काल में ही अपनी इन्द्रिय-संचालन आदि क्रियाओं को करता है। ७. इसी काल में सृष्टि रचना का मन रहता है; इसी में संसार का प्राण निवास करता है। आगत काल से ही सब प्रजा अर्थात् सृष्टि [illegible] उत्पन्न होती है। ८. काल ही तप है; काल ज्येष्ठ है; काल में ही ब्रह्म प्रतिष्ठित है; काल सभी का ईश्वर, पिता और प्रजापति

है। ९. यह जगत काल से ही उत्पन्न हुआ, और काल में ही प्रतिष्ठित है। काल ही ब्रह्म होता हुआ परमेष्ठी ब्रह्मा को धारण करता है। १० काल ने पहले प्रजापति को उत्पन्न किया; फिर प्रजाओं की रचना की। काल से ही स्वयम्भू कश्यप[५१३] उत्पन्न हुये और काल से ही तप उत्पन्न हुआ।"

अवे० १९.५४,१ : कालाद् आपः समभवन् कालाद् ब्रह्म तपो दिशः। कालेनोदेति सूर्यो काले नि विशते पुनः। २. कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही। द्यौर् मही काले आहिता। ३. काले ह भूतम् भव्यं च मन्त्रो अजनयत् पुरा। कालाद् ऋचः समभवन् यजु' कालाद् अजायत। ४. काले यज्ञं समैरयन् देवेभ्यो भागम् अक्षितम। काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः। ५. कालेऽयम् अङ्गिराः दिवो अथर्वा चादि तिष्ठतः। इमं च लोकम् परमं च लोकम् पुण्यांश् च लोकान् विधृतीश् च पुण्याः। ६. सर्वान् लोकान् अभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः।

"१. काल से ही जलों की उत्पत्ति हुई; काल से ही ब्रह्म, तप, दिशायें, और सूर्य उत्पन्न हुये। काल ही सूर्य को फिर अस्त कर देता है। २. काल से वायु बहता है; काल से ही पृथिवी महिमामयी हुई और द्युलोक भी काल के आश्रित है। ३. काल से ही भूत, भविष्य, पुत्र, पुर, ऋचा और यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई। ४. काल ने ही यज्ञ को देवताओं के भागरूप में प्रकट किया; काल से ही गन्धर्व-अप्सरायें हुईं। यह सब लोक उस काल के ही आश्रित हैं। ५-६ यह अंगिरा, अथर्वा आदि महर्षि काल से ही हुये। यह काल ही इस परम लोक स्वर्ग तथा अन्य लोकों को देश, काल, कारण से रहित परम ब्रह्म द्वारा व्याप्त करके स्थित रहता है।"

अथर्ववेद १३.२,३९ में रोहित को काल के साथ समीकृत किया गया है।

इन सूक्तों में काल की धारणा ऐसी है कि यदि इसे अपरिष्कृत रूप से ग्रहण कर लिया जाय तो बाद के युग में इसे पाखण्डपूर्ण माना जायगा।[५१४] इस प्रकार, श्वेताश्वतर उपनिषद् के आरम्भ में भ्रामक होने के कारण उपेक्षणीय जिन अनेक विचारों का उल्लेख है उनमें, निःसन्देह, काल को सब वस्तुओं का उद्गम मानने का विचार भी है। इन विभिन्न बातों का जिस पंक्ति में

---

[५१३] मैंने जिसका 'सेल्फ बॉर्न' अनुवाद किया है वह शब्द 'स्वयम्भू' है।

[५१४] 'महाभारत' अनुशासनपर्व, ५१-५६, में सभी को मृत्यु के अधीन बताया गया है।

उल्लेख है वह इस प्रकार है : कालः स्वभावो नियतिर् यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुषः। प्रो० विल्सन ने अपने विष्णु पुराण के भाग १, पृ० १९ पर इन पंक्तियों में इसी श्लोक की चर्चा की है : "मोक्षधर्म (महाभारत के शान्तिपर्व का एक उपपर्व) का टीकाकार वेद से एक स्थल को उद्धृत करता है जिसे वह सृष्टि सम्बन्धी विभिन्न सिद्धान्तों का द्योतक मानता है (इसके बाद उक्त श्लोक आता है)। इनके अन्तर्गत काल, निहित स्वभाव, कर्मफल, आत्मेच्छा, परमाणु, पदार्थ और आत्मा की ज्योतिर्विदों, बौद्धों, मीमांसकों, नैयायिकों, सांख्यों और वेदान्तियों ने अलग अलग अपने सिद्धान्तों के अन्तर्गत चर्चा की है।"[115]

मैत्री उपनिषद् (६ १४ और बाद) भी काल की प्रशस्ति करते हुये कहता है कि सूर्य ही इसका उद्गम है। (सूर्यो योनिः कालस्य) इसमें हमें यह श्लोक मिलता है। कालात् स्रवन्ति भूतानि कालाद् वृद्धिम् प्रयान्ति च। काले चास्तं नियच्छन्ति कालो मूर्तिर् अमूर्तिमान्। "काल से ही सर्वभूत चरित होते हैं और काल से ही वृद्धि प्राप्त करते हैं; वे काल में ही स्थित हैं; काल एक अमूर्त मूर्ति है।" लेखक आगे कहता है : द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे कालश् च अकालश् च। अथ यः प्राग् आदित्यात् सोऽकालोऽकालः। अथ यः आदित्याद्यः स कालः सकलः। "ब्रह्म के दो रूप—काल और अकाल, हैं। जो सूर्य के पहले है वह अकाल और अंशों से रहित है। जो आदित्य के पश्चात् है वह काल और अंश से युक्त है।"

मनु (१ २४) कहते हैं कि ब्रह्मा द्वारा रचित वस्तुओं में से काल भी एक है। किन्तु यद्यपि इसे सर्ववस्तुओं का उद्गम नहीं कहा गया है, तथापि विष्णु पुराणकार काल को परमात्मा का एक रूप मानता है। देखिये पृ० १८,१९ और २५ (विष्णु पुराण का डा० हॉल का संस्करण और पृ० १९ की प्रो० विल्सन की टिप्पणी जिसमें आप यह कहते हैं : पुराणों में काल की "प्रथम-कारण" के तत्त्व के रूप में गणना नहीं की गई है। किन्तु पद्मपुराण और भागवत पुराण इसे इस प्रकार ग्रहण करने में विष्णु पुराण से सहमत हैं। एक प्रारम्भिक समय में ही इसे एक स्वतन्त्र कारण माना जाने लगा था।" देखिये भागवत पुराण ३.५,२४-२७; ३.८,११ और बाद; ३ १०.१०-१३; ६.११,१ और बाद; ३ १२,१ और बाद। इस प्रकार, हम देखते हैं कि पुराणकारों ने बाद में इतिहास में उन सब विचारों को समाविष्ट कर लिया है जो उन्हें वेद

[115] प्रो० विल्सन कहते हैं कि 'कालोत' को 'लौकिक नियोगों के अनुसार सृष्टि के प्रथम [illegible] समझना [illegible] है।"

में मिल सके; और इसके बाद इन्होंने धर्मविरुद्ध सामग्री को अधिक आस्तिक सामग्री के साथ मिश्रित करके प्रथम की नास्तिकता को समाप्त कर दिया।

(१८) गत स्थलों पर सामान्य टिप्पणी

इस खण्ड में मैंने जिन स्थलों को उद्धृत किया है उन पर कुछ सामान्य विचार की आवश्यकता है।

१. इन स्थलों पर व्यक्त परमेश्वर की धारणाओं की प्रकृति अनिश्चित और दोलायमान है। यह स्पष्ट है कि अपने उपास्यदेव की प्रकृति के प्रति इन स्थलों के लेखकों के विचारों ने कोई तार्किक स्वरूप नहीं प्राप्त किया है। एक ओर, इन लेखकों ने अनन्तता, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता, आदि को या तो भिन्न भिन्न व्यक्तियों के साथ अथवा एक ही व्यक्ति के उसके भिन्न-भिन्न नामों, जैसे पुरुष, स्कम्भ, ब्रह्म, हिरण्यगर्भ, आदि, के साथ संयुक्त किया है (ऋग्वेद १०.९०,१ और बाद; १०.१२१,१ और बाद; अवे० १०.७,१०.१३. ३१-३३; १०.८,१)। फिर भी, अन्य स्थानों पर इन्हीं गुणों को सीमित बताते हुये इन दिव्य प्राणियों को अन्न से पुष्ट होने तथा अन्य से (जैसे पुरुष को विराज से) उत्पन्न होनेवाला कहा गया है। ये दिव्य प्राणी या तो तप से उत्पन्न होते हैं अथवा तप करते हैं (ऋग्वेद १०.९०,२.४.७; अवे० १०.२,१२ और बाद २६; १०.७,३१; ३६.३८)।

२. इन स्थलों पर दिव्य शक्ति की विविध रूपों में कल्पना की गई है: कभी यह एक पुरुष, स्कम्भ, इत्यादि जैसे एक परमेश्वर का गुण है; जबकि अन्य स्थानों पर इस शक्ति को (१) किसी अमूर्त धारणा जैसे काम, काल, आदि के साथ, अथवा (२) जीवित प्राणियों में स्थित शक्तियों के किसी मूर्ती-करण जैसे प्राण के साथ, अथवा (३) उच्छिष्ट, और यज्ञ के उपकरणों (जैसे जुहू, उपभृत् इत्यादि) के साथ, अथवा (४) उपासना के माध्यमों, सूक्तों, छन्दों, और विराज् (जिसे अवे० ८.१०,१ में जगत के साथ समीकृत किया गया है) के साथ; अथवा (५) धर्मरक्षकों और धार्मिक कृत्यों के भावी पुरोहितों, ब्रह्मचारियों आदि के साथ संयुक्त किया गया है। इससे हमें आश्चर्य-चकित नहीं होना चाहिये कि एक ब्रह्मचारी को इस प्रकार के अतीन्द्रिय गुणों से युक्त किया गया है, क्योंकि यज्ञ, सूक्त, छन्द, आदि जिनसे उसे देवों का आवाहन करना सिखाया गया है, और यज्ञ-उपकरण तक को अलौकिक क्षमता से युक्त माना गया है।

हमें यहाँ विचार और भावना के धर्मों का एक ऐसा अद्वितीय प्रकार मिलता है जिसने इस प्रकार की भोंडी विचारराशि को जन्म दिया है जिसमें

दिव्य शक्ति का वास्तविक केन्द्र तो अवरुद्ध रह जाता है और अनेक हीन वस्तुओं को अवास्तविक महत्व प्रदान करते हुये उन्हें एक काल्पनिक पवित्रता से युक्त कर दिया गया है। किन्तु ये असाधारण प्रस्तुतीकरण हमें वैदिक युग के भारतीयों में जगत की एक ऐसी धारणा से अवगत कराते हैं जो एक साथ ही (क) रहस्यवादी, (ख) अनेकदेवतावादी, और (ग) बहुदेवैक्यवादी, है। (क) धार्मिक संस्कारों से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु को आध्यात्मिक तथा भौतिक क्षमता से युक्त माना गया है। (ख) प्रकृति के प्रत्येक अंग को अलग-अलग दिव्य शक्ति से युक्त माना गया है; किन्तु (ग) फिर भी सभी अंगी एक ही महान समग्र के विभिन्न अंश हैं।

(१) आर्य-धर्म का आरम्भिकतम रूप अनेकदेवतावादी था या एकेश्वरवादी : इस विषय पर सर्वश्री पिक्टेट, फीडरर, शेरर, रेविले और रॉथ का मत

अब मैं वैदिक अनेकदेवतावाद के साथ उस आरम्भिक धर्म के सम्बन्ध पर कुछ टिप्पणियाँ दूँगा जिसे पूर्वग आर्यों में प्रचलित माना जा सकता है।

अपने ग्रन्थ 'ले ओरिजिनेस इण्डो-यूरोपीनिस' भाग २, में अभी हाल में एम० एडोल्फे पिक्टेट ने इस समस्या का विवेचन किया है कि धर्म आरम्भ से ही अनेकदेवतावादी था जो प्रकृति की प्रमुख शक्तियों को अपने में आवृत करता था—जैसा कि तुलनात्मक भाषाविज्ञान दिखाता है कि आर्य जाति की विभिन्न शाखाओं के पृथक्करण के समय यही स्वरूप था, अथवा यह मूलतः एकेश्वरवादी था।

आपका विचार है कि यह अनेक देवतावाद, जैसा कि हम इसे आर्य इतिहास के उषाकाल में पाते हैं, केवल क्रमशः ही विकसित हुआ हो सकता है। इसके पहले अधिक सरलतर प्रणालियाँ रही होंगी (पृ० १५१)। अपनी इस उक्ति की आप इस बात के द्वारा पुष्टि करते हैं कि आर्य पुराकथाशास्त्र के अधिकांश देवताओं के नामों का प्रकृति के महान पदार्थों के साथ साम्य है जिनके सर्वाधिक विशिष्ट गुणों को ही ये नाम व्यक्त करते हैं। किन्तु यतः इन प्राकृतिक पदार्थों ने अपने विशेषणों को केवल अपने भौतिक गुणों मात्र से प्राप्त किया है, अतः मूलतः उस समय जब इन्होंने अपना नाम प्राप्त किया इन्हें देवता नहीं माना गया हो सकता। यदि आरम्भ से ही आर्यों में प्रकृति-पूजा विद्यमान रही होती तो उनकी भाषा में भी इसका कुछ चिह्न अवश्य सुरक्षित रहा होता। किन्तु इनकी भाषा प्राकृतिक घटनाओं के लिये व्यवहृत उपाधियों के सम्बन्ध में सर्वाधिक पूर्ण यथार्थवाद को ही प्रकट करती है। इस प्रकार अब यह स्पष्ट है कि महान प्राकृतिक वस्तुओं को उस समय देवता नहीं माना

जाता रहा होगा जब भाषा का निर्माण हुआ, तब आर्य मूलतः अनेकदेवतावादी भी नहीं रहे हो सकते। फिर भी, यह कल्पना नहीं करनी चाहिये कि इतनी प्रतिभा-सम्पन्न जाति, इस आरम्भिक समय में भी, हर प्रकार की धार्मिक भावनाओं और विश्वासों से रहित रही होगी। किन्तु यदि यह अनेकदेवतावादी नहीं तो एकेश्वरवादी रही होगी। एम० पिक्टेट अपने इस निष्कर्ष की देवता के सर्वाधिक प्राचीन नामों, जैसे देव, इत्यादि के उल्लेख द्वारा पुष्टि करते हैं। इन नामों को आप मूलतः अपनी उत्पत्ति के समय किसी प्राकृतिक वस्तु या घटना से सम्बद्ध मानते हैं। आर्यों के इस पूर्वग एकेश्वरवाद को आप उस आवश्यकता से उत्पन्न हुआ मानते हैं जिसका आर्यों ने जगत् को एक प्रथम कारण से उत्पन्न बताने में अनुभव किया होगा; और इसे उन्होंने स्वभावतः अपने सुपरिचित आवास, पृथिवी पर नहीं बल्कि रहस्यवादी और अगम्य आकाश में ही स्थित किया होगा। अतः इस परमेश्वर को, इस प्रकार 'देव' अथवा दिव्य कहा गया; और यतः इसके रहने का स्थान, आकाश, भी एक ही था, अतः इसे भी एक ही माना गया होगा। फिर भी, यह पूर्वग एकेश्वरवाद, बहुत स्पष्ट परिभाषित नहीं बल्कि एक अस्पष्ट तथा रूपरेखात्मक धारणा के रूप में ही रहा होगा। अन्यथा यह समझना सरल नहीं होगा कि यह किस प्रकार अनेकदेवतावाद में पतित हो गया। किन्तु यतः देवता का विचार रहस्यवादी अस्पष्टता में आवृत्त रहा, अतः स्तोताओं के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे अपने और उस परमेश्वर के बीच के कुछ देवताओं को भी ढूँढे जिनके माध्यम से वे परमेश्वर तक पहुँच सकें। प्राकृतिक घटनाओं की उस विविधता की व्याख्या करने के लिये भी यह आवश्यक था कि उन्हें दिव्य माध्यमों की विविधता द्वारा नियंत्रित माना जाय क्योंकि अभी वे लोग इतने विकसित नहीं हो पाये थे कि इन सबको एक केन्द्रीय शक्ति के समवेत कार्य द्वारा प्रेरित मान सकें। फिर भी, आरम्भ में अनेकदेवतावाद भी सरल रहा होगा तथा देवसभा का निर्माण करनेवाले अधीनस्थ देवताओं को एक परमेश्वर के ही मंत्री या अवयव माना गया होगा। आर्यों की विभिन्न शाखाओं के विभाजन के समय स्थिति ऐसी ही रही हो सकती है। फिर भी, एक बार क्रियाशील हो जाने के बाद अनेकदेवतावादी विचार देवताओं की संख्या में निरन्तर वृद्धि करते रहने की प्रवृत्ति को प्रगट करता है, जिसे हम वैदिक युग में भी देखते हैं। फिर भी, एकत्व का सिद्धान्त मानव मन पर इतना अधिक प्रभाव डालता है कि अवरुद्ध हो जाने पर भी एक परमेश्वर का विचार कभी भी नष्ट न होकर मेघाच्छन्न प्रकाश की भाँति बार-बार प्रकट होता रहता है। ऋग्वेद में एकेश्वरवाद के जो चिह्न मिलते हैं वे एम० पिक्टेट के विचार से ऊपर वर्णित

अधिक प्राचीन धर्म की स्मृतियाँ हैं, यद्यपि पुराकथाओं अथवा सूक्तों के विचारों में दिखाई पड़नेवाले अनेकदेवतावादी विचार भारतीय बुद्धि की एक नवीन प्रवृत्ति के परिणाम हैं। फिर भी, जहाँ भारतीयों ने इस प्रकार अनेकदेवतावाद को विकसित कर लिया, वहीं ईरानियों ने एक ओर पहले के समय में ऐसी परिष्कृत प्रणाली को ग्रहण किया जिसे द्वैतवादी नहीं बल्कि एकेश्वरवादी माना जाता है। और इन दोनों जातियों में जो धार्मिक पृथक्करण हुआ उसका उद्गम राष्ट्र के एक वर्ग द्वारा दूसरे में विकसित हो रहे अनेकदेवतावाद के प्रति प्रतिक्रिया में, तथा उस एकेश्वरवाद की पुनरावृत्ति में निहित हो सकता है जिसकी स्मृति सर्वथा लुप्त नहीं हुई थी। (पृ० ७०८ और बाद)।

मैं समझता हूँ कि आर्यों के पूर्वज धर्म की प्रकृति के सम्बन्ध में एम० पिक्टेट का सिद्धान्त उन तर्कों से कदाचित ही पुष्ट होता है जिन्हें वे इसके समर्थन में प्रस्तुत करते हैं।

१. यह सर्वथा सत्य हो सकता है कि वह जटिल अनेकदेवतावाद जो हमें ऋग्वेद के सूक्तों में मिलता है, अथवा वह संकीर्ण प्रणाली भी जिसे हम ईरानी और भारतीय शाखाओं के पृथक्करण के समय प्रचलित मान सकते हैं, अनेक शताब्दियों में धीरे-धीरे विकसित हुआ परिणाम हो सकता है। किन्तु यह इस बात को सिद्ध नहीं करता कि देवों की विविधता से युक्त प्रकृतिपूजा का एक सरलतर रूप भी इन जातियों के पूर्वजों में उनके इतिहास के आरम्भिक काल में विद्यमान नहीं रहा हो सकता। मैं इस निष्कर्ष के पीछे कोई तर्क नहीं देखता कि एकेश्वरवाद को ही इस प्रणाली का अनिवार्यतः आरम्भ-बिन्दु होना चाहिये।

२. पुनः इस तथ्य को कि बाह्य प्रकृति के महान पदार्थों, जैसे आकाश, पृथिवी, सूर्य को प्राचीनतम आर्य भाषा में केवल ऐसे नामों से ही व्यक्त किया गया था जो इनकी भौतिक प्रकृति मात्र के द्योतक थे, मान लेने पर भी एम० पिक्टेट का यह निष्कर्ष पुष्ट नहीं होता कि इन पदार्थों के नामकरण के समय इन्हें किसी भी दिव्य गुण से युक्त नहीं किया गया था। यद्यपि हम यह मानते हैं कि आकाश ('द्यु' अथवा 'दिव्') ने अपनी इस संज्ञा को अपनी प्रकाशमान प्रकृति से, पृथिवी अथवा मही ने अपने विस्तार से, और सूर्य (अथवा सविता) ने अपनी दीप्ति से प्राप्त किया था, तथापि इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि इन नामों से पुकारे जाने पर भी इन्हें साथ ही साथ दिव्य गुणों से युक्त जीवित शक्तियाँ नहीं माना जाता था। पूर्वज आर्यों की धार्मिक भावना चाहे कितनी भी शक्तिशाली क्यों न रही हो, उसका

अलौकिकता का आशय कितना भी सजीव क्यों न हो, और हम चाहे कितना भी जोर देकर यह स्वीकार करें कि वे प्रकृति के उन महान पदार्थों के देवीकरण के लिये प्रेरित थे जिनसे वे घिरे थे, फिर भी, यह स्पष्ट है कि इन पदार्थों द्वारा उनके मन पर उत्पन्न प्रभाव और भी शक्तिशाली रहा होगा; और यह भी कि फलस्वरूप आकाश, पृथिवी, सूर्य, आदि, यद्यपि देवता माने गये होने पर भी स्वभावतः उन नामों से ही पुकारे गये होंगे जो इनकी बाह्य विशिष्टताओं के द्योतक हैं, न कि उन वर्णनात्मक अभिधाओं से जो इनके दिव्य गुणों की अभिव्यंजक हैं।

यदि समस्या के समाधानार्थ इस प्रकार के व्युत्पत्तिशास्त्रीय तर्क पर विचार किया जाय तो इसी प्रकार हम भी इस बात पर जोर दे सकते हैं कि यतः 'वरुण' शब्द का अर्थ आवृत्त करनेवाला है, अतः यह आरम्भ में केवल आकाश का ही द्योतक रहा होगा (जैसा कि समकक्ष यूनानी शब्द 'यूरेनोस' बाद में हुआ) और किसी देवता का नाम नहीं रहा हो सकता। किन्तु यह निष्कर्ष यूनानी प्रयोग की चाहे जितनी भी पुष्टि करता हो, सर्वाधिक प्राचीन भारतीय साहित्य से पुष्ट नहीं होता जिसमें इस शब्द का आकाश के लिये कभी भी व्यवहार नहीं हुआ है।

साथ ही, ऐसे अनुसन्धानों में व्युत्पत्तियों पर बहुत अधिक निर्भर होना ठीक नहीं है क्योंकि इनमें से अनेक अत्यन्त अनिश्चित हैं।

मैं इसी विषय पर डा० ओटो फीडरर की पुस्तक 'डी रिलीजन', (भाग २, लीपज़िग, १८६९) से कुछ विचार उद्धृत करूँगा। इसे मैंने उस समय प्राप्त किया जब प्रस्तुत कृति का मुद्रण आरम्भ हो चुका था: "इस प्रकार हम यह देखते हैं कि धर्म के इस मौलिक रूप में (प्रमुख देवताओं के रूप में आकाश और पृथिवी की धारणा) ऐसी सामान्य शक्तियाँ पहले से विद्यमान हैं जिनकी ओर उपासक उन्मुख है। ये शक्तियाँ, अपनी सापेक्षिक अनन्तता के परिणामस्वरूप एक बालसुलभ मन में निरपेक्ष अनन्तता के विचार को उत्पन्न करने की क्षमता से पूर्णतया युक्त थीं। इसी कारण विशुद्धतः नैतिक भावनायें धर्म के इस मौलिक रूप में भी सम्भव और उस दिव्योपासना से सम्बद्ध हो सकीं; यद्यपि हमें किसी प्रकार यह नहीं मानना चाहिए कि मनुष्यों में आकाश और पृथिवी से भिन्न किसी दिव्य प्राणी का जैसे आकाश में आसीन एक सृजनात्मक देवता का विचार विद्यमान था। इस तथ्य से कि हमारी अपनी दशा में भी किसी देवता का विचार आकाश और पृथिवी की दृश्य अनन्तता द्वारा केवल जागृत अथवा उपकल्पित ही हो

सकता है उसके साथ समीकृत नहीं; हम मानवता के मौलिक काल के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते हैं : आरम्भिकतम जातियों के बालसुलभ विचार के लिये, आकाश और पृथिवी वह नहीं थे जो आज हमारे लिये हैं। उनके लिये तो ये जीवित प्राणी थे जो आत्मा से युक्त, मनुष्यों के समान ही कार्य करनेवाले तथा ज्ञान और इच्छा से युक्त थे जिनकी मनुष्य इस दृढ़ निश्चय के साथ स्तुति कर सकते थे कि उनकी इच्छायें सुनी जायँगी और पूर्ण होंगी। हमें वेद में ऐसी ही बालसुलभ स्तुतियाँ मिलती हैं : "पिता आकाश, माता पृथिवी, भ्राता अग्नि, हम पर कृपा करो।" एथेनियनों ने एक बाद के समय में यह स्तुति की : "हे प्रिय ज्यूस! एथेनियनों के कृषित भूमियों पर वर्षा करो, वर्षा करो।" इस पर मैक्समूलर यह उल्लेखनीय टिप्पणी करते हैं कि यह स्तुति स्पष्ट रूप से आकाश (ज्यूस अन्तरिक्षीय) को सम्बोधित है, यद्यपि 'प्रिय' शब्द मात्र को संयुक्त कर देने से आकाश एक व्यक्ति बन जाता है। चीनी पूर्वग स्तुति के साथ भी स्थिति ऐसी है : 'हे नीले आकाश! नीचे भाग्यशालियों पर दृष्टि करो और दुष्टों को घृणा से देखो।' इस स्तुति का विषयवस्तु एक ऐसे आध्यात्मिक प्राणी की पूर्वकल्पना करता है जो 'नीले' विशेषण के आधार पर आकाश के साथ सरलता से समीकृत हो सकता है। मैक्समूलर (साइंस ऑफ रिलीजन, २,४६१ और बाद) यहाँ यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या आकाश के लिये प्रयुक्त और देवता के लिये प्रयुक्त शब्द के समीकरण की व्याख्या (१) यह मान कर की जा सकती है कि यह शब्द आरम्भ में केवल दृश्य भूत पदार्थ आकाश की धारणा का द्योतक था, और यह अभिधात्मक संज्ञा बाद में उच्चतम आकाश में आसीन देवता के विचार पर स्थानान्तरित और अब तक के नामरहित प्राणी का एक सम्भाव्य नाम बन गई; अथवा (२) यह मान कर कि आकाश की और देवता की धारणा आरम्भ से ही मानव चेतना में अलग-अलग विद्यमान थी, और केवल अपने सादृश्य के परिणामस्वरूप ही दोनों विचारों के अभिव्यञ्जक के रूप में एक ही शब्द द्वारा व्यक्त हो गये। इन दोनों ही व्याख्याओं में देवता और आकाश के बीच

के सम्बन्ध पर अत्यन्त स्थूल दृष्टि से तथा अत्यन्त कल्पनात्मक दृष्टि से विचार किया गया प्रतीत होता है। अतः हमें इसे कुछ इस प्रकार समझना चाहिये : दिव्य, उज्ज्वल, असीम आकाश के ऐन्द्रिक अनुभव के द्वारा मानव चेतना में एक दिव्य प्राणी का विचार जाग्रत हुआ, और जब कल्पना ने वाणी के द्वारा इस ऐन्द्रिक अनुभव को 'आकाश' शब्द में व्यक्त किया तब साथ ही साथ और इसी अभिव्यक्ति के द्वारा उसने इसी शब्द से उच्चतम देवता के नाम को

भी व्यक्त कर दिया। अब हम दो वस्तुओं में जो विभेद करते हैं, और जो पुराकथाशास्त्र को समझने की कठिनाई का प्रमुख कारण है वह आरम्भिकतम मनुष्यों की कल्पना में अभी आरम्भ नहीं हुआ था। अतः उन मनुष्यों ने जब 'आकाश' का उच्चारण किया तब उन्होंने अपने विचार में इसे एक जीवित, क्रियाशील व्यक्ति के लिये व्यवहृत किया था, और जब उन्होंने 'देवता' शब्द का उच्चारण किया तब उन्होंने इसका दृश्य, स्वच्छ, नीले आकाश के लिये व्यवहार किया।"

प्रस्तुत विषय पर मैं दो हाल के फ्रेञ्च लेखकों के विचारों को भी उद्धृत करूँगा। इनमें से प्रथम एम० एडमण्ड शेरर हैं जो एक प्रसिद्ध समालोचक हैं। इन्होंने एम० रिश्टेट की आलोचना करते हुये ये विचार प्रकट किये हैं :—

"एम० रिश्टेट आर्यों के धर्म में दो परस्पर विरोधी प्रतीत होनेवाले तत्त्वों का विभेद करते हैं : (१) शुद्ध और उन्नत एकेश्वरवाद जो परमेश्वर को जगत् से भिन्न मानता है; और (२) एक अनेकदेवतावाद जो प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्तीकरण का परिणाम है और जो इन वस्तुओं को जीवन से युक्त करके एक सम्पूर्ण पुराकथाशास्त्र का सृजन कर देता है। एम० रिश्टेट इस प्रत्यक्ष विरोध की एक विकासक्रम द्वारा व्याख्या करते हैं। आपका विचार है कि मानव बुद्धि सरल से जटिल की ओर, एकत्व से विविधत्व की ओर अग्रसर हुई होगी; यह कि अनेकदेवतावाद की उत्पत्ति परमेश्वर और मनुष्य के बीच मध्यवर्ती प्राणियों की खोज की आवश्यकता द्वारा हुई होगी, और यह कि इस प्रकार यह प्रथम अथवा एकेश्वरवादी विचार को सर्वथा नष्ट किये बिना ही अपने को स्थापित करने में सफल हो गया होगा। इस प्रकार हमः पुनः उसी समस्या पर ला दिये जाते हैं जिसका सेमिटिक जातियों के अध्ययन में एम० रेनन ने विवेचन किया है, यद्यपि अन्तर इतना है कि एम० रेनन ने एकेश्वरवादी सर्जकों के रूप में सेमेटिकों का अनेकदेवतावादी सर्जकों के रूप में आर्यों के साथ विभेद किया है। सम्भवतः दोनों ही दशाओं में कठिनाई उसे एक सर्वथा विरोध को मानने में निहित है जो वास्तव में केवल सापेक्षिक है। न तो कभी था, और निःसन्देह न तो कभी होगा चाहे वह एक विशुद्ध देवतावाद हो अथवा कोई शुद्ध एकेश्वरवाद। इस प्रकार धर्म की एकमात्र इन दोनों तत्त्वों में से किसी समय एक की दूसरे पर प्रधानता के रूप में ही परिभाषा की जा सकती है। और इनका इतिहास क्रमिक स्तरों में एक से दूसरे पर संक्रमित होने की अपेक्षा दोनों के सहअस्तित्व और संघर्ष में निहित है जो

मानव आत्मा की दो उन आवश्यकताओं के अनुकूल है जो समान रूप से बढ़ती हैं।" (मेलैञ्जेज़ द'हिस्टॉयर रिलीजियसे, पृ० ३५ और बाद)।

इसी विषय पर आलोचनात्मक सम्प्रदाय के एक अन्य धर्मशास्त्री, एम० ऐलबर्त रेविले (रेव्यू देस ड्यूक्स मॉण्डेस', फरवरी १८६४, पृ० ७२१ और बाद में) इस प्रकार लिखते हैं :—

"यदि हम अपने सामने इस बात को पुष्ट करनेवाले तथ्य रक्खें कि मानव बुद्धि की गति ऐसी (जैसी एम० पिक्टेट कहते हैं) थी तब हमें यह मानना पड़ेगा कि, सम्पूर्ण सम्भावनाओं के विपरीत, मनुष्य अत्यन्त गहन अज्ञानता में पड़ा होने पर भी, धार्मिक सत्यों को ग्रहण करने में उससे कहीं अधिक सक्षम था जितना कि जानने और विचारने के युग में वह हो सका। क्या इन तथ्यों का कोई अस्तित्व है? जब तक कि इसका उदाहरण प्रस्तुत करनेवाले किसी तथ्य को प्रस्तुत नहीं किया जाता तब तक क्या हमें अनेक तुलनाओं द्वारा पुष्ट इस परिकल्पना को ग्रहण नहीं करना चाहिये कि धर्म का एक क्रमिक उत्थान हुआ (जैसा कि अन्य सभी क्षेत्रों में भी मानव बुद्धि की गति है) और वह सरल तत्वों से उत्तरोत्तर अत्यन्त उदात्त धारणाओं की ओर अग्रसर हुआ?" पुनः "यह स्पष्ट है, और एम० पिक्टेट इसे पूर्णतया स्वीकार करते हैं कि हमारे पूर्वज अपने पृथक्करण के पूर्व अनेकदेवतावादी थे; किन्तु उस समय यह अनेकदेवतावाद कल की वस्तु नहीं था। इसका एक इतिहास था; और यह अब केवल समय की बात है कि अनेकदेवतावादी धर्म के ऐतिहासिक विकास में एकेश्वरवाद के अनुमान, बीज, पूर्वभाव अवश्य रहे होंगे। जिस क्षण दिव्य प्राणियों की विविधता को स्वीकार किया जाता है उसी क्षण उनके बीच दिव्य प्रकृति का एक समुदाय भी स्वीकृत हो जाता है। इसी प्रकार ऐसी उपाधियाँ जैसे 'चमकदार', 'पूज्य', 'जीवित', 'पराक्रमी', कालान्तर में स्वयं हमारे शब्द 'ड्यू' की ही भाँति सत्तावाचक बन जाती हैं। आकाश मूर्तीकृत होकर उपासना की वस्तु बन जाता है और शीघ्रता से एक ऐसे परमेश्वर की प्रकृति अर्जित कर लेता है जो अन्य सब से श्रेष्ठ तथा दुर्जेय आयुध, वज्र का अधिपति है। इस प्रकार अधिकांश पुराकथाओं में आकाश वही है जो यूनानी, जुपीटर, देवों और मनुष्यों का सम्राट और पिता है। संक्षेप में, यह स्पष्ट है कि मानव बुद्धि, जिस अनुपात में वह देखती और विचारती है उसी में अधिकाधिक एकेश्वरवाद की ओर उन्मुख होती है। यह उसी दुर्धर्ष नियम के अनुसार होता है जो मानव में बुद्धि की गहराइयों में प्रच्छन्न रहता है और उसे एकत्व की तात्विक खोज की ओर प्रेरित करता है। किन्तु यह गति अत्यन्त मन्द और परम्परा तथा आदतों की शक्ति द्वारा अवरुद्ध होती है, और हमें

इसे आरम्भ में ही स्थान नहीं देना चाहिये क्योंकि यह सम्पूर्ण प्रक्रिया के अन्तिम चरण में ही मिलती है।"

अब मैं प्रो० आर० रॉथ के 'हायेस्ट गॉड्स आफ दि एरियन रेसेज' नामक लेख (जअओसो० ६.७६ और बाद) के कुछ उद्धरणों से समाप्त करूँगा, जिनमें लेखक ने यह मानते हुये कि इन जातियों का धर्म अपने आरम्भिक स्तरों पर उस अपेक्षाकृत अधिक आध्यात्मिक तत्व से युक्त था जो अन्ततः एक परिष्कृत रूप में जोरोआस्ट्रियन सम्प्रदाय में सुरक्षित रहा, एक ऐसी प्रकृति-पूजा की पद्धति को मानते हैं (जो उस ज्येष्ठ धर्म में भी निहित थी) जो बाद में भारतीय पुराकथाशास्त्र में सर्वप्रमुख तत्व बन गया। अतः हमें रॉथ को भी एम० व्हिटेट के एक पूर्वग एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का विरोधी मानना होगा। इस स्थल का अधिकांश एक अन्य खण्ड में पहले ही दिया जा चुका है, किन्तु उसके अधिकांश भाग को यहाँ दोहराना आवश्यक है। साथ ही आरम्भिक पैरा को भी यहाँ जोड़ दिया गया है जिसके पूरे अंश का वर्तमान अध्ययन के लिये महत्व बढ़ जाय।

"किन्तु जो प्रस्तुत अनुसन्धान की रोचकता में और वृद्धि कर देता है, और जिसका पूर्व काल के सन्दर्भ में एक विशेष महत्व है, आदित्यों की धारणा से सम्बद्ध विशिष्टता है। इन देवताओं के नाम (वरुण के सम्बन्ध में कुछ अपवादों को छोड़कर) किसी ऐसे विचार से युक्त नहीं हैं जिन्हें भौतिक प्रकृति से लिया गया हो। इसके विपरीत ये सभी नैतिक और सामाजिक जीवन के साथ कुछ सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं। मित्र, अर्यमा, भग, अंश, दक्ष, आदि ऐसी विशुद्ध आत्मायें हैं जिनमें मानव संसर्ग के श्रेष्ठतम सम्बन्ध प्रतिबिम्बित हुये हैं और इसलिये ये एक दिव्य जीवन के विकास तथा तात्कालिक दिव्य सुरक्षा की वस्तु प्रतीत होते हैं। किन्तु यदि आर्य प्राचीनता ने अपने उच्चतम देवों में भौतिक प्रकृति के प्रमुख प्राकट्यों को नहीं बल्कि नैतिक जीवन और समाज की स्थितियों को देखा, और परिणामस्वरूप इन नैतिक आशीर्वादों को ही इन्द्रिय सुखों और आवश्यकताओं से अधिक प्रशंसनीय माना, तब हमें उस युग को एक उच्च आध्यात्मिक क्षमता से युक्त मानना होगा, उसकी बाह्य सभ्यता के घटकों में चाहे जो भी कमी रही हो।

"ये विचार उन दो आर्य धर्मों के सिद्धान्तों और स्वरूपों पर कुछ प्रकाश डालते हैं जो एक ही स्रोत से उत्पन्न हुये थे। ओर्मुज्द का धर्म, अपने विशेष रूप में विकसित होने पर भी उस अतीन्द्रिय तत्व को निष्ठापूर्वक सुरक्षित रखता है जो प्राचीन धर्म से सम्बद्ध देवों के उच्चतर स्वरूप द्वारा आवश्यक है और प्रकृति की शक्ति को व्यक्त करनेवाले देवों को अन्ततः अस्वीकृत कर

देता है जिन्हें तथा प्रथम वर्ग के देवताओं को हमने प्राचीनतम काल से उत्तराधिकार में प्राप्त किया था। दूसरी ओर, वैदिक मत, इस द्वितीय वर्ग के देवताओं को उच्चतम पद प्रदान करने की तैयारी करता है, और इन्हें उत्तरोत्तर अधिकाधिक सम्मान तथा मर्यादा से युक्त करता हुआ प्रकृति में एक दिव्य जीवन का प्रचार करके उसे मनुष्य के निकट ला देता है। इसका प्रमाण-विशेष रूप से इन्द्र की पुराकथा में मिलता है। इन्द्र एक ऐसा देवता है जिसका आर्यों के धार्मिक इतिहास के और पहले के युग में या तो कोई अस्तित्व नहीं था अथवा एक अज्ञात क्षेत्र तक ही सीमित था। जेन्द आख्यान एक अन्य देवता को उन कर्मों से युक्त करता है जो बाद में इन्द्र की पुराकथा के सार-तत्व बन गये। यह देवता, त्रित, फिर भी, वैदिक युग में भारतीय पुराकथा-शास्त्र से लुप्त हो जाता है और इसका स्थान इन्द्र ग्रहण कर लेता है। और न केवल ऐसा ही है, वरन् इस युग के अन्त में इन्द्र स्वयं वरुण तक को, जो प्राचीन धर्म का उच्चतम देवता था, उस स्थान से च्युत कर देता है जो अंशतः ऐतिहासिक साधनों से और अंशतः उसकी प्रकृति की धारणा से ही उसके साथ संयुक्त था। इस प्रकार इन्द्र यदि सर्वोच्च देवता नहीं तो कम से कम राष्ट्रीय देवता बन जाता है जिसे उसके उपासक वरुण से भी ऊँचा स्थान देते हैं।" ......"घटनाओं की यह गति, इस प्रकार, ऐसी है कि एक प्राचीन सर्वोच्च देवता, जो मूलतः आर्यों में (अर्थात् पर्शियनों और भारतीयों के पूर्वजों में) समान रूप से प्रतिष्ठित था, और सम्भवतः सम्पूर्ण इण्डो-जर्मनिक जातियों में उसका ऐसा ही स्थान था, यह वरुण ओरमुज्द—यूरेनोस, अब अन्धकार में धकेल दिया गया और उसके स्थान पर एक विशिष्टतः भारतीय देवता, इन्द्र एक राष्ट्रीय देवता के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। वरुण के साथ ही इस जाति की प्राचीन विशिष्टतायें भी लुप्त हो जाती हैं, जब कि इन्द्र के साथ एक नवीन प्रकृति, जो पूर्वतन इण्डो-जर्मनिक प्रकृति से भिन्न है, समान शक्ति के साथ प्रतिष्ठित हो जाती है। इस आन्तरिक सारतत्व को देखने से आर्यों की धार्मिक धारणाओं में यह परिवर्तन उस सतत सशक्त होनेवाली प्रवृत्ति में निहित दिखता है जिसके अनुसार अपने धर्म के रहस्यवादी, अतीन्द्रिय पक्ष को उस सीमा तक परिवर्तित कर दिया गया है कि जो देवता पहले सर्वाधिक आध्यात्मिक थे वही अब प्रकृति के निरर्थक प्रतिनिधि बन गये, और वरुण समुद्र के शासक से अधिक कुछ नहीं, जब कि आदित्य भी केवल सूर्य-पथ के केवल दिक्पाल मात्र हैं।

"अब भारतीय मत में उच्चतर और अधिक आध्यात्मिक तत्व इस प्रकार इतने अधिक घट गये, तब एक प्रतिक्रिया का आरम्भ भी आवश्यक हो गया", इत्यादि।

यद्यपि गत स्थल के अन्त में 'प्रो० रॉथ एक ऐसे प्राचीन सर्वोच्च देवता का उल्लेख करते हैं जो सभी आर्य जातियों में समान था, तथापि सम्पूर्ण प्रसंग से यह स्पष्ट है कि आप इस देवता को उन आर्यों का एकमात्र उपास्य नहीं मानते क्योंकिआप देवों की विविधता के अस्तित्व को भी स्वीकार करते हैं। अपने लेख के पहले के अंशों में भी, रॉथ वैदिक युग में वरुण और एक अन्य मित्र नामक देवता के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध की चर्चा करते हैं (पृ० ७०)—एक ऐसे सम्बन्ध की जो एक पहले के समय से ही चला आ रहा प्रतीत होता है। और पृ० ७४ पर आप यह कहते हैं कि वरुण के कर्म और मर्यादा में अन्य आदित्यों का भी भाग था यद्यपि इनको कोई पृथक् क्षेत्र नहीं दिया जा सकता, जब कि वरुण इनकी सत्ता में प्रथम और सम्पूर्ण वर्ग की शक्तियों को स्वयं व्यक्त करते हैं। यदि यह वर्णन प्राचीन आर्य धर्म के प्रति भी उपयुक्त हो तो उसे उचित रूप से एकेश्वरवादी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि अन्य की अपेक्षा किसी एक देवता का प्राधान्य रहा हो सकता है।



खण्ड २२

ऋग्वेद और अथर्ववेद से उद्धृत कुछ स्फुट सूक्त[५१६]

जैसा कि सुविदित है, ऋग्वेद के सूक्तों की प्रकृति प्रायः सर्वथा धार्मिक है जिनका सृजन अथवा ग्रहण विभिन्न लोकप्रिय देवताओं की उपासना के समय अथवा प्राचीन भारतीयों के कौटुम्बिक अथवा सार्वजनिक जीवन से सम्बद्ध विविध संस्कारों या कृत्यों के समय उच्चारण के लिये किया गया था। इनके बीच-बीच में, फिर भी, कुछ अन्य प्रकार के सूक्त भी बिखरे हैं जो अपनी प्रख्याति के कारण अपने प्रणेताओं के वंशजों द्वारा सुरक्षित रक्खे गये हैं और इन्हें पवित्र सामग्री के इस महान् संग्रह में स्थान दिया गया है। इस प्रकार की कुछ रचनाओं को, जैसे यम और यमी का वार्तालाप, पुरूरवा और अप्सरा उर्वशी का अत्यन्त अस्पष्ट वार्तालाप (ऋग्वेद १०.९५)[५१७] और वृषाकपि सूक्त (ऋग्वेद १०.८६) को इसलिये महत्त्व दिया गया है कि इनमें वार्ता करनेवाले लोग या तो देवता अथवा ऋषियों के प्रसिद्ध पूर्वज हैं। अन्य सूक्त, जैसे दसवें मण्डल के ७२ वें, ९० वें और १२९ वें अपने विषयवस्तु अथवा अपने विचारों की गहनता के कारण स्तुत्य हैं। पुनः कुछ अन्य, जैसे, प्रो० रॉथ द्वारा ऋग्वेद की ऐतिहासिक सामग्रियों के विषय पर अपने लेख में उल्लिखित सूक्त[५१८] प्रतिस्पर्धी पुरोहितों के वंशजोंके लिये महत्त्वपूर्ण थे क्योंकि इनमें उनकी प्रतिद्वन्द्विताओं का उल्लेख है।[५१९] और ये सूक्त जो विभिन्न राजाओं की अपने पारिवारिक पुरोहितों के प्रति दानशीलता की प्रशंसा करते हैं, स्वभावतः इन पुरोहितों के उत्तराधिकारियों द्वारा सतर्कतापूर्वक सुरक्षित रक्खे गये हैं।

प्रस्तुत खण्ड में मैं ऋग्वेद और अथर्ववेद दोनों से ही कुछ ऐसे सूक्तों को उद्धृत करूँगा जो केवल अंशतः ही धार्मिक प्रकृति से युक्त हैं तथा मानव चरित्र, स्वभाव, भावनाओं, वेदनाओं, और स्थितियों का उल्लेख करने के कारण अधिक रोचक हैं। साथ ही पवित्र कर्मों पर प्रकाश डालने तथा इनके विषयवस्तु की कुछ अन्य विशिष्टताओं के कारण इनका महत्त्व है। इनमें से

---

[५१६] मैं प्रो० आफरेक्ट की सहायता का आभारी हूँ।

[५१७] प्रो० मैक्समूलर (एसेज़ ऑन कम्प० माइथॉलोजी) भी इस पुराकथा का अनुवाद देते हैं।

[५१८] ज़ुर लिट्रेटर उण्ट गेशिख्टे डेस वेद पृ० ८७।

[५१९] देखिये प्रस्तुत कृति का पहला भाग।

कुछ सूक्तों में एक सूत्रप्राय रूप से पर्याप्त तीक्ष्णता और सांसारिक व्यवहार-कुशलताओं को व्यक्त किया गया है।

(१) अरण्याणी को सम्बोधित सूक्त

(ऋग्वेद १०.१४६)

पहला सूक्त जिसे मैं दे रहा हूं और जो अरण्य-देवी को सम्बोधित है, उस काव्यात्मक भावना के कारण विशिष्ट है जिससे यह ओत-प्रोत है और उस स्वाभाविकता के कारण भी जिससे यह वर्णित स्थितियों से उत्पन्न भावों को व्यक्त करता है, यद्यपि इसके कुछ विचारों की व्याख्या कठिन है। इसे तैत्तिरीय ब्राह्मण (२ ५,५,५,६ और बाद) में दोहराया गया है, तथा इस कृति के भाष्यकार ने इस पर टीका भी की है। (देखिये रॉथ का निरुक्त, पृ० १३२ भी)।

१. अरण्यानि अरण्यानि असौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न गच्छसि न त्वा भीर् इव विन्दति। २. वृषारवाय वदते यद् उपावति चिच्चिकः। आघाटिभिर् इव धावयन् आरण्यानिर् महीयते। ३. उत गाव इवादन्ति उत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिः सायं शकटीर् इव सर्जति। ४. गाम् अङ्गैष आ ह्वयति दार्व् अङ्गैषो अपावधीत्। वसन्न् अरण्यान्यां सायम् अक्रुक्षद् इति मन्यते। ५. न वै अरण्यानिर् हन्ति अन्यश् चेन नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते। ६. आञ्जनगन्धां सुरभिम् बह्वन्नाम् अकृषीवलाम्। प्राहम् मृगाणाम् मातरम् अरण्यानिम् अशंसिषम्।

"१. हे अरण्यानी! तुम देखते-देखते ही दृष्टि से ओझल हो जाती हो। तुम ग्राम के मार्ग पर क्यों नहीं जातीं? क्या तुम एकाकी रहने में भयभीत नहीं होतीं? २. कोई जन्तु वृषभ के समान शब्द करता है और कोई 'चीं' करता हुआ ही उसका उत्तर-सा देता है; उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि वे वीणा के स्वर द्वारा अरण्यानी का यश गान करते हैं। ३ इस वन में कहीं गायें चरती हैं और कहीं लता गुल्म आदि से निर्मित कुटीर दिखाई पड़ते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि सायंकाल में वनमार्ग से अनेक शकट निकल रहे हों। ४ अरण्यानी में निवास करनेवाला व्यक्ति रात्रि में शब्द सुनता है। एक पुरुष गाय को बुलाता है, और दूसरा पुरुष वृक्ष से लकड़ी काटता है। ५. अरण्यानी स्वयं घातक नहीं है यदि वहाँ कोई अन्य (व्याघ्र इत्यादि) आक्रमण न करे। किन्तु मधुर फलों को खाने के बाद मनुष्य वहाँ इच्छानुसार विश्राम करता है। ६. कस्तूरी के समान अरण्यानी सुरभिपूर्ण है। वह अन्न से परिपूर्ण है। पहले वहां कृषि का अभाव था। वह हरिणों की आश्रयदात्री है। मैं इस प्रकार उस बृहद् अरण्यानी की स्तुति करता हूं।"

अगला सूक्त जो मैं प्रस्तुत करूँगा उसमें विभिन्न मनुष्यों के उद्देश्यों और अभीष्टों के विविध प्रकारों का चित्रण है। एक सरल निरीक्षण ही इसकी विशिष्टता है जो यद्यपि व्यंग से अमिश्रित नहीं है। यह कवि के माता और पिता द्वारा अपनाये गये व्यवसायों के उद्घाटन के कारण भी रोचक है यद्यपि यह उनके वर्ण का कोई उल्लेख नहीं करता।

(२) ऋग्वेद ९.११२

१. नानाना वै उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम् । तक्षा रिष्टं रुतम् भिषग् ब्रह्मा सुन्वन्तम् इच्छति इन्द्राय इन्दो परिस्रव । २. जरतीभिर् ओषधीभिर् पर्णेभिः शकुनानाम् । कार्मारो अश्मभिर् द्युभिर् हिरण्यवन्तम् इच्छति । ३. कारुर् अहं ततो भिषग् उपलप्रक्षिणी नना । नानाधियो वसूयवो अनु गाः इव तस्थिम । ४. अश्वो वोळ्हा सुखं रथं हसनाम् उपमन्त्रिणः । शेपो रोमन्वन्तौ भेदौ वार् इन् मण्डूकः इच्छति ।

"१ हमारे कर्म विभिन्न प्रकार के हैं, बढ़ई काष्ठ के कार्य की कामना करता है; ब्राह्मण सोम का अभिषवण करनेवाले यजमान की कामना करता है और वैद्य रोग की कामना करता है। उसी प्रकार मैं सोम की कामना करता हूँ। हे सोम ! तुम इन्द्र को सींचो ।[१००] २ उज्ज्वल शिलाओं, पुराने काष्ठों और पक्षियों के पंखों से बाणों को बनाया जाता है ! अपने बाणों के विक्रयार्थ शिकारकार धनी पुरुषों को ढूँढ़ता है। वैसे ही मैं ···। ३. मैं स्तोता हूँ, पुत्र वैद्य है, और कन्या जौ पीसने का कार्य करती है। हम सब पृथक्-पृथक् कार्य करते हैं। गायें जैसे गोष्ठ में घूमती हैं वैसे ही धन की कामना करते हुये हम भी हे सोम, तुम्हारी परिचर्या करते हैं। हे सोम ··।[१०१] ४. जैसे अश्व सुन्दर, कल्याणकारी और सरलता से चलने योग्य रथ को चाहता है, जैसे समानचित्त व्यंगात्मक बात की इच्छा करते हैं, जैसे स्त्री पुरुष की इच्छा करती है, और मण्डूक सरोवर की इच्छा करता है, वैसे ही हे सोम मैं··· इत्यादि।"

(३) ऋग्वेद १०.३४

अगला सूक्त, जो ऐसे व्यक्ति द्वारा रचित है जो अपने कटु अनुभवों के परिणामों को हमारे समक्ष रखता है अत्यन्त स्पष्टता तथा वर्णन-सूक्ष्मता के साथ जुआ खेलने के उन प्रलोभनों और कष्टों का वर्णन करता है जिन्हें उस

---

[१००] इस मन्त्र का अन्तिम पद, सम्भवतः एक बाद के समय का प्रक्षेप है।

[१०१] रॉथ ने इसके पहले के तीनों मन्त्रों का अनुवाद किया है (निरुक्त, पृ० ७४)।

आरम्भिक युगों तक में उसी प्रकार अनुभव किया गया था जैसे आज किया जा सकता है :—

१ (= निरुक्त ९.८) : प्रावेपा: मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजाः इरिणे वर्वृतानाः। सोमस्य इव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर् मह्यम् अच्छान्। २. न मा मिमेथ न जिहीळे एषा शिवा सखिभ्यः उत मह्यम् आसीत्। अक्षस्य अहम् एकपरस्य हेतोर् अनुव्रताम् अप जायाम् अरोधम्। ३. द्वेष्टि श्वश्रूर् अप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्। अश्वस्य इव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्। ४. अन्ये जायाम् परिमृशन्ति अस्य यस्य अगृधद् वेदने वाजी अक्षः। पिता माता भ्रातरः एनम् आहुर् न जानीमो नयत बद्धम् एतम्। ५. यद् आदीध्ये न दविषाणि एभिः परायद्भ्यो अव हीये सखिभ्यः। न्युप्ताश् च बभ्रवो वाचम् अक्रत एमि इद् एषां निष्कृतं जारिणी इव। ६. सभाम् एति कितवः पृच्छमानो जेष्यामि इति तन्वा शूशुजानः। अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामम् प्रतिदीव्ने दधतः आ कृतानि। ७. अक्षासः इद् अंकुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस् तपनास् तापयिष्णवः। कुमारदेष्णाः जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ताः कितवस्य बर्हणा। ८. त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रातः एषाम् देवः इव सविता सत्यधर्मा। उग्रस्य चिद् मन्यवे न नमन्ते राजा चिद् एभ्यो नमः इत् कृणोति। ९. नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते। दिव्याः अङ्गाराः इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर् दहन्ति। १०. जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क स्वित्। ऋणावा बिभ्यद् धनम् इच्छमानो अन्येषाम् अस्तम् उप नक्तम् एति। ११. स्त्रियं दृष्ट्वाय कितवं तताप अन्येषां जायां सुकृतं च योनिम्। पूर्वाह्णे अश्वान् युयुजे हि बभ्रून् सो अग्नेर् अन्ते वृषलः पपाद। १२. यो वः सेनानीर् महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव। तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहम् प्राचीस् तद् ऋतं वदामि। १३. अक्षैर् मा दीव्यः कृषिम् इत् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः। तत्र गावः कितव तव जाया तद् मे वि चष्टे सविताऽयम् अर्यः। १४. मित्रं कृणुध्वं खलु मृळत नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु। नि वो नु मन्युर् विशताम् अरातिर् अन्यो बभ्रूणाम् प्रसितौ नु अस्तु।

"१. जब चौसर के ऊपर श्रेष्ठ पासे इधर से उधर जाते हैं तब उन्हें देखकर अत्यन्त विनोद होता है। पर्वत पर उत्पन्न होने वाली श्रेष्ठ सोमलता का पान करने पर जो हर्ष होता है वही काष्ठ के बने पासों से मुझे होता है। २. मेरी यह सुन्दर सुशीला भार्या मुझसे कभी असन्तुष्ट नहीं हुई। यह सदैव

सेवी और कुटुम्बियों की सेवा करती है। परन्तु इस पासे ने ही मुझसे अत्यन्त प्रेम करनेवाली भार्या को पृथक् कर दिया। जूआ खेलनेवाले पुरुष की सास उसे कोसती है और उसकी सुन्दर पत्नी भी उसे त्याग देती है। जुआरी को कोई भी कुछ उधार नहीं देता। जैसे वृद्ध अश्व को कोई नहीं लेता वैसे ही जुआरी को कोई पास में भी नहीं बैठने देता। ४. पासे के प्यारे आकर्षण में जुआरी लिप्त रहता है। उसके पासे की चाल व्यर्थ होने पर उसकी भार्या भी उत्तम धर्मवाली नहीं रहती; जुआरी के माता-पिता और भ्राता भी उसे न पहचानने का ढंग अपनाते हुये उसे पकड़वा देते हैं। ५. मैं अनेक बार यह चाहता हूँ कि अब जूआ नहीं खेलूँगा। यह विचार करके जुआरियों का साथ भी छोड़ देता हूँ। परन्तु चौसर पर पीले पासों को देखते ही मन विचलित हो उठता है और मैं विवश होकर जुआरियों के स्थान की ओर गमन करता हूँ।[६०२] ६. जब जुआरी उत्साहपूर्वक जीतने की आशा से जुये के स्थान पर पहुँचता है तब कभी तो उसकी इच्छा पूर्ण हो जाती है और कभी उसके विपक्षी की बलवती कामना पूर्ण होती है। ७. परन्तु जब हाथ की चाल व्यर्थ हो जाती है तब पासा भी विद्रोही हो जाता है और जुआरी के अनुकूल नहीं चलता। तब वही पासा जुआरी के हृदय में बाण के समान प्रविष्ट होता है; छुरे के समान त्वचा को काटता, अंकुश के समान चुभता और तपे हुये लोहे के समान दग्ध करनेवाला होता है। जो जुआरी जीतता है उसके लिये पासा पुत्र-जन्म के समान हर्ष देता है। संसार भर का माधुर्य उसी में भर जाता है। परन्तु पराजित जुआरी का तो मरण ही हो जाता है। ८. चौसर पर तिरपन पासे क्रीड़ा करते हैं; जैसे सूर्य अपनी रश्मियों सहित क्रीड़ा कर रहे हों। पासा महान वीर के वश में भी नहीं रहता। राजा भी इस पासे के सम्मुख नत हो जाते हैं। ९. इन पासों के हाथ न होते हुये भी कभी ऊपर उठते और कभी नीचे जाते हैं। हाथवाले पुरुष इनसे हारते हैं। यह भूमि से सम्पर्क होने पर प्रज्वलित अंगारे के समान चौसर पर प्रतिष्ठित होते हैं। स्पर्श में शीतल होते हुये भी ये हृदय को दग्ध कर डालते हैं। १०. जुआरी की पत्नी सर्वदा संतप्त रहती है, उसका पुत्र भी मारा-मारा फिरता है। अपने पुत्र की चिन्ता में वह और भी चिन्तातुर रहती है। जुआरी सदा दूसरों के आश्रय में ही रात्रि व्यतीत करता है। उसे जो कोई कुछ ऋण देता है उसे अपने धन के लौटने में सन्देह रहता है। ११. यद्यपि जुआरी अपनी स्त्री के सन्ताप से सन्तप्त रहता है, तथापि दूसरों की स्त्रियों के सौभाग्य और ऐश्वर्य को देखकर सर्वसन्तप्त रहता है। जो जुआरी

६०२ देखिये निरुक्त १२.७ ।

धन जीतने पर प्रातःकाल आश्वारूढ़ होकर आता है सायंकाल उसी के शरीर पर वस्त्र तक नहीं रहता। इसलिये जुआरी का कोई ठिकाना नहीं। १२. हे अक्ष! तुममें जो प्रमुख है उसे मैं अपने हाथों की दसों अँगुलियों को मिलाकर नमस्कार करता हूँ।[९०३] मैं तुमसे धन की कामना नहीं करता। १३. हे जुआरी, जूआ छोड़कर कृषि करो। उसी में जो लाभ हो उससे सन्तुष्ट रहो। इसी कृषि के प्रभाव से गायें और भार्या आदि प्राप्त करोगे। यही सूर्य का कथन है। १४. हे अक्षो! हमको मित्र मानकर हमारा कल्याण करो। हम पर अपना विपरीत प्रभाव मत डालो। तुम्हारा क्रोध हमारे शत्रुओं पर हो; वही तुम्हारे वशीभूत हों।"

ऋग्वेद और अथर्ववेद के सूक्तों की रचना के समय जूये के व्यसन का अत्यन्त प्रचलित होना अनेक अन्य उल्लेखों से भी पुष्ट होता है। इस प्रकार ऋग्वेद ७.८६,६ में पासों का मदिरा, क्रोध, विचारहीनता, आदि के पाप के कारणों के रूप में उल्लेख है। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्र भी इसी बात को प्रमाणित करते हैं:—

अवे० ७.५०,१ : यथा वृक्षम् अशनिर् विश्वाहा हन्ति अप्रति। एवाहम् अद्य कितवान् अक्षैर् बध्यासम् अप्रति। २. तुराणाम् अतुराणाम् विशाम् अवर्जुषीणाम्। समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतम् मम।

"१. जिस प्रकार विद्युत प्रतिदिन वृक्ष पर घातक प्रहार करता है उसी प्रकार मैं भी पासे से जुआरियों पर प्रहार करूँ। २. धनियों और निर्धनों का धन मेरे हाथों में जीत के रूप में एकत्र हो।"

७.१०९.१ : इदम् उग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी। घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडाति ईदृशे। २. घृतम् अप्सराभ्यो वह त्वम् अग्ने पांसून् अक्षेभ्यः सिकताः अपश् च। यथाभागं हव्यदातिं जुषाणः मदन्ति देवाः उभयानि हव्या। ३. अप्सरसः सधमादम् मदन्ति हविर्धानम् अन्तरा सूर्यं च। ताः मे हस्तौ संसृजन्तु घृतेन सपत्नम् मे कितवं रन्धयन्तु। ४. आदिनवम् प्रतिदीव्ने घृतेन अस्मान् अभि क्षर। वृक्षम् इवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति। "१. विजय प्राप्त करानेवाले देवताओं को नमस्कार। यह बभ्रु पासों से विजय देते हैं। मैं मन्त्र से अभिमन्त्रित घृत से पासों को व्याप्त करता हूँ। वे बभ्रु देवता इस जय-विजयात्मक कर्म में हमें सुखी करें। २. हे अग्ने! अन्तरिक्ष में स्थित अप्सराओं को घृत पहुँचाओ। हमारे प्रतिद्वन्द्वियों को जल और धूल दो! इन्द्रादि देवता हवि भक्षण करते हुये तृप्त हों। ३ अप्सरायें मेरे खेलनेवाले हाथों को घृत के

[९०३] तुकी० अवे० ५ २८,११, और वासं० १६.६४।

समान विजय रूप फल प्राप्त कराते हुये मेरे प्रतिद्वन्द्वी को अधीन करें। ४. हे देव। मैं अपने प्रतिद्वन्द्वी का पराभव करने के लिये खेलता हूँ। मुझे जयरूप फल से सम्पन्न करो। जो हमसे प्रतिद्वन्द्विता करता है उसे विद्युत से भस्म वृक्ष के समान नष्ट करो।"

६.११८,१। यद् हस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाणि अक्षाणां गणम् उपलिप्समानाः। उग्रम्पश्ये उग्रजितौ तद् अद्याप्सरसाव् अनु दत्ताम् ऋणं नः।

"हाथ-पाँव आदि से हमसे जो पाप हो गया हो तथा भोगलिप्सा के लिये हमने जो ऋण लिया हो उसको उग्रम्पश्या और उग्रजित् अप्सरायें चुका दें।"

४.३८,१। उद्भिन्दतीं सञ्जयन्तीम् अप्सराम् साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि कृण्वानाम् अप्सरां तम् इह हुवे। २. विचिन्वतीम् आकिरन्तीम् अप्सराम् साधुदेविनीम्। ग्लहे कृतानि गृह्णानाम् अप्सराम्। ३. या आयैः परिनृत्यति आददाना कृतं ग्लहात्। सा नः कृतानि सीषती प्रहाम् आप्नोतु मायया। सा नः पयस्वती ऐतु मा नो जैषुर् इदम् धनम्। ४. याः अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोध च बिभ्रति आनन्दिनीम् प्रमोदिनीम् अप्सरां ताम इह हुवे।

"१. द्यूतक्रिया की अधिदेवता, विजय कराती हुई, अक्षशलाका आदि से सुन्दर क्रीड़ा करनेवाली अप्सरा को मैं इस द्यूतविजय के कर्म में बुलाता हूँ। २ पासों को एकत्रित कर उन्हें बहुत से कोष्ठों में विजय हेतु डालती हुई अक्षशलाका आदि से सुन्दरतापूर्वक खेलनेवाली द्यूतक्रिया की अधि···। ३. जो अप्सरा कृतादि द्यूतों से कथित अक्ष क्रीड़ाओं से विजय प्राप्त होने के कारण नृत्य करती है वह ग्रहणयोग्य पासों में कृत नामक चार अंकवाले अक्षों को बचाती हुई फेंकनेयोग्य पासों पर अपनी माया सहित प्रतिष्ठित हो और हमको विजित सभी धन सहित प्राप्त हो। दाँव पर रखे हमारे धन को अन्य द्यूत खेलनेवाले जीत न पावें। ४. जो अप्सरा इच्छित जय के अभाव में शोक को उत्पन्न करती है और पुनः विजय के अभिप्राय से क्रोध करती है वह अप्सरा द्यूत साधन अक्ष से प्रसन्न होती है। मैं उसका आह्वान करता हूँ।"

इन मन्त्रों से यह देखा जा सकता है कि अप्सरायें जुये से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। ऋवे० २ [illegible],४ में इन्हें अक्षकामाः मनोमुहः कहा गया है।

आगे दो सूक्त, जिन्हें मैं अब प्रस्तुत करूँगा, दान की प्रशंसा करते हैं। इनमें से प्रथम में सामान्य रूप से किसी भी व्यक्ति को दान देने की प्रशंसा है। दूसरे में पुरोहितों को दान देने की प्रशंसा है।

(४) ऋग्वेद १०.११७

१. न वै उ देवाः क्षुधम् इद् वधं ददुर् उताशितम् उप गच्छन्ति मृत्यवः। उतो रयिः पृणतो नोप दस्यति उतापृणन् मर्डितारं न विन्दते। २. यः आध्राय चकमानाय पित्वो अन्नवान् सन् रफिताय उपजग्मुषे। स्थिरम् मनः कृणुते सेवते पुरा उतो चित् स मर्डितारं न विन्दते। ३. स इद् भोजो यो गृहवे ददाति अन्नकामाय चरते कृशाय। अरम् अस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्। ४. न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः। अप अस्मात् प्रेयाद् न तद् ओको अस्ति पृणन्तम् अन्यम् अरणं चिद् इच्छेत्। ५. पृणीयाद् इन् नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसम् अनु पश्येत पन्थाम्। ओहि वर्तन्ते रथ्या इव चक्रा अन्यम् अन्यम् उपतिष्ठन्त रायः। ६. मोघम् अन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यम् ब्रवीमि वधः इत् स तस्य। न अर्यमणम् पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी। ७. कृषन्न् इत् फालः आशितं कृणोति यन्न् अध्वानम् अप वृङ्क्ते चरित्रैः। वदन् ब्रह्मा अवदतो वनीयन् पृणन्न् आपिर् अपृणन्तम् अभि स्यात्। ८. एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात् त्रिपादम् अभि एति पश्चात्। चतुष्पाद् एति द्विपदाम् अभिस्वरे सम्पश्यन् पंक्तीर् उपतिष्ठमानः। ९. समौ चिद् हस्तौ न समं विविष्टः सम्मतरा चिद् न समं दुहाते। यमयोश् चिद् न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समम् पृणीतः।

"१. देवों ने प्राण का नाश करनेवाली भूख बनाई। परन्तु भोजन कर लेने पर भी मृत्यु से मुक्ति नहीं मिलती। इस पर भी दानशील पुरुष के धन में न्यूनता नहीं आती और अदानशील व्यक्ति का कोई कल्याण नहीं कर सकता। जिस मनुष्य के यहाँ क्षुधार्त मनुष्य अन्न की याचना करता है, तब वह धन और अन्न से सम्पन्न व्यक्ति यदि अपने हृदय को कठोर बनाकर उसे भोजन नहीं देता और स्वयं भोजन कर लेता है, उसे सुख देने में कोई समर्थ नहीं हो सकता। ३. अन्न की कामना से याचना करनेवाले को जो अन्न दे वही दानी है। उसे यज्ञ का सम्पूर्ण फल मिलता है। उसके लिये शत्रु भी मित्र होते हैं। ४. जो अपना मित्र अन्न की कामना से पास आता है और उसे भी जो अन्नवान् व्यक्ति अन्न नहीं देता वह मित्र नहीं है। ऐसे मित्र के पास नहीं ठहरना चाहिये। उसके घर को घर न समझे और दानशील अन्न-वान् के पास ही याचना करे। ५. दाता को दीर्घ पुण्य का मार्ग प्राप्त होता है इसलिये वह याचक को दान करे। जैसे रथ का पहिया विभिन्न दिशाओं में घुमाया जाता है वैसे ही धन भी विभिन्न व्यक्तियों के पास आता जाता

रहता है। ६. अनुदार मनवाले व्यक्ति के घर भोजन न करे क्योंकि उदारतारहित अन्न विष के समान है। जो मित्र और देवता को न देता हुआ स्वयं ही भोजन करता है वह मूर्ख पुरुष पाप का भक्षण करता है।[604] ७ कृषि-कर्मवाला हल अन्न उत्पन्न करता है। वह अपने मार्ग पर चलकर अन्न प्रकट करता है। जैसे विद्वान मूर्ख की अपेक्षा श्रेष्ठ है वैसे ही दानशील प्रभावशील दानहीन से श्रेष्ठ होता है। ८. जिसके पास सम्पत्ति का एक भाग है वह दो भागवाले से सम्पत्ति माँगता है। दो वाला तीनवाले से, और तीनवाला चारवाले से माँगता है। इस प्रकार न्यून धनवाला अपने से अधिक धनवाले से धन माँगता है। ९. हमारे दोनों हाथ एक से हैं, परन्तु उनकी शक्ति एक सी नहीं है। एक गौ की दो बछिया भी बढ़ कर बराबर दूध नहीं देतीं। एक साथ उत्पन्न दो भ्राता भी समान बलवाले नहीं होते। एक ही वंश में कोई दानशील और कोई अदानशील होता है।"

(५) ऋग्वेद १०.१०७

१ आविर् अभूद् महि माघोनम् एषाम् विश्वम् जीवं तमसो निर् अमोचि। महि ज्योतिः पितृभिर् दत्तम् आगाद् उरुः पन्थाः दक्षिणाया: अदर्शि। २. उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर् ये अश्वदाः सह ते सूर्येण। हिरण्यदाः अमृतत्वम् भजन्ते वासोदाः सोम प्रतिरन्त आयुः। ३. दैवी पूर्तिर् दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो न हि ते पृणन्ति। अथ नराः प्रयतदक्षिणासो अवद्य-भिया बहवः पृणन्ति।...५. दक्षिणावान् प्रथमो हूतः एति दक्षिणावान् ग्रामणीर् अग्रम् एति। तम् एव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणाम् आविवाय। ६. तम् एव ऋषिं तम् उ ब्रह्माणम् आहुर् यज्ञन्यं सामगाम् उक्थशासम्। स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध। ७. दक्षिणाऽश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रम् उत यद् हिरण्यम्। दक्षिणाऽन्नं वनुते यो नः आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्। ८. न भोजाः मम्रुर् न न्यर्थम् ईयुर् न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः। इदं यद् विश्वम् भुवनं स्वश्च एतत् सर्वं दक्षिणा एभ्यो ददाति। ९ भोजाः जिग्युः सुरभिं योनिम् अग्रे भोजाः जिग्युर् वध्वं या सुवासाः। भोजाः जिग्युर् अन्तःपेयं सुरायाः भोजाः जिग्युर् ये अहूताः प्रयन्ति। १०. भोजाय अश्वं सं मृजन्त्याशुम् भोजाय आस्ते कन्या शुम्भमाना। भोजस्य इदम् पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमाना

[604] इसी प्राचीन प्रथा में भारत वर्ष में इसके सुन्दर विवरण को देखकर आश्चर्य होता है। महाभारत ३.१५४८९ देखिये। तुल० शतपथ ब्राह्मण १०.२.६.१९।

इव चित्रम्। ११. भोजम् अश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद् रथो वर्त्तते दक्षिणायाः। भोजं देवासो अवत भरेषु भोजः शत्रून् समनीकेषु जेता।

"यजमानों का पालन करने के लिये ही सूर्यात्मक इन्द्र का महान् तेज उत्पन्न हुआ। तब सभी प्राणी अन्धकार से मुक्त हुये। पितरों[६०५] द्वारा प्रदत्त ज्योति प्रकट हुई और दक्षिणा देने का मार्ग खुल गया। २. दक्षिणा देनेवाले यजमान स्वर्ग के श्रेष्ठ स्थान पर वास करते हैं। अश्वदान करनेवाले सूर्य में मिल जाते हैं। वस्त्र देनेवाले सोम के पास गमन करते हैं और सुवर्ण देनेवाले अमृतत्व प्राप्त करते हैं। ३. दक्षिणा पुण्य कर्मों को सम्पूर्ण करनेवाली है। देवताओं के अनुष्ठान का यह प्रमुख अंग है। मिथ्याचरण वालों के कार्यों को देवता पूर्ण नहीं करते। निन्दा से भयभीत और दक्षिणा दाताओं का कर्म ही पूर्णता को प्राप्त होता है।...५. दानशील व्यक्ति ही ग्राम में प्रमुख[६०६] व्यक्ति होता है। उसे प्रत्येक शुभकर्म में प्रथम आमंत्रित किया जाता है। जो सर्वप्रथम दक्षिणा देते हैं उन्हें मैं राजा के समान श्रद्धा के योग्य समझता हूँ। ६. जो दक्षिणा द्वारा पुरोहित को सर्वप्रथम संतुष्ट करता है वह ऋषि ब्रह्मा कहे जाने योग्य है। वही सामगाता, स्तोता माना जाता है और प्रमुख आसन प्राप्त करता है क्योंकि वह अग्नि के तीनों रूपों को भी जानता है। ७. दक्षिणा के रूप में मन को प्रसन्न करनेवाला सुवर्ण, गौ, अश्व और आत्मरूप आहार भी प्राप्त किया जा सकता है। देह की रक्षा करनेवाले कवच की भाँति ही मेधावीजन दक्षिणा को भी रक्षा करनेवाली मानते हैं। ८. दानशील पुरुष देवत्व प्राप्त करता है। वह अकाल मृत्यु नहीं प्राप्त करता। वह दुःख, क्लेश से बचा रहता है तथा दरिद्रता उसके पास नहीं आती। उसके द्वारा दी गई दक्षिणा उसे सभी पार्थिव और दिव्य पदार्थ प्रदान करती है। ९. दानदाता व्यक्तियों को सर्वप्रथम घृत-दुग्ध-प्रदात्री गौ सर्वप्रथम प्राप्त होती है। फिर वे सुन्दरी, सुशीला, नवोढ़ा पत्नी को प्राप्त करते हैं। वे हर्ष और आक्रामकों पर विजय प्राप्त करते हैं। १०. दानदाता पुरुष द्रुतगामी और अलंकृत अश्व तथा सुन्दरी नारी को प्राप्त करता है। पुष्करणी के समान स्वच्छ और देवमन्दिर के समान रमणीय गृह भी उसे मिलता है। ११. दानदाता को द्रुतगामी अश्व वहन करते हैं। श्रेष्ठरथ में उसके अश्व योजित किये जाते हैं। युद्ध-काल उपस्थित होने पर देवगण उसकी रक्षा करते हैं। तब रणक्षेत्र में दाता शत्रु पर विजय प्राप्त करता है।"

---

[६०५] तुकी० ऋग्वेद १० ६८,११।

[६०६] तुकी० ऋग्वेद ४.५०,८ और बाद। देखिये अथर्व० ३.१९ भी जो प्रस्तुत कृति के पहले भाग मे उद्धृत है।

अब मैं जिस सूक्त को उद्धृत करूँगा उसका प्रो० मैक्समूलर ने अपने ऐसं०लिट० पृ० ४९४ और बाद में पहले ही अनुवाद कर दिया है। वहाँ अनुवाद के बाद आप इस सूक्त पर यह टिप्पणी भी करते हैं: "सातवें मण्डल का १०३ वाँ सूक्त, जिसे मण्डूक स्तुति भी कहते हैं, पुरोहितों पर एक स्पष्ट व्यंग है; और यह कुछ कौतूहलवर्धक ही है कि वैदिक सूक्त ने इसी जीव को पुरोहितों के प्रतिनिधि के रूप में चुना है जिसे यूनान के आरम्भिकतम व्यंगकार ने भी होमर के नायकों के प्रतिनिधि के रूप में चुना था।"

(६) ऋग्वेद ७.१०३

१. संवत्सरम् शशयानाः ब्राह्मणाः व्रत-चारिणः। वाचम् पर्जन्य-जिन्विताम् प्र मण्डूकाः अवादिषुः। २. दिव्याः आपो अभि यद् एनम् आयन् दृतिम् न शुष्कम् सरसी शयानम्। गवाम् अह न मायुर् वत्सिनीनाम् मण्डूकानाम् वग्नुर् अत्र सम् एति। ३. यद् ईम् एनान् उशतो अभि अवर्षीत् तृष्यावतः प्रावृषि आगतायाम्। अख्खलीकृत्य पितरम् न पुत्रो अन्यो अन्यम् उप वदन्तम् एति। ४. अन्यो अन्यम् अनु गृभ्णाति एनोर् अपाम् विसर्गे यद् अमन्दिषाताम्। मण्डूको यद् अभिवृष्टः कनिष्कन् पृश्निः सम्पृङ्क्ते हरितेन वाचम्। ५. यद् एषाम् अन्यो अन्यस्य वाचं शाक्तस्येव वदति शिक्षमाणः। सर्वं तद् एषाम् समृधेव पर्व यद् सुवाचो वदथन अधि अप्सु। ६ गोमायुर् एको अजमायुर् एकः पृश्निर् एको हरित एको हरितः एकः एषाम्। समान नाम बिभ्रतो विरूपाः पुरुत्र वाचम् पिपिशुर् वदन्तः। ७. ब्राह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो न पूर्णम् अभितो वदन्तः। संवत्सरस्य तद् अहः परि ष्ठ यन् मण्डूकाः प्रावृषीणम् बभूव। ८. ब्राह्मणासः सोमिनो वाचम् अक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्। अध्वर्यवो घर्मिणः सिष्विदानाः आविर् भवन्ति गुह्याः न के चित्। ९. देवहितिम् जुगुपुर् द्वादशस्य ऋतुम् नरो न प्र मिनन्ति एते। संवत्सरे प्रावृषि आगतायाम् तप्ताः घर्मा अश्नुवते विसर्गम्। १०. गोमायुर् अदाद् अजमायुर् अदात् पृश्निर् अदाद् हरितो न वसूनि। गवाम् मण्डूकाः ददतः शतानि सहस्रसावे प्रतिरन्ते आयुः।

"व्रती ब्राह्मणों के समान एक वर्ष सोकर जागनेवाले मेढक पर्जन्य के लिये स्तुतिनाद का उच्चारण करते हैं। २. जब शुष्क सरोवर में एक शुष्क चर्म[***] की भाँति पड़े मेढकों के पास दिव्यजल पहुँचता है तब सवत्सा धेनु की भाँति मेढक नाद करते हैं। ३. वर्षाकाल में जब पर्जन्य प्यासे मेढकों को अप-

[***] प्रो० मूलर 'दृति' का 'मत्स्य' अनुवाद करते हैं। मैंने अधिक सामान्य अर्थ 'चर्म' का ही अनुसरण किया है।

से सींचते हैं, तब मेढक एक दूसरे के पास गमन करते हैं। ४. जलवृष्टि से दो जातियों के मेढक हर्षित होते हैं और लम्बी उछल-कूद तथा परस्पर अनुग्रह करते हैं। ५. जैसे शिष्य गुरु का अनुकरण करता है, वैसे ही परस्पर एक दूसरे के शब्द का यह भी अनुकरण करते हैं। हे मेढको! तुम सुन्दर शब्द करते हुये जल पर उछलते-कूदते हो; उस समय तुम्हारे शरीर के सब अवयव पुष्ट हो जाते हैं। ६ कोई मेढक गाय के समान और कोई बकरे के समान शब्द करता है। कोई धूम्रवर्ण का और कोई हरितवर्ण का होता है। यह विभिन्न रूप वाले मेढक अनेक स्थानों पर शब्द करते हुये प्रकट हो जाते हैं। ७. हे मेढक! अतिरात्र नामक सोमयाग में स्तोता जैसे शब्द करते हैं वैसे ही भरे हुये सरोवर में शब्द करते हुये तुम चारों ओर निवास करो। ८. यह मेढक सोमवाले स्तोता के समान शब्द करते हैं। धूप के कारण बिल में छिपे मेढक वर्षाकाल में बाहर निकल आते हैं। ९. मेढक दवनियमों के रक्षक हैं। वे ऋतुओं को नष्ट नहीं करते। वर्षा के पूर्ण होने पर आगत वर्षा से प्रसन्न मेढक गर्त के बन्धन से मुक्त होते हैं। १०. गौ के समान शब्द करते हुये मेढक हमें धन प्रदान करें। बकरे के समान शब्द करनेवाले मेढक भी हमें धन दें। भूरे और हरे रङ्गों के मेढक भी धनदाता हों। सहस्रों वनस्पतियों को उत्पन्न करनेवाली वर्षाऋतु में यह मेढक हमें गायें दें और हमारी आयु की वृद्धि करें।"

सम्भवतः इसी रचना की प्रतिध्वनि हमें हरिवंश (श्लोक ८८०३) में शरद ऋतु के वर्णन में मिलती है जहाँ कवि छः मास तक अपनी पत्नियों के साथ विश्राम करने के बाद मेढकों की ध्वनि की शिष्यों से घिरे ब्राह्मण द्वारा ऋग्वेद के पाठ की ध्वनि से तुलना करता है (प्लवङ्गमः षोडस-पक्षशायी[६०८] विरौति गोष्ठः सह कामिनीभिः। ऋचो द्विजातिः प्रिय-सत्य-धर्मा यथा स्वशिष्यैः परिवार्यमाणः)। इस श्लोक पर स्वर्गीय एम० लैंगलोए कुछ ओछे ढंग से टिप्पणी करते हैं (हरिवंश का फ्रेंच अनुवाद, २ १२२)।

अगले सूक्त में एक सामाजिक भावना के साथ-साथ विद्वान पुरुषों के संसर्ग द्वारा बढ़नेवाले प्रभाव से लाभ उठाने की प्रवृत्ति को व्यक्त किया गया है। फिर भी इसमें ऐसे विद्वानों के यश से लाभान्वित होने को एक मिथ्या प्रसिद्धि प्राप्ति ही माना गया प्रतीत होता है।

(७) अथर्ववेद ७.१२

१. सभा च मा समितिश्‌ च अवताम्‌ प्रजापतेर्‌ दुहितरौ सम्वि-

[६०८] इसमे कोई सन्देह नहीं कि यह शब्द मेढको की आठ महीने की शान्ति का द्योतक है।

दुहिते। येनासङ्गच्छै उप मा स शिक्षात् चारु वदानि पितरः संगतेषु।
२. विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वै असि। ये ते के च सभासदस् ते मे सन्तु सवाचसः। ३. एषाम् अहं समासीनानां वर्चो विज्ञानम् आददे। अस्याः सर्वस्याः संसदो माम् इन्द्र भगिनं कृणु। ४. यद् वो मनः परागतं यद् बद्धम् इह वेह वा। तद् वः आवर्तयामसि मयि वो रमन्ताम् मनः।

"सभा व समितियाँ, प्रजापति राजा के लिये पुत्री की भाँति पोषण करने योग्य होती हैं। वे दोनों मिलकर (मुझ) राजा की रक्षा करें। राजा जिनसे मिले वह उसे उचित सलाह दें। हे पितृगण! मुझे ऐसी सद्बुद्धि प्रदान करो कि मैं सभा में विवेक और नम्रतापूर्वक बोलूँ। २. हे सभे! हमें तेरा नाम ज्ञात है! तेरा नरिष्टा नाम ठीक ही प्रसिद्ध है। तेरे जो कोई सभासद हैं वे हमारे साथ समता का भाषण करनेवाले होवें। ३. इन सब बैठे हुये सभासदों से राज्यशासन सम्बन्धी विशेष ज्ञान के तेज को मैं ग्रहण करता हूं। इन्द्र देव हमें इस सब सभा का भागी करें। ४. हे सभासदो! आपका जो मन हमारी ओर से हट कर अन्यत्र अन्य-अन्य विषयों में ध्यान बट गया है उसे हम अपनी ओर आवर्तित करते हैं। अब आप सब हमारी बात सुनें और उसी पर विचार करें।"

अगला सूक्त, जिसके केवल प्रथम चार मंत्र ही मैं प्रस्तुत कर रहा हूँ, परिवार में सद्भावना बने रहने की स्तुति करता है।

(८) अथर्ववेद ३.३०

१. सहृदयं साम्मनस्यम् अविद्वेष कृणोमि वः। अन्यो अन्यम् अभि हर्यत वत्सं जातम् इवाघ्न्या। २. अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु सम्मनाः। जाया पत्ये मधुमतीम् वाचं वदतु शान्तिवान्। ३. मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षद् मा स्वसारम् उत स्वसा। सम्यञ्चः स व्रताः भूत्वा वाच वदत भद्रया। ४. येन देवाः न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः। तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानम् पुरुषेभ्यः।

"१. हे विचारशील पुरुषो! मैं तुम्हारे लिये विद्वेष भाव को दूर करनेवाला, प्रीतियुक्त सांमनस्य कर्म करता हूँ। गायें जैसे अपने वत्स से स्नेह करती हैं वैसे ही तुम परस्पर व्यवहार करो। २. पुत्र पिता का अनुगत हो, माता के साथ पुत्र अनुकूल मनवाला हो, पत्नी पति से मधुर वाणी और शान्तिवाली हो।*** ३. [illegible] भाई के लिये [illegible] भाई का बुरा न करे। बहन भाई से [illegible] न करे। [illegible] और गति वाले [illegible] कल्याणमय

*** इस मन्त्र में मैं 'शान्तिवान्' शब्द की व्याख्या करने में मैं असमर्थ हूँ।

वार्ता करें। ४. जिस मंत्र के बल से देवता विभिन्न मतिवाले नहीं होते और न परस्पर वैरभाव रखते हैं उस समानता के कारण-रूप मंत्र से सम्बद्ध सांमनस्य को हम तुम्हारे लिये करते हैं।"[६१०]

अब अगले अथर्ववेद से प्रस्तुत चार सूक्त, कठिन रोगों से ग्रस्त और मृत्यु के मुख में पड़े व्यक्तियों को बचाने के अभिचार-मंत्रों से युक्त हैं। सम्भवतः इनका उद्देश्य शरीर का त्याग करके चली गई आत्मा को पुनः शरीर में वापस बुलाना भी है। इनमें अपने रचनाकाल के समय की भारतीयों की प्राण, अनेक भूतपदार्थों के साथ इन्द्रियों के सम्बन्धों, मनुष्य की आयु का नियमन करने वाले देवताओं, मृत्यु को रोकने के लिये मंत्रों की शक्ति, तथा अन्य इसी प्रकार के विषयों से सम्बद्ध धारणाओं का उदाहरण मिलता है। यहाँ प्रस्तुत कुछ विचारों को हम ऊपर यम के खण्ड में भी देख चुके हैं।

(९) अथर्ववेद ५.३०

१. आवतस ते आवतः परावतस् ते आवतः। इहैव भव मानु गाः मा पूर्वान् अनु गाः पितृन् असुम् बध्नामि ते दृढम्। २. यत् त्वाऽभिचेरुः पुरुषः स्वो यद् अरणो जनः। उन्मोचन-प्रमोचने उभे वाचा वदामि ते। ३ यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या। उन्मो। ४. यद् एनसो मातृकृतात शेषे पितृकृतात् च यत्। उन्मो। ५. यत ते माता यत् ते पिता जामिर् भ्राता च सर्जत.। प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदृष्टिं कृणोमि त्वा। ६. इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य माऽनुगाः अधि जीवपुरा इहि। ७. अनुहूतः पुनर् एहि विद्वान् उदयनम् पथः। आरोहणम् आक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। ८. मा बिभेर् न मरिष्यसि जरदृष्टिं कृणोमि त्वा। निरवोचम् अहं यक्ष्मम् अंगेभ्योऽङ्गज्वरं तव। ९. अंगभेदो अंगज्वरो यश् च ते हृदयामयः। यक्ष्मः श्येनः इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम्। १०. ऋषी बोधप्रतीबोधाव् अस्वप्नो यश् च जागृवि.। तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्। ११. अयम् अग्निर् उपसद्यः इह सूर्यः उदेतु ते। उदेहि मृत्योर् गम्भीरात् कृष्णात् चित् तमसस् परि। १२. नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्यः उत ये नयन्ति। उत्पारणस्य यो वेद तम् अग्निम् पुरोदधे अस्मै अरिष्टतातये। १३. ऐतु प्राणः ऐतु मनः ऐतु चक्षुर् अथो बलम्। शरीरम् अस्य सं विदां तत् पद्भ्याम् प्रति तिष्ठतौ। १४. प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेम समीरय तन्वा सम् बलेन। वेत्थ अमृतस्य मानु गात् मानु भूमिगृहोऽभुवत्। १५. मा ते प्राणः उपदसत् मो अपानोऽपि धायि ते। सूर्यस् त्वाऽधिपतिर् मृत्योर्

[६१०] अवे० के तीन सूक्त: ३.१९; ५.१८; ५.१९।

उदायच्छतु रश्मिभिः। १६. इयम् अन्तर् वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा। त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश् च तक्मनः। १७. अयं लोकः प्रियतमो देवानाम् अपराजितः। यस्मै त्वम् इह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे। स च त्वाऽनु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः।

"१. समीप और दूर देश से तेरे प्राणों को दृढ़ता से खींचता हूँ। तू पूर्वपितरों का अनुकरण कभी मत कर, यहीं रह। २. पितृऋण को पूर्ण न करनेवाले जिस अपने पुरुष ने तुझ पर अभिचार किया है उससे छूटनेवाली बात मन्त्र वाक् से कहता हूँ। ३. तू ने जिस स्त्री या पुरुष के निमित्त द्रोह या शाप प्रयुक्त किया है उससे मुक्त करने सम्बन्धी बात मैं तुझे बताता हूँ। ४. माता या पिता[611] के पाप से यदि तू रोग-शय्या पर पड़ा है तो उस रोग के उन्मोचन और प्रमोचन की बात मन्त्ररूप वाणी से बताता हूँ। ५. तेरे माता, पिता, भ्राता अथवा भगिनी ने जिस मंत्र या ओषधि को किया है उसे भली प्रकार सेवन कर। मैं तुझे वृद्धावस्था तक जीवित रहनेवाला बनाता हूँ। ६. हे पुरुष! यमदूतों[612] का अनुगमन मत कर। अपने सब ज्ञातियों सहित यहीं जीवित रह। ७. तू उदय होने के मार्ग का जाननेवाला है। इस कर्म द्वारा यहीं बुलाया गया है। उत्तरायन और दक्षिणायन तेरे जीवन में ही व्यतीत हों। ८ हे रोगी, तू भय त्याग। मैं तुझे वृद्धावस्था तक इस लोक में रहने योग्य बनाता हूँ। तेरे अंगों से यक्ष्मा और अस्थि ज्वर दूर हो चुका है। ९. तेरे अंगों में व्याप्त ज्वर, हृदयरोग और यक्ष्मा यह सब मन्त्ररूप वाणी से तिरस्कार पाकर श्येन के समान बहुत दूर जा गिरा है। १०. जो जागृत एवं सचेत तेरे प्राण-रक्षक ऋषि हैं, वे रात-दिन जागते रहें। ११ यह अग्नि समीप रहने योग्य है। तेरे लिये सूर्य इसी लोक में उदित हों। तू अन्धकारयुक्त मृत्यु[613] से निकल कर जीवन को प्राप्त हो।[614] १२. मृत्यु के लिये नमस्कार; पितरों को नमस्कार, ले जानेवाले यम को नमस्कार। जो अग्नि देह के पालन की विधि के जाननेवाले हैं, उन्हें इस पुरुष के मंगल के निमित्त हम आगे स्थापित करते हैं। १३ प्राण इसको प्राप्त हो; मन और नेत्र इसको प्राप्त हों; मैंने इसके देह को मन्त्र शक्ति से प्राणवान् किया है, यह अपने पैरों पर खड़ा हो

[611] तुल० तैत्तिरीय ब्राह्मण ३.७,१२,३ और बाद जिसे ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। तुल० ऋग्वेद ७.८६,५; ६.५१,७; ७.५२,२। १०.३७, १२. आदि भी।

[612] देखिये 'यम' का शब्द।

[613] तुल० टीका।

[614] यम के बारे में पहले ही उद्धृत।

जाय। १४. हे अग्ने! इस पुरुष को प्राण और चक्षु से युक्त करो; शरीर को बल[815] से भर दो। तुम अमृत के ज्ञाता हो। यह इस लोक से प्रस्थान न करे; श्मशान भूमि इसका घर न बने। १५. हे रोगी! तेरे प्राणों का क्षय न हो; सूर्य अपनी रश्मियों द्वारा तुझे मृत्युशय्या से उठा दें। १६. भीतर से यह जिह्वा हिलती हुई कहती है कि तुझसे यक्ष्मा रोग निकल गया और ज्वर के आक्रमण भी शान्त हो गये। १७. तू मृत्यु के लिये ही जन्मा है। यह मृत्यु-लोक देवताओं को भी प्रिय है। परन्तु तू वृद्धावस्था से पूर्व मृत्यु को प्राप्त न हो।"

(१०) अथर्ववेद ७.५३

अमुत्रभूयाद् अधि यद् यमस्य बृहस्पते अभिशस्तेर् अमुञ्चः। प्रत्यौहताम् अश्विना मृत्युम् अस्मद् देवानाम् अग्ने भिषजा शचीभिः। २. स क्रामतम् मा जिहीतं शरीरम् प्राणापानौ ते सयुजाव् इह स्ताम्। शतं जीव शरदो वर्धमानो अग्निस् ते गोपाः अधिपाः वसिष्ठः। ३. आयुर् यत् ते अतिहितम् पराचैर् अपानः प्राणः पुनर् आताव् इताम्। अग्निस् तद् आहार् निर्ऋतेर् उपस्थात् तद् आत्मनि पुनर् आवेशयामि ते। ४. मा इमम् प्राणो हासीद् मो अपानो अवहाय परा गात्। सप्त ऋषिभ्यः एनम् परिददामि ते एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु। ५. प्रविशतम् प्राणापानाव् अनड्वाहाव् इव व्रजम्। अयं जरिम्णः शेवधिर् अरिष्टः इह वर्धताम्। ६. आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते। आयुर् नो विश्वतो दधद् अयम् अग्निर् वरेण्यः। ७. उद् वयं तमसस् परि रोहन्तो नाकम् उत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यम् अगन्म ज्योतिर् उत्तमम्।

"१. हे अग्ने! तुम हवि वहन द्वारा देवताओं का पालन करते हो। तुम यम के परलोकरूप भय से इस बालक को बचाने में समर्थ हो। तुम्हारे प्रभाव से अश्विद्वय इसकी मृत्यु के कारणों को हटावें। २. हे प्राणापान्! आयु की कामनावाले इस पुरुष के शरीर में रहो। हे पुरुष! यह प्राणापान तेरे साथ रहें। तू सौ वर्ष तक का जीवन पुनः धारण कर। अग्निदेव तेरी रक्षा करें। ३. हे आयु की कामनावाले पुरुष! तेरा जीवन समाप्त होने को था, उसे प्राणापान पुनः प्राप्त करावें। मैं तेरी आयु को अग्निदेव के पास से लाई गई मन्त्रशक्ति द्वारा बढ़ाता हूँ। ४. आयु की कामनावाले इस पुरुष को प्राणापान न त्यागें। मैं इसे रक्षा के लिये सप्तर्षियों को देता हूं। वे इसे वृद्धावस्था तक सुख से रक्खें। ५. हे प्राणापान! जैसे बैल गोष्ठ में घुसते हैं वैसे ही तुम इस

[815] तुकी० बल का खण्ड।

आयुष्काम के शरीर में घुसो। यह पुरुष वृद्धावस्था तक जीवित रहे। ६. हे आयुष्काम! तेरे यक्ष्मा रोग को हटाते हुये हम आयु को बुलाते हैं। अग्निदेवता इसे जरायुष्य करें। ७. हम पाप से पार होते हुये स्वर्ग में चढ़ रहे हैं; सब देवताओं में श्रेष्ठ सूर्य के पास पहुँच रहे हैं।"

(११) अथर्ववेद ८,१

१. अन्तकाय मृत्यवे नम: प्राणा: अपाना: इह ते रमन्ताम्। इहायम् अस्तु पुरुष: सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके। २. उद् एनम् भगो अग्रभीद् उद् एनं सोमो अंशुमान् उद् एवम् मरुतो देवा: उद् इन्द्राग्नी स्वस्तये। ३. इह ते असुर् इह प्राण इहायुर् इह ते मन:। उत् त्वा निर्ऋत्या: पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि। ४. उत्क्राम अत: पुरुष माऽव पत्था: मृत्यो: पड्वीशम् अवमुञ्चमान:। मा छित्था: अस्माल् लोकाद् अग्ने: सूर्यस्य संदृशे:। ५. तुभ्यं वात: पवताम् मातरिश्वा तुभ्य वर्षन्तु अमृतानि आप:। सूर्यस् ते तन्वे शं तपाति त्वाम् मृत्युर् दयताम् मा प्र मेष्ठा:। ६. उद्यानं ते पुरुष नावयानम् जिवातु ते दक्षताति कृणोमि। आ हि रोहेमम्। अमृतं सुख रथम् अथ जिव्रिर् विदथम् आ वदासि। ७. मा ते मनस् तत्र गाद् मा तिरो भूद् मा जीवेभ्य: प्र मदो माऽनुगा पितृन्। विश्वे देवा: अभि रक्षन्तु त्वेह। ८. मा गतानाम् आ दीधीथा: ये नयन्ति परावतम्। आ रोह तमसो ज्योतिर् एह्य आ ते हस्तौ रभामहे। ९. श्यामश् च त्वा मा शबलश् च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ। अर्वाङ् एहि मा वि दीध्यो माऽत्र तिष्ठ पराङ्मना:। १०. मा एतम् पन्थाम् अनु गा: भीम: एष येन पूर्वं न ईयथ तम् ब्रवीमि। तम: एतत् पुरुष मा प्र पत्था: भयम् परस्ताद् अभयं ते अर्वाक्। ११. रक्षन्तु त्वा अग्नयो ये अप्सु अन्ता रक्षतु त्वा मनुष्या: यम् इन्धते। वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा: दिव्यस् त्वा मा धाग् विद्युता सह। १२. मा त्वा क्रव्याद् अभि मंस्त आरात् संकसुकात् चर। रक्षतु त्वा द्यौ: रक्षतु पृथिवी सूर्यश् च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश् च। अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्या:। १३. बोधश् च त्वा प्रतीबोधश् च रक्षताम्। अस्वप्नश् च त्वा अनवद्राणश् च रक्षताम्। गोपायंश् च त्वा जागृविश् च। १४. ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस् तेभ्य: स्वाहा। १५. जीवेभ्यस् त्वा समुदे वायुर् इन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाण:। मा त्वा प्राणो बलं हासीद् असुं तेऽनु ह्वयामसि। १६. मा त्वा जम्भ: संहनुर् मा तमो विदन् मा जिह्वा बर्हि: प्रमयु: कथा स्या:। उत् त्वा आदित्या वसवो भरन्तु उद् इन्द्राग्नी स्वस्तये। १७. उत् त्वा

द्यौर् उत् पृथिवी उत् प्रजापतिर् अग्रभीत्। उत् त्वा मृत्योर् ओषधयो सोमराज्ञीर् अपीपरन्। १८ अयं देवाः इहैवास्तु अयम् माऽमुत्र गाद् इतः। इमं सहस्रवीर्येण मृत्योर् उत्पारयामसि। १९. उत त्वा मृत्योर् अपीपरं सं धमन्तु वयोधसः। मा त्वा व्यस्तकेश्यो मा त्वा अघरुदो रुदन्। २० आहार्षम् अविदं त्वा पुनर् आगाः पुनर्णवः। सर्वाङ्गः सर्वं ते चक्षुः सर्वम् आयुश् च तेऽविदम्। २१. व्यवात् ते ज्योतिर् अभूद् अप त्वत् तमो अक्रमीत्। अप त्वद् मृत्युं निर्ऋतिम् अप यक्ष्म नि दध्मसि।

"१. मृत्यु देवता को नमस्कार। प्राणापान इनकी कृपा से शरीर में विहार करें। यह प्राणत्याग की शंकावाला पुरुष सूर्य के भागरूप पृथिवी पर प्राण और प्रज्ञा से युक्त हुआ निवास करे। २. भग ने मूर्च्छा में प्रवेश करते हुये इस पुरुष का उद्धार किया है। चन्द्रमा और मरुतों ने भी इसकी रक्षा की है, तथा इन्द्राग्नि ने भी इसे रक्षार्थ स्वीकार कर लिया है। ३. हे आयुष्काम पुरुष! तेरा प्राण इस शरीर में रहे। तेरी आयु और मन भी इसी में रमा रहे। अधोगति के पाशों में बँधे हुये तुझे हम मन्त्ररूप वाणी द्वारा छुड़ाते हैं। ४. हे पुरुष! तू मृत्यु के पाश से निकल; इसके बन्धनों को काट दे, अग्नि और सूर्य के दर्शन से रहित न हो और पृथिवी को भी न त्याग। ५. हे पुरुष! अन्तरिक्ष में श्वास लेनेवाले वायु तेरे लिये सुखमय हों; जल तेरे लिये पीयूषवर्धक हों; सूर्य तुझे सुख देनेवाले ताप से तपें। मृत्यु देवता की दया से तू मरण से बचा रह। ६. हे पुरुष! तू मृत्यु के पाश से ऊपर ही उठे। मैं तेरे जीवन के निमित्त औषधि प्रयुक्त करता हूं। तेरे लिये बल देता हूं। तू इन्द्रियसुख के कारणरूप शरीर पर चढ़ता हुआ कह कि 'मैं होश में हूँ'। ७. तेरा मन यम की ओर न जाय; तू बन्धुरूप मनुष्यों से विरक्त न हो। तू पितरों के पास न जा। इन्द्रादि देवता सब ओर से तेरे शरीर की रक्षा करें। ८. पितरों के मार्ग का ध्यान न कर। वे मृत हुये भी तुझे फिर न लौटकर आने के लिये ले जा सकते हैं। तू अन्धकार से निकलकर प्रकाशरूप ज्ञान पर आरूढ़ हो। हम तेरे हाथ को पकड़ते हैं। ९. हे पुरुष! यम[९१६] के मार्गरक्षक काले तथा श्वेत दोनों श्वान तुझे बाधा न दें। तू उन कुत्तों का ग्रास न होता हुआ यहाँ आ। विषयों से निवृत्त होकर यहाँ निवास मत कर। १०. हे पुरुष! तू मृतकों के मार्ग का अनुसरण न कर, यह भयंकर मार्ग मृत्यु से पूर्व नहीं जाना जाता। तू मरणात्मक तन्द्रा को प्राप्त न हो; यम का गृह भयावह है और हमारा मार्ग भय से मुक्त है। ११. जो बड़वानल

---

९१६ देखिये ऋवे० ५.३०,६।

जलों में रहते हैं वे तेरी रक्षा करें। आह्वानीय अग्नि और वैश्वानर अग्नि भी तेरी रक्षा करें। हे रक्षा की कामनावाले पुरुष! वैद्युत अग्नि भी तेरी हिंसा न करें। १२. क्रव्याद् अग्नि[117] तुझे अपना आहार न मानें। तू संकुसुकम नामक अग्नि से भी दूर ही रह। सूर्य, चन्द्र, आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी भी तेरी रक्षा करें। १३...बोध, प्रतिबोध, अस्वप्न, अनिद्रा, गोपायन, और जागृति ऋषि तेरी रक्षा करें। १४. वे बोध आदि तेरा पालन करते हुये तेरी रक्षा करें। इन देवताओं को नमस्कार यह हव्य स्वाहुत हो। १५. वायु, इन्द्र, धाता, और सूर्य तुझे मृत्यु के मुख से निकाल कर तेरे पुत्रादि को दें। प्राण और बल तेरा त्याग न करे। तेरे प्राण को हम बुलाते हैं। १६. जम्भ नामक राक्षस भक्षणार्थ तुझे न प्राप्त करे। राक्षस की जिह्वा भी तेरे पास न पहुँचे और अज्ञान भी तेरे पास न रहे। १७ धाता, अष्टावसु, इन्द्र, अग्नि आकाश और पृथिवी तुझे मृत्यु के मुख से निकालें। प्रजापति तुझे मरण से बचावें और औषधियाँ तेरा पोषण करें। १८. हे देवगण! यह पुरुष इसी लोक में रहे, स्वर्ग न जाय। हम अत्यन्त शक्तिशाली रक्षा साधन द्वारा इसे मृत्यु के पाश से खींचते हैं। १९. हे आयुष्कामी पुरुष। आयु का पोषण करनेवाले देवता तुझे धारण करें[118]। तेरे बन्धुओं की स्त्रियाँ बाल खोलकर अश्रुपात न करें। तेरे बान्धव भी रुदन से रहित हों। २०. हे पुरुष! मैंने तुझे मृत्यु के मुख से खींचकर पाया है। तेरा पुनर्जन्म हुआ है, अतः तू पुनः नवीन हो गया है। तेरे लिये सौ वर्ष आयु प्राप्त कर ली है। अब तेरी सब इन्द्रियाँ अपने अपने कार्य में सक्षम हों। २१. हे चैतन्यताहीन पुरुष! तेरा अज्ञान मिट गया; अन्धकार दूर हो गया। हम तेरे पास से पाप देवी निर्ऋति को और प्राणों का हरण करनेवाली मृत्यु को दूर कर चुके हैं। अतः तेरे बाह्याभ्यन्तर के सभी रोग नष्ट हो चुके हैं।"

(१२) अथर्ववेद ८.२

१. आरभस्व इमाम् अमृतस्य श्नुष्टिम् अच्छिद्यमाना जरदष्टिर् अस्तु ते। असुं ते आयुः पुनर् आ भरामि रजस् तमो मोपगाः मा प्र मेष्ठाः। २. जीवतां ज्योतिर् अभ्येहि अर्वाङ् आ त्वा हरामि शतशारदाय। अवमुञ्चन् मृत्युपाशान् अशस्तिं द्राघीयः आयुः प्रतरं ते दधामि। ३. वातात् ते प्राणम् अविदं सूर्याच् चक्षुर् अहं तव। यत् ते मनस् त्वयि तद्

[117] अग्नि तीन प्रकार के हैं : क्रव्याद, आमाद, और यज्ञीय। देखिये पार० गृ० १.१७।

[118] देखिये अगले सूक्त का चौथा मन्त्र।

धारयामि सं वित्स्व अंगैर् वद जिह्वयाऽऽलपम्। ४. प्राणेन त्वा द्विपदां चक्षुष्पदाम् अग्निम् इव जातम् अभि सं धमामि। नमस् ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम्। ५. अयं जीवतु मा मृता इमं समीरयामसि। कृणोमि अस्मै भेषजम् मृत्यो मा पुरुषं वधीः। ६. जीवलं नघारिषां जीवन्तीम् ओषधीम् अहम्। त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीम् इह हुवे अस्मै अरिष्टतातये। ७. अधि ब्रूहि माऽऽरभथाः सृजेमां तवैव सन् सर्व-हायाः इहास्तु। भवाशर्वौ मृडतं शर्म यच्छतम् अपसिध्य दुरितं धत्तम् आयुः। ८. अस्मै मृत्यो अधि ब्रूहि इम दयस्व उद् इतोऽयम् एतु। अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज् जरसा शतहायनः आत्मना भुजम् अश्नुताम्। ९. देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजसः उत् त्वा मृत्योर् अपीपरम्। आराद् अग्नि क्रव्यादं निरूहन् जीवातवे ते परिधिं दधामि। १०. यत् ते नियानं रजसम् मृत्यो अनवधर्ष्यम्। पथः इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि। ११. कृणोमि ते प्राणापानौ जराम् मृत्युम् दीर्घम् आयुः स्वस्ति। वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश् चरतोऽप सेधामि सर्वान्। १२. आराद् अरातिम् निर्ऋतिम् परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्। रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तमः इवाप हन्मसि। १३. अग्नेस् ते प्राणम् अमृताद् आयुष्मतो वन्वे जातवेदसः। यथा न रिष्याः अमृतः सजूर् असस् तत् ते कृणोमि तद् उ ते समृध्यताम्। १४. शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ। शं ते सूर्यः आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे। शिवाः अभि क्षरन्तु त्वा आपो दिव्याः पयस्वतीः। १५. शिवास् ते सन्त्व् ओषधयः उत् त्वाऽऽहार्षम् अधरस्याः उत्तराम् पृथिवीम् अभि। तत्र त्वाऽऽदित्यौ रक्षताम् सूर्याचन्द्रमसाव् उभा। १६. यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्। शिवं ते तन्वे तत् कृण्मः संस्पर्शेऽरूक्ष्णम् अस्तु ते। १७. यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु। शुम्भन् मुखम् मा नः आयुः प्र मोषीः। १८. शिवौ ते स्तां व्रीहि-यवाव् अबलासाव् अदोमधौ। एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः। १९. यद् आश्नासि यत् पिबसि धान्यं कृष्याः पयः। यद् आद्यं यद् अनाद्यं सर्वं ते अन्नम् अविषं कृणोमि। २०. अह्ने च त्वा रात्रये च उभाभ्याम् परि दद्मसि। अरायेभ्यो जिघत्सुभ्यः इमम् मे परि रक्षत। २१. शतं ते अयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः। इन्द्राग्नी विश्वे देवास् ते अनुमन्यन्ताम् अहृणीयमानाः। २२. शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि। वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्ते ओषधीः। २३. मृत्युर् ईशे द्विपदाम् मृत्युर् ईशे चतुष्पदाम्। तस्मात्

त्वाम् मृत्योर् गोपतेर् उद्भरामि स मा बिभेः। २४. सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः। न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्ति अधमं तमः। २५. सर्वो वै तत्र जीवति गौर् अश्वः पुरुषः पशुः। यत्रेदम् ब्रह्म क्रियते परिधिर् जीवनायकम्। २६. परि त्वा पातु समानेभ्यो अभिचारात् सबन्धुभ्यः। अमम्रिर् भव अमृतो अविजीवो मा ते हासिषुर् असवः शरीरम्। २७. ये मृत्यव एकशतं याः नाष्ट्राः अतितार्याः। मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवाः अग्नेर् वैश्वानराद् अधि। २८. अग्नेः शरीरम् असि पारयिष्णुः रक्षोहाऽसि सपत्नहा। अथो अमीव-चातनः पूतुद्रुर् नाम भेषजम्।

"१. हे आयुष्कामी पुरुष! हमारे द्वारा की हुई अमृतत्व की अनुभूति कर। यह अन्यों द्वारा छिन्न न की जा सके और वृद्धावस्था तक स्थायी रहे। तू रज और तम को प्राप्त न होता हुआ अहिंसित रह। तेरे लिये मैं मृत्यु द्वारा अपहृत प्राण और आयु को पुनः प्राप्त करता हूँ। २. हे पुरुष! तू हमारे सामने होता हुआ जीवित मनुष्यों की चैतन्यता को प्राप्त हो। तू निन्दारहित ज्वरादि रोगों का त्याग करता हुआ प्राप्त हो। मैं तुझमें दीर्घ आयु की स्थापना करता हूँ। ३. हे पुरुष! अपने ही आश्रयभूत वायु से मैंने तेरे प्राणों को पा लिया है। सूर्य से तेरे नेत्र को पा लिया है।[१३१] तेरा जो मन मृत्यु के समय निकल गया था उसे तेरे देह में पुनः प्रविष्ट करता हूँ। तू सर्वाङ्ग-सम्पन्न होकर स्पष्ट वाणी बोल। ४. हे पुरुष! जैसे अग्नि को मुख की वायु से प्रज्वलित करते हैं वैसे ही तुझे सब प्राणियों के प्राणों से प्रभूत, प्राणवान् करता हूँ। मृत्यो! तेरे प्राणवध और कुदर्शन शक्ति को नमस्कार। ५. यह पुरुष मृत्यु को प्राप्त न हो। हम इसे सचेष्ट करते हैं। हे मृत्यो! तू इसे न मार। ६. पाठा नामक औषधि को मैं शान्तिकर्म के लिये आहूत करता हूँ। यह जीवनदायिनी रसा न सूखनेवाली है। मैं इसे इस पुरुष के अमृतत्व के निमित्त ग्रहण करता हूँ। ७ हे मृत्यो! इसे हिंसित करना प्रारम्भ न करो। यह तुम्हारा ही है, अतः इसके प्राणों का हरण मत करो। यह इस पृथिवी पर सब प्रकार की गति करे। हे भव, शर्व! इसे सुख दो; इसके रोगादि कष्टों को दूर कर इसे आयुष्मान् बनाओ। ८. हे मृत्यो! इसे अपना कृपापात्र रख। इस पर कृपा करो। यह नाशहीन और सब अंगों से सम्पन्न रहे। यह वृद्धावस्था को प्राप्त होता हुआ शतायु हो। ९. हे पुरुष! देवताओं का क्रोध तुझ पर न पड़े, वे तेरी हिंसा न करें। मैं तुझे मृत्यु से बचाता हूँ और जीवनदायी अग्नि को पृथक् करता हूँ। तेरे जीवन के निमित्त देवयजन अग्नि

[१३१] वही।

की स्थापना करता हूं । १०. हे मृत्यो ! तेरे रजोमय मार्ग का घर्षण करने में कोई समर्थ नहीं है । इस मूर्च्छित पुरुष की ऐसे मार्ग से रक्षा करते हुये हम इस मन्त्ररूप कवच को धारण कराते हैं । ११. हे आयुष्काम पुरुष ? तेरे देह में प्राणापान को स्थित करता हूँ । तेरे लिये दीर्घ आयु[६२०] करता हुआ तुझे जरा-मृत्यु से अस्पृश्य बनाता हूँ । मैं यमदूतों को मन्त्रशक्ति से दूर करता हुआ तेरे लिये स्वस्ति करता हूँ । १२. हम पाप देवता निर्ऋति को हिंसित करते है । मांस-भक्षक पिशाचों की हिंसा करते हैं । राक्षसत्व को नष्ट करते हैं और अन्धकारावरण को दूर करते हैं । १३. हे पुरुष ! निर्ऋति के द्वारा तेरे प्राण अपहृत हुये हैं । मैं अमृतत्व वाले अग्नि से तेरे प्राण को माँगता हूँ । तू जिस प्रकार मृत्यु को प्राप्त न हो मैं वैसा ही शान्तिकर्म करता हू । वह कर्म तेरे लिये समृद्धिकारी हो । १४. हे बालक ! तेरे लिये आकाश-पृथिवी मंगलमय और आवृद्धि करनेवाले हों । सूर्य भी तुझे सुखी करनेवाला ताप दे । वायु तेरे अनुकूल बहें । जल स्वादयुक्त और कल्याणकारी होता हुआ प्रवाहित हो । १५. हे बालक ! व्रीहि आदि ओषधियाँ तुझे सुखी करें । तुझे नीची पृथिवी और उत्तर पृथिवी से उद्धृत किया है । सूर्य-चन्द्रमा[६२१] तेरे रक्षक हों । १६. हे बालक ! तेरा ढकनेवाला वस्त्र है उसे तू नीवीं करता है । तेरे वस्त्रों को हम सुखदायक बनाते हैं । वे कोमल स्पर्शवाले हों । १७. हे संस्कारक ! जब तुम सुन्दर और तीक्ष्ण उस्तरे से शिर और मुख के बालों को मूँडते हो तब गोदान उपनयन आदि संस्कारों को प्राप्त हुये बालक के मुख को तेजस्वी बनाओ । हमारे पुत्र की आयु मत छीनो । १८. हे बालक ! तेरे भक्षण करनेयोग्य अन्न सुखकारी हों । यह तेरे शारीरिक बल को क्षीण न करें । यह धान जौ शिर को प्राप्त रोग के बाधक हैं । यह इस बालक की पाप से रक्षा करें । १९. हे बालक ! धान्य को तुम कठिनाई से सेवन करते हो और दूध के समान अन्न को पीते हो । तुम सरलता से भक्षणयोग्य अन्न का सेवन करते हो । मैं तुम्हारे सब प्रकार के अन्नों को विषरहित करता हूँ । २० हे बालक ! हम तुझे राज्याभिमानी देवताओं को रक्षा के निमित्त सौंपते हैं । हे सब देवताओ, तुम इस बालक के धन का अपहरण करने वाले तथा भक्षण-कामनावाले प्राणियों से रक्षा करो । २१. हे बालक ! हम तुझे शतायु करते हैं । हम तेरे लिये दाम्पत्यरूप एक युग, संतान-रूप द्वितीय युग और इससे भी अधिक युगों[६२२] को कहते हैं । देवगण इस

---

[६२०] तुकी० अवे० १९ २४,४.५ ८ ।

[६२१] वेदों मे चन्द्रमा को आदित्यों में से एक नही माना गया है ।

[६२२] यह कह सकना कठिन है कि इस शब्द से क्या अवधि व्यक्त की गई है

निवेदन पर अनुमति दें। २२. हे बालक! रक्षा के लिये हम तुझे शरद्, हेमन्त, वसन्त, और ग्रीष्म ऋतुओं के अर्पण करते हैं। वर्ष के तीन-सौ पैंसठ दिन तुझे सुख देनेवाले और ओषधियों की भी वृद्धि करनेवाले हों। २३. मृत्यु दुपायें, चौपाये आदि सभी प्राणियों के स्वामी हैं। मैं उस मृत्युरूप ईश्वर के पाश से तुझे मुक्त कराता हूँ। अतः मृत्यु से भयभीत हुआ तू भय को त्याग। २४. हे पुरुष! तू मृत्यु का भय न कर। इस शान्तिकर्म के कारण मनुष्य मृत्यु से बच जाते हैं; उन्हें मूर्च्छा नहीं होती। शान्तिकर्म को करनेवाले नीचे के लोकों में स्थित अन्धकार को प्राप्त नहीं होते। २५. जहाँ राक्षस-पिशाचादि को रोकने के परकोटे के रूप में शान्तिकर्म किये जाते हैं वहाँ गवादि पशु और मनुष्य सब प्राणमय रहते हैं। २६. हे शान्तिकर्म के इच्छुक पुरुष! मेरा कर्म तुझे सब ओर से रक्षित करे। समान पुरुषों, समान बान्धवों आदि द्वारा किये गये अभिचारादि से यह शान्तिकर्म तुझे बचावे। तेरे चक्षु आदि प्राण तेरे देह से न निकलें; तू दीर्घजीवन प्राप्त करे। २७. एक सौ मृत्यु हैं, और नाष्ट्रा शक्ति हैं: इनको पार नहीं किया जा सकता। इन मृत्यु और नाष्ट्रा से इन्द्रादि देवता तेरी रक्षा करें और वे तुझे वैश्वानर अग्नि से भी बचावें। २८. हे पूतद्रुनामक वृक्ष! तू अग्नि का शरीर है; तू राक्षसों और शत्रुओं का संहारक है, तू रोग-नाशक और ओषधिरूप है। यह पूतद्रु हमारी कामना को पूर्ण करे।"



खण्ड २३

सूक्तों के वर्णन के अनुसार वैदिक युग के समाज और जीवन पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ

ऋग्वेद के अपने अनुवाद (भाग १, पृ० ४० और बाद; भाग २, पृ० १५ और बाद; भाग ३, पृ० १४ और बाद) की प्रस्तावनाओं में प्रो० विल्सन ने सूक्तों से ऐसे अनेक स्थल उद्धृत किये हैं जो भारत के निवासियों की सामाजिक और राजनीतिक स्थित तथा सूक्तों की रचना के समय में इन लोगों द्वारा की गई सभ्यता की प्रगति के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत खण्ड में मैं इसी विषय पर और अधिक विवरण देने का प्रयास करूँगा। यहाँ मैं विल्सन द्वारा पहले ही विवेचित सामग्री की उपेक्षा न करते हुये सूक्तों में मिली और अधिक सामग्री दूँगा।

यह नहीं कहा जा सकता कि अध्ययन के विषय से सम्बद्ध साक्षात् तथ्य मात्र ही इस विषय की पूरी-पूरी जानकारी देते हैं। समान विषय भी, जैसे देवों की प्रकृति, उनके आवास, वेशभूषा, अलंकार, रथ, आयुध इत्यादि को भी स्तोताओं की सामाजिक स्थिति का द्योतक माना जा सकता है क्योंकि धार्मिक प्रगति के ऐसे स्तर पर मनुष्य विशेषतः देवों को स्वयं अपनी ही कल्पना तथा स्थिति के अनुसार एक विराट् और आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है।

(१) वैदिक लोगों का देश; उनके ग्राम और नगर

वैदिक लोग मूलतः भारत में सात नदियों के देश में, जो आज का पंजाब है, आकर बसे थे। किन्तु ये क्रमशः पूर्व तथा दक्षिण की ओर फैलते गये। ऋग्वेद ४.३०,१८ में सरयु के उस पार (निःसन्देह पूर्व की ओर) रहनेवाले दो शत्रुओं का उल्लेख है (उत त्या सद्यः आर्या सरयोर् इन्द्र पारतः अर्णाचित्ररथाऽवधीः)। और अधिक विवरण के लिये मैं प्रस्तुत कृति का दूसरा भाग देखने का परामर्श दूँगा। यह देश निःसन्देह अंशतः कृषित था, जैसा कि हम कृषि के बहुधा मिलनेवाले सन्दर्भों से देख सकते हैं। किन्तु, सम्भवतः इसके विशाल भूभाग अब भी वनाच्छादित थे जिनका कभी-कभी उल्लेख मिलता है। देखिये ऊपर अग्नि द्वारा वनों को भस्म करने का सन्दर्भ तथा अरण्यानी को समर्पित सूक्त।

जैसा कि आज के हमारे समय में भी भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त और पंजाब में है, पहाड़ियों से दूर के क्षेत्रों में, जहाँ की भूमि उर्वर तथा पाषाण-रहित है, मकान निःसन्देह मिट्टी के बनाये जाते थे।[१२७] ग्रामों का ऋग्वेद के इन स्थलों पर उल्लेख है : १.११४,१ (विश्वम् पुष्टम् अस्मिन् ग्रामे अनातुरम्); १.४४,१० (असि ग्रामेषु अविता); १.१४९,४ (गावः इव ग्रामम्); और १०.१४६,१)

नगरों और पुरों का भी नित्य ही उल्लेख मिलता है। एक स्थान पर यह कहा गया है कि इन्द्र ने दिवोदास के लिये पत्थर के बने सौ पुरों का नष्ट किया (४.३०,२० । शतम् अश्मन्मयीनाम् पुराम् इन्द्रो वि आस्यत् । दिवोदासाय दाशुषे)। यदि हम यही मान लें कि इनसे असुरों के अन्तरिक्षीय पुरों का तात्पर्य है (तुलना० १.६७,३) तो भी हम इन्हें इस बात का प्रमाण मान सकते हैं कि इन पुरों के पाषाण-निर्मित प्रारूप पृथिवी पर भी थे; और यह स्थिति ऐसे क्षेत्रों के लिये असम्भाव्य नहीं थी जो पहाड़ियों के निकट ऐसे स्थानों पर स्थित थे जहाँ पाषाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। लोहे के पुरों का ऋग्वेद के इन स्थानों पर उल्लेख है : १.५८,८; २.२०,८; ४.२७,१; ७.३,७; ७.१५,१४; ७.९५,१; ८.८९,८; १०.१०१,८, जहाँ सन्दर्भ या तो लाक्षणिक अथवा विशुद्ध काल्पनिक तथा पुराकथात्मक है। शतभुजी पुरों का १.१६६,८; ७.१५,१४ में उल्लेख है; और यद्यपि इनकी देवों द्वारा प्रदत्त सुरक्षा के माध्यमों के एक लाक्षणिक आशय में ही चर्चा की गई है, तथापि ये निश्चित रूप से ऐसे पुरों को संसूचित करते हैं जिनके चारों ओर उस समय अनेक समानान्तर प्राचीरें निर्मित होती थीं।

(२) धार्मिक पूजन

पाठक को यहाँ कल्पना करनी चाहिये कि वह ऊपर वर्णित भारत में २००० वर्ष या उससे भी पहले के समय में निवास कर रहा है। उस समय तक भारतीय आर्य अपने देश में कुछ समय पूर्व से पूरी तरह बस चुके थे और उसे ही अपना गृह मानने लगे थे, यद्यपि उन पर अनार्य जाति के अपेक्षाकृत अविकसित धर्म के अनुयायी ऐसे बर्बर लोगों के आक्रमण होते रहते थे जो पहले उसी देश के निवासी थे और स्वभावतः आर्यों को आक्रामक मान कर उनसे घृणा और भय रखते थे। अपनी श्रेष्ठता के प्रति जागरूक तथा अपनी रक्षा करनेवाले देवों में दृढ़ आस्था रखनेवाले आर्य आदिवासी जातियों तथा उनके अपरिष्कृत धार्मिक कृत्यों आदि को घृणा तथा आशंका से देखते थे। अतः हम

[१२७] ब्राह्मणों में 'इष्टका' का वेदियों के निर्माण के लिये अक्सर उल्लेख किया है।

यह कल्पना करेंगे कि आर्यों की एक छोटी सी सीमावर्ती बस्ती एक ऐसे वन के किनारे स्थित है जिसके कुछ भागों को काटकर कृषि के योग्य बना दिया गया है। यहाँ की जनसंख्या में पर्याप्त विस्तार हो चुका है और (जैसा कि हम और आगे देखेंगे) इसमें श्रम का भी एक विभाजन बहुत समय से विकसित हो चुका है। अधिक दार्शनिक तथा विचारशील वर्ग अब देवों की उपासना पूजा में लग गया है; समुदाय के अधिक उत्साही और युद्ध करने में समर्थ लोगों ने शेष के ऊपर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया है; अधिकांश लोग अब पशुपालन तथा व्यवसाय करने लगे हैं; जब कि समीपस्थ बर्बरों की निरन्तर बढ़ रही संख्या को इस विकासशील समाज में या तो दासों के रूप में अथवा निम्नतम वर्ग के श्रमिकों के रूप में समन्वित कर लिया गया है।

वन से होकर सन्ध्या समय घर को लौटते समय पुरोहित परिवारों का एक सदस्य, जो साथ ही साथ कवि प्रकृति का भी है, ऐसे भावों का अनुभव करता है जिनका ऊपर उद्धृत अरण्यानी-सूक्त में वर्णन किया गया है। देवों को प्राप्त करने के लिये तथा उनका सम्पूर्ण प्रचलित संस्कारों द्वारा पूजन करने के लिये उत्सुक यह अवसर रात्रि में भी जाग कर देखता रहता है (उसे इस समय पास के वनों में रहनेवाले आदिवासियों के, अथवा उन राक्षसों के, जिन्हें उसकी कल्पना चतुर्दिक् अन्धकार में निवास करनेवाला मानती है, आक्रमण की आशंका भी बनी रहती है)। वह इस समय उन देवताओं के चिह्नों को भी देखता रहता है जिन्हें वह दिन में देवों के प्रकट होने का द्योतक मानता है। ऐसे देवताओं, अश्विनों और उषा, को सम्बोधित सूक्त, कम से कम वह सूक्त जो उषा के आगमन को नमस्कार करते हैं, केवल भक्तिमात्र से नहीं बल्कि गहन काव्यात्मक अनुभूति और एक कोमल कल्पना शक्ति से उद्भूत हैं। सबसे पहले अश्विद्वय प्रगट होते हैं। इनके प्रकट होने का समय मध्यरात्रि और प्रकाश के सर्वप्रथम प्रस्फुटन के बीच माना गया है; और इनके कल्पित आगमन के प्रति उपयुक्त सूक्तों द्वारा हर्ष प्रकट किया गया है। और तब जब पूर्व में अरुणिम उषा की प्रथम आभा लक्षित होती है, कवि के हृदय में उस सुन्दरी देवी उषा के लिये भक्ति उमड़ पड़ती है जो प्रतिदिन प्रातःकाल अपने यौवन को नवीन रूप मे प्रस्तुत करती है। अब पवित्र अग्नि को उत्पन्न करने की तैयारी की जाती है। ज्योंहि अग्नि उत्पन्न करनेवाले उपकरणों को एक दूसरे के सम्पर्क में लाया जाता है अग्नि उत्पन्न हो जाते हैं। तब अग्नि का उपासक उनकी स्तुति करता है और यह कल्पना करता है कि वह अग्नि तत्काल एक दूत के रूप में जाकर देवों को उपासकों द्वारा आयोजित यज्ञ में लायेंगे। शीघ्र ही अपनी किरणों को फेंकता हुआ सूर्य क्षितिज से ऊपर आता है और अपनी

ज्योति से सबको प्रकाशित कर देता है। हर्षित स्तोता भी तब सूर्य की विभिन्न उपाधियों और विशेषणों द्वारा स्तुति करने लगता है। ग्रीष्म ऋतु में, जब दीर्घकालीन अवर्षण से भूमि नितान्त शुष्क हो जाती है, तब सभी के नेत्र आकाश में एकत्र होनेवाले मेघों की ओर इस आशा से उठ जाते हैं कि वे शीघ्र ही अपनी जलीय निधि को नीचे वर्षा करेंगे। वर्षा-देव पर्जन्य की स्तुति की जाती है। आकाश के देवता इन्द्र तथा झंझावात के देवता मरुतों से भी अपने उन कर्मों को सम्पन्न करने की स्तुति की जाती है जिन्हें स्तोता उन पर आरोपित कर चुका है—अर्थात् अन्तरिक्ष के उन दुष्ट असुरों का वध करना जो मेघों को गुहाओं में छिपा रखते हैं, तथा उनसे जलों को मुक्त कराना। तदनन्तर अन्य देवों, अथवा उनमें से कुछ चुने हुए देवों का आवाहन किया जाता है। स्तुतियों और स्तोत्रों के उच्चारण के साथ-साथ अनेक प्रकार की हवियाँ भी विभिन्न देवताओं के लिये दिन के विभिन्न समयों में दी जाती हैं।

(३) क्या वैदिक भारतीय अपने देवताओं की मूर्तियाँ बनाते थे ?

प्रो० मैक्समूलर (चिप्स, १६८) इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर देते हैं। आप कहते हैं कि : "वेद का धर्म मूर्तियों से परिचित नहीं है। भारत में मूर्तिपूजा एक परवर्ती विकास है जिसमें हम आदर्श देवताओं की पूर्वग पूजा का एक बाद का पतन देखते हैं।" दूसरी ओर डा० बॉलेनसेन सूक्तों में देवों की मूर्तियों का स्पष्ट सन्दर्भ देखते हैं (जजओमो० २२.५८७ और बाद)। आप लिखते हैं कि : "देवों के लिये साधारणतया प्रयुक्त संज्ञा 'दिवो नरस्' अथवा मात्र 'नरम्' से और 'नृपेशस्'[६२४] उपाधि से (ऋग्वेद ३.४,५) हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि भारतीय केवल कल्पना में ही अपने देवों को मानव आकृति से युक्त नहीं करते थे बल्कि उन्हें एक इन्द्रियग्राह्य रूप से भी प्रस्तुत करते थे। इस प्रकार, ऋग्वेद २.३३,९ में रुद्र की एक चित्रित मूर्ति का वर्णन है : स्थिरेभिर् अङ्गैः पुरुरूप उग्रः बभ्रुस् शुक्रेभिः पिपिशे हिरण्यैः'। "बहुरूपवाले, दृढ शरीरवाले, विकराल, पीतवर्ण रुद्र सुवर्णमय तेज से प्रकाशित हैं।" ऋग्वेद १.२५,१३ से (जहाँ वरुण के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि "एक सुवर्ण कवच धारण करके वह अपनी उज्ज्वलता में अपने को छिपा लेते हैं; और उनके दूत उनके चारों ओर बैठते हैं") भी एक इन्द्रियग्राह्य प्रस्तुतीकरण स्पष्ट प्रतीत होता है।..."इससे भी स्पष्ट प्रस्तुतीकरण का सन्दर्भ एक मूर्ति के रूप में ५.५२,१५ में मिलता है : नू मन्वानः एषां

[६२४] प्रो० रॉथ कहते हैं कि सायण के अनुसार इस शब्द का अर्थ 'मनुष्य-रूप से युक्त' है।

देवान् अश्न (प्रो० मूलर तथा 'आफ्रेक्त दोनों के संस्करणों में 'अच्छा' पाठ है)। यहाँ यह प्रतीत होता है कि मरुतों का उनके देवरूप, अर्थात् मूर्ति से विभेद किया गया है।" ..."साथ ही, सामान्य अभिव्यक्ति 'वेपस् तनु' के रूप में हमें इस प्राचीनतम भाषा में ऐसी अभिव्यक्तियाँ मिलती हैं जो उपयुक्त रूप से देवों की मूर्तियों की ही द्योतक हैं।" इसी मत की पुष्टि में और भी बहुत कुछ कहा गया है। सम्भवतः इन प्रमाणों की सार्थकता के सम्बन्ध में कुछ कहना उस समय तक अपरिपक्व होगा जब तक यह न देख लिया जाय कि विपक्ष को और क्या कहना है।

(४) राजा और राज्य

राजाओं का सूक्तों में अक्सर ही उल्लेख है: १.४०,८; १.१२६,१; ३.४३,५; ५.३७,४; १०.६६,४, इत्यादि। १.८५,८ में मरुतों को राजाओं के समान कहा गया है (राजानः इव त्वेष-सन्दृशः)। आर्यों द्वारा अधिकृत भूभाग निःसन्देह विभिन्न जातियों[६२५] और अनेक राज्यों में विभक्त था। ऋग्वेद १.१२६,१ में एक भाव्य नामक राजा की प्रशस्ति है जो सिन्धु नदी के तट पर राज्य करता था (अमन्दान् स्तोमान् प्रभरे मनीषा सिन्धाव् अधि क्षियतो भाव्यस्य। यो मे सहस्रम् अमिमीते सवान् अतूर्तो राजा श्रवः इच्छमानः)। ८.२१,१८ में चित्र तथा अन्य राजप्रमुखों का सरस्वती के निकट निवास करनेवालों के रूप में उल्लेख है (चित्रः इद् राजा राजकाः अन्यके यके सरस्वतीम् अनु)। यह कहा गया है कि दस राजाओं ने सुदास के विरुद्ध युद्ध किया: ७.३३,३; ७.८३,६ और बाद। ऋग्वेद में अनेक अन्य राजाओं के भी नाम आते हैं। चाहे एक दूसरे पर आक्रमण करने के लिये या मैत्री सम्बन्ध के लिये, राजाओं के मिलन का उल्लेख है: १०,९७,६ (राजानः समिताव् इव)। ७.१८,२ में यह कहा गया है अपनी पत्नियों के साथ इन्द्र; अथवा ज्योतियों के बीच रहने के समान अपनी पत्नियों के बीच रहते हुये इन्द्र का उल्लेख है (राजेव हि जनिभिः क्षेपि एव अव द्युभिः) जिससे राजाओं में बहुपत्नीत्व के प्रचलन का संकेत मिलता है। १०.४०,३ में यह कहा गया है कि अश्विद्वय यज्ञ में राजाओं के समान आते हैं (राजपुत्रेव सवनाऽव गच्छतः)। जब २.४१,५; ५.६२,६ और ७.८८,५ में यह कहा गया है कि मित्र और वरुण सहस्र स्तम्भोंवाले और सहस्र द्वारों वाले महान प्रासाद में रहते हैं तो हमें मानना होगा कि यहाँ कवियों ने राजप्रासाद का एक अतिरंजित वर्णन ही किया है।[६२६] इसी प्रकार हमें १.२५,१०-१३

[६२५] देखिये रॉथ।

[६२६] अवे० ३.१२; और ९.१।

में भी सुवर्ण-कवचों और परिधानों को धारण किये तथा अपने दूतों से घिरे एक सम्राट् की भाँति अपने महल में बैठे वरुण का वर्णन भी मिलता है जो किसी समसामयिक राजा के दरबार के दृश्य से ही प्रेरित है। ऋग्वेद ४.५०,८ से यह प्रतीत होता है कि एक कुलगुरु या राजपुरोहित रखना राजा के लिये अत्यन्त लाभकारी था, और वास्तव में हम देखते हैं कि राजाओं की दानशीलता की उनके पुरोहितों या ऋषियों ने अनेक सूक्तों में प्रशंसा की है (देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पहला भाग, और जमुसो० १८६६, पृ० २०१ और बाद, में मेरा लेख जहाँ मैंने अनेक राजाओं के नामों का उल्लेख किया है)। इन राजाओं द्वारा अपने आध्यात्मिक परामर्श-दाताओं को सहस्रों की संख्या में गायें (५.३०,१२ और बाद), अश्व, रथ, सुवर्ण (६.४७,२३), परिधान (दशाश्वान् दश कोशान् दश वस्त्राऽधिभोजना। दशो हिरण्यपिण्डान् दिवोदासाद् असानिषम्। दश रथान् प्रष्टिमतः शतं गाः अथर्वभ्यः अश्वथः पायवेऽददात्), तथा सुवेष्टित दासियाँ (८.४६,३३: अध स्या योषणा मही प्रतीचीवशम् अश्व्यम्। अधिरुक्मा विनीयते) दान की जाती थीं, यद्यपि हमें यह मानना ही चाहिये कि इन वर्णनों में बहुत अधिक अतिरंजना है: १.१२६,१ और बाद; ५.२७,२; ५.३०,१२ और बाद; ५.३३,८ और बाद; ५.६१,१०; ६.२७,८; ६.४७,२२ और बाद; ६.६३,९ और बाद; ७.१८,२२ और बाद; ८.३,२१ और बाद; ८.४,१९ और बाद; ८.५,३७ और बाद; ८.६,४६ और बाद; ८.१९,३६ और बाद, ८.२१,१७ और बाद; ८.२४,२९ और बाद; ८.४६,२१ और बाद; ८.५४,१० और बाद; ८.५७,१४; १०.३३,४ और बाद १०.६२,६ और बाद; १०.९३,१४ और बाद। फिर भी इस बात का प्रमाण है कि इन राजाओं के पास प्रचुर धन था। चेदि के पुत्र, कशु ने सौ ऋषि को सुवर्ण के समान उज्ज्वल दस राजा दान कर दिये थे (८.५,३८: यो मे हिरण्य-सन्दृशो दश राज्ञो अमंहत)।

ऋग्वेद के अन्त में दो ऐसे सूक्त आते हैं जिनमें राजा की समृद्धि की कल्पना की गई है। ये सूक्त १०.१७३ और १७४ हैं जिनमें से मैं पहले को प्रस्तुत कर रहा हूँ :—

१०.१७३,१। आ त्वाऽहार्षम् अन्तर् एधि ध्रुवस् तिष्ठाविचाचलिः। विशस् त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद् राष्ट्रम् अधि भ्रशत्। २. इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः। इन्द्र इवेह ध्रुवस् तिष्ठेह राष्ट्रम् उ धारय। ३. इमम् इन्द्रो अदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा। तस्मै सोमो अधि ब्रवत् तस्मा उ ब्रह्मणस्पतिः। ४. ध्रुवा द्यौर् ध्रुवा पृथिवी ध्रुवासः पर्वता इमे। ध्रुवं विश्वम् इदं जगद् ध्रुवो राजा विशाम् अयम्।

५. ध्रुवं ते राजा वरुणो ध्रुवं देवो बृहस्पतिः। ध्रुवं ते इन्द्रश्‌ च अग्निश्‌ च राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्‌। ६. ध्रुवं ध्रुवेण हविषा अभि सोमम्‌ मृशामसि। अथो ते इन्द्रः केवलीर्‌ विशो बलिहृतस्‌ करत्‌।

"१. हे राजन्‌! तुम राष्ट्र के अधिपति बनाये गये हो। तुम इस राष्ट्र के स्वामी बनो। तुम स्थिरमति, अटल विचार और दृढ़ कार्यों को करनेवाले होओ। तुम्हारी प्रजा तुम्हारे प्रति अनुरक्त रहे। तुम्हारे राष्ट्र का अमंगल न हो। २ हे राजन्‌! तुम पर्वत के समान अटल होकर यहीं निवास करो। तुम इस राज्य से हटना नहीं। जैसे इन्द्र अविचलित रूप से रहते हैं, वैसे ही तुम भी निश्चय होओ। तुम अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने वाले बनो। ३. इन्द्र ने अक्षय यज्ञ-सामग्री, प्राप्त की और इस अभिषिक्त सम्राट्‌ को अपना आश्रय प्रदान किया। ब्रह्मणस्पति ने भी इस राजा को आशीर्वाद दिया। ४. पृथिवी, आकाश, पर्वत और यह सम्पूर्ण जगत्‌ जिस प्रकार अविचलित है उसी प्रकार यह राजा भी प्रजाओं के मध्य दृढ़ भाव से रहे। ५ हे राजन्‌! वरुण तुम्हारे राज्य को दृढ़ करें। बृहस्पति इसे अविचलित करें। इन्द्र और अग्नि देवता भी इस राष्ट्र को सुदृढ़ बनावें। ६. यह हवि अक्षय है; यह सोमरस कभी भी क्षीण नहीं होता। हम इन्हें प्रस्तुत करते हैं। हे राजन्‌! इन्द्रने भी तुम्हारी प्रजा को एक शासन में रहनेवाली और कर देनेवाली किया है।"

"पुरपति" (१.१७३,१०) और ग्रामणी शब्दों के द्वारा भी शासकों को व्यक्त किया गया है। ग्रामणी शब्द १०.६२,११ में आता है: सहस्रदाः ग्रामणीर्‌ स रिषन्‌ मनुः सूर्येणास्य यतमाना एतु दक्षिणा।[६२७] और १०.१०७,५ में भी: दक्षिणावान्‌ ग्रामणीर्‌ अग्रम्‌ एति।

(५) समाज में विभिन्न वर्ग—धनी और निर्धन

ऊपर दिये तथ्यों से भी यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सूक्तों में अपने समय के समाज में निर्धन और धनी दोनों ही प्रकार के लोगों का स्पष्ट सन्दर्भ है। देखिये ऋग्वेद १०.११७, जिसमें दोनों ही वर्गों के अस्तित्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुये निर्धनों के प्रति धनिकों से उदारता दिखाने के लिये कहा गया है। १०.१०७,१० में दाता के घर की एक पद्मसरोवर से तुलना करते हुये यह कहा गया है कि वह देवों के प्रासादों की भाँति सुसज्जित है (तुकी० १० १३५,७)। ८.४,९ में इन्द्र के एक मित्र को रथों, अश्वों, गायों से युक्त, सुन्दर, बल-वीर्य से सम्पन्न, और सभा में प्रकाशित होते हुये आनेवाला कहा गया है (अश्वी रथी सुरूपः इद्‌ गोमान्‌ इद्‌ इन्द्र ते सखा। श्वात्रभाजा वयसा सचते सदा चन्द्रो याति सभाम्‌ उप)।

६२७ देखिये जएसो० १८६६, पृ० २७६।

(६) कौटुम्बिक सम्बन्ध और जीवन तथा नैतिकता

सूक्तों में बहुपत्नीत्व के प्रचलन के स्पष्ट चिह्न उपलब्ध हैं, यद्यपि यह अपवाद और एकपत्नीत्व ही साधारण नियम था। कुछ स्थानों पर पति को एक पत्नीवाला ही कहा गया है—यदि हमारा पत्नी के एक वचन प्रयोग से ऐसा निष्कर्ष निकालना उचित है तो इस प्रकार १.१२४,७ में उषा से उसी प्रकार अपना रूप दिखाने के लिये कहा गया है जैसे एक हँसती हुई, और सुन्दर परिधान धारण किये हुये पत्नी अपने पति को अपना रूप दिखाती है (जाया इव पत्ये उशती सुवासाः उषाः हस्रा इव नि रिणीते अप्सः; तुल० ९.६,२, और १०.७१,४)। और १.१०५,२ में इसे यह कहा गया है : आ जाया युवते पतिम्। अन्य स्थानों पर अनेक पत्नियों का न्यूनाधिक स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार १.६२,११ में : पतिं न पत्नीर् उशतीर् उशन्तम स्पृशन्ति त्वा शवसावन मनीषाः। "हे शक्तिशाली देवता! हमारे सूक्त तुम्हारा उसी प्रकार स्पर्श करते हैं जैसे पत्नियाँ अपने प्रिय पति का।" १.७१,१ : उप प्र जिन्वन्न् उशतीर् उशन्तम् पतिं न नित्यं जनयः सनीळाः। स्वसार.। "प्रिय बहनों (अँगुलियों) ने उसी प्रकार अग्नि को हिलाया जैसे एक साथ रहनेवाली पत्नियाँ अपने पतियों को आन्दोलित करती हैं।"[६३८] १.१०५,८ (= १०.३३,२) : सम् मा तपन्ति अभितः सपत्नीर् इव पर्शवः)। १.१८०,७ : तम् ईं गिरो जनयो न पत्नीः सुरभिष्टमं नरां नसन्त। ७.२६,३ : जनीर् इव पतिर् एकः समानो नि ममृजे पुरः इन्द्रः सु सर्वाः। १०.४३,१ : परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिम्। शतपथ ब्राह्मण (९.१,४,६) स्पष्ट रूप से बहुपत्नी प्रथा को मान्यता देता है और इसकी उत्पत्ति की अपनी कथा कहता है : पुंसे पूर्वस्मै जुहोति अथ स्त्रीभ्यः। पुमांसं तद् वीर्येण अत्यादधाति। एकस्मै इव पुंसे जुहोति बह्वीभ्यः इव स्त्रीभ्यः। तस्माद् अप्य् एकस्य पुंसो बह्व्यो जायाः भवन्ति। उभाभ्यां वषट्कारेण च स्वाहाकारेण च पुंसे जुहोति स्वाहाकारेण एव स्त्रीभ्यः। पुमांसम् एव तद् वीर्येण अत्यादधाति। "वह पहले पुरुष के लिये और फिर स्त्रियों के लिये यज्ञ करता है। वह अपने वीर्य के परिणामस्वरूप पुरुष को उन्नत करता। वह एक पुरुष और अनेक स्त्रियों के लिये यज्ञ करता है। इसीलिये एक पुरुष के अनेक पत्नियाँ होती हैं। वह पुरुष के लिये वषट्कार और स्वाहाकार दोनों से तथा स्त्रियों के

---

६३८ मैं कहूँगा कि सायण और प्रो० बेनफे दोनों ही 'सनीळाः' उपाधि को 'एक ही घर में साथ-साथ' 'स्वसार.' (बहनों) के साथ (जनयः या पत्नियों के नहीं) रहने का द्योतक मानते हैं।

लिये केवल स्वाहाकार से ही यज्ञ करता है। वह अपने वीर्य से पुरुष को उन्नत करता है।" किसी स्त्री के लिये अपने पिता के घर में ही वृद्धावस्था प्राप्त करना दुर्भाग्य माना गया है (देखिये ऊपर घोषा का वृत्तान्त)। मेरे लिये विवाह संस्कार का कोई वर्णन करना अनधिकार चेष्टा करना होगा और इसके लिये मैं पाठकों को वेबर का इण्डिशे स्टू० ५.१७७ और बाद, तथा ऋग्वेद १०.१०९ भी देखने का परामर्श दूँगा। अथर्ववेद ९.५,२७ और बाद के अनुसार स्त्रियों को दूसरी बार विवाह की अनुमति थी। १.१२४,७ में यह कहा गया है कि उषा अपने रूप को उसी प्रकार दिखाये जिस प्रकार भ्राताविहीन स्त्री अपना रूप किसी पुरुष को दिखाती है। (अभ्रातेव पुंसे एति प्रतीची)। ४.५,५ में दुष्ट मिथ्याभाषियों की भ्रातारहित स्त्रियों के साथ तथा पुंश्चली स्त्रियों के अपने पतियों के साथ व्यवहार के साथ तुलना की गई है (अभ्रातरो न योषणो व्यन्तः पतिरिपो न जनयो दुरेवा'। पापासः सन्तः अनृताः असत्याः इदम् पदम् अजनत गभीरम्)।

ऋग्वेद १०.२७ के ग्यारहवें और बारहवें मंत्र इस प्रकार हैं: ११. यस्यानक्षा दुहिता जातु आस कस् ता विद्वान् अभिमन्येते अन्धाम्। कतरो मेनिम् प्रतितम् मुचाते मः ईं वहाते यः ईं वा वरेयात। १२. कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण। भद्रा वधूर् भवति यत् सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्। "११. किसी की भी नेत्रहीना कन्या का आश्रय-दाता कौन होगा? उसे वरण करने तथा वहन करनेवाले को कौन मारेगा? १२. कुछ स्त्रियाँ द्रव्य से ही पुरुष के वशीभूत हो जाती हैं। परन्तु जो स्त्रियाँ सुशील, स्वस्थ और श्रेष्ठ मनवाली हैं वे इच्छानुकूल पुरुष को पतिरूप में वरण करती हैं।" क्या इस स्थल से हम यह निष्कर्ष नहीं निकालें कि कम से कम किसी समय स्त्रियों को अपने मनोनुकूल पति के वरण की स्वतन्त्रता थी। राजाओं की कन्याओं का स्वयंवर, महाभारत के आधार पर बाद के समय में एक सामान्य प्रचलन प्रतीत होता है। देखिये नल और दमयन्ती की सुप्रसिद्ध कथा।

ऊपर तैत्तिरीय ब्राह्मण (२.४,२,७) को उद्धृत किया जा चुका है जिसके आरम्भ का अत्यन्त स्पष्ट न होते हुये भी इस प्रकार अनुवाद किया जा सकता है; "एक श्रेष्ठ पति की पत्नी, दिव्य और सौभाग्यशालिनी इन्द्राणी, अपने पति के वरण में अंशतः विजेता रहीं।" क्या उस समय युवतियाँ पतियों के लिये स्पर्धा करती थी?

अश्विनों को सम्बोधित इस सूक्त (१०.४०,२) में एक विधवा के अपने देवर के साथ सम्बन्ध का इस प्रकार उल्लेख है: १०.४०,२ (= निरुक्त ३.१५): कुह स्विद् दोषा कुह वस्तोर् अश्विना कुहाभिपित्वं करतः

कुहोषतुः। को वां शयुत्रा विधवेव देवरम् मर्यं न योषा कृणुते सधस्थे। "हे अश्विनीकुमारो! तुम अपना समय कहाँ व्यतीत करते हो? दिन में और रात में कहाँ गमन करते हो? कौन तुम्हें इस प्रकार अपने घर बुलाता है जिस प्रकार एक विधवा अपने देवर को या कोई स्त्री किसी पुरुष को अपने घर बुलाती है?" प्रो० रॉथ (निरुक्त, पृ० ४२) इस तुलना की व्याख्या करते हुये मनु ९.६९,७० का सन्दर्भ देते हैं जहाँ यह कहा गया है कि कुछ परिस्थितियों में किसी विधवा का उसके देवर के साथ विवाह हो सकता था। ६० वें मन्त्र में यह कहा गया है कि इस प्रकार के विवाह की अवधि एक पुत्र उत्पन्न हो जाने तक ही सीमित होनी चाहिये। इस प्रकार, यह देखा जा सकता है कि इस विषय पर भारत का प्राचीन नियम ड्यूटेरोनॉमी २५.५ में व्यवस्थित यहूदियों के नियम के ही समान था; तुकी० मैथ्यू २२.२४ और बाद। इसी प्रचलन का ऊपर के कुछ अस्पष्ट से मन्त्र में उल्लेख है।

प्रो० मैक्समूलर की कृपा से मैं इस मन्त्र की सायण की व्याख्या दे रहा हूँ:—किञ्च वा युवां को यजमानः "सधस्थे" सहस्थाने वेद्याख्ये "आकृणुते"। परिचरणार्थम् अस्माभिमुखीकरोति। तत्र दृष्टान्तम् दर्शयति। "शयुत्रा" शयने "विधवेव" यथा मृतभर्तृका नारी "देवरम्" भर्तृभ्रातरम् अभिमुखीकरोति। "मर्यं न" यथा च सर्वम् मनुष्यं "योषा" सर्वा नारी सम्भोगकालेऽभिमुखीकरोति तद्वद् इत्यर्थः। इसके बाद इसी मन्त्र पर निरुक्त ३.१५ को उद्धृत किया गया है।

विवाह-संस्कार के समय वधू की ओर से यह इच्छा व्यक्त की गई है कि वह अपने श्वसुर, सास, ननद तथा उसके भ्राताओं के लिये एक सम्राज्ञी होगी : १०.८५,४६ (सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वाम् भव। ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु)। ८.२,२० में एक अप्रिय जामाता (अर्थात् दुष्ट जामाता) का उल्लेख है; किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि इसमें किसका उदाहरण दिया गया है। १,१०९,२ में कवि कहता है कि हमने सुना है कि इन्द्र और अग्नि एक हीन जामाता से अथवा पत्नी के भ्राता से अधिक सखा हैं। (अश्रवं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुर् उत वा घा स्यालात्)। यास्क (निरुक्त ६.९) 'विजामातृ' शब्द की 'एक ऐसे व्यक्ति के द्योतक' के रूप में व्याख्या करते हैं जो सभी आवश्यक गुणों से पूर्ण न हो (असुसमाप्त जामाता), और इसमें और जोड़ देते हैं कि दक्षिण के लोग इसका ऐसे व्यक्ति के लिये प्रयोग करते हैं जिसने अपनी पत्नी मोल लिया हो (विजामाता इति शश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिम् आचक्षते। असुसमाप्त इव वरोऽभिप्रेतः।

वैवाहिक अनैतिकता तथा बलात्कार के सन्दर्भ भी अनुपस्थित नहीं हैं। १०.३४,४ में यह कहा गया है कि जुआरी की पत्नी अन्य लोगों की कुदृष्टि की बाधा होती है (अन्ये जायाम् परि मृशन्ति अस्य यस्य अगृधद् वेदने वाजी अक्षः)। १०.४०,६ में एक अभिसार करनेवाली स्त्री का उल्लेख है (निष्कृतं न योषणा)। तुकी० १०.३४,५ (निष्कृतं जारिणी इव)[६२९], जिससे यदि विवाहिता स्त्री का तात्पर्य है तो यह एक अवैधानिक सम्बन्ध का उदाहरण प्रस्तुत करता है। २.२९,१ में मित्र और वरुण से यह स्तुति की गई कि वे स्तोताओं के पाप को उसी प्रकार हटायें जिस प्रकार एक स्त्री अवैध गर्भ को हटा देती है (आरे मत् कर्त रहसूर् इनागः)[६३०]। १.१६७,४ में हमें ये शब्द मिलते हैं : परा शुभ्रा अयासो यव्या साधारण्येव मरुतो मिमिक्षुः। सायण का अनुसरण करते हुये प्रो० विल्सन इसका यह अनुवाद करते हैं : "शुभ्र और सतत गतिशील मरुद्गण अपने साथियों (विद्युत्) से उसी प्रकार मिश्रित हो गये हैं जिस प्रकार युवाजन एक ही स्त्री से मिश्रित हो जाते हैं।" इन शब्दों को प्रो० मैक्समूलर ने ऋग्वेद १.१७९ के अनुवाद के सन्दर्भ में उद्धृत किया है किन्तु आप प्रस्तुत विषय के सम्बद्ध में कोई व्याख्या नहीं करते।

९.६७,१० और बाद, में कवि स्तुति करता हुआ इस निवेदन को दो बार दोहराता है कि पूषा उसकी हर यात्राओं में रक्षा करें तथा उसे वर्णनीय वधुयें प्रदान करें (अविता नो अजाश्वः पूषा यामनि यामनि आ भक्षत् कन्यासु नः। ११. अयं सोमः कपर्दिने घृतं न पवते मधु। आ भक्षत् कन्यासु नः। १२. अयं ते आघृणे सुतो घृतं न पवते शुचि। आ भक्षत् कन्या-सु नः)। कवि के समकालीनों का स्त्रियों के सम्बन्ध में सामान्य मत इन्द्र द्वारा कहलवाये गये इन शब्दों से व्यक्त हुआ प्रतीत होता है : ८.३३,१७ : इन्द्रश् चिद् घ तद् अब्रवीत् स्त्रियाः अशास्यम् मनः। उतो अह क्रतुं रघुम्। "इन्द्र ने कहा कि स्त्री का मन नियन्त्रण के योग्य नहीं होता और उसका स्वभाव भी अस्थिर होता है।"

वालखिल्य ८,३ में एक सौ दासों के उपहार का उल्लेख है (शतं दासान् अतिस्रजः)। ऋग्वेद ८.४६,३२ में प्रो० रॉथ यह अनुमान करते हैं (दास, वरथा०) कि शुद्ध पाठ "शतम् दासान्" है। देखिये जपसो०

---

[६२९] ये शब्द (निष्कृत न योषणा) वैवाहिक अनिष्ठा के द्योतक हैं। १.१६७,३ में 'गुहाचरन्ती मनुषो न योषा' शब्द आते हैं।

[६३०] देखिये प्रो० विलसन का अनुवाद, दूसरे भाग की प्रस्तावना।

[६३१] 'शिप्र' के लिये देखिये ऊपर।

१८६६, पृ० २७५ में मेरा लेख। तुली० ऋग्वेद १.९२,८ में 'दास-प्रवर्ग' शब्द भी।

इसी प्रकार के सम्बन्ध से भिन्न क्षेत्रों में वैदिक भारतीयों की नैतिकता के सम्बन्ध में यह उल्लेख किया जा सकता है कि ४.५,५ में असत्य की भर्त्सना की गई है और यह भी कहा गया है (१.१५२,१; ७.४९,३; ७.८४,२) कि देवगण असत्यवादी को दण्ड देते हैं। देवों की अपने उपासकों के साथ मित्रता का अक्सर उल्लेख है जिससे ऐसा प्रतीत होता है कि उनके उपासकों में से कुछ के बीच भी इसी प्रकार का सम्बन्ध था। देखिये १०.७१ भी। १०.११७ में निर्धनों की उपेक्षा की भर्त्सना की गई है।

(७) वेशभूषा, अलंकार, इत्यादि

अनेक स्थानों पर सुभूषित स्त्रियों का उल्लेख है: ४.३,२; १०.७१,४ (जायेव पत्ये उशती सुवासाः), १०.१०७,९। सुन्दर और भली-भाँति बने परिधानों का भी उल्लेख है: ५.२९,१५ (वस्त्रेव भद्रा सुकृता)। इन स्थलों, तथा जवाहरातों आदि से सम्बद्ध स्थलों (८.४६,३३) से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि व्यक्तिगत अलंकरण पर विशेष ध्यान दिया जाता था। इनसे वस्त्रों के आकार-प्रकार या इन्हें बनाने के लिये प्रयुक्त पदार्थों की कोई सूचना नहीं मिलती। फिर भी कुछ स्थलों पर भेड़ों और ऊन का उल्लेख है, जैसे १.१२६,७; ६.१५,१६; १०.७५,८ में। किन्तु यह मानना कठिन है कि रुई (जो प्रो० जे० एच० बाल्फोर ने मुझे बताया है कि भारत की ही उपज है), सूक्तों में उल्लिखित न होने पर भी भारत जैसे उष्ण जलवायु के देश में सूक्तों की रचना के समय भारतीयों को अज्ञात रहा होगा और सूती वस्त्र नहीं पहने जाते रहे होंगे। परिधानों का स्वरूप बहुत कुछ ऐसा ही रहा होगा जैसा कि आज के हिन्दुओं का है यदि इसमें मुसलमानों ने कुछ परिवर्तन नहीं ला दिया है तो। 'उष्णीष' या पगड़ी का अथ० १५.२,१ में उल्लेख है।

वैदिक देवों में से दो, रुद्र और पूषा को ऋग्वेद में १.११४,१.५; ६.५५,२, और ९.६७,११ में 'कपर्दिन्' कहा गया है। प्रो० बॉटलिंक और रॉथ ने अपने कोश में इस शब्द की व्याख्या की है। ७.८३,८ में इसी उपाधि का तृत्सुओं (वह जाति जिसके पुरोहित वसिष्ठ थे) के लिये व्यवहार किया गया है (श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनः तृत्सवः)[६१२]। १०.११४,३ में एक सुन्दर और कान्तियुक्त युवती (यह पता नहीं कि यह कौन है, क्योंकि

[६१२] देखिये विष्णु पुराण के आरम्भ में शिव के स्वरूप का वर्णन।

यह स्थल अत्यन्त अस्पष्ट और जटिल है) को ऐसी चार जटाओंवाला कहा गया है (चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशाः घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते)। और ७.३३,१ में वासिष्ठ पुरोहितों को श्वेतवस्त्र और सर पर दाहिनी ओर जटा धारण करनेवाला कहा गया है (श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्-कपर्दाः इत्यादि; तुकी० ७.८३,८)।[६३३] अनेक स्थलों पर मरुतों को अनेक प्रकार के अलंकार धारण करनेवाले कहा गया है। ये अलंकार सम्भवतः कवि के देशवासियों (स्त्री-पुरुषों) द्वारा धारण किये जाने वाले अलंकारों के समान ही रहे होंगे।

(८) भोजन और पेय

ऋग्वेद में (देखिये १.२३,१५; १ ६६,३; १.११७,२१ इत्यादि) 'यव' का अक्सर उल्लेख है जिसका बाद के संस्कृत में 'जौ' अर्थ है, किन्तु बॉटलिङ्क और राथ के कोश के अनुसार यह प्राचीन समयों में सामान्य रूप से अन्न का द्योतक था। चावल (व्रीहि) का, इन्हीं विद्वानों के अनुसार, ऋग्वेद में तो नहीं किन्तु अथर्ववेद में जौ, माष, और तिल के साथ उल्लेख है: देखिये ६.१०४,२ (व्रीहिम् अत्तं यवम् अत्तम् अथो माषम् अथो तिलम्)। भुने हुये अन्न (धाना) का ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर उल्लेख है, जैसे, १.१६,२; ३.३५,३; ३.५२,५; ६.२९,४ में, जिसे देवों को अर्पित किया जाता था। ३.३५,७ में इसे इन्द्र के अश्वों के भोजन के रूप में समर्पित कहा गया है। अपूप, तथा करम्भ को देवों को अर्पित किया जाता था: ३.५२.७; ६.५७,२। फल का ३.४५,४; १.१४६,५ में उल्लेख है। ओषधि, वीरुध् का अक्सर ही न केवल उल्लेख है वरन् इनका आवाहन भी किया गया है: ६.४९,१४; ७.३४,२३; ७.३५,५; १०.९७,१ और बाद (यहाँ कुछ को देवों से तीन युग पूर्व उत्पन्न कहा गया है: १. याः ओषधीः पूर्वाः जाताः देवेभ्यस् त्रियुगम् पुरा)। इन्हें १०.९७,४ में 'देवीः' कहा गया है; मन्त्र ३ और १५ में इनमें से कुछ को पुष्पवती और कुछ को फलवती कहा गया है (पुष्पवतीः प्रसूवरीः। याः फलिनीर् याः अफलाः अपुष्पाः याश् च पुष्पिनीः)। मंत्र ११ और १२ में इन्हें रोगों को भगानेवाला बताया गया है। भेषजों का भी अक्सर उल्लेख है। एक स्थान पर, प्रत्यक्षतः यज्ञ-कार्य के लिये मांस काटने का उल्लेख है: १.१६१,१० (मांसम् एकः पिंशति शूनयाऽऽभृतम्)। १.१६४,४३ में बैल को पकाने को एक पूर्वंग प्रचलन कहा गया है (उक्षाणम् पृश्निम् अपचन्त वीरास् तानि धर्माणि

[६३३] देखिये रॉथ पृ० १२०।

पचमानि आसन ; तुल० १०.२७,२; १०,२८,३)[६२४]। ५ २९,७; ८.१२,८; ८ ६६,१० में देवों द्वारा अनेक भैंसों को पकाने तथा भक्षण करने का उल्लेख है। इन पशुओं की यज्ञ में बलि के इन सन्दर्भों से सम्भवतः यह अनुमान किया जा सकता है कि मानव भोजन के लिये भी इनका प्रयोग होता रहा होगा। सूक्तों में मादक पेयों का भी उल्लेख है। जहाँ तक सोमरस का प्रश्न है, देखिये ऊपर सोम का खण्ड। सुरा (यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है कि इसे किस वस्तु से बनाया जाता था)[६२५] का भी प्रयोग होता था, जैसा कि अनेक स्थलों से स्पष्ट होता है, जैसे १.११६,७, ७.८६,६;१०.१०७,९। इसका ८ २,१२ में भी उल्लेख है : हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। "सोमपान करने के पश्चात् वे उसी प्रकार युद्ध करते हैं जैसे सुरापान के बाद मनुष्य मदमत्त होकर करते हैं।" 'सुराश्वः' का भी ८.२१,१४ में उल्लेख है। १.१९१,१० में हमें ये शब्द मिलते हैं : सूर्ये विषम् आ सजामि हतिं सुरावतो गृहे। देखिये वाज० १९.५; शतपथ० १२.७,३,८ और १२; १२.८,१, १६; वाज० १९ ४४ पर भाष्य; और अथर्व० १४ १,३५ और बाद। सुरापान के प्रति बाद के समय के दृष्टिकोण के लिये पाठक मनु ११.५४,९०,९३-९७, १४८ और बाद, २४९ को देख सकते हैं।

(९) व्यापार और व्यवसाय

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, ऋग्वेद ९ ११२ में मनुष्यों की रुचियों और व्यवसायों की विविधता का उल्लेख करते हुये उनके विभिन्न व्यवसायों का उल्लेख है, जैसे बढ़ई, वैद्य, पुरोहित, लोहार (तुल० १०.७२,२), कवि, अन्न पीसनेवाली स्त्रियाँ। मनुष्य कुशल वैद्य या चिकित्सक होता था और राक्षसों का वध तथा रोगों का निराकरण करता था। वह उसी पौधों और औषधियों का उसी प्रकार संग्रह करता था जैसे राजा अपनी सभा का चयन करता है। (१०.९७,६ : यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताव् इव। विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहाऽमीव-चातनः)। रथनिर्माण का अक्सर उल्लेख है, और सूक्त-रचना की कुशलता की रथकार के शिल्प के साथ तुलना की गई है : १.६१,४; १.९४,१३; १.१३०,६, १ १३१,२; २.१९,८; २.३५,२; ४.१६,२०; ५.२,११; ५.२९,१५; ५.७३,

[६२४] देखिये विलियम जोन्स का मनु का अनुवाद, भूमिका, और मनु ११.५९ जहाँ गोवध को एक उपपातक कहा गया है। देखिये १०८ वाँ श्लोक भी।

[६२५] मनु० ११ ९४ में तीन प्रकार का कहा गया है। गौडी, पैष्टी, और माध्वी।

१०;६-३२,१; १०.६९;१४ इत्यादि (देखिये प्रस्तुत कृति का भाग २ भी)। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, लकड़ी और धातु के कार्यों में ऋभुओं की कुशलता की प्रशस्ति की गई है, जो इस आरम्भिक युग में भी ऐसी कुशलताओं के गुण-ग्रहण का द्योतक है। युद्ध के आयुधों तथा अन्य तीचण धारवाले उपकरणों का प्रयोग भी होता था। वाशी, असि, परशु, और स्वधिति का नित्य ही उल्लेख है: १ १६२,२०; १०.७९,६; १०.८६,१८; ९.९६;६; १.१२७,३; ७.१७४,२१; १०.२८,८; १०.५३,९; ६.३,५; ६.४७,१०; ८.९१,१९। यह कहना कदाचित् ही आवश्यक है कि बुनाई का व्यापक रूप से व्यवसाय होता था, जैसा कि वस्त्रों के सन्दर्भों तथा सूक्त रचना के लिये 'वे' (अर्थात् बुनना) के लाक्षणिक प्रयोग से स्पष्ट है। इस प्रकार १ ६१,८ में यह कथन है: देवपत्नीर् इन्द्राय अर्कम् अहिहत्ये ऊवुः (देवों की पत्नियों ने अहि के वध पर इन्द्र के लिये एक स्तोत्र बुना)। देखिये (७.३३,९-१२; १०.१३०,१ भी। 'तन्तु' और 'ओतु' दोनों का ६.९,१ और २ में उल्लेख है: नाहं तन्तुं न विजानामि ओतुम् इत्यादि; देखिये अवे० १४.२,५१ भी। नौका निर्माण की कला भी, जैसा कि नौकाओं के अक्सर उल्लेख से स्पष्ट है, सुज्ञात थी: १.११६,३; १.१८२,५ और बाद; १.१३१,२; २.३९,४, ८.४२,३; ९.७०,१०। ये नौकायें डाँडों से चलाई जाती थीं (१०.१०१,२: नावम् अरित्रपरणीम्)। यहाँ तक कहा गया है कि नौकायें सागर में भी जाती थीं (१.२५,७: नावः समुद्रियः; ७ ८८,३ और बाद)। यह कहा गया है कि अश्विनों ने भुज्यु को सौ डाँडों-वाली नौका पर बैठा कर सुरक्षित स्थान तक पहुँचाया (शतारित्रां)। रस्सियाँ भी बनाई जाती थीं क्योंकि रस्सियों का (१.११२,८) अथवा रस्सियों की अनुपस्थिति का (२ १३,९; ७.८४,२) उल्लेख है। चर्म के सामान भी बनते थे क्योंकि चर्म (१ ८५,५; ६.८,३; ७.६३,१) तथा पानी या सुरा रखने के लिये दृति का नित्य ही उल्लेख मिलता है: १.१९१,१०, ४.४५,१०३; ५ ८३,७; ६.४८,१८; ७ ८९,२; ७.१०३,२; ८.५,१९। हम पहले ही देख चुके हैं कि जुआरी को कृषि का परामर्श दिया गया है (१० ३४,१३) और अरण्यानी सूक्त (१०.१४६,५) में इस देवी को 'अकृषीवला' कहा गया है। ऋग्वेद ४.५७ एक ऐसा सूक्त है जिसमें क्षेत्रपति को सम्बोधित किया गया है और 'कीनाशों' (किसानों) को तथा उनके कृषि-उपकरणों को आशीर्वाद देने के लिये कहा गया है। तुकी० १०.११७,७। 'उर्वरा' खेतों का अनेक स्थलों पर उल्लेख है। कुल्याओं का, जो कृत्रिम अथवा अकृत्रिम रही हो सकती हैं (३.४५,३

और; १० ४३,७; अरन् सोमासः इन्द्रं कुल्याः इव ह्रदम्) अवसर उल्लेख है जो सरोवरों से या झीलों से निकलती थीं। विशेष रूप से ऐसी नहरों का भी उल्लेख है (७ ४९,२ : या आपो दिव्या. उत वा स्रवन्ति खनित्रिमाः उत वा याः स्वयजाः) जिन्हें पानी ले जाने के लिये खोदा जाता था। इससे यह निष्कर्ष भी अनुपयुक्त नहीं कि कृषि भूमि की व्यवस्थित सिंचाई भी अवश्य की जाती रही होगी। जैसा कि प्रो० मैक्समूलर कहते हैं (अनुवाद १.२२२ और बाद) ऋग्वेद दाढ़ी और केश बनानेवालों का भी स्पष्ट उल्लेख है क्योंकि १०.१४२,४ में यह कहा गया है कि अग्नि पृथिवी के दोनों को उसी प्रकार मूँडे जैसे नाई दाढ़ी बनाता है। ८.४,१६ में (जैसी कि इसकी प्रो० रॉथ ने व्याख्या की है) उपासक देवताओं से प्रार्थना करता है कि वे उसको कैंची की धार के समान तीक्ष्ण करें (सं नः शिशीः भुरिजोर् इव क्षुरम्)। क्षुण की प्रथा के सम्बन्ध में प्रो० विल्सन (ऋग्वेद का अनुवाद २, पृ० २७ प्रस्तावना) के विचार देखिये और (तुकी० ऋग्वेद १० ६९,१० ।

(१०) मनोरंजन

आरम्भिक भारतीयों में खेल-कूद का पर्याप्त प्रचलन था, जैसा कि हमें १० ३४ से पता लगता है (तुकी० ७.८६,६) । अन्य विवरणों के लिये देखिये : १.९२,१०; २.१२,४; २.२९,५, ४.२०,३; ५.८५,८; ८.४५,३८; १०.४२,९; १०.४३,५ ।

उस समय नर्तक (नृत्) भी मनोरंजन के साधन थे। ऋग्वेद १.९२,४ में यह कहा गया है कि उषा अपना वक्ष ही प्रदर्शन करे जैसे इस प्रकार के व्यावसायिक लोग अलंकार आदि धारण करके करते हैं। १०.१८,३[१२४] में यह कहा गया है कि अन्त्येष्टि के बाद नृत्य और हास्य का क्रम चलता था (प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय)। दुन्दुभि का ऋग्वेद १.२८,५; ६.४७,२९ ३१ में उल्लेख है और अथर्ववेद का एक सूक्त (५.२०) वाद्यमन्त्रों को सम्बोधित है। प्रो० रॉथ के अनुसार (देखिये उनका निरुक्त, पृ० ९२) 'बकुर' शब्द, जो १.११७,२१ में आता है और जिसकी सायण ने वज्र के आशय में व्याख्या की है फूँककर बजाये जानेवाले किसी वाद्ययन्त्र का द्योतक हो सकता है।

(११) अपराध

चोरों या डाकुओं (तायु, तस्कर, स्तेन, परिपन्थिन्, मुषीवन्, हुरश्चित्)

---

[१२४] देखिये, प्रो० रॉथ का अनुवाद (त्सीगे० में)।

का कुछ स्थलों पर या तो राजमार्गों पर छिपे रहने वालों या छिपकर चोरी आदि करनेवालों के रूप में उल्लेख है : १.५०,२ (अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्ति अक्तुभिः); १.६५,१; १.१९१,५ (एते उ त्ये प्रत्य् अदृश्रम् प्रदोषं तस्कराः इव); २.२८,१०; ४.३८,५ (उत स्म एनम् वस्त्रमथिं न तायुम् अनु क्रोशन्ति क्षितयो भरेषु); ५.१५,५, ५.५२,१२; ६.१२,५; ७.५५,३; ७.८६,५; ८.२९,६; १०.४,६ ।

(१२) सूक्तों में उल्लिखित पालतू या जंगली पशु

पशुओं और अश्वों[६३७] का इतना अधिक उल्लेख है कि पूरा विवरण देना प्रायः असम्भव है । भेड़े (अवि, अविका, उरा, मेष) का अक्सर उल्लेख है : १.४३,६; १.५१,१; १.५२,१; १.११६,१६; ८.२,२; ८.३४,३; ९.६.१; १०.९५,३ । बकरों (अज, छाग) का भी उल्लेख है : १.१६२,२ और बाद; १०.९०,१० । १०.२७,१७ में एक मोटे भेड़े के पकाये जाने का उल्लेख है (पीवानम् मेषम् अपचन्त वीराः) । वालखिल्य ८.३ में सौ भेड़ों के दान का वर्णन है (शतम् ऊर्णावतीनाम्) । १.१२६,७ में गन्धारियों के भेड़ों की उनके ऊन के लिये प्रसिद्धि का उल्लेख है (रोमशा गन्धारीणाम् इव अविका) । कुत्तों का अक्सर उल्लेख है । २.३९,४ में अश्विद्वय की दो कुत्तों से तुलना की गई है (श्वाना इव) । यम के पुराकथाशास्त्रीय कुत्तों की ऊपर चर्चा की ही जा चुकी है । लम्बी जिह्वावाले एक कुत्ते को जो कोई लाभ नहीं पहुँचाता, भगा दिये जाने का उल्लेख है : ९.१०१,१ १२ (अप श्वानम् श्नथिष्ट न सखायो दीर्घजिह्व्यम् । अप श्वानम् अराधासं हत मख न भृगव.) । बन्दरों (कपि : १० ८६,५), वराहों (८.६६,१०; १०.२८,४) महिषों, मृगों (१.३८,५, १.१०५,८) ऋष्यों (८ ४,१०), शृगालों और लोमड़ियों (क्रोष्टृ, लोपशा : १०.२८,४), भेड़ियों (सालावृक : १०.९५,१५), सिंहों (१०.२८,४; ४ १६,१४), वृकों और वृकियों (१.११६,१६; ८.५५,८) का जो भेड़ों का (८.३४,३ : उरां न धूनुते वृकः), और मृगों का भक्षण कर जाते हैं (१.१०५,८ : वृको न तृष्णजम मृगम्) बहुधा उल्लेख है । सम्भवतः 'मृग वारण' के रूप में हाथियों का भी उल्लेख है : ८ ३३,८; १०.४०,४ । 'मृग हस्तिन' के नाम से तो इनका निश्चित उल्लेख है ही (१.६४,७; ४.१६,१४) । ये स्थल इस प्रकार हैं : मृगाः इव हस्तिनः खादथ वना;[६३८] ४.१६,१४ (मृगो न हस्ती तविषीम् उषाणः सिंहो न भीमः आयुधानि बिभ्रत्); ८ ३३,८ (= साःवे० २ १०४७) : दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा

---

[६३७] ८.२,२ मे अश्व के नदी में बह जाने का उल्लेख है ।

[६३८] देखिये प्रो० मुलर का ऋग्वेद का अनुवाद, १.९९ ।

चरथं दधे ।[६३९] १०.४०,४ (युवाम् मृगेव वारणा मृगण्यवो दोषा वस्तोर् हविषा नि ह्वयामहे) ।[६४०] इन स्थलों में से पहले तीन में हाथी का एक भयंकर जंगली जानवर के रूप में उल्लेख है; चौथे में जंगली जानवरों के शिकार का उल्लेख है, और यदि यहाँ हाथियों का तात्पर्य है तो हम सम्भवतः यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि इस सूक्त की रचना के समय तक हाथियों को पालतू बनाया जाना आरम्भ हो चुका था। इस बात पर भी सन्देह का कोई कारण नहीं है कि अवे० ९.३,१७ में एक हस्तिनी का उल्लेख है (मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती)। इस मंत्र का लेखक इस पशु को निकट से एक परिचित के समान देखने का अभ्यस्त प्रतीत होता है। ऐतरेय ब्राह्मण (८.२३) के निम्नलिखित श्लोक में सायण के अनुसार (जिसे प्रो० ह्वौग तथा प्रो० रॉथ भी स्वीकार करते हैं) मृग से हाथियों का आशय है : हिरण्येन परीवृतान् कृष्णान् शुक्लदन्तो मृगान्। मष्णारे भरतोऽददात् शतं बद्धानि सप्त च। अनेक स्थलों (१.१३८,२; ८.५,३७; ८.६,४८; ८.४६,२२.३१) में हमें 'उष्ट्र' शब्द मिलता है जो बाद के संस्कृत में ऊँट का द्योतक है; किन्तु प्रो० रॉथ के अनुसार (देखिये कोश में वस्या०) इसका एक भैंसा या वृषभ अर्थ है। प्रो० आफरेक्त भी मुझे सूचित करते हैं कि इसका यही अर्थ है। एक स्थल (८.६,४८) पर चार बैलों का उल्लेख है जिन्हें एक साथ योजित किया जाता था ('उष्ट्रान् चतुर्युज')। अनेक पक्षियों का भी उल्लेख है, जैसे मयूर (१.१९१,१४; ३.४५,१; ८.१,२५), कपोत[६४१] (१.३०,४; १०.१६५,१ और बाद), श्येन, गृध्र (२.३९,१), चक्रवाक (५.३९,३), आति (१०.९५,९), हंस (१.१६३,१०; ७.५९,७) वर्तिका (१.११२,८)। सर्पों का तो बहुधा उल्लेख है ही, और एक स्थान पर (९.८६,४४) तो इनके केंचुल छोड़ने का भी उल्लेख है (अहिर न जूर्णाम् अति सर्पति त्वचम्)।

(१३) युद्ध, सेनायें, कवच, और आयुध

जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं, ऋग्वेद में युद्ध का अक्सर ही उल्लेख

---

[६३९] प्रो० बेनफे सामवेद का अनुवाद, पृ० २८८।

[६४०] सायण. वारणा = शार्दूला। तुल० ८.४५,८ जहाँ वारण किसी 'दूत' की उपाधि है।

[६४१] प्रो० रॉथ (कपोत, वस्या०) कहते हैं कि कपोत सदैव ही कबूतर का ही द्योतक नहीं है। कभी-कभी यह उल्लू का भी द्योतक है। १०.१६५,१ में इसे निर्ऋति का दूत कहा गया है।

है। इन्द्र के पराक्रम की प्रशस्ति करनेवाले ऋग्वेद १९.१०३ को ऊपर उद्धृत किया जा चुका है : इस सूक्त के अन्त में अन्य देवों से भी स्तोता के शत्रुओं को पराभूत करने तथा स्तोता को युद्ध में विजयी बनाने के लिये कहा गया है। ऋग्वेद ६.७५ एक अन्य ऐसा सूक्त है जिसमें कवच, धनुष, आदि की प्रशस्ति है : इसमें से कुछ अधिक उल्लेखनीय मन्त्र इस प्रकार हैं—

१. जीमूतस्येव भवति प्रतीकं यद् वर्मी याति समदाम् उपस्थे। अनाविद्धया तन्वा जय त्वं स त्वा वर्मणो महिमा पिपर्तु। २. धन्वना गाः धन्वनाऽऽजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम। धनुः शत्रोर् अपकामं कृणोतु धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम। ३. वक्ष्यन्तीवेद आ गनीगन्ति कर्णम् प्रियं सखायम् परिषस्वजाना। योषेव शिङ्क्ते वितताऽधि धन्वम् ज्या इयं समने पारयन्ती। ...६. रथे तिष्ठम् नयति वाजिनः पुरो यत्र यत्र कामयते सुषारथिः। अभीशूनाम् महिमानम् पनायत मनः पश्चाद् अनु यच्छन्ति रश्मयः। ७. तीव्रान् घोषान् कृण्वते वृषपाणयः अश्वाः रथेभिः सह वाजयन्तः। अवक्रामन्तः प्रपदैर् अमित्रान् क्षिणन्ति शत्रून् अनपव्ययन्तः।

"संग्राम उपस्थित होने पर यह राजा जब लौह-कवच धारण करता है तब यह मेघ के समान लगता है। हे राजन्! तुम अहिंसित रहते हुए जीतो। महिमामय कवच तुम्हारा रक्षक हो। २. हम धनुष के प्रभाव से युद्ध को जीतकर गौओं को प्राप्त करेंगे। शत्रु की इच्छा नष्ट हो। हम इस धनुष से सब दिशाओं में स्थित शत्रुओं को हटा देंगे। ३. धनुष की प्रत्यञ्चा संग्राम से पार लगाने के लिये प्रिय वचन कहती हुई कान के पास पहुँचती है। यह प्रत्यञ्चा बाण से मिलकर शब्द करती है।...६. श्रेष्ठ सारथि आगे योजित अश्वों को मनोनुकूल चलाता है, रस्सियाँ भी इच्छानुसार अश्वों के कण्ठ तक जाकर उन्हें आगे-पीछे चलाती हैं। इन रस्सियों के यश का वर्णन करो। ७. रथ के सहित वेगपूर्वक गमन करते हुए अश्व धूल उड़ाते हुये शब्द करते हैं; वे पीछे न हटकर शत्रुओं को रौंद डालते हैं।"

आठवें मण्डल के ३९वें, ४०वें और ४१वें सूक्तों में प्रत्येक मंत्र (४०वें को छोड़कर) 'नभन्ताम् अन्यके समे' शब्दों के साथ समाप्त होता है, और एक मन्त्र (८.४०,७) में आक्रामकों पर विजय प्राप्त करने तथा उनको विनष्ट कर देने की स्तुति है (अस्माकेभिर् नृभिर् वयं सासह्याम पृतन्यतो वनुयाम वनुष्यतः)। १०.१३३ में विजय तथा सुरक्षा के लिये इन्द्र की स्तुति की गई है और प्रथम छः मन्त्रों में प्रत्येक मन्त्र "नभन्ताम् अन्यकेषां ज्याकाः अधि धन्वसु" से समाप्त होता है।

जैसा कि हम अभी ऊपर देख चुके हैं, ६.७५,६ और बाद, में, तथा १०.१०३,१० में भी युद्ध के रथों का उल्लेख है। इन रथों के रूप या आकार प्रकार का निर्धारण कर सकने के किसी माध्यम से मैं अभी अवगत नहीं हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि दो घोड़े इन्हें खींचते थे और सम्भवतः इनमें दो व्यक्तियों, एक सारथि और दूसरे योद्धा, के बैठने का स्थान होता था। इतना निष्कर्ष इसी प्रकार के अन्य देशों में प्रयुक्त रथों के आधार पर तो निकाला ही जा सकता है। यह भी वर्णन है कि इन्द्र और वायु, अग्नि और अन्य देवता, और सूर्य तथा अश्विद्वय एक ही रथ पर आते थे—इससे ऐसा प्रतीत होता है कि रथों पर दो या इससे अधिक व्यक्ति बैठ सकते थे। अश्विनों के रथ के विभिन्न भागों और उपकरणों का ऊपर सम्बद्ध खण्ड में उल्लेख किया जा चुका है और ऐसा प्रतीत होता है कि इनके स्तोताओं के रथ भी कुछ इसी प्रकार के रहे होंगे (देखिये ऊपर वरुण और मित्र के रथों का भी विवरण)। इसमें सन्देह नहीं कि मरुतों की ही भाँति सारथि के पास चाबुक होता था। अथर्ववेद ७.६२,१ में पदातियों का उल्लेख है जहाँ यह कहा गया है कि अग्नि उसी प्रकार अत्यन्त शक्तिशाली विरोधियों को जीतते हैं जैसे महारथी पदातियों को जीत लेता है (अयम् अग्निः सत्पतिर् वृद्ध-वृष्णो रथीव पत्तीन् अजयत् पुरोहितः)। यह उल्लेख है कि युद्ध में ध्वज भी धारण किये जाते थे : ऋग्वेद १०.१०३,११; ७.८३,२ (यत्र नरः समयन्ते कृतध्वजः)। 'सेनानी' का लाक्षणिक रूप से द्यूत के एक महान गण के लिये व्यवहार किया गया है (१०.३४,१२)। जहाँ तक सेनाओं के परिमाण या विशालता का प्रश्न है, वैदिक कवि बड़ी संख्याओं से परिचित हैं : कम से कम दस्युओं की सेनाओं के सम्बन्ध में तो अवश्य, चाहे हम इस शब्द से आदिवासी जातियों का अर्थ ग्रहण करें या मेघों के पुराकथाशास्त्रीय शत्रुओं का। १.५३,९ में ६०,००० का, ४.१६,११ में ५०,००० का और ४.३०,२१ में ३०,००० सैनिकों का उल्लेख है जिनका इन्द्र ने विनाश किया। दस राजाओं से सुदास् के युद्ध का ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है। सुरक्षात्मक कवच या 'वर्मन्' का ६.७५,१ में तथा अनेक अन्य स्थलों पर उल्लेख है, जैसे ६.७५,१८ (मर्माणि ते वर्मणा छादयामि), १९; ६.२७,६। वरुण तथा सविता दोनों को ही सुवर्ण और द्राप्ति धारण करनेवाला कहा गया है (इनमें 'द्रापि' शब्द की सायण; मूल० : ऐंसकि० ५२६; और बेनफे ऋग्वेद १.२५,१३[६९२] पर यही व्याख्या करते हैं, जब कि रोथ, इसका अधिक सम्भावना के साथ 'राजपरिधान'

[६९२] ऋग्वेद १.११६,१० से बेनफे इसे परिधान मानते हैं। सामवे० २.११८ = ऋग्वेद ९.१०१,९ में भी ऐसा ही है।

अर्थ करते हैं) : १.२५,१३ (बिभ्रद् द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम्); ४.५२,२ (पिशङ्गं द्रापिम् प्रतिमुञ्चते कविः)। अनेक प्रकार के आयुधों का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इन्द्र के खण्ड में इन्द्र के आयुधों का तथा मरुतों के खण्ड में मरुतों के अस्त्रों और कवच का वर्णन देखिये।

(१४) काव्य और कल्पना

उन छन्दों की विस्तृत प्रकृति पर जिनमें सूक्तों की रचना की गई है, प्रो० विलसन ने (अपने ऋग्वेद के अनुवाद भाग २, प्रस्तावना में) विचार किया है। जहाँ तक अक्सर दृष्ट होनेवाले सौन्दर्य और काल्पनिक विविधता, तथा अनेक विचारों की नैतिक गहनता का प्रश्न है मैं पाठकों को ऊपर खण्ड १३ में अनूदित उषाओं को संबोधित सूक्तों के अवलोकन का परामर्श दूँगा। मनुष्य के विभिन्न व्यसनों (९.११२), जूआ खेलने (१०.३४), और सहायता या उपकारशीलता (१०.११७) के उदाहरण भी दिये जा सकते हैं जो मानव जीवन के विविध पक्षों के सूक्ष्म निरीक्षण के द्योतक हैं। १०.१२९ और १०.८२ तथा ८३ में सृष्टि सम्बन्धी विचार दार्शनिक चिन्तन के आरम्भ को सूचित करते हैं। अत्यन्त चित्रवत् अभिव्यक्ति के उदाहरण-स्वरूप मैं पर्वतों के लिये ५.४१,११ में प्रयुक्त 'वृक्ष-केश' विशेषण की ओर संकेत कर सकता हूँ :

आपः ओषधीर् उत नो अवन्तु द्यौर् वना गिरयो वृक्षकेशाः।

ऋग्वेद १०.७०,१० और अथर्ववेद ७.१२ में सामाजिक सभाओं का उल्लेख है जिनकी प्रकृति साहित्यिक या दार्शनिक रही प्रतीत होती है।

(१५) निष्कर्ष

ऋग्वेद के सूक्त हमें आरम्भिकतम यूनानी कवियों की कृतियों की अपेक्षा धार्मिक विश्वासों और धारणाओं के सम्बन्ध में एक सरलतर स्वभाव, एक अपेक्षाकृत कम प्रगत, कम विकसित और अरूढ़ स्तर को व्यक्त करते हैं। इनमें बाद की देवसभा और बाद के दार्शनिक विचारों से पुराकथात्मक और विश्वासात्मक दोनों ही दृष्टि से पर्याप्त भिन्न विचार मिलते हैं। साथ ही इस आरम्भिक युग के कुछ प्रचलन और रीति-रिवाज भी बाद के युगों से सर्वथा भिन्न थे। फिर भी, इन सबके विपरीत भी, यह मानना एक गलती होगी कि उस पूर्वकाल में समाज की स्थिति अत्यन्त पूर्वग या असभ्य थी। इसके विपरीत गत अध्ययनों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि उस समय भी सभ्यता का पर्याप्त विकास हो चुका था और एक प्रकार का परिष्कृत वातावरण व्याप्त था (तुकी० प्रो० विलसन का विचार उनके ऋग्वेद के अनुवाद के दूसरे भाग की प्रस्तावना, पृ० १७, में)।



परिशिष्ट

पृष्ठ १८ पंक्ति १४

देखिये अथे० ४.११,६ जहाँ यह कहा गया है कि "देवगण अपने शरीरों को छोड़कर स्वर्ग गये।"

पृष्ठ १८ पंक्ति १८

निम्नलिखित स्थलों पर कवि देवों के साथ अपने सम्बन्ध की चर्चा करता है:

८.२७,१० अस्ति हि वः सजात्यम् रिशादसो देवासो अस्ति आप्यम्। १४. देवासो हि स्म मनवे समन्यवो विश्वे साकं सरातयः।

८.७२,७ अधि नः इन्द्र एषां विष्णो सजात्यानाम्। इत मरुतो अश्विना। ८. प्र भ्रातृत्वं सुदानवो अध द्विता समान्या। मातुर् गर्भे भरामहे।

पृष्ठ २२ पंक्ति १२

तुलना कीजिये तैत्ति० सं०: देवासुराः संयत्ता आसन्। ते देवाः मिथो विप्रिया आसन्। ते अन्योन्यस्मै ज्यैष्ठ्याय तिष्ठमानाः पञ्चधा व्यक्रामन् अग्निर् वसुभिः सोमो रुद्रैर् इन्द्रो मरुद्भिर् वरुणः आदित्यैर् बृहस्पतिर् विश्वेदेवैः। ते अमन्यन्त "असुरेभ्यो वै इदम् भ्रातृव्येभ्यो रध्यामो यन् मिथो विप्रियाः स्म। याः नः इमाः प्रियास् तनुवस् ताः समवद्याम ह एताभ्यः स निर्ऋच्छाद् यः नः प्रथमोऽन्योन्यस्मै द्रुह्याद्" इति। तस्माद् यः सतानूनप्त्रिणाम् प्रथमो द्रुह्यति स आर्तिम् आर्च्छति। यत् तानूनप्त्रम् समवद्यति भ्रातृव्याभिभूत्यै भवत्य् आत्मना पराऽस्य भ्रातृव्यो भवति इत्यादि।

"देवों और असुरों ने एक दूसरे के साथ स्पर्धा की। देवता एक दूसरे के साथ प्रतिस्पर्धा कर रहे थे। एक दूसरे से श्रेष्ठता प्राप्त करने की दृष्टि से उन लोगों ने अपने को पाँच भागों में विभक्त कर लिया: अग्नि वसुओं के साथ, सोम रुद्रों के साथ, इन्द्र मरुतों के साथ, वरुण आदित्यों के साथ और बृहस्पति विश्वेदेवों के साथ हुये। तब उन लोगों ने विचार किया: 'इन लोगों पर हमारे शत्रु, असुरगण, आक्रमण कर सकते हैं क्योंकि हम स्वयं आपस में ही संघर्षरत हैं। हम अपने प्रिय शरीरों को एकत्र कर दें, और जो कोई भी सर्वप्रथम शत्रुता दिखावे उसे इन शरीरों से पृथक् कर दिया जाय।' अतः मनुष्यों में भी जब किसी शपथ द्वारा परस्पर आबद्ध व्यक्तियों में से कोई पहले पाप सोचता

है तो वह विपत्ति में फँस जाता है। जब कोई व्यक्ति किसी शत्रु को जीतने के लिये अपने को 'तानूनप्त्र' शपथ में आबद्ध कर लेता है तो वह अवश्य विजय प्राप्त करता है और उसका शत्रु पराभूत हो जाता है।"

ऐतरेय ब्राह्मण में इसी कथा को दूसरे शब्दों में कहा गया है जिससे यह पता लगता है कि इस प्रकार के वृत्तान्त विभिन्न ब्राह्मणों में किस प्रकार भिन्न होते हैं :

ऐत ब्रा० १.२४ : ते देवाः अबिभयुर् "अस्माकं विप्रेमाणम् अनु इदम् असुराः आभविष्यन्ति" इति। ते व्युत्क्रम्य अमन्त्रयन्त। अग्निः वसुभिर् उदक्रामद् इन्द्रो रुद्रैर् वरुणः आदित्यैर् बृहस्पतिर् विश्वैर् देवैः। ते तथा व्युत्क्रम्य अमन्त्रयन्त। तेऽब्रुवन् "हन्त या. एव नः इमाः प्रियतमास् तन्वस् ताः अस्य वरुणस्य राज्ञो गृहे सन्निदधामहै। ताभिर् एव नः स न संगच्छातै यो नः एतद् अतिक्रामाद् यः आलुलो भविषाद्" इति। "तथा" इति। ते वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः सन्न्यदधत। ते यद् वरुणस्य राज्ञो गृहे तनूः सन्न्यदधत तत् तानूनप्त्रम् अभवत्। तत् तानूनप्त्रस्य तानूनप्त्रत्वम्। तस्माद् आहुर् "न सतानूनप्त्रिणे द्रोग्धव्यम्" इति। तस्माद् उ असुराः न अन्वाभवन्ति।

मैं प्रो० हॉग का इस स्थल का अनुवाद उद्धृत कर रहा हूँ : "देवगण यह जानकर भयभीत हुये कि असुरगण कहीं यह न जान लें कि ये सब असंगठित हैं, और इस प्रकार इनके साम्राज्य को छीन न लें। ये (देवगण) अनेक वर्गों में विभक्त हुये और विचार करने लगे। अग्नि वसुओं के साथ, इन्द्र रुद्रों के साथ, वरुण आदित्यों के साथ, और बृहस्पति विश्वेदेवों के साथ निकले और विचार करने लगे। इस प्रकार सभी पृथक् पृथक् निकले और विचार करने लगे। इन लोगों ने कहा : 'आओ हम सब अपने इन प्रिय शरीरों को वरुण के गृह में रक्खें; जो किसी लालचवश हममें से इसका उल्लङ्घन करेगा वह फिर सब के साथ सम्मिलित नहीं रहेगा।' उन लोगों ने शरीरों को वरुण के गृह में रख दिया। राजा वरुण के गृह में इनका अपने शरीरों को रखना इनका 'तानूनप्त्रम' हुआ। तब इन लोगों ने कहा : 'तानूनप्त्रम' द्वारा एक साथ सम्बद्ध इन शरीरों को कोई भी क्षति न पहुँचाये।' तब असुर इनके साम्राज्य को जीत नहीं सके।"

पृष्ठ ७४ पंक्ति ६

'सेतू' का अर्थ 'अवरोध' नहीं 'सम्बन्धात्मक बन्ध' है। देखिये अगला उद्धरण ७.८४,२, और तुल० ऋग्वेद ९.७३,४ और १०.६७,४। विलसन के संस्कृत कोश में देखिये 'मंत्र' का एक 'बन्धन' या 'बेड़ी' अनुवाद।

पृष्ठ ११६ पंक्ति २४

तुलना० ऋग्वेद १.६१,२, १.१५७,६, ८.१,३१; ८.२,३७, १०.१४७,१, जहाँ इन्द्र अथवा अश्विनों के प्रति श्रद्धा या हार्दिक उपासना की भावना को स्पष्ट किया गया है।

पृष्ठ ११८ पंक्ति २२

इसी प्रकार ऋग्वेद ८.५९,७ में यह कहा है : न सीम् अदेवः आपद् इषं दीर्घायो मर्त्यः। "हे दीर्घायु देवता! देव-विरोधी भोजन नहीं प्राप्त करता।"

पृष्ठ १२१ पंक्ति ११

इन्द्र को स्वयं पुरोहित और ऋषि कहा गया है : ८.१६,७ (इन्द्रो ब्रह्मा इन्द्रः ऋषिः)।

पृष्ठ १२३ पंक्ति २०

देखिये मूलर का लेक्चर्स ऑन साइन्स ऑफ लैंग्वेजेज़, २.४२७।

पृष्ठ १६० पंक्ति ११

"करम्भाद", देखिये वेबर का इण्डिशे स्टूडियन २.३०६ और तैत्तिरीय संहिता, २.६,८,४ और बाद : तत् पूष्णे पर्यहरन्। तत् पूषा प्राश्य दतोऽरुणत्। तस्मात् पूषा प्रपिष्ट-भागः। अदन्तको हि। "उन्होंने इसे पूषा को दिया। उसने इसका भक्षण करने में अपना एक दाँत तोड़ लिया। अतः पूषा को पिसे अन्न की हवि दी जाती है क्योंकि वे दन्तहीन हैं।" देखिये प्रस्तुत कृति के भाग ४ में पूषा के दन्तक्षय की एक अन्य कथा।

पृष्ठ २९८ नीचे से तीसरी पंक्ति

मैं प्रो० मूलर का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे ऋग्वेद १०.१६,४ पर सायण के भाष्य की प्रति भेजी है। वह इस प्रकार है :—

अजः जनन-रहितः शरीरेन्द्रियादि-भाग-व्यतिरिक्तः अन्तर-पुरुष-लक्षणो यो भागस् ते अग्ने तं त्वदीयेन तपसा तपनेन च तादृशम् भागम् तपस्व तपनं कुरु। तथा ते तव शोचिः शोकहेतुर् ज्वाला विशेषः तम् भागम् तपतु संस्करोतु। तप-शोचिर्-अर्चिः-शब्दानां सन्तानाय तारतम्येन भेदः। हे जातवेदः ते तव याम् तन्वो मूर्तयः शिवाः सुख-हेतवः तनु-तापकाः ताभिर् एव तनूभिः प्रेतं सुकृतां शोभन-कर्म-कारिणां लोकं स्थानं वह प्रापय।

इसलिए मैं इस महत्त्वपूर्ण शब्द 'अजो भागः' का अनुवाद करूँगा। "अज उस भाग को कहते हैं जो जन्मरहित, दैहिक इन्द्रियों और अन्य भागों से रहित अन्तरात्मा होता है।"

प्रो० आफरेख्त अपने उस मत की पुष्टि में, जिसे मैंने ऊपर पृष्ठ—पर उद्धृत किया है, निम्नलिखित बातें और कही हैं :—(१) यह कि अज की अग्नि को बलि दी जाती है (आग्नेयम् अजम् , शतब्रा० ६.२,१,५; और अग्नयेऽजम् , ताण्ड्यब्राह्मण १.८,४)। यह कि अग्नि से अजन्मे अंग को भस्म करने या तप्त करने का निवेदन निरर्थक होगा; इसका तात्पर्य तो किसी अभौतिक वस्तु के लिये ऐसा कार्य करना होगा जो भौतिक की पहुँच के बाहर है। (३) यह कि ऋग्वेद में 'भाग' का कभी अङ्ग या भाग के लिये नहीं बल्कि 'अंश' के लिये ही प्रयोग हुआ है। (४) यहाँ 'तप्' का अर्थ केवल जलाना, ताप से भस्म करना है केवल 'तपाना' मात्र नहीं। (५) यह कि 'वातम् आत्मा गच्छतु' पहले मंत्र ३ में आ चुका है; अतः मनुष्य के किसी अभौतिक अङ्ग के उल्लेख का कोई अवसर नहीं था।

पृष्ठ २३१ पंक्ति ७

'वृत्र' और 'वृत्रहन' के आशय के लिये देखिये कुन के बीट्रेज, ६.१८८ और बाद में प्रो० स्पीगल की टिप्पणी।

पृष्ठ २३७ पंक्ति १२

इस पुराकथा के सन्दर्भ में प्रो० ऑफरेख्त मुझे डा० कुन के स्सीश्रिफ्ट १.४४२, और इसी की प्रो० रॉथ की व्याख्या (वही ४४४) देखने का परामर्श देते हैं।

पृष्ठ २७१ पंक्ति ६

तुलना कीजिये ऐतरेय ब्राह्मण ४.७ और बाद : यह कथा इस प्रकार आरम्भ होती है :—

प्रजापति र्वै सोमाय राज्ञे दुहितरम् प्रायच्छत् सूर्यां सावित्रीम्। तस्यै सर्वे देवा' वरा: आगच्छन्। "प्रजापति ने अपनी पुत्री सूर्या सावित्री को विवाह में सोम को दिया। सभी देवता वर के मित्रों के रूप में आये।"

पृष्ठ २७८ पंक्ति १३

९.९२,५ में यह कहा गया है कि सोम ने मनुष्य (आर्यों) की रक्षा की। दस्युओं को भगाया (सोमः प्रावद् मनुम् दस्यवे कर् अभीकम्)।

पृष्ठ २८७ पंक्ति ३०

तैत्तिरीय सं० ६.१,४,३ में यम की यह कथा है : देवाश् च वै यमश् च अस्मिन् लोकेऽस्पर्धन्त। स यमो देवानाम् इन्द्रियं वीर्यम् अयुवत। तद् यमस्य। ४. यमत्वम्। ते देवाः अमन्यन्त "यमो वै इदम् अभूद् यद् वयं स्यः" इति। ते प्रजापतिम् उपाधावन्। स एतौ प्रजापतिर् आत्मनः

उस वशी निरमिमीत । ते देवा वैष्णावरुणीं वशाम् आलभन्त ऐन्द्रम् उक्षाणम् । तं वरुणेनैव ग्राहयित्वा विष्णुना यज्ञेन प्राणुदन्त । ऐन्द्रेणैव अस्य इन्द्रियम् अवृञ्जत ।

"देवों और यम ने इस लोक में प्रतिस्पर्धा की । यम ने देवों के बल और वीर्य को ले लिया । यही इनकी विशिष्टता है । देवों ने विचार किया : 'यम भी वही हो गये हैं जो हम हैं ।' वे प्रजापति के पास आये जिसने अपने से इस वृषभ और इस गो को उत्पन्न किया । देवों ने गो को विष्णु और वरुण के लिये तथा वृषभ को इन्द्र के लिये बलि दी" इत्यादि ।

पृष्ठ १४० पंक्ति २७

ऋग्वेद १०,३०,१० में जलों को लोक की मातायें और पत्नियाँ कहा गया है (ऋपे जनित्रीर् भुवनस्य पत्नीर् अपो वन्दस्व) ।

पृष्ठ १५५ पंक्ति २४

ऋग्वेद १०.१९० में सत्य, ऋत, रात्रि, समुद्र इत्यादि को तप से उत्पन्न कहा गया है : ऋतं च सत्यं च अभीद्धात् तपसोऽधि अजायत । ततो रात्र्य अजायत ततः समुद्रो अर्णवः । २. समुद्राद् अर्णवाद् अधिसंवत्सरो अजायत अहोरात्राणि विदधद् विश्वस्य मिषतो वशी । ३. सूर्या-चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वम् अकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं च अन्तरिक्षम् अथो स्वः ।

"सत्य और ऋत तप से उत्पन्न हुये; और उसी से रात्रि तथा जलीय समुद्र उत्पन्न हुआ । २. जलीयसमुद्र से संवत्सर उत्पन्न हुआ; और इसी से चराचर जगत के अधिपति ने रात और दिन का निर्माण किया । धाता ने पहले की ही भाँति सूर्य और चन्द्रमा को बनाया; और आकाश, पृथिवी, वायु और दिव्यलोक को बनाया ।

पृ० ४८६ नीचे से १५ वीं पंक्ति

देखिये प्रो० एच० एच० विल्सन की उनके विष्णुपुराण के भाग १, पृ० ३ और बाद में (डा० हॉल का संस्करण) भूमिका भी ।

शब्दानुक्रमणिका